संघ एक परम ज्योति

श्री तारक गुरु जैन ग्रन्थालय
पद्मा-साहित्य-माला
उदयपुर

— उपाचार्य श्री देवेन्द्र मुनि

श्री तारक गुरु जैन ग्रन्थालय का २७० वाँ पुष्प

- सद्धा परम दुल्लहा
- उपाचार्य श्री देवेन्द्र मुनि
- प्रकाशक

श्री तारक गुरु जैन ग्रन्थालय
शास्त्री सर्कल, उदयपुर (राज०)

- वि० सं० २०४५ बसन्त पंचमी
फरवरी, १९८९
- संजय सुराना के निदेशन में
कामधेनु प्रिंटर्स एण्ड पब्लिसर्स
A-7, अवागढ़ हाउस, एम० जी० रोड,
आगरा-२८२००२ द्वारा मुद्रित

मूल्य [illegible] रुपया

सड्ढो परम मेहावी

श्रद्धा का दीप जब जलता है
प्रज्ञा का पुण्य लोक
जग मगा उठता है ।
उस आलोक में स्वयं को
पहचानने / पाने के इच्छुक
प्रज्ञाशील श्रद्धालुओं के लिए

–उपाचार्य देवेन्द्र मुनि

समाजसेवी

प्रमुख उद्योगपति

डा० रामानंद जैन, दिल्ली

मानवता की सेवा और राष्ट्रीय गौरव का विकास—यही जिनका लक्ष्य है, वे हैं—श्री रामानन्द जैन।

आपका जन्म सन १९२० में एक धार्मिक परिवार में हुआ। धर्म की प्रेरणा आपको अपने पितामह श्री अभयसिंह जी और पूज्य पिता श्री उधमसिंह जी से बचपन से ही प्राप्त होती रही। बाल्यकाल में ही पूज्य मुनि कस्तूरमल जी म. और उनके शिष्य अमरमुनि जी म. के चातुर्मास से धार्मिक संस्कार और भी दृढ़ हुए। पंजाब केसरी पूज्य श्री प्रेमचन्द जी म. और महासती केसरा जी आपकी धार्मिक गतिविधियों और वृत्तियों के सतत प्रेरणा स्रोत रहे।

आप कोल्हापुर रोड, सब्जी मंडी, दिल्ली एस. एस. जैन सभा २५ वर्षों से अध्यक्ष रहे हैं और अखिल भारतवर्षीय श्वेताम्बर स्थानकवासी जैन कान्फ्रेंस, दिल्ली के उपाध्यक्ष पद को सुशोभित किया है। आपके समाज की सभी गतिविधियों/कार्यों में उत्साहपूर्वक भाग लेते हैं।

समाज सेवा के कार्यों में भी आप अग्रगण्य है। कोल्हापुर रोड जैन स्थानक का भव्य निर्माण भी आपकी सक्रिय प्रेरणाओं का सुफल है, तथा उसमें विशाल व्याख्यान हाल, उधमसिंह जैन प्रवचन हाल, जिसमें २५०० श्रोता बैठकर प्रवचन सुन सकते हैं, आपके द्वारा ही निर्मित हुआ। इसमें प्रथम चातुर्मास आचार्य सम्राट आनन्द ऋषि जी म. का हुआ तथा अन्य संतों के चातुर्मास भी होते ही रहते हैं।

मानव-सेवा की उदात्त भावना से अभिभूत होकर अपने पिता श्री उधमसिंहजी के नाम पर आपने चेरिटेबल ट्रस्टों की स्थापना की है। इन्होंने चरखी, दादरी (डिस्ट्रिक्ट भिवानी हरियाणा) में एक होस्पिटल बनवाया है जिसमें गायनाकोलोजी का अलग वार्ड तथा ओरथोपेडिक की भी व्यवस्था है, ५० बैडों वाले इस हास्पिटल में आँखों की चिकित्सा तथा आपरेशन भी होते हैं। आप में मानव सेवा तथा समाज उन्नति की विशेष भावना है।

आप जितने उदार धार्मिक है, उतने ही सफल व्यवसायी भी है। उच्च शिक्षा प्राप्त कर आपने २५ वर्ष की आयु में व्यापार में प्रवेश किया। आपने जैन ट्यूब कंपनी के नाम से स्टील पाइपों का निर्माण कार्य प्रारम्भ करके देश की एक महती आवश्यकता की पूर्ति की और देश का विदेशी मुद्रा को बचाया; क्योंकि इससे पहले ये ट्यूब विदेशों से आयात किये जाते थे। कम्पनी का व्यवसाय १९६५-६६ में सिर्फ ५४ लाख था जो १९८५-८६ में बढ़कर ५०८४ लाख हो चुका है। यह आपकी व्यावसायिक कुशलता तथा सफलता का स्पष्ट प्रमाण है।

आप इंजीनियरिंग, कैमीकल; टेक्सटाइल और कागज उद्योगों से भी सम्बन्धित रहे हैं। आप जैन ग्रुप ऑफ कम्पनीज के साथ १९६३ से सम्बन्धित रहे हैं। इस कम्पनी ने उत्तर-प्रदेश, हरियाणा और राजस्थान में अनेक औद्योगिक यूनिटों की स्थापना की है। आप १९७६-७७ में इन्जीनियरिंग एक्सपोर्ट प्रमोशन काउन्सिल आफ ईन्डिया के उपाध्यक्ष और स्टील ट्यूब डिवीजन के अध्ययक्ष भी रहे हैं।

सम्प्रति आप जैन ट्यूब कम्पनी लिमिटेड के मैनेजिंग डाइरेक्टर और अन्य कम्पनियों के डाइरेक्टर हैं।

आपने प्रस्तुत पुस्तक 'सद्धा परम दुल्लहा' के प्रकाशन में उदार अर्थ सहयोग देकर अपनी धर्मानुरागिता और उपाचार्य श्री देवेन्द्र मुनि के प्रति हार्दिक श्रद्धा प्रगट की है।

इस साहित्यिक अभिरुचि के लिए हार्दिक धन्यवाद।

प्रकाशक के बोल

जैन धर्म में श्रद्धा की प्रमुखता है। बिना श्रद्धा के साधना विराधना बन जाती है। श्रद्धा शिव है और अश्रद्धा शव है। भगवान महावीर ने श्रद्धा को परम दुर्लभ कहा है। मानव जीवन, शास्त्र-श्रवण और पुरुषार्थ —ये तीनों दुर्लभ हैं, पर श्रद्धा अति दुर्लभ है।

आधुनिक युग में तर्क की प्रधानता है। तर्क की उपज मस्तिष्क से है और श्रद्धा की उपज हृदय से है। तर्क बुद्धि को प्रभावित करता है और श्रद्धा हृदय को। बिना श्रद्धा के तर्क केवल बौद्धिक कसरत है। कटी हुई पतंग की तरह वह अनन्त गगन में उड़ती तो है, पर श्रद्धा की डोर के अभाव में उस तर्क का शीघ्र पतन हो जाता है। धर्म का सम्बन्ध तर्क की अपेक्षा श्रद्धा से अधिक है। जिज्ञासा में भी तर्क की प्रधानता होती है, पर उस तर्क का सम्बन्ध सत्य-तथ्य को प्राप्त करना है, पर जिगीसु के तर्क में जिज्ञासा की प्रधानता नहीं होती, किन्तु जीतने की प्रबल लालसा होती है, इसलिए वह वाक् छल आदि का भी प्रयोग करता है पर जिज्ञासा में इस प्रकार वाक् छल आदि नहीं होता। जिज्ञासा को दर्शन की जननी माना है।

भौतिकवाद की चकाचौंध में भूले और बिसरे व्यक्ति जो कमनीय कल्पना के गगन में विहरण करना चाहते हैं और भौतिक सुख-सुविधा को अपनाने के लिए ललक रहे हैं, वे "पन्ना समिक्खए धम्मं" आगम वाक्य की दुहाई देकर जन-मानस को भ्रमित कर रहे हैं। ऐसी विकट बेला में श्रद्धेय उपाचार्य श्री देवेन्द्र मुनिजी ने "सद्धा परम दुल्लहा" ग्रन्थ का निर्माण कर प्रबुद्ध पाठकों को श्रद्धा की महिमा बताने का प्रयास किया है।

हमें पूर्ण आत्म-विश्वास है कि प्रस्तुत ग्रन्थ हमारे पूर्व प्रकाशनों की तरह ही लोकप्रिय होगा। जिन दानी महानुभावों ने उदारता के साथ अनुदान दिया है उन सबका हम आभार मानते हैं।

—चुन्नीलाल धर्मावत

कोषाध्यक्ष

श्री तारक गुरु जैन ग्रन्थालय, उदयपुर

स्वकीय

कुरुक्षेत्र के मैदान में वीर अर्जुन के अन्तर्मानस में एक जिज्ञासा समुत्पन्न हुई कि इस विराट विश्व में सबसे अधिक पवित्र वस्तु क्या है? अर्जुन ने वह जिज्ञासा कर्मयोगी श्रीकृष्ण के सामने प्रस्तुत की। श्रीकृष्ण ने चिन्तन के महासागर में गहराई से डुबकी लगाई और जब उनका चिन्तन ऊपर उभरकर आया तो उन्होंने कहा कि इस विराट विश्व में ज्ञान के समान अन्य कोई पवित्र नहीं है। ज्ञान के महासागर में जब हम अवगाहन करते हैं तब हम पवित्र बन जाते हैं।[1] ज्ञान से ही संसार-बन्धन का नाश होता है।[2] ज्ञान ही मानव-जीवन का सार है।[3] मुक्ति का द्वार है।[4]

वीर अर्जुन ने पुनः प्रश्न किया—भगवन्! उस ज्ञान को कौन व्यक्ति प्राप्त कर सकता है?

कर्मयोगी श्रीकृष्ण ने उत्तर प्रदान किया कि जो श्रद्धावान हैं, वही ज्ञान के अधिकारी हैं।[5] बिना श्रद्धा के ज्ञान नहीं हो सकता[6] और न बिना श्रद्धा के धर्म ही हो सकता है।[7] श्रद्धा धर्म की अनुगामिनी है। जहाँ धर्म

---

१ नहि ज्ञानेन सदृशं पवित्रमिह विद्यते।
—महाभारत भीष्म पर्व २८/३८, गीता ४/३८

२ ज्ञानादेव हि संसार-विनाशो
—रुद्रहृदयोपनिषद्, श्लोक ३५

३ णाणं णरस्स सारो
—आचार्य कुन्दकुन्द

४ अनुराग मंजरी पृ० २५ वियोगी हरि

५ श्रद्धावाँल्लभते ज्ञानं
—गीता (५/३९)

६ उत्तराध्ययन २८/३०

७ रामचरितमानस
—तुलसीदास (७/९०/२)

का स्फुरण दिखाई पड़ता है, वहीं पर श्रद्धा टिकती है।[1] श्रद्धावान को कोई परास्त नहीं कर सकता। मानव में श्रद्धा जितनी तीव्र होगी, उतनी ही उसकी बुद्धि पैनी और प्रखर होगी।[2]

ऋग्वेद के ऋषि ने कहा कि श्रद्धा से ही ऐश्वर्य प्राप्त होता है।[3] अतः कर्म में ही श्रद्धावान बन।[4] बृहदारण्यक उपनिषद् में कहा गया है कि श्रद्धा से ही दक्षिणा प्रतिष्ठित होती है और हृदय में ही श्रद्धा प्रतिष्ठित है।[5] स्कन्ध पुराण में वर्णन है कि—श्रद्धा ही समस्त धर्मों के लिए हितकर है।[6] वेदव्यास ने लिखा है—श्रद्धा पाप से छुटकारा दिलाने वाली है।[7] नारद पुराण का मन्तव्य है कि—श्रद्धापूर्वक आचरण में लाए हुए सब धर्म मनोवांछित फल देने वाले होते हैं। श्रद्धा से ही सब सिद्ध होता है और श्रद्धा से ही भगवान सन्तुष्ट होते हैं।[8]

तथागत बुद्ध ने सुत्तनिपात में कहा है—मानव श्रद्धा से संसार प्रवाह को पार कर जाता है।[9] तथागत बुद्ध ने रूपक की भाषा में कहा —एक खेत है, उस खेत में बीज वपन कर दिया गया है, उसके पश्चात्

---

१ हिन्दी साहित्य का इतिहास पृ. १४७ —रामचन्द्र शुक्ल

२ मोहनमाया ४७ —महात्मा गाँधी

३ श्रद्धया विन्दते वसु —ऋग्वेद (१०/१५१/१४)

४ श्रद्धे श्रद्धापयेह नः —ऋग्वेद (१०/१५१/१५)

५ श्रद्धायां ह्येव दक्षिणा प्रतिष्ठाता
हृदये ह्येव श्रद्धा प्रतिष्ठिता भवति
—बृहदारण्यक उपनिषद् (३/९/२१)

६ श्रद्धैव सर्वधर्मस्य चातीव हितकारिणी
—स्कन्ध पुराण

७ श्रद्धा पापप्रमोचिनी
—महाभारत शान्ति पर्व (२६४/१५)

८ श्रद्धा पूर्वाः सर्वधर्मा मनोरथफल प्रदाः।
श्रद्धया साध्यते सर्वं श्रद्धया तुष्यते हरिः॥
—नारद पुराण (पूर्व भाग, प्रथम पाद ४/१)

९ सद्धाय तरती ओघं
—सुत्तनिपात (१/१०/४)

यदि वर्षा आती है तो वह बीज हजार-हजार दाने के रूप में समुत्पन्न हो जाता है। हृदय रूपी खेत में श्रद्धा का बीज बपन करने के पश्चात् यदि तप की वर्षा होती है तो वह बीज हजार-हजार दाने के रूप में प्रस्फुटित हो जाता है।[1] महात्मा गाँधी ने लिखा है कि श्रद्धा से मानव पहाड़ों का उल्लंघन कर सकता है, श्रद्धा में निराशा का कोई स्थान नहीं है। श्रद्धा ही जिन्दगी का सूरज है। हमारी श्रद्धा अखण्ड बत्ती जैसी होनी चाहिए, वह हमें भी प्रकाश दे और आसपास भी प्रकाश करे। जिसमें शुद्ध श्रद्धा है, उसकी बुद्धि तेजस्वी रहती है।[2]

श्रद्धा का व्युत्पत्तिलभ्य अर्थ है—श्रत्—सत्यं दधातीति श्रद्धा—जो सत्य को धारण करती है, वह श्रद्धा है। श्रद्धा में ही सत्य को धारण करने की अपूर्व शक्ति है। जब तक अन्तःकरण में श्रद्धा नहीं, तब तक सत्य के संदर्शन नहीं हो सकते। श्रद्धा, प्रतीति, विश्वास, रुचि, आस्था, निष्ठा, सम्यग्दर्शन, भरोसा आदि शब्द श्रद्धा के ही पर्यायवाचक हैं। जैनागमों में जीवादि पदार्थों के स्वरूप को देखना, जानना, श्रद्धा करना दर्शन माना है।[3] तत्वार्थसूत्र[4] और उत्तराध्ययनसूत्र[5] में दर्शन शब्द तत्वश्रद्धा के अर्थ में व्यवहृत हुआ है। श्रद्धा अन्धश्रद्धा न होकर वह ज्ञानात्मक है। यह सम्यक्श्रद्धा ही जैन आचार्य-व्यवस्था का मूलाधार है।

आचार्य देववाचक ने नन्दी सूत्र में सम्यग्दर्शन को संघ रूपी सुमेरु पर्वत की अत्यन्त सुदृढ़ और गहन-भू-पीठिका (आधारशिला) कहा है। जिस पर ज्ञान और चारित्र्य रूपी उत्तम धर्म की मेखला यानि पर्वत-माला अवस्थित है।[6] जैन साधना में सम्यक्श्रद्धा को ही मुक्ति का अधिकार पत्र कहा है। क्योंकि, बिना श्रद्धा के सम्यग्ज्ञान नहीं होता। सम्यक्-ज्ञान के अभाव में सम्यक् आचरण नहीं होता। सम्यक् आचरण के अभाव में मुक्ति नहीं होती।[7] सूत्रकृतांग सूत्र में वर्णन है—एक व्यक्ति महा-

---

१ श्रद्धा बीजं तपो वुट्ठि —सुत्तनिपात (१/४/२)

२ सम्पूर्ण गांधी वाङ्मय —खंड ४१ पृ. ४४२

३ अभिधान राजेन्द्र कोश खण्ड ५, पृ. २४२५

४ तत्त्वार्थ सूत्र १/२

५ उत्तराध्ययन २८/३५

६ नन्दी सूत्र १/१२

७ उत्तराध्ययन २८/३०

मनीषी है, भाग्यवान और पराक्रमी भी है तथापि उसका दृष्टिकोण असम्यक् है, उसमें सम्यक्श्रद्धा का अभाव है तो उसके द्वारा किया हुआ दान तथा उग्र तप की साधना आदि अशुद्ध हैं। सही श्रद्धा के अभाव में वह पुरुषार्थ मुक्ति की ओर न ले जाकर बन्धन की ओर ले जाता है। जिस साधक में सम्यक् श्रद्धा का प्राधान्य है,उसमें फलाकांक्षा नहीं होती। वह निष्काम साधना करता है।[1] अंगुत्तरनिकाय में तथागत बुद्ध ने स्पष्ट शब्दों में कहा है कि मिथ्यादृष्टिकोण संसार का किनारा है और सम्यक् दृष्टिकोण निर्वाण का किनारा है।[2] श्रीमद्भगवद्गीता में इस सत्य-तथ्य को इस प्रकार अभिव्यक्त किया है—व्यक्ति की जिस प्रकार श्रद्धा होती है, उसका जीवन के प्रति जैसा दृष्टिकोण होता है, वैसा ही वह बन जाता है।[3]

सम्यक्श्रद्धा आध्यात्मिक जीवन का प्राण है। जैसे चेतनारहित शरीर शव है, वैसे ही सम्यक्श्रद्धा रहित व्यक्ति चलता-फिरता शव ही है। जैसे शव का स्थान घर नहीं, श्मशान है, वह त्याज्य है, वैसे ही आध्यात्मिक जगत में भी श्रद्धारहित साधना शव की तरह त्याज्य है। जैसी श्रद्धा होगी, वैसा ही पवित्र चरित्र का निर्माण होगा। अश्रद्धा पतन को ओर ले जाती है और सही श्रद्धा जीवनोत्थान की ओर हमें गति और प्रगति करने के लिए उत्प्रेरित करती है। बौद्ध परम्परा में समाधि, चित्त और श्रद्धा का प्रयोग सामान्य रूप से एक ही अर्थ में हुआ है। श्रद्धा से चित्त में विकल्प नहीं होते। यदि पहले विकल्प उत्पन्न हुए हैं तो वे भी श्रद्धा के उत्पन्न होने पर समाप्त हो जाते हैं। समाधि में भी चित्त में विकल्प नहीं होते अतः दोनों को एक ही माना है। श्रद्धा और समाधि—ये दोनों चित्त की अवस्थाएँ हैं इसलिए श्रद्धा और समाधि के स्थान पर चित्त का प्रयोग भी मिलता है। चूंकि चित्त की एकाग्रता ही समाधि है और चित्त की भावपूर्ण अवस्था ही श्रद्धा है। इसलिए चित्त, समाधि और श्रद्धा एक ही अर्थ की अभिव्यक्ति है। अपेक्षाभेद से उनके अर्थों में भी पृथकता है। समाधि चित्त की शांत अवस्था है। जैन दर्शन में श्रद्धा का अर्थ देव, गुरु,

---

१ सूत्रकृतांग १/८/२२—२३

२ अंगुत्तरनिकाय १०/१२

३ श्रद्धामयोऽयं पुरुषो यो यच्छ्रद्धः स एव स।

—वेदव्यास (महाभारत भीष्म पर्व ४१/३), गीता १७/३

और धर्म के प्रति अनन्य निष्ठा माना गया है, तो बौद्ध दर्शन में श्रद्धा का अर्थ बुद्ध, संघ और धर्म के प्रति आस्था है। जैन दर्शन में अर्हन्त को देव के रूप में आदर्श माना है तो बौद्ध परम्परा में बुद्ध को माना है। जैन परम्परा में मार्गदर्शक के रूप में गुरु को माना है तो बौद्ध परम्परा में संघ को स्वीकार किया है। जैन परम्परा में जीवादि नौ तत्त्वों का श्रद्धान मुख्य है तो बौद्ध दर्शन में चार आर्य-सत्यों का श्रद्धान मुख्य माना है। बौद्ध दर्शन में श्रद्धा का प्रथम, और प्रज्ञा को उसके पश्चात् स्थान दिया गया है। श्रद्धा के कारण ही धर्म का श्रवण ग्रहण, परीक्षण आदि होता है। सौन्दरनन्द बौद्ध परम्परा का महत्वपूर्ण ग्रन्थ है। प्रस्तुत ग्रन्थ में बुद्ध ने नन्द से कहा कि पृथ्वी के अन्दर जल है। जब यह श्रद्धा मानव के अन्तर्मानस में होती है तब आवश्यकता होने पर वह पृथ्वी को खोदता है। कृषक के अन्तर्मानस में जब यह श्रद्धा होती है कि भूमि से अन्न उत्पन्न होता है तभी वह बीज को भूमि में वपन करता है। धर्म की उत्पत्ति में भी प्रस्तुत श्रद्धा ही श्रेष्ठ कारण है। जब मानव तत्त्व को देखता है, सुनता है, तब उसकी श्रद्धा सुस्थिर होती है। साधना के क्षेत्र में प्रविष्ट होने वाले साधक को पहली बार जो श्रद्धा होती है, वह एक परिकल्पना के रूप में होती है और अन्त में जाकर वही श्रद्धा तत्व-साक्षात्कार के रूप में हो जाती है। तथागत बुद्ध ने भी सम्यक्श्रद्धा को महत्व दिया है, अन्ध श्रद्धा को नहीं।

हम पूर्व पंक्तियों में यह लिख चुके हैं कि सभी मूर्धन्य चिन्तकों ने, धर्म परम्पराओं ने श्रद्धा को महत्वपूर्ण स्थान दिया है, उसे साधना का प्राण माना है और शंका को जीवन की दुर्बलता बतलाया है। शंका के रहते हुए जीवन का सम्यक् विकास नहीं हो सकता। लड़खड़ाते कदमों से दूर मंजिल तक नहीं पहुँचा जा सकता और न हिमालय की गगनचुम्बी चोटियों को छुआ जा सकता है ; शंका से संकल्प में दृढ़ता नहीं आ पाती और बिना दृढ़ संकल्प के लक्ष्य पर नहीं पहुँचा जा सकता। अतः यह आवश्यक है कि साध्य और साधनों पर पूर्ण विश्वास लेकर ही दृढ़ता के साथ चलें। अन्तःकरण में किसी भी शंका को अवकाश न दे। अन्तर्मानस में जिनोक्त तत्वों पर यदि शंका रहेगी तो साधक अध्यात्म साधना के पथ पर अग्रसर नहीं हो सकेगा। शंका से सम्यक्त्व नष्ट हो जाती है—'संका सम्मत्त नासइ'। यही तथ्य श्रीकृष्ण ने इन शब्दों में कहा है कि—'संशयात्मा विनश्यति' *जो आत्मा संशय में है, उसका विनाश होता है।*

यहाँ सहज जिज्ञासा समुत्पन्न हो सकती है कि जैन आगम साहित्य में गणधर गौतम कदम-कदम पर शंकाएँ करते हैं। वे भगवान महावीर के सामने जिज्ञासा प्रस्तुत करते हैं और भगवान महावीर उन जिज्ञासाओं का समाधान प्रदान करते हैं। भगवती सूत्र में गणधर गौतम के ३६००० प्रश्न हैं, वहाँ पर निम्न शब्दावली प्राप्त होती है—

'जायसंसए', 'संजायसंसए' और 'उपण्णसंसए'

क्या इस प्रकार संशय विघातक नहीं है ?

उत्तर में निवेदन है कि इस प्रकार का संशय विघातक नहीं है, क्योंकि संशय दो प्रकार के होते हैं—एक श्रद्धामूलक और दूसरा अश्रद्धा-मूलक। जिस शंका या संशय के पीछे श्रद्धा छिपी हुई है, वह जिज्ञासा के रूप में व्यक्त होती है, इसलिए वह दूषण नहीं है, पर अश्रद्धामूलक शंका में जिज्ञासा नहीं होती, उसमें केवल बौद्धिक विलास होता है जिसका आधार अविश्वास है।

कुछ चिन्तकों का यह मन्तव्य है कि श्रद्धा एक प्रकार की मानसिक सुषुप्ति है, उसमें चिन्तन को अवकाश नहीं। जो जी में आया, उसे मान लिया, उसी से चिपट गए, ऐसी श्रद्धा से सत्य के संदर्शन नहीं हो सकते, पर उन चिन्तकों को स्मरण रखना होगा कि जैन धर्म में इस प्रकार की श्रद्धा को महत्व नहीं दिया है। उसका स्पष्ट उद्घोष है कि—'पन्ना समिक्खए धम्मं।' प्रज्ञा से, तर्कबुद्धि से धर्म की परीक्षा करें।

यह विराट विश्व विविध विविधताओं से भरा हुआ है। जगत का अर्थ ही है—सूक्ष्म से सूक्ष्म और स्थूल से स्थूल तत्वों का समूह। बहुत से तथ्य ऐसे हैं जो मानव की बुद्धि की परिधि में नहीं आते, और ऐसे अत्यन्त सूक्ष्म रहस्य भी हैं जिसे मानव की मति ग्रहण नहीं कर पाती। जिन तथ्यों को समझने के लिए अलौकिक दृष्टि और दिव्य ज्ञान अपेक्षित है, वह दृष्टि और ज्ञान हमें प्राप्त नहीं है। उस दिव्य दृष्टि के लिए जितनी साधना अपेक्षित है, वह महान साधना का भी हमारे में अभाव है। मानव अपनी तीक्ष्ण मेधा पर कितना भी अभिमान करे, पर उसका अभिमान वास्तविक नहीं है। वह अपनी इन्द्रियों के बल-बूते पर बहुत कम जान पाता है। ज्ञात से अज्ञात अधिक है। यदि कोई व्यक्ति यह अहं-कार करे कि मैं तो प्रज्ञापुरुष हूँ, मैंने सब कुछ जान लिया है, पर उसके इस अभिमान पर भी दया आती है। इस प्रकार का अहंकार प्रगति का

बाधक है। मानव का अल्पज्ञान है। उस अल्पज्ञान को पूर्ण मानना धोखा है, स्वयं के लिए भी और दूसरों के लिए भी।

सार यह है कि जो तत्व बुद्धिगम्य है, उन पर तर्क से विचार करना उचित है, पर जो रहस्य सामान्य मानव के लिए अगोचर है, उनके सम्बन्ध में आप्त पुरुषों के कथन पर ही निष्ठा रखना आवश्यक है। आप्त पुरुषों के कथन पर श्रद्धा और तर्क के उचित और विवेकपूर्वक समन्वय से ही यथार्थ बोध सम्भव है। कितने ही चिन्तक एकान्त तर्कवाद के पक्षधर हैं तो कितने ही चिन्तक एकान्त श्रद्धावादी हैं। यह स्मरण रहे कि विवेक-विकल श्रद्धा अन्धश्रद्धा है। उस श्रद्धा में चिन्तन का आलोक नहीं होता। उस श्रद्धा से हेय, ज्ञेय और उपादेय का सम्यक् भान नहीं होता। कौन सी वस्तु ग्राह्य है और कौन सी अग्राह्य है, इसका सही निर्णय बुद्धि नहीं कर पाती। बाह्याडम्बर, पाखण्ड और माया की मोहनी मूर्त्ति को देखकर वह मार्ग से च्युत भी हो सकता है। किन्तु जो चिन्तक परीक्षण प्रस्तर पर कसकर सत्य को स्वीकार करता है, वह कभी उलझता नहीं, वह गुरु गम्भीर ग्रन्थियों को भी अपनी तीक्ष्ण मेधा से सुलझा देता है। और स्वीकृत सत्य पर अंगद की तरह स्थिर रहता है।

तर्क की आवश्यकता है, किन्तु श्रद्धा के साथ। आधुनिक कुछ बुद्धिवादी तर्कातीत तत्वों पर भी तर्क के तीर छोड़ते हैं। और जब वे लक्ष्य तक नहीं पहुँच पाते, तो उनके अस्तित्व को ही अस्वीकार कर देते हैं। वे श्रद्धाजन्य प्रदेश को भी बुद्धिगम्य बनाने की निष्फल चेष्टा करते हैं। श्रेष्ठ यही है कि जीवन में श्रद्धा और तर्क का समुचित समन्वय हो। जो ज्ञेय तत्व तर्क की परिधि के अन्तर्गत आते हों, उन्हें तर्क की तराजू पर तोलें और जो तर्क की पहुँच से परे हैं तथा साधनाजनित लोकोत्तर ज्ञान के द्वारा ही जाने जा सकते हैं, उन पर दृढ़ श्रद्धा रखी जाए। आप्त पुरुषों के उपदेश को प्रमाणभूत मानकर चला जाए। उन शास्त्र और आगम वाणी को चुनौती न दी जाए। जहाँ तक आगमों को छंटनी का प्रश्न है उस पर अत्यधिक गहराई से चिन्तन करना होगा। छंटनी करने पर उन आगमों में से हम कितना बचा पायेंगे, यह हमारे सामने ज्वलन्त प्रश्न है। शास्त्रों की यथार्थता और अयथार्थता का निर्णय करना भी बहुत गम्भीर समस्या है। सामान्य पाठकों के सामने इन समस्याओं को रखकर उनमें आप्त पुरुषों के प्रति अनास्था पैदा करना भी सर्वथा अनुचित है। तर्क के पीछे यदि श्रद्धा का बल है, तो वह तर्क सम्यक्त्व का भूषण है, यदि श्रद्धा का अभाव है तो वह तर्क सम्यक्त्व का दूषण ही है।

गणधर गौतम के अन्तर्हृदय में शंका समुत्पन्न होती थी, पर उस शंका के पीछे आस्था की अविचल भूमिका थी, श्रद्धा का दिव्य आलोक जगमगाता था। जब शंका का समाधान हो जाता तो उनके अन्तर्हृदय से अनायास ही यह स्वर लहरियाँ फूट पड़ती थीं—

सद्दहामि णं भंते ! निग्गंथं पावयणं।
पत्तियामि णं भंते ! निग्गंथं पावयणं।
रोएमि णं भंते ! निग्गंथं पावयणं।
तहमेयं भंते ! अवितहमेयं भंते !
इच्छियमेयं भंते ! पडिच्छियमेयं भंते !
इच्छिय पडिच्छिय मेयं भंते !
से जहेयं तुब्भे वयह।

—उपासक अ० १ सू० १२

अर्थात—भगवन ! मैं निर्ग्रन्थ प्रवचन पर श्रद्धा करता हूँ। भगवन ! मैं निर्ग्रन्थ प्रवचन पर प्रतीति करता हूँ। भगवन ! मैं निर्ग्रन्थ प्रवचन पर रुचि करता हूँ। भगवन ! निर्ग्रन्थ प्रवचन तथ्य है, अवितथ्य है; मुझे इष्ट है, अभीष्ट है, इष्टाभीष्ट है, जैसा आप कहते हैं, वैसा ही है।

ये हैं सच्चे साधक के हृदय के निर्मल उद्‌गार। उनमें कितनी गहरी श्रद्धा है, उनकी शंकाए विषय को विशद् और स्पष्ट करने के लिए होती थी। गणधर गौतम यदि शंका और प्रश्न न करते तो आज हमारे सामने जो विराट आगम साहित्य है, वह हमें प्राप्त नहीं होता। पावापुरी के अपने अन्तिम प्रवचन में श्रमण भगवान महावीर ने श्रद्धा को परम दुर्लभ कहा है। आज का मानव श्रद्धा को भुलाकर प्रत्येक कार्य में तर्क करने लगा है और वह सोचता है कि तर्क से ही सत्यान्वेषण होगा, पर उसका यह सोचना भ्रान्तिपूर्ण है। यदि श्रद्धा का सम्बल लेकर तर्क करता है तो वह तर्क सही मार्ग को समझने में उपयोगी है।

समय-समय पर मैंने निबन्ध लिखे हैं, उन निबन्धों में से कुछ निबंध जो श्रद्धा से सम्बन्धित हैं, उन्हें प्रस्तुत ग्रन्थ में दिया जा रहा है। यह सत्य है कि पूर्व ग्रन्थ लेखन की दृष्टि से ये निबन्ध नहीं लिखे गये थे। यदि पूर्व ग्रन्थ की परिकल्पना को लेकर ग्रन्थ का निर्माण होता तो ग्रन्थ का रूप कुछ दूसरा ही होता, तथापि मैं समझता हूँ कि यह निबन्ध-संग्रह श्रद्धा के महत्व को समझाने में परम उपयोगी सिद्ध होगा। यदि प्रबुद्ध पाठकों के

अन्तर् हृदय में श्रद्धा की भव्य भावना उद्‌बुद्ध हुई तो मैं अपना प्रयत्न पूर्ण सफल समझूंगा।

परम श्रद्धेय महामहिम राष्ट्रसन्त आचार्य सम्राट श्री आनन्दऋषि जी महाराज जो श्रद्धा के देवता हैं, जिनका जीवन श्रद्धा का साक्षात रूप है। उनकी हार्दिक भावना थी कि मैं श्रद्धा पर कुछ लिखूं जिससे कि भूले-भटके व्यक्तियों को सही मार्ग-दर्शन मिल सके। आचार्य प्रवर के अमृत-महोत्सव वर्ष के उपलक्ष्य में मेरा यह लघु प्रयास प्रबुद्ध पाठकों के लिए उपयोगी सिद्ध होगा। साथ ही परम आराध्य देव सद्‌गुरुवर्य उपाध्याय श्री पुष्कर मुनिजी म० की असीम कृपा मुझ पर रही है। वे मेरे जीवन निर्माण के कलाकार हैं। उन्हीं की कृपा का सुफल है कि मैं साहित्य और संघ की सेवा में संलग्न हूँ। ज्येष्ठ भगिनी साध्वीरत्न पुष्पवती जी की पावन प्रेरणा भी कार्य करने में उत्प्रेरक रही है। श्री रमेश मुनि, श्री राजेन्द्रमुनि, श्री दिनेश मुनि, श्री सुरेन्द्र मुनि प्रभृति मुनि मंडल की सेवा, सद्‌भावनाएँ भी सहयोगी रही हैं। स्नेहमूर्ति, कलम के धनी मुनि श्री नेमीचन्द जी म० को विस्मृत नहीं हो सकता। उन्होंने ग्रन्थ की पाण्डुलिपि को निहारकर अपने अनमोल सुझाव प्रदान किये। ज्ञात और अज्ञात रूप में जिनका सहयोग प्राप्त हुआ है, उन सभी को हार्दिक साधुवाद प्रदान करता हूँ।

—उपाचार्य देवेन्द्र मुनि

जैन स्थानक महावीर भवन, इन्दौर
भाद्रपद कृ. १३ शुक्र. दिनांक ९-९-८८,
पर्युषण पर्व

अनुक्रमणिका

प्रथम खण्ड

श्रद्धा का स्वरूप चिन्तन	१–१२९
१ सम्यक्श्रद्धा : एक चिन्तन	१
२ सुश्रद्धा की उपलब्धि का व्याकरण	१७
३ सुश्रद्धा के द्वार तक पहुंचने की दस सुरुचियां	३०
४ सम्यक्श्रद्धा की एक पांख : तत्त्वार्थ श्रद्धान	४०
५ सम्यक्श्रद्धा की दूसरी पांख : देव-गुरु-धर्म पर श्रद्धान	५७
६ सम्यक्श्रद्धा का निश्चय स्वरूप	७८
७ सुरक्षा : सम्यक्श्रद्धा की	९३
८ सम्यक्श्रद्धा की शुद्धि और वृद्धि	१०१

द्वितीय खण्ड

सद्धा के विभिन्न रूप	१—२९२
१ श्रेय का पथ ही श्रेयस्कर	१
२ सफलता का मूल मंत्र : विश्वास	१४
३ सद्धा परम दुल्लहा	२७
४ आत्मिक प्रगति की जननी : सत्श्रद्धा	३५
५ आत्मविश्वास की अजेय शक्ति	४२
६ संकल्प शक्ति के चमत्कार	५६

७	दृष्टि बदलिए, सृष्टि बदलेगी	६८
८	उत्कृष्ट आस्था के मूल मंत्र	८३
९	यथार्थ जीवन दृष्टि का मूल्यांकन	९६
१०	उपासना का राजमार्ग	१०९
११	आत्म-समर्पण का मूल्य	१२५
१२	'शम' और उसका स्वरूप	१३४
१३	'शम' का द्वितीय रूप—शम	१४९
१४	श्रमण संस्कृति का तृतीय मूल मंत्र : सम	१६०
१५	समदृष्टि को परखने का दूसरा चिन्ह : संवेग	१७१
१६	सम्यग्दृष्टि का तीसरा चिन्ह—निर्वेद	१८७
१७	सम्यग्दृष्टि का चौथा चिन्ह : अनुकम्पा	२०१
१८	आस्तिक्य का मूल : आत्मवाद	२१४
१९	आस्तिक्य का द्वितीय आधार : लोकवाद	२३३
२०	आस्तिक्य का तृतीय आधार : कर्मवाद	२५३
२१	कर्मवाद : आस्तिक्य का प्राण	२६३
२२	आस्तिक्य का चतुर्थ आधार : क्रियावाद	२७८

सद्धा परम दुल्लहा

प्रथम खण्ड

श्रद्धा का स्वरूप-चिन्तन

१ सम्यक् श्रद्धा : एक चिन्तन
२ सुश्रद्धा की उपलब्धि का व्याकरण
३ सुश्रद्धा के द्वार तक पहुँचने की दस सुरुचियाँ
४ सम्यक् श्रद्धा की एक पाँख : तत्वार्थ श्रद्धान
५ सम्यक् श्रद्धा की दूसरी पांख : देव-गुरु-धर्म श्रद्धान
६ सम्यक् श्रद्धा का निश्चय स्वरूप
७ सुरक्षा : सम्यक् श्रद्धा की
८ सम्यक् श्रद्धा की शुद्धि और वृद्धि

सम्यक् श्रद्धा : एक चिन्तन

श्रद्धा : सम्यग्दर्शन की यात्रा का प्रथम पड़ाव

मनुष्य का चित्त जब विभिन्न वासनाओं, विचारधाराओं, मान्यताओं विकल्पों या मत-मतान्तरों में उलझा हुआ हो, व्यग्र हो, उसका कोई भी एक निश्चित आधार न हो, तब वह यथार्थ विचार नहीं कर पाता। न ही सही देख-सुन पाता है, वह प्रायः अनेक भागों या खण्डों में बँटा रहता है, इसलिए वस्तुतत्त्व का सही निश्चय—सम्यक्दर्शन नहीं कर पाता अतः अने-काग्र एवं व्यग्र चित्त को किसी न किसी आधार या विश्राम की आवश्य-कता है, ताकि वह वासनाशून्य, एकाग्र एवं शान्त हो सके और वस्तुतत्व का निश्चित और यथार्थ दर्शन कर सके। इस प्रकार का आधार या विश्राम ही श्रद्धा है। ऐसी श्रद्धा का आधारभूत कोई न कोई तत्व या शुद्ध चित्त व्यक्ति होना चाहिए। जिन पर श्रद्धा टिक सके, जो प्रतीति, निष्ठा आदि का रूप धारण करती हुई अन्त में सम्यग्दर्शन तक पहुँच सके। इस दृष्टि से श्रद्धा सम्यग्दर्शन की यात्रा का प्रथम पड़ाव है। प्रारम्भिक भूमिका में इस श्रद्धा का होना आवश्यक है। यह चिरकाल से पोषित मिथ्यात्व, मिथ्याश्रद्धा या मिथ्यादर्शन पर पहली चोट है। आत्मा के मोक्षाभिमुखी बनने के लिए प्रारम्भ में इसका बहुत ही उपयोग है। जो अग्नि पहल-पहले प्रकट होती है, वह बहुत ही उपयोगी होती है। आत्मा में सम्यक्त्व का सूर्योदय प्रकट होने से पूर्व श्रद्धारूपी उषा का आगमन आवश्यक है। इसलिए दर्शन से पूर्व श्रद्धा को जैनाचार्यों ने महत्वपूर्ण स्थान दिया है।

दर्शन का अर्थ श्रद्धा क्यों और कब ?

शब्द शास्त्र की दृष्टि से दृश् धातु आलोक प्रेक्षण, या देखना अर्थ में है। अतः दर्शन[1] शब्द का सामान्यतया अर्थ होता है—जिसके द्वारा देखा जाये, जिससे देखा जाये या जिसमें देखा जाये। दर्शन शब्द का अर्थ जैनाचार्यों ने भले ही आँखों से देखना न करके सूक्ष्मता से, अन्तश्चक्षुओं से देखना या विचार करना किया हो, परन्तु इसका श्रद्धा अर्थ तो कथमपि संगत नहीं है, न ही दर्शन कहने से श्रद्धा अर्थ का सहसा बोध होता है। फिर इस प्रसिद्ध अर्थ का त्याग करके दर्शन शब्द का श्रद्धा अर्थ क्यों किया गया ? इसका समाधान करते हुए तत्वार्थ-सर्वार्थसिद्धिकार पूज्यपाद आचार्य कहते हैं—यहाँ मोक्ष मार्ग का प्रकरण होने से तत्वार्थों का श्रद्धान् जो आत्मा का परिणाम होता है वही तो मोक्ष का साधन बन सकता है। चूँकि सम्यग्दर्शन भव्य जीवों में ही पाया जाता है, किन्तु चक्षु आदि के निमित्त से होने वाला अवलोकन-प्रेक्षण तो साधारणतः सभी संसारी जीवों में पाया जाता है, अतः उसे मोक्षमार्ग मानना उचित नहीं। इस दृष्टि से श्वेताम्बर-दिगम्बर दोनों जैन परम्पराओं के स्थानांग, उत्तराध्ययन, धवला, महापुराण आदि शास्त्रों एवं ग्रन्थों में दर्शन शब्द के रुचि, स्पर्श, श्रद्धा, प्रतीति एवं प्रत्यय (निश्चय) आदि पर्यायवाची शब्द माने हैं।

उत्तराध्ययन सूत्र में भी स्पष्ट कहा गया है—

नाणेण जाणइ भावे, दंसणेण य सद्दहे।'

(भव्य जीव) सम्यग्ज्ञान से पदार्थों को जानता है, और दर्शन से उन पर श्रद्धा करता है।

प्रवचनसार की टीका में भी आचार्य ने कहा—

'दर्शनशब्देन निजशुद्धात्म-श्रद्धानरूपं सम्यग्दर्शनं ग्राह्यम्।'

अर्थात्—दर्शन शब्द से निज शुद्ध आत्मा पर श्रद्धान रूप सम्यग्दर्शन अर्थ ग्रहण करना चाहिए।

नियमसार तात्पर्यावृत्ति भी इसी अर्थ का समर्थन करती है—

'दर्शनमपि जीवास्तिकाय-समुपजनित-परमश्रद्धानमेव भवति।'

'शुद्ध जीवास्तिकाय से उत्पन्न होने वाला परम श्रद्धान ही दर्शन है।'

---

१ 'दृश्यतेऽनेन, अस्मात् अस्मिन् वेति दर्शनम्'।

प्राचीन मनीषियों के इस चिन्तन से स्पष्ट है कि दर्शन शब्द की प्राथमिक यात्रा 'श्रद्धा' अर्थ में परिसमाप्त होती है।

श्रद्धा और दर्शन में अन्तर

श्रद्धा का शब्दशास्त्रियों ने निर्वचन किया है—'श्रत्-सत्यं दधातीति श्रद्धा' अर्थात्—जो सत्य को धारण करती है, वह श्रद्धा है। श्रद्धा में सत्य-तत्व को धारण किया जाता है, चिरकाल तक हृदय में जमाकर रखा जाता है, मन-मस्तिष्क में टिकाया जाता है, जबकि दर्शन में उससे आगे बढ़कर वस्तु तत्व को जांचा-परखा जाता है, गहराई से अन्तर्दृष्टि से देखकर निश्चय किया जाता है। यही श्रद्धा और दर्शन में अन्तर है। यों तो श्रद्धा और दर्शन दोनों शब्द एकार्थक हैं, किन्तु श्रद्धा पहले देव, गुरु, धर्म और शास्त्र पर होती है, तथा जिनोक्त तत्वों को हृदय से स्वीकारती है, उन्हीं की सत्यता पर विश्वास जमाती है, फिर दर्शन आकर सर्वतोमुखी सत्य-ग्राही दृष्टि से जिनोक्त तत्वों के यथार्थ स्वरूप की जांच परख करता है। उससे फिर आत्मा में निष्ठा होती है तथा आत्मा के विकास द्वारा सम्बन्धित तत्वों पर गहराई से विचार किया जाता है।

श्रद्धा से सम्यग्दर्शन तक का क्रम

यों देखा जाए तो श्रद्धा, रुचि, विश्वास, आस्था, निष्ठा, प्रतीति, सम्बोधित निश्चय, सम्यग्दृष्टि और सम्यक्त्व, ये सभी सम्यग्दर्शन के पर्यायवाची शब्द हैं। इनका अर्थ या लक्षण प्रायः एक-सा है। किन्तु गहराई से देखने पर इनमें सूक्ष्म-सा अन्तर मालूम होता है। वैसे ये सभी पर्यायवाची शब्द सम्यग्दर्शन की क्रमिक यात्रा के पड़ाव के सूचक हैं। भव्य और मुमुक्षु व्यक्ति की रुचि सर्वप्रथम सत्य को—तत्व को जानने-समझने की होती है। सत्य की प्यास या चाह ही ऐसा तथ्य है, जो मुमुक्षु को मोक्ष मार्ग की खोज करने की प्रेरणा देती है। जैसे—प्यासा व्यक्ति पानी की खोज करता है, वैसे सत्य की अभीप्सा से युक्त व्यक्ति रुचि पूर्वक आदर्श की प्राप्ति के लिए तीव्र मंथन करता है। उसके बाद उसके मन-मस्तिष्क में श्रद्धा पैदा होती है कि आत्मा के विकास को रोकने तथा बढ़ाने वाले, अथवा आत्मा को बन्धन तथा मुक्ति की ओर ले जाने वाले ये ही तत्व हैं। इनमें से हेय को मुझे छोड़ना है, उपादेय को ग्रहण करना है और ज्ञेय को जानना है। तत्पश्चात् मुमुक्षु को 'विश्वास' हो जाता है, देव, गुरु और धर्म पर। इसके साथ ही आत्मा, परमात्मा, स्वर्ग-नरक, पुण्य-पाप, श्रुत-चारित्र धर्म या

रत्नत्रयरूप धर्म पर उसकी आस्था दृढ़ हो जाती है और जब वह अनेकों प्राणियों को पूर्वकृत शुभ कर्म के फल-स्वरूप इस जन्म में सुख सम्पदा एवं इष्ट संयोग से सम्पन्न देखता है या अशुभ कर्म के फलस्वरूप नाना दुःख दारिद्र्य एवं अभावों से पीड़ित देखता है, साथ ही वीतराग प्रभु की अध्यात्म संपन्न वाणी धर्म गुरुओं के श्रीमुख से सुनता है, तथा प्रसन्नता पूर्वक साधु श्रावक वर्ग को धर्माचरण करते हुए देखता है। तो उसे वीतराग प्ररूपित तत्वों, तथा देव, गुरु, धर्म पर पूर्ण प्रतीति हो जाती है। और वह स्वयं अपने श्रद्धापूत हृदय से ये उद्गार निकालता है—

'तमेव सच्चं नीसंकं जं जिणेहिं पवेइयं'

जो (तत्व) जिनेन्द्र भगवन्तों ने प्ररूपित-प्रतिपादित किया हैं वे ही सत्य हैं, निःशंक हैं।

"इणमेव निग्गंथं पावयणं सच्चं अणुत्तरं केवलियं पडिपुण्णं नेयाउयं संसुद्धं सल्लकत्तणं सिद्धिमग्गं मुत्तिमग्गं, निज्जाणमग्गं ,निव्वाणमग्गं, अवितहमविसंसिद्धं सव्वदुक्खप्पहीणमग्गं।"

"यही निर्ग्रन्थ प्रवचन सत्य है, अनुत्तर है, केवलि (सर्वज्ञ)—प्ररूपित है, परिपूर्ण है, न्याय युक्त है, संशुद्ध है, शल्य को काटने वाला है, यही सिद्धि का, मुक्ति का, निर्याण (संसार सागर से पार उतरने) का, एवं निर्वाण (परमशान्ति) का मार्ग है। यह अवितथ (यथातथ्य) है, असंदिग्ध है, और समस्त दुःखों को नष्ट करने वाला मार्ग है।"

इस प्रकार का निश्चय हो जाने के बाद मुमुक्षु की निष्ठा निर्ग्रन्थ प्रवचन के प्रति, वीतराग प्ररूपित तत्वों के प्रति तथा श्रद्धेय त्रिपुटी (देव-गुरु-धर्म) के प्रति दृढ़ हो जाती है।

इसके अनन्तर मुमुक्षु व्यक्ति सदैव आत्मनिष्ठ होकर आत्महित का चिन्तन करता है, वह सदैव जागृत रहता है कि मुझ अब सम्यक्त्व प्राप्त हो गया है। वह प्रतिदिन चिन्तन करता है—

"अरिहंतो महदेवो, जावज्जीवाय सुसाहुणो गुरुणो।
जिणपण्णत्तं तत्तं, इअ सम्मत्तं मए गहियं॥"

अर्थात्—अब यावज्जीवपर्यन्त अरहन्त मेरे देवाधिदेव हैं, सुसाधु मेरे गुरु हैं और जिन प्रज्ञप्त तत्व या सद्धर्म ही मुझे मान्य है। इस प्रकार मैंने सम्यक्त्व ग्रहण किया है।

इसके पश्चात् मुमुक्षु को सम्यग्दृष्टि प्राप्त होती है, जिसके जरिये वह प्रत्येक वस्तु या व्यक्ति के विषय में शुद्ध दृष्टि से सोचता है, संसार के प्रत्येक पदार्थ और परिस्थिति को, राग-द्वेष, स्वार्थ, मोह से कषायादि विकारों से दूर रहकर यथार्थ रूप में देखता है, जो वस्तु जैसी है उसे उसी रूप में देखता है, स्व (आत्मा) और पर (आत्मेतर पदार्थ) का भेद समझता है। तथा जीव, अजीव आदि नौ तत्वों में हेय, ज्ञेय एवं उपादेय को यथार्थ रूप में जानकर हेय को छोड़ने योग्य और उपादेय को ग्रहण करने योग्य समझता है, उसी की दृष्टि सम्यग्दृष्टि है।

इस प्रकार श्रद्धा से लेकर सम्यग्दृष्टि तक जितने भी क्रमिक सोपान हैं, वे सब व्यवहार सम्यग्दर्शन के अन्तर्गत आ जाते हैं, अर्थात्—वे सब व्यवहार सम्यग्दर्शन में परिसमाप्त हो जाते हैं। साथ में आता है—निश्चय सम्यग्दर्शन; जो नित्य, निरंजन, शुद्ध, बुद्ध आत्म तत्व के प्रति सम्यक् श्रद्धान रूप है। जिसे व्यवहार सम्यग्दर्शन के साथ निश्चय-सम्यग्दर्शन हो जाता है, उसे शरीर से पृथक आत्मा के अमरत्व, अजरत्व एवं अविनाशित्व की दृढ़ प्रतीति हो जाती है। उसे आत्मा के स्वरूप एवं गुणों पर इतनी तीव्र श्रद्धा हो जाती है कि मैं शुद्ध आत्मा हूँ, ये शरीरादि मैं नहीं हूँ। मैं तो शरीरादि से पृथक् शुद्ध आत्मा हूँ। शरीर और शरीर से सम्बन्धित वस्तुएँ, फिर चाहे वे सजीव हों या निर्जीव ये सब परभाव हैं, स्व-भाव तो सिर्फ शुद्ध आत्मा और आत्मा के निजीगुण हैं। ये राग, द्वेष, मोह, ममत्व आदि सब विकार हैं और अन्य विकल्प भी आत्मा के स्व-रूप नहीं है, ये सब अज्ञान एवं भ्रम के कारण आत्मा की विभाव परिणित के विविध रूप हैं, ये भी परभाव हैं। उसे यह दृढ़ निश्चय हो जाता है कि जो मरता है, बूढ़ा होता है, नष्ट हो जाता है, वह शरीर है, आत्मा नहीं। शुद्ध आत्मा तो अजर-अमर, अविनाशी सच्चिदानन्द रूप है।

निष्कर्ष यह है कि यह जो श्रद्धा से लेकर सम्यग्दर्शन तक का क्रम है, वह सम्यक् श्रद्धा का ही उत्तरोत्तर विकसित रूप है। इसीलिए ये सम्यक् श्रद्धा या सम्यग्दर्शन के पर्यायवाची शब्द कहे गये हैं।

श्रद्धा के विभिन्न रूप और सम्यक् श्रद्धा

अश्रद्धा, कुश्रद्धा, अन्धश्रद्धा, सामान्य श्रद्धा अथवा लौकिक श्रद्धा या सांसारिक श्रद्धा ये सब श्रद्धा के ही विभिन्न रूप हैं। जिसकी अपने जीवन पर कोई श्रद्धा नहीं होती, जो पर-पद पर आशंका, कुतर्क, या अविश्वास

करता रहता है, जिसे अपनी आत्मा और आत्म-शक्ति पर श्रद्धा नहीं होती उसे इस बात पर विश्वास ही नहीं होता कि मेरा जीवन आत्मविकास के लिये है, आत्मशुद्धि करके उत्तरोत्तर मुक्ति की ओर प्रयास करने के हेतु है; उसका जीवन निरुद्देश्य है। अश्रद्धा उसके जीवन को असफल, भयावह एवं शंकाकुल अथवा आकुलता-व्याकुलता से ग्रस्त बना देती है। ऐसा अश्रद्धाशील व्यक्ति स्वयं तो मानसिक क्लेश और बौद्धिक भ्रम से ग्रस्त रहता ही है, दूसरों के साथ भी वह कलह, क्लेश तथा कदाग्रह करता है, दूसरों के जीवन में भी वह निराशा, हताशा, अश्रद्धा, आत्मविश्वासहीनता, साहसशून्यता भर देता है। अश्रद्धा चाहे अपने प्रति हो या अपने हितैषियों गुणिजनों एवं सत्तत्वों के प्रति हो, उससे मानव जीवन पंगु, पराश्रित एवं पाशविक बन जाता है। वह किसी भी अच्छे कार्य का सम्पादन एवं सम्यक् सिद्धान्त का प्रतिपादन करने का साहस नहीं कर पाता। जो लोग श्रद्धा की अमोघ शक्ति को नहीं जानते, वे जीवन की सांध्य बेला में पश्चात्ताप करते हैं, वे निराशापूर्ण स्वर में कहते हैं, हमने मानव-जन्म पाया लेकिन कुछ भी उपलब्ध नहीं किया, अब हमें असफल होकर जाना पड़ रहा है।

अश्रद्धा की अपेक्षा सामान्य श्रद्धा अच्छी है। जैसे—माता अपने बालक को कहती है—'आग जला देती है, मिर्च मुंह जलाती है, विष-भक्षण से मनुष्य का प्राणान्त हो जाता है।' बच्चा माता की बात पर श्रद्धा कर लेता है। इसी प्रकार की कई बातें हैं। जो पिता माता, अध्यापक, समाजनेता, राष्ट्र नेता, लोकसेवक, बुजुर्ग आदि से बालकों और युवकों को सुनने-समझने को मिलती हैं, और वे बालक और युवक उन पर पर श्रद्धा कर लेते हैं। ये सब सामान्य श्रद्धाएँ हैं। इनसे आत्मा का कल्याण नहीं होता, न ही इस प्रकार की श्रद्धा से मनुष्य का आध्यात्मिक विकास होता है। कभी-कभी तो भ्रान्त दृष्टि के माता-पिता बच्चों और युवकों को ऐसी श्रद्धा के नाम पर अन्धश्रद्धावश हानिकर प्रथाओं, कुरूढ़ियों, मृत भोज जैसे खोटे रीति-रिवाजों, देवी-देवों को पशुबलि जैसी शराब, मांस चढ़ाने जैसी हिंसक एवं दानवी कुरीतियों, तथा खून का बदला खून से लेने की वैर परम्परा के बढ़ाने की प्रेरणा जाने-अनजाने दे देते हैं। छोटे-छोटे रोते हुए अबोध बच्चों को चुप करने के लिए माताएँ उनमें हौआ, बाबा, भूत आदि का भय श्रद्धा के नाम पर घुसा देती हैं।

इस प्रकार सामान्य श्रद्धा जब अन्धश्रद्धा और कुश्रद्धा का रूप ले

लेती है, तब तो और भी भयंकर अनर्थकारिणी बन जाती है। अन्धश्रद्धा की अपेक्षा कुश्रद्धा तो और भी भयंकर होती है। ऐसी कुश्रद्धा जब हिंसा, असत्य, बेईमानी आदि पापों तथा काफिरों को तथा अन्य सम्प्रदाय के अनुयायियों को मार डालने, हैरान-परेशान करने, उन्हें उनके मानवीय अधिकारों से वंचित करने आदि पाप वर्द्धक कुकृत्यों को धर्म बता देती है। पशुबलि को अहिंसा, आत्महत्या को धर्म एवं अन्य मत-पन्थ के लोगों को सहयोग देने में पाप बताने जैसी कुश्रद्धा तो मानव जाति में कहर बरसा देती है। हिंसक एवं अत्याचारी कुदेवों को देव, गांजा, सुल्फा, भांग, शराब जैसी नशीली चीजों के सेवन करने वाले कुगुरुओं को सद्गुरु मानकर उन पर श्रद्धा रखने की बात कही जाती है, वह तो श्रद्धा की कब्र खोदने जैसी बात है। इतना ही नहीं, जो गुरु या ग्रन्थ सम्प्रदाय, मत-पन्थ के नाम पर मानव-मानव में भेद डालने और अपने से भिन्न सम्प्रदाय के लोगों को बदनाम करने और नीचा दिखाने का कार्य करते हैं, समाज में थोथे महत्वहीन युगबाह्य क्रिया-काण्डों के नाम पर अपनी उत्कृष्टता की डींग हांक कर विषमता फैलाते हैं, अपने सम्प्रदाय और गुरुओं के प्रति श्रद्धा रखने और सम्यक्त्व बदलाने की बात करते हैं, वे श्रद्धा के नाम पर पन्थवादी श्रद्धा का प्रचार-प्रसार करते हैं। यह भी एक प्रकार की लौकिक सामान्य श्रद्धा है, जो अपने पन्थ, सम्प्रदाय या मत के घेरे को मजबूत बनाने के लिए होती है। यह आत्मलक्ष्यी श्रद्धा के बदले सम्प्रदायलक्ष्यी श्रद्धा बन जाती है। इसी प्रकार बात-बात में वहम, प्रत्येक व्यक्ति और परिस्थिति में कुशंका, देवी को पशुबलि नहीं दोगे तो वंश का नाश कर डालेगी, तथा विक्षिप्त व्यक्ति को देखकर भूताविष्ट मान लेना, एवं पद-पद पर टोने, टोटके, मन्त्र-यन्त्रादि के चक्कर में पड़ना आदि अन्धविश्वास भी अन्धश्रद्धा के नाती-पोते हैं।

यही कारण है कि आजकल के पढ़े-लिखे व्यक्ति कह दिया करते हैं कि आजकल के धर्मगुरुओं द्वारा ऊपर से दी हुई श्रद्धा का विवेक-बुद्धि, वैज्ञानिक दृष्टि और हितैषिता या आत्म विकास से कोई वास्ता नहीं होता। प्रायः देखा जाता है कि ऐसी सम्प्रदायवादी श्रद्धाएँ संसार के अन्य धर्म सम्प्रदायों की तरह कट्टरता बढ़ाने वाली तथा धर्मझनून पैदा करने वाली साबित होती हैं। ऐसी तथाकथित श्रद्धाएँ मानव-मानव में शत्रुता, विद्वेष और वैर परम्परा बढ़ाने वाली और एक दूसरे सम्प्रदायों के अनुयायियों को परस्पर लड़ाने-भिड़ाने तथा एक दूसरे को बदनाम करने वाली

ही प्रायः सिद्ध हुई हैं। इस प्रकार की कट्टरता ने ही अन्ध श्रद्धा-मूलक उद्-गार जैनों के प्रति निकलवाये हैं—

"हस्तिना ताड्यमानोऽपि न गच्छेज्जैनमन्दिरम्।"

"पागल हाथी कुचलने या मारने के लिए अपनी ओर आ रहा हो, तब भी आश्रय के लिए जैन-मन्दिर या जैन उपाश्रय में मत जाओ।"

यह अन्धश्रद्धा और कट्टरता का नमूना है। ऐसा क्यों होता है, जबकि यह भी श्रद्धा का ही एक प्रकार है? सच पूछें तो ऐसी साम्प्रदायिक कट्टरता पैदा करने वाली अन्धश्रद्धा और श्रद्धा में जमीन-आसमान का अन्तर है। जैसे—हीरा और कोयला एक ही तत्व के होने या एक ही खान में पैदा होने पर भी दोनों में महदन्तर है, वैसे ही अन्धश्रद्धा और श्रद्धा दोनों का मानव की मनोभूमि में जन्म होने पर भी दोनों की वृत्ति में बहुत अन्तर है। दोनों में इतनी-सी समानता अवश्य है कि दोनों में स्थिरता और दृढ़ता होती है। मगर अन्धश्रद्धा से होने वाली स्थिरता अनर्थकारी और मानसिक हिंसावर्द्धक है, जबकि श्रद्धा की स्थिरता हितकारी और मानवतावर्द्धक है।

यहाँ एक शंका यह होती है कि प्रायः बुद्धिजीवी लोग ऐसी तथा-कथित अन्धश्रद्धा या कुश्रद्धा के शिकार तो कम होते हैं, किन्तु यह देखा जाता है कि बड़े-बड़े उच्च शिक्षा प्राप्त व्यक्तियों, वकीलों, डाक्टरों, वैद्यों एवं बुद्धिजीवियों, वैज्ञानिकों आदि में अपने मन्तव्य या अपनी मान्यता, अथवा अपनी थ्योरी के प्रति दृढ़ श्रद्धा, मजबूत आस्था, पक्का विश्वास अथवा निष्ठा होती है। मन्त्र-तन्त्रशास्त्रियों को अपने मन्त्र-तन्त्रों पर पूरा विश्वास होता है कि इस मंत्र या तन्त्र का अमुक निश्चित परिणाम आयगा। गणितशास्त्रियों को अपने गणित के फार्मूलों पर पक्का भरोसा होता है कि इस हिसाब का यही उत्तर आएगा। इसी प्रकार वैज्ञानिकों और रसायनशास्त्रियों को अपनी-अपनी थ्योरी पर पूरा विश्वास होता है कि अमुक रसायनों के मिश्रण से अमुक पदार्थ बनता है। एक सामान्य किसान को भी अपनी खेती पर पूर्ण विश्वास होता है कि मैंने जो गेहूँ के बीज बोये हैं, उनकी फसल गेहूँ के रूप में ही मिलेगी। अपनी-अपनी व्याव-सायिक या वैयक्तिक श्रद्धा से युक्त होकर व्यक्ति निश्चिन्ततः से जीता है, आश्वस्त हो जाता है। सामाजिक जीवन में भी व्यक्ति का किसी प्रभाव-शाली सत्ताधीश, धनाढ्य या ईमानदार नेता पर विश्वास हो जाता है कि मुझे अमुक व्यक्ति का पूरा सहारा है। अथवा जिन कार्यों को मनुष्य घबरा

कर या ऊबकर छोड़ देता है, श्रद्धा उन कार्यों को सफलतापूर्वक पूर्ण करने में उसे सहयोग देती है। लोक व्यवहार में भी विश्वासपूर्वक जब मनुष्य किसी कारोबार में, धन्धे या कल-कारखाने में जुट जाता है, तब वह प्रायः उसमें सफल होता देखा जाता है। क्या इस प्रकार की या ऐसी ही अन्य स्वार्थसिद्धकरी श्रद्धा को सम्यक् श्रद्धा नहीं कहा जायेगा ? जैनदर्शन इसे सम्यक् श्रद्धा मानने से इन्कार करता है। क्योंकि इस प्रकार की श्रद्धा लौकिक या भौतिक श्रद्धा है, ऐसी श्रद्धाओं से मोक्षलक्ष्य की ओर गति-प्रगति नहीं हो सकती। यद्यपि यह अन्धश्रद्धा, मिथ्याश्रद्धा, कुश्रद्धा नहीं है, फिर भी यह आत्मलक्ष्यी या मोक्षलक्ष्यी श्रद्धा नहीं है। यह संसार-लक्ष्यी श्रद्धा है। शास्त्रीय भाषा में कहें तो जब तक मिथ्यात्वमोहनीयकर्म के क्षय, उपशम या क्षयोपशम से उत्पन्न जीव के शुद्ध आत्मलक्ष्यी या मोक्ष-लक्ष्यी परिणाम नहीं होते, तब तक उसकी श्रद्धा सम्यक् श्रद्धा नहीं हो सकती। फिर ऐसी कोरी भौतिक श्रद्धा से व्यक्ति विपरीत मार्ग पर भी जा सकता है। भौतिकवादी या हिंसाजनक कुकृत्यों पर श्रद्धा रखने वाला व्यक्ति अथवा पशुबलि आदि किसी हिंसक प्रथा के प्रति अन्धश्रद्धालु भी बहुधा अपने उद्देश्य में बाहर से सफल होता दृष्टिगोचर होता है। फिर भले ही वह सफलता लौकिक हो, संसार परिभ्रमण के मार्ग पर ले जाने वाली हो। यही कारण है कि श्रद्धा जब शुद्ध आत्मलक्ष्यी या मोक्षलक्ष्यी होती है, तब उसके पूर्व 'सम्यक्' शब्द जोड़ा जाता है।

सम्यक् श्रद्धा का अर्थ वह श्रद्धा है, जो व्यवहार में जिनोक्त तत्वों अथवा देवाधिदेव, सद्गुरु एवं सद्धर्म के प्रति हो, किन्तु निश्चय में वह शुद्ध आत्मलक्ष्यी हो या मोक्षलक्ष्यी हो। आत्मलक्ष्यी श्रद्धा तब होती है, जब अनन्तानुबन्धी चार कषाय एवं दर्शनमोहनीय की तीन, यों सात कर्म प्रकृतियों का क्षय, उपशम या क्षयोपशम हो गया हो। आत्मलक्ष्यी सुश्रद्धा का धनी व्यक्ति आत्मा और उसकी अनन्त ज्ञानादि शक्तियों के प्रति दृढ़-विश्वासी होता है। सम्यक् श्रद्धा भयंकर तूफानों और प्रलयंकर संकटों के समय भी विचलित नहीं होती। आत्मलक्ष्यी सुश्रद्धा जब साधक जीवन को स्पर्श करती है, तब उसके ज्ञान पर आई हुई अज्ञान, मिथ्यात्व, अन्ध-विश्वास, अविश्वास, मोह आदि की मलिनता या तमिस्रा को दूर कर देती है। सम्यक् श्रद्धा व्यक्ति को आत्म-निर्भर, आत्मनिष्ठ एवं आत्मबली बनाती है। यह आत्मनिष्ठ सम्यक् श्रद्धा का ही प्रकाश था कि महाकाल श्मशान में कायोत्सर्गस्थ महामुनि गजसुकुमार पर भयंकर मरणान्तक कष्ट

(उपसर्ग) उपस्थित होने पर भी उन्होंने केवल आत्मतत्व पर ही दृष्टि, श्रद्धा और निष्ठा रखी, आत्मा से पर शरीर या उपसर्गकर्ता आदि किसी के प्रति द्वेष, रोष, राग, मोह या ममत्व नहीं किया। वे इसी शुद्ध आत्म-निष्ठ सम्यक् श्रद्धा के कारण समभाव में स्थिर रहे, आत्म-भावों में ही अन्त तक रमण करते रहे, इस प्रकार समस्त कर्म-बन्धनों को तोड़कर वे सिद्ध-बुद्ध मुक्त हो गये। अतः सम्यक् श्रद्धा सम्पन्न मुमुक्षु में शुद्ध आत्मा और उसके निश्चित स्वरूप के प्रति श्रद्धा कूट-कूटकर भरी होती है। ऐसी सम्यक श्रद्धा जितनी-जितनी सुदृढ़ होती है, उतनी ही उतनी समर्पणवृत्ति एवं व्युत्सर्ग भावना व्यक्ति में बढ़ती जाती है। ऐसी सम्यक श्रद्धा साधक के जीवन में पूर्वोपार्जित ज्ञान एवं चारित्र को सम्यक् बना देती है। मुमुक्षु जीवन को आध्यात्मिक क्रान्ति करने में सम्यक् श्रद्धा पथ-प्रदर्शक बनती है।

शुद्ध आत्मलक्ष्यी सम्यक्श्रद्धा का परिणाम

जिसमें ऐसी शुद्धात्मलक्ष्मी सम्यक् श्रद्धा की ज्योति जग उठती है, उस व्यक्ति के ज्ञान-दर्शन पर आई हुई चंचलता, मलिनता और अदृढ़ता (शिथिलता) अथवा अविश्वास, संशय, विपर्यय एवं अनध्यवसाय (अनिश्चय) आदि दोष दूर हो जाते हैं, उसे उत्कृष्ट आत्मलक्ष्यी श्रद्धा के फल-स्वरूप केवलज्ञान का महाप्रकाश भी प्राप्त हो जाता है। साक्षी के रूप में प्रस्तुत है जैन इतिहास का इससे सम्बन्धित ज्वलन्त उदाहरण—

एक महान आचार्य के पास उसने मुनिदीक्षा तो बहुत ही वैराग्य-भाव से ली थी, अपने घरबार, सम्पन्न परिवार और धनसम्पत्ति आदि का त्याग करके उसने संयम का आग्नेयपथ स्वीकार किया था। नाम तो उसका कुछ और ही था, परन्तु वह जैनजगत में माष-तुषमुनि के नाम से प्रसिद्ध हो गया।

गुरुदेव उसे शास्त्रों की वाचना देते, सैद्धान्तिक तत्व समझाते और आध्यात्मिक तत्व ज्ञान देने का पूरा प्रयत्न करते, पर बुद्धिमन्दता के कारण उसे कुछ भी समझ में नहीं आता था। वह अपनी मन्दबुद्धि पर खेद भी प्रकट करता था। गुरु की भक्ति और विनय में कोई कसर नहीं रखता था, फिर भी बुद्धिमन्दता के कारण वह शास्त्राध्ययन एवं चिन्तन नहीं कर सकता था। इस कारण उदास और खिन्न रहने लगा।

एक दिन गुरुदेव ने उसकी खिन्नता और उदासी का कारण पूछा—

वत्स ! तेरे जीवन में इतनी उदासी और खिन्नता क्यों ? साधु जीवन तो निश्चिन्तता, शान्ति और मस्ती का जीवन होता है। तू अपना कुटम्ब-परिवार, घरबार, धनसम्पति आदि सब कुछ छोड़कर निर्ग्रन्थ मुनिधर्म में प्रव्रजित हुआ है। संयम साधना का पवित्र पथ तूने अंगीकार किया है। इस जीवन में खिन्नता कौर उदासी कैसी ? क्या किसी साथी साधु ने तुझे कुछ कह दिया है, या मेरे निमित्त से तेरे हृदय को कोई चोट लगी है ?

शिष्य ने कहा—"गुरुवर ! आपके चरणों में मुझे किसी प्रकार का दुःख नहीं है, न ही आपसे या मेरे किसी साथी साधु से मुझे कोई शिकायत है। आपकी परम कृपा दृष्टि एवं मेरे गुरु भ्राता मुनियों का वात्सल्य मेरे जीवन में परम गौरव का विषय है। आपका यह कथन भी सत्य है कि मुझे साधु जीवन में प्रसन्न और निश्चिन्त रहना चाहिए, किन्तु गुरुदेव ! क्या करूं ? मेरी अपनी मन्दबुद्धि के कारण कोई भी शास्त्रीय ज्ञान स्मृति-पट पर टिक नहीं पाता। मैं शास्त्रों का ठोस और विस्तृत अध्ययन नहीं कर पाता, यही खेद है। आप कोई संक्षिप्त सूत्र दीजिए, जिससे थोड़े-से में मैं अधिक आत्म ज्ञान प्राप्त कर सकूं।"

कृपालु गुरुदेव ने कहा— वत्स ! खेद मत कर ! तुझे मैं एक छोटा-सा सूत्र बताता हूँ, उसे तू याद कर लेगा तो तुझे समस्त शास्त्रों में प्रतिपादित अध्यात्म तत्व का सार ज्ञात हो जाएगा। यह कहकर गुरुदेव ने उस मन्दबुद्धि शिष्य को यह सूत्र रटने को दिया—"मा रुष, मा तुष' अर्थात्—न तो किसी के प्रति द्वेष-रोष करो और न ही राग। साधना का सार समत्व है।

यद्यपि गुरु ने उस शिष्य को मन्दबुद्धि जानकर ही यह छोटा-सा सूत्र दिया था, किन्तु वह बेचारा इतना मन्दबुद्धि था, उसका ज्ञान पूर्व-जन्मार्जित ज्ञानावरणीय कर्म के कारण आवृत था, अतः वह छोटा-सा सूत्र भी याद न रहा और वह 'मा रुष, मा तुष' के बदले रटने लगा—'माष-तुष' जिसका अर्थ होता है-उड़द का छिलका। परन्तु उसे गुरु के प्रति,अपने धर्म एवं उस सूत्र के प्रति अगाध श्रद्धा थी। वीतराग देव एवं अपनी आत्मा के प्रति उसके हृदय में कूट-कूट कर श्रद्धा भरी थी। अतः वह इस सूत्र को गलत रूप में भी देव-गुरु-धर्म का प्रसाद समझ कर रटता रहा। वह अपनी आत्मा, गुरु एवं गुरुवचनों पर पूर्ण श्रद्धा से उस सूत्र को ज्यों-ज्यों रटता जाता था, त्यों-त्यों उसके मन-मस्तिक में उसका अर्थ स्पष्ट होता रहा। उस मन्द बुद्धिशिष्य का आत्मविश्वास दृढ़ हो गया, आत्मा में निहि

अनन्त ज्ञान शक्ति पर उसे प्रतीति हो गई। फलतः 'मा रुष मा तुष' सूत्र के द्वारा गुरु ने तो बताया था कि संसार के किसी भी इष्ट-अनिष्ट पदार्थ के प्रति राग—द्वेष मत करो। इससे तुम्हारी आत्मा शुद्ध, पवित्र, निर्मल हो जाएगी, जिससे तुम्हारा ज्ञान-दर्शन-चारित्र भी पूर्णतः अनावृत हो जाएगा। पर इस सूत्र एवं अर्थ को भूल जाने पर आत्मलक्ष्यी श्रद्धा के बल पर माष तुष शब्द के अर्थ का चिन्तन करता रहा। सोचा—जैसे उड़द और उसका छिलका भिन्न है, वैसे ही मेरी आत्मा और शरीर भिन्न है। काले छिलके के दूर होते ही जैसे अन्दर से श्वेत उड़द निकलता है। वैसे ही शरीर और शरीर से सम्बन्धित पदार्थों के प्रति होने वाले राग- द्वेषादि काले विकारों के आत्मा से दूर होते ही मेरा आत्मा शुद्ध निर्मल रूप में प्रकट हो जाएगा।

यों उस सूत्र का शब्द से गलत, किन्तु अर्थ से यथार्थ, पुनः-पुन चिन्तन, मनन तथा भावात्मक ध्यान करने से उस शिष्य की आत्मा में आवृत ज्ञान, राग-द्वेषादि मालिन्य दूर होते ही सम्यक् हो गया। उक्त मन्दबुद्धि शिष्य को केवलज्ञान-केवलदर्शन का परम आलोक प्राप्त हो गया।

यह था—आत्मनिष्ठ आत्मलक्ष्यी सम्यक् श्रद्धा का प्रभाव, जिसने ज्ञान पर आए हुए आवरण को सर्वथा मिटा कर केवलज्ञान का महा प्रकाश प्रकट कर दिया।

सम्यक् श्रद्धा की परख

सम्यक् श्रद्धा के लिए इस प्रकार की दृढ़ निष्ठा प्रतीति या लगन अनिवार्य है। बहुत-से लोगों को पदार्थ ज्ञान तो बहुत होता है, किन्तु अंतर् से उस पर पक्की श्रद्धा नहीं होती, बनावटी या औपचारिक श्रद्धा सम्यक् श्रद्धा का स्थान नहीं ले सकती। इसीलिए उत्तराध्ययन सूत्र में कहा गया है—

'भावेण सद्दहंतस्स सम्मत्तं तं वियाहियं।'

भाव से—अन्तःकरण से जो निश्चय पूर्वक श्रद्धा करता है, उसी की श्रद्धा को सम्यक् श्रद्धा (सम्यक्त्व) कहा गया है।

सम्यक् श्रद्धा का स्वरूप अगर ऐसा न होता तो जो प्रखर-बुद्धि वाला व्यक्ति शास्त्र या ग्रन्थ पढ़ सुन कर जिनोक्त तत्व-भूत नौ या सात पदार्थों के नाम, भेद-प्रभेद, अर्थ-लक्षण या परिभाषाएँ रट-रटा कर कण्ठस्थ कर

लेता है, उन पर चर्चा, शंका-समाधान एवं भाषण कर लेता है, वाणी से श्रद्धा भी उन पर तथा देव-गुरु-धर्म पर प्रकट कर देता है, दूसरों को भी तीन श्रद्धेय तत्वों तथा नौ तत्वों का स्वरूप भली-भाँति समझा देता है, परम्परागत संस्कारों के कारण वह धर्म-संप्रदाय के गुरुओं से तत्व भूत पदार्थों की जानकारी कर लेता है, कहता भी है, मेरी पक्की श्रद्धा है इन तत्वों तथा श्रद्धेय त्रिपुटी के प्रति। ये व ऐसे तथाकथित व्यक्ति तब तक सम्यक् श्रद्धा युक्त नहीं कहलाते, जब तक ज्ञेय से तत्वों को जानकर उपादेय को ग्रहण करने और हेय को त्यागने की ओर उनका झुकाव न हो। उसकी श्रद्धा शब्दात्मक न होकर अनुभवात्मक हो, तभी व्यवहार दृष्टि से सम्यक् श्रद्धा हो सकेगी।

आत्मलक्ष्यी सम्यग्श्रद्धा के अभाव में

जो व्यक्ति सम्यक् श्रद्धा पर निष्ठा-भक्ति नहीं रखता, केवल अनेकविध शास्त्रों को रट रटा कर बाह्य ज्ञान में वृद्धिकर लेता है, वह अहंकार, ईर्ष्या आदि दुर्गुणों से घिर जाता है।

आचार्य अंगारमर्दक का नाम जैन जगत् में प्रसिद्ध है। वे अपने युग के महान् विद्वान एवं प्रतिभाशाली आचार्य थे। उनके पाण्डित्य का सभी लोहा मानते थे। बड़े-बड़े धनाढ्य और सत्ताधीश भी उनके चरणसेवी थे। उनकी शिष्य मण्डली भी बहुत बड़ी थी। एक से एक बढ़कर सुन्दर, सुकुमार किन्तु सुख-शान्ति के इच्छुक राजकुमार उनके उपदेशों से विरक्त हो कर उनसे साधु जीवन अंगीकार कर चुके थे। आचार्य की तर्कशक्ति, ग्रहणशक्ति, स्फुरणाशक्ति, धारणाशक्ति और प्रतिभाशक्ति भी अनूठी थी। वे किसी भी विषय पर इतनी गहराई विश्लेषण, विवेचन करते थे कि श्रोतागण मन्त्र मुग्ध हो जाते थे वाद-विवाद में भी वे ऐसे अकाट्य तर्क, युक्तियाँ और प्रमाण प्रस्तुत करते थे कि प्रतिपक्षी प्रभावित होकर नतमस्तक हो जाता था। वे विद्याओं और प्रज्ञा के भण्डार थे। जहाँ कहीं भी वे पधारते, जन समुदाय उनकी अमृतस्रावि‌णी वाणी सुनने को उत्कण्ठित रहता था। परन्तु इतना सब होते हुए भी आत्मिक विकास के सर्वप्रथम आलोक सम्यक् श्रद्धा की सम्पत्ति उनके पास नहीं थी। आचार्य पद पर आरूढ़ होने पर भी उनके हृदय में आत्मा के अस्तित्व, उसकी शुद्धि और परिपूर्णता के उपाय के विषय में उन्हें श्रद्धा निष्ठा नहीं थी। वाणी से वे आत्मा-परमात्मा विषय पर लच्छेदार, रोचक एवं प्रभावशाली भाषण दे

देते थे, किन्तु वाणी उनके अन्तर् को नहीं छू पाई थी। एक नगर में जब वे पधारे तो वहाँ के राजा ने उनकी परीक्षा करने के विचार से उनके निवास स्थान के बाहर बारीक कोयले के चूरे का ढेर लगवा दिया। रात्रि को जब उनके शिष्य लघु शंका—परिष्ठापन करने के लिए बाहर निकलते, तो कोयले के चूरे में लघु जीव होने की शंका से वापस लौटने लगे। यों एक-एक करके ५०० ही शिष्य वापस लौट गए और आचार्य से वहाँ लघु शंका न परठने का कारण सुनाया। आचार्य सबकी बात सुनकर आवेश में आए और कोयले के चूरे पर दबादब चल पड़े। कहने लगे—'कहाँ हैं यहाँ जीव? ये तो कोयले हैं।" जीवों के विषय में उन्होंने कोई छानबीन भी नहीं की, जो शिष्य तर्क करता, उसे वे डाँट कर मुँह तोड़ जबाब दे देते। इस प्रकार वे बेखटके उन कोयलों को रौंदते हुए चले गए। राजा ने उनके इस आचरण के विषय में सुना तो समझ गए कि ये आचार्य विद्वान तो हैं, किन्तु केवल वाणीशूर हैं, इनका हृदय आत्मा-परमात्मा की आस्था से शून्य है, जबकि इनके शिष्य आस्थावान हैं। अतः शब्दात्मक श्रद्धा जब तक आत्म लक्ष्ली एवं अनुभवात्मक न हो तब तक वह सम्यक् श्रद्धा नहीं है। ●

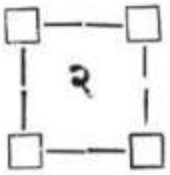

सुश्रद्धा की उपलब्धि का व्याकरण

सुश्रद्धा की उपलब्धि सम्भव है

अनन्त आकाश में प्रकाशमान स्वच्छ, सौम्य और निर्मल चन्द्रमा कितना रमणीय और आकर्षक लगता है ? उसका प्रकाश भी कितना शीतल सौम्य और मनोरम लगता है ? परन्तु इस प्रकार के शीतल सौम्य एवं लोकप्रिय चन्द्रमा को कोई पकड़ कर अपने घर में रखना चाहे तो कथमपि सम्भव नहीं है। चन्द्रमा को इस प्रकार उपलब्ध करना प्रायः असम्भव है। किसी भी पदार्थ का सुन्दर रुचिकर सौम्य एवं प्रकाशकर होना या लगना एक बात है और उसे उपलब्ध या प्राप्त करना अलग बात है। लाख प्रयत्न करने पर भी चन्द्रमा को हाथों से पकड़ना और उसे घर में रख लेना सम्भव नहीं है।

परन्तु अध्यात्म-गगन में प्रकाशमान, स्वच्छ, निर्मल सम्यग्दृष्टि (सुश्रद्धा) अध्यात्म-विकास के इच्छुक व्यक्ति को जैसे प्रिय और रुचिकर लगती है, वैसे ही उसकी उपलब्धि भी सम्भव है। कलानिधि चन्द्रमा को पकड़ने के समान सम्यग्दृष्टि या सुश्रद्धा का उपलब्ध करना असम्भव नहीं है। उसे आत्मारूपी गृह में ले आना भी चन्द्र की तरह असम्भव नहीं है।

तात्पर्य यह है, कि चन्द्रमा को प्रिय और रुचिकर देखकर कोई उसे सहस्रों वर्षों के पश्चात् भी उपलब्ध करना चाहे तो नहीं कर सकता, वैसा सुश्रद्धा (सम्यग्दृष्टि) की प्राप्ति या उपलब्धि के सम्बन्ध में नहीं है। सुश्रद्धा की उपलब्धि या प्राप्ति का उपाय कठिनतम हो सकता है, किन्तु वह कोई बाह्य—आत्मबाह्य पदार्थ नहीं है, वह आत्मा का ही निज गुण है। आत्मा

के सम्यग्दर्शन गुण पर छाये हुए मिथ्यात्व मोह के गाढ़ आवरण को हटा देने से व्यक्ति में सम्यक् श्रद्धा प्रकट हो सकती है, चाहिए उसके लिए दृढ़ श्रद्धा, मुमुक्षा और तीव्रतम साधना।

सम्यग्दृष्टि (सुश्रद्धा) की उपलब्धि का अर्थ

सम्यग्दर्शन या सम्यक् श्रद्धान की उपलब्धि या प्राप्ति का अर्थ यह नहीं है कि आत्मा में पहले दर्शन या श्रद्धान था ही नहीं और अब वह नया उपलब्ध या उत्पन्न हो गया है। दर्शन की इस प्रकार अकस्मात् उत्पत्ति मानने का अर्थ होगा, किसी दिन उसका विनाश भी सम्भव है। तात्पर्य यह है कि सम्यक् श्रद्धा या सम्यग्दृष्टि की उत्पत्ति या उपलब्धि का अर्थ किसी नये पदार्थ का जन्म नहीं है, बल्कि आत्मा का जो श्रद्धान या दर्शन विकृत हो गया है, उसका अविकृत हो जाना, जो पराभिमुख हो गया है उसका स्वाभिमुख हो जाना,जो श्रद्धा मिथ्या हो गई है उसका सम्यक् हो जाना है। श्रद्धान या दर्शन आत्मा का निज गुण है, उसी की ही मिथ्या और सम्यक् दोनों पर्याय हैं। मिथ्यादर्शन और सम्यग्दर्शन दोनों में ही 'दर्शन' शब्द का प्रयोग हुआ है। इसका तात्पर्य यह है कि दर्शन या श्रद्धान गुण कभी मिथ्या होता है, कभी सम्यक्। मिथ्यादर्शन का फल है संसार और सम्यग्-दर्शन का फल है— मोक्ष। जैसे अन्धकार और प्रकाश दोनों एक साथ नहीं रह सकते, वैसे ही दर्शन गुण की मिथ्या और सम्यक् दोनों पर्यायें एक साथ नहीं रह सकती।

निष्कर्ष यह है कि दर्शन या श्रद्धान गुण कोई बाहर से आने वाला नहीं है, वह तो आत्मा में सदा सर्वदा से विद्यमान है। इसलिए सम्यग्दर्शन उपलब्ध या प्राप्त कर लिया, इसका अर्थ यह नहीं है कि व्यक्ति में इससे पूर्व दर्शन था ही नहीं और आज वह नया उपलब्ध हो गया है, इसका स्पष्ट अर्थ इतना ही होगा कि आत्मा में जो दर्शनगुण अनन्तकाल से विद्य-मान था, उसकी मिथ्यात्वपर्याय का त्याग करके उसने सम्यक्त्व-पर्याय को प्राप्त कर लिया है। शास्त्रीय भाषा में इसे ही सम्यग्दर्शन या सम्यक् श्रद्धा की उपलब्धि या प्राप्ति कहा जाता है।

जैन सिद्धान्त के अनुसार सम्यग्दर्शन की उपलब्धि या प्राप्ति का यही अर्थ यहाँ अभीष्ट है कि सम्यग्दर्शन मूलतः कोई नई प्राप्त करने जैसी वस्तु नहीं है, बल्कि जिसकी सत्ता आत्मा में सदा से थी, उसी को शुद्ध रूप

में जानना, पहचानना और देखना। एक वाक्य में कहे तो सम्यग्दर्शन की उपलब्धि का अर्थ है—मिथ्यात्वभाव को हटाकर उसे सम्यक् बनाना।

आत्मा में अनन्त-अनन्त सद्गुणों की राशि भरी हुई है। किन्तु उसका परिबोध या सम्यक् ज्ञान-भान न होने से वह सांसारिक इन्द्रिय-जनित विषय-सुखों का भिखारी बना हुआ है। वह मिथ्याश्रद्धा के कारण संसार में रहता हुआ आत्मिक सुख की प्राप्ति के बदले दुःखबीज वैषयिक सुखों के दलदल में फँसा हुआ है। आत्मा में अनन्त ज्ञान, दर्शन, चारित्र का अक्षय भण्डार भरा हुआ है, लेकिन मिथ्यादर्शन, अज्ञान एवं मोह के आवरण के कारण जीव को इसका ज्ञान-भान नहीं है। इसलिए अनन्त शक्ति का स्वामी होकर भी आत्मा मिथ्याश्रद्धा के कारण आज से ही नहीं, अनन्तकाल से अपने आपको दीन, हीन, अनाथ एवं असमर्थ समझता आया है। जिस दिन उसे अपनी उस अनन्त अक्षय निधि की स्पष्ट प्रतीति हो जाती है, उसी दिन अपने स्वरूप का सम्यक् बोध या दर्शन हो जाता है, और मिथ्यात्व, अज्ञान एवं मोह का अन्धकार भाग जाता है, सम्यग्दर्शन का सूर्य प्रादुर्भूत हो जाता है, आत्मा के उस दिव्य आलोक पर से आवरण दूर हो जाता है, यही सम्यग्दर्शन की उपलब्धि, प्राप्ति या आविर्भाव है।

सम्यक्श्रद्धा की उपलब्धि होने पर

सम्यक्श्रद्धा की उपलब्धि या प्राप्ति होते ही आत्मा को यह स्पष्ट प्रतीति या दृढ़ निश्चय हो जाता है कि 'मैं केवल आत्मा हूँ, अन्य कुछ नहीं। मेरी आत्मा में अपार शक्ति है, असीम बल-वीर्य है। मैं केवल चेतन हूँ, जड़ नहीं। मैं सदा शाश्वत हूँ, नित्य हूँ, अच्छेद्य हूँ, अभेद्य हूँ, अदाह्य हूँ, अशोष्य हूँ, क्षणभंगुर, नाशवान या छेदन-भेदन योग्य नहीं। न मेरा कभी जन्म होता है, न मरण। मैं शरीर, इन्द्रिय, मन, बुद्धि, वाणी आदि से पर हूँ, अलग हूँ। ये जन्म-मरण मेरे नहीं, शरीर के हैं। मेरा यह शरीर ही जन्म-मरण करता है, मैं नहीं। मैं अजर-अमर, अविनाशी, अनन्त ज्ञान, दर्शन, सुख और वीर्य (शक्ति) से संपन्न आत्मा हूँ। सम्यग्दर्शन की उपलब्धि होने पर व्यक्ति को यह प्रतीति हो जाती है कि—

[1]**एकः सदा शाश्वतिको ममात्मा, विनिर्मलः साधिगमस्वभावः।**
बहिर्भवा सन्त्यपरे समस्ताः, न शाश्वताः कर्मभवाः स्वकीयाः॥

---

१ सामायिक पाठ श्लोक २६।

"मेरी आत्मा सदा अकेली-एकाकी है, वह शाश्वत-अविनाशी है, शुद्ध-निर्मल है, ज्ञान उसका स्वभाव है। शेष दूसरे जितने भी पदार्थ हैं, वे सब बाह्य हैं, सभी आत्मा से भिन्न हैं। कर्मोदय से प्राप्त, व्यवहार दृष्टि से अपने कहे जाने वाले जो भी बाह्य भाव हैं, वे सब अशाश्वत हैं, अनित्य हैं, नाशवान हैं।

इस प्रकार का बोध होने से अब तक अज्ञान, मोह और मिथ्यात्व के कारण जो यथार्थ बोध आवृत, अज्ञात और अनुपलब्ध था, वह अनावृत, ज्ञात और उपलब्ध प्रतीत होने लगता है। यही सही अर्थों में सम्यक् श्रद्धा या सम्यग्दर्शन की उपलब्धि है। अपने में आत्मगुणों की, स्व-स्वभाव की, आत्मस्वरूप तथा आत्मशक्तियों की सत्ता की प्रतीति और दृढ़ श्रद्धा होना ही सम्यग्दर्शन की वास्तविक उपलब्धि या प्राप्ति है।

प्रश्न होता है कि आत्मा सत्-चित् आनन्दरूप से सदैव एक-सा रहा है। वह आत्मा से अनात्मा या अनात्मा से आत्मा कभी नहीं हुआ, न ही हो सकता है। उसके स्वरूप में कोई क्षति या कमी नहीं हुई। न ही उसका कोई अंश बना या बिगड़ा फिर क्या कारण है कि संसारी आत्मा कभी किसी और कभी किसी अन्य अभाव या कमी का रोना रोता-विलखता है? वह अपने अन्दर अनन्त सुख का निधान होते हुए भी वैषयिक सुखों की भीख क्यों मांगता फिरता है? आत्मा को अजर-अमर अविनाशी शाश्वत मान लेने पर किसी प्रकार का अभाव न रहना चाहिए, फिर भी वह अमुक अभीष्ट सांसारिक सजीव-निर्जीव पदार्थों की मांग क्यों करता फिरता है।

इसके मुख्यतया दो कारण हो सकते हैं—(१) या तो उसे अपनी अस्तित्व, नित्यत्व एवं अजर अमरत्व का भान और विश्वास नहीं है, (२) या फिर उसे आत्मा की अनन्त शक्तियों पर विश्वास या निश्चय नहीं है।

आत्मा की सत्ता तथा शाश्वतता का ज्ञान और उसकी अनन्त शक्तियों का भान एवं निश्चय, एक ही वस्तु नहीं है। आत्मा की शाश्वतता का परिज्ञान होने पर भी जब तक उसकी अनन्त शक्तियों का बोध, निश्चय एवं दृढ़ विश्वास नहीं होता, तथा उन शक्तियो के प्रकटीकरण का परिज्ञान नहीं होता, तब तक शक्ति के रहते हुए भी व्यक्ति कुछ नहीं कर सकता। अतः आत्मा में निहित अनन्त गुण राशि शक्ति एव उनके प्रकटीकरण का

बोध, तथा उसके प्रति दृढ़ श्रद्धान एवं निश्चय हो जाता है, तभी समझना चाहिए कि उस व्यक्ति को सम्यग्दर्शन या सम्यक्श्रद्धा की उपलब्धि हो चुकी है।

सम्यग्दर्शन की उपलब्धि स्वतः या परतः ?

अब प्रश्न होता है कि सम्यग्दर्शन या सम्यक्श्रद्धा की ऐसी उपलब्धि, आविर्भाव या प्राप्ति व्यक्ति को स्वतः होती है या परतः ? अर्थात्—किसी व्यक्ति को कोई महापुरुष, गुरु या शास्त्र सम्यग्दर्शन की उपलब्धि करा देता है या उस व्यक्ति के स्वयं के पुरुषार्थ से सम्यग्दर्शन की उपलब्धि होती है ?

जैन दर्शन इसका समाधान इस प्रकार करता है कि वस्तुतः गुरु, महापुरुष या शास्त्र किसी भी साधक में नई बात पैदा नहीं कर सकते हैं, इस दृष्टि से वे ऊपर से किसी व्यक्ति में सम्यग्दर्शन नहीं उड़ेल देते; किन्तु व्यक्ति की आत्मा के अन्दर जो शक्ति है, जो ज्ञान-दर्शनादि गुण हैं, उसकी स्मृति, प्रतीति या बोध करा देते हैं। जो शक्ति या जो गुण स्मृति से ओझल हो चुके हैं, जो उसे अज्ञात हैं, उसी का वे स्मरण या ज्ञान करा देते हैं। जिस व्यक्ति को अपनी शक्तियों या आत्म-गुणों का भान मोह तथा अज्ञान के कारण नहीं है, अथवा मिथ्यात्व के कारण विपरीत भान है, उसे यथार्थ रूप में स्मरण या भान करा देना ही तीर्थंकर, गुरु या शास्त्र का काम है। परन्तु अगर मोहकर्मवश किसी व्यक्ति को जिज्ञासा, दृष्टि या रुचि अथवा श्रद्धा उन महान् आत्माओं से या शास्त्रों से आत्म-स्वरूप को जानने-मानने की न हो, अथवा उन महापुरुषों, गुरुओं या सत् शास्त्रों के प्रति अश्रद्धा के कारण वे जानना-मानना ही न चाहे तो उस व्यक्ति के लिए सम्यग्दर्शन की उपलब्धि स्वतः या परतः दोनों प्रकार से दुर्लभ है।

घर में बहुत-सी चीजें पड़ी हैं। व्यक्ति बाहर से घूम-घामकर घर में प्रविष्ट होता है, परन्तु अंधेरे के कारण उन चीजों का पता नहीं लग रहा है। सभी चीजें हैं, पर अंधकार के कारण सारे परिवार को वे दिखाई नहीं देती, अदृश्य हैं, अज्ञात हैं। घर का मालिक ज्यों ही दीपक जलाता है, सारे घर में उजाला हो जाता है। अन्धकार उस घर से बिल्कुल भाग जाता है। प्रकाश के सद्भाव से अन्धकार ही नहीं भागा, बल्कि घर में बहुत-सी चीजें मौजूद होती हुई भी दीख नहीं पा रही थीं, वे भी दीपक के

प्रकाश के कारण दीखने–प्रतीत होने लगीं। दीपक के प्रकाश ने किसी नई चीज को उत्पन्न किया है, ऐसा तो नहीं कहा जा सकता; किन्तु घर में पहले से ही जो चीजें मौजूद थीं, अन्धकार के कारण उनकी प्रतीति नहीं हो रही थी, दीपक के प्रकाश ने उन चीजों की प्रतीति करा दी, दिखा दीं।

इसी प्रकार गुरु, तीर्थंकर या सुशास्त्र व्यक्ति के जीवन में कोई नई वस्तु पैदा नहीं करते, न ही कोई वस्तु उसके अन्दर उड़ेलते हैं, बल्कि अज्ञान, मोह और मिथ्यात्व के अन्धकार के कारण उसकी आत्मा में निहित शक्तियों और गुणों की प्रतीति नहीं हो रही थी, उनका ज्ञान-भान नहीं हो रहा था, उनका भान या बोध करा दिया। तात्पर्य है कि जिज्ञासु आत्मार्थी या मुमुक्षु साधक के पास जो कुछ आध्यात्मिक निधि है, जो अनन्त ज्ञान, दर्शन, सुख, और वीर्य (शक्ति) का खजाना है, जिसका ज्ञान या भान उसे नहीं था, उस अनन्त शक्ति या निधि का ज्ञान वे करा देते हैं।

मान लीजिए, एक दरिद्र भिखारी है। उसके घर की जमीन के नीचे असंख्य रत्नों का ढेर छिपा—दबा पड़ा है। किसी भूगर्भवेत्ता ने दया करके उसे उसकी दबी हुई रत्न राशि का ज्ञान-भान करा दिया। दरिद्र को छिपी-दबी हुई रत्नराशि का निश्चय और दृढ़ विश्वास हो जाने पर क्या वह दीन-हीन भिखारी रह सकता है ? कदापि नहीं। फिर तो उसकी दरिद्रता सम्पन्नता में बदल जाएगी। वह अपने आपको भिखारी न मानकर रत्नराशि का स्वामी मानने लगेगा। यही बात सम्यग्श्रद्धाविहीन साधक के विषय में समझिए। जब तक उसे अपनी आत्मा में निहित अनन्त शक्ति एवं गुण रत्नराशि का भान—ज्ञान नहीं है, तब तक वह दीन-हीन इन्द्रिय विषय सुखों का भिखारी बना रहता है, परन्तु ज्यों ही किसी कृपालु गुरु, तीर्थंकर या सुशास्त्र के द्वारा उसे निश्चित एवं प्रतीत हो जाता है, कि उस की आत्मा में अनन्त शक्ति एवं ज्ञान, दर्शन तथा सुख का अक्षय निधान दबा-छिपा हुआ है, इस प्रकार सम्यग्दर्शन की उपलब्धि होते ही, वह दीन-हीन एवं अभागा नहीं रह सकता। उसके मोह, अज्ञान एवं मिथ्यात्व का अन्धेरा भागते ही, उसे गुरु, शास्त्र या महापुरुषों के ज्ञान के प्रकाश में अपनी आत्म–शक्ति एवं आत्मगुणनिधि का पता लग जाता है।

तीर्थंकर, गुरु या शास्त्र नया कुछ भी नहीं करते, वे इतना ही करते हैं कि स्वशक्ति से विस्मृत एवं अज्ञात आत्मा को उसकी अनन्त शक्ति एवं गुणनिधि का भान, स्मरण, बोध या निश्चय करा देते हैं। जिस प्रकार

प्रकाशरहित दीपक को एक बार प्रकाश-साधन का स्पर्श कराने मात्र से वह स्वयं ही प्रकाशित हो जाता है, इसी प्रकार इन्द्रिय-विषयभोगों में आसक्त, मोह एवं अज्ञान से आवृत, एवं स्व-शक्ति से अज्ञात आत्मा को देव, गुरु और शास्त्र उसके आत्मिक गुणों से आत्म-शक्तियों से स्पर्श भर कराने का प्रयत्न करते हैं। इसे ही भक्ति की भाषा में भगवत्कृपा से, गुरु के अनुग्रह से या शास्त्र के निमित्त से सम्यग्दर्शन उपलब्ध या प्राप्त हुआ कह सकते हैं।

सम्यग्दर्शन की उपलब्धि में बाह्य एवं अन्तरंग कारण

यह कहा जा सकता है कि सम्यग्दर्शन की उपलब्धि के बाह्य निमित्त वीतरागदेव, निर्ग्रन्थ गुरु या सुशास्त्र आदि हैं। परन्तु अन्तरंग कारण तो स्वयं की ही आत्मा के गुणों और शक्तियों पर दृढ़ श्रद्धा-प्रतीति-रुचि है।

सम्यग्दर्शन कोई आत्म-बाह्य पदार्थ नहीं है, वह आत्मा का ही निज-गुण है। उस पर मिथ्यात्व-मोहनीयकर्म का आवरण आ गया है। उसे हटाने भर की देर है, फिर तो सम्यग्दर्शन स्वतः उपलब्ध या आविर्भूत हो सकता है, निमित्त चाहे देव, गुरु, या शास्त्र बने या और कोई। सम्यग्दर्शन की उपलब्धि के बाह्य निमित्त तो अनेक हो सकते हैं। किसी को तीर्थंकर भगवान् की महिमा देखकर, किसी को देवों का ऐश्वर्य देखकर, किसी को जैन धर्म के सिद्धान्त सुनकर तो किसी को धर्म का सुफल जानकर सम्यग्दर्शन प्राप्त हो जाता है। किसी को नारकों के घोर दुःखों की गाथा सुनकर तो किसी को अपने पूर्वजन्म का स्मरण हो जाने से सम्यग्श्रद्धा प्राप्त हो जाती है। इसी प्रकार के और भी अनेकों बाह्य कारण हो सकते हैं। परन्तु जब तक सम्यग्दर्शन की उपलब्धि के अन्तरंग कारण का संयोग नहीं मिलता, तब तक बाह्य कारण मिलने पर भी वह प्रकट नहीं हो पाता।

सम्यग्दर्शन के प्रादुर्भाव होने में अन्तरंग कारण दर्शन-मोहनीयकर्म का क्षय, उपशम या क्षयोपशम है। मोहनीयकर्म के भेदों में दर्शनमोहनीय-कर्म ही मुख्य रूप से सम्यग्दर्शन गुण का घातक है। जब तक इस कर्म का उदय रहता है, तब तक सम्यग्दर्शन गुण प्रकट नहीं हो पाता। यद्यपि सम्यग्दर्शन आत्मा का निजीगुण है, किन्तु दर्शनमोहनीय कर्म के उदय के कारण मिथ्यारूप हो रहा है। उसके मिथ्यारूप होने से जीव की श्रद्धा, प्रतीति और रुचि उन कार्यों में या उन कार्यों के उपदेशदाताओं के प्रति

नहीं होती, जिनसे उसका सच्चा और स्थायी कल्याण एवं विकास हो सकता है। इसके विपरीत उसकी श्रद्धा, प्रतीति या रुचि विषय-भोग आदि सांसारिक कार्यों में होती है जिनसे उसका अधःपतन होता है, विकास रुकता है। यदि व्यक्ति अपनी साधना द्वारा आत्म-बोध पाकर उस अनन्त-कालीन मिथ्यात्व-आवरण को दूर कर सके तो आत्मा उस दिव्य आलोक अव्यक्त अवस्था से व्यक्त अवस्था में आ जाएगा, अर्थात्—वह आवृत दशा को छोड़कर अनावृत दशा में पहुँच जाएगा। मिथ्यात्व के आवरण को मिटाकर सम्यग्दर्शन के प्रकाश को अनावृत करना ही तो सम्यग्दर्शन की उपलब्धि है।

वैसे तो काललब्धि आदि का योग मिलने पर संसार-समुद्र का किनारा निकटवर्ती हो जाये तो अन्तर्मुहूर्त के लिए दर्शनमोहनीय का उपशम हो जाने से उपशम-सम्यक्त्व प्रकट हो जाता है।

जिस प्रकार शराब या धतूरे के नशे से बेहोश मानव का जब नशा उतर जाता है, तब उसे होश होता है, उसी प्रकार दर्शनमोहनीय के उदय से जीव में एक विचित्र प्रकार का नशा छाया रहता है। इसी के कारण उसे हर समय बुद्धिभ्रम बना रहता है। अनेक शास्त्र एवं दर्शनों का विद्वान् होने पर भी उसकी बुद्धि में संशय, विपर्यय और अनध्यवसाय बना रहता है। दर्शनमोहनीय का उदय शान्त होते ही उसकी बौद्धिक भ्रान्ति मिट जाती है, उसकी दृष्टि, श्रद्धा और रुचि सम्यक् हो जाती है।

कतिपय आचार्यों के मतानुसार शुद्ध आत्मा की अनुभूति (उपलब्धि या ज्ञप्ति) को रोकने वाला दर्शनमोहनीय कर्म के साथ-साथ अनन्तानुबन्धी कषायजनित चारित्रमोहनीयकर्म भी है। अतः दर्शनमोहनीयकर्म तथा अनन्तानुबन्धी कषायचतुष्क के क्षय, उपशम और क्षयोपशम के साथ मति-ज्ञानावरणीयकर्म एवं वीर्यान्तरायकर्म के क्षयोपशम होने से शुद्ध आत्मा की उपलब्धि या अनुभूति होती है। अभिप्राय यह है कि निश्चय सम्यग्दर्शन की उपलब्धि के लिए दर्शनमोहनीय की तीन प्रकृतियों तथा अनन्तानुबन्धी कषायचतुष्क का क्षय, क्षयोपशम एवं उपशम होना अनिवार्य है।

इस तरह अन्तरंग एवं बाह्य कारणों के मिलने पर सम्यग्दर्शन की उपलब्धि होती है।

सम्यग्दर्शन की उत्पत्ति के दो स्रोत

तत्वार्थ सूत्र में सम्यग्दर्शन की उत्पत्ति के दो स्रोत बताये गए हैं—

(१) निसर्ग से और (२) अधिगम से। जो सम्यग्दर्शन दूसरे किसी व्यक्ति—तीर्थंकर, गुरु, हितैषी या विद्वान अथवा शास्त्र आदि किसी के उपदेश के बिना स्वतः हो जाता है, उसे निसर्गज सम्यग्दर्शन कहते हैं और जो सम्यग्-दर्शन तीर्थंकर गुरु, महात्मा, हितैषी या विद्वान अथवा लौकिक आप्त—माता-पिता आदि के उपदेश से प्राप्त होता है, वह अधिगमज कहलाता है। निसर्ग का अर्थ है—स्वभाव, परिणाम अथवा अपरोपदेश। जो किसी भी पर-संयोग, बाह्य निमित या गुरु आदि के उपदेश के बिना जीव को स्वाभाविक रूप में, स्वतः ही प्रकट या उत्पन्न होता है, उसे निसर्गज सम्यग्दर्शन कहते हैं। निसर्गज सम्यग्दर्शन में किसी बाह्य निमित्त की अपेक्षा नहीं रहती। स्वयं आत्मा में ही सहज भाव से जो स्वरूप की ज्योति उपलब्ध होती है, सत्य दृष्टि या सम्यक् श्रद्धा का आलोक जगमगाने लगता है। निसर्गज सम्यग्दर्शन का उपादान एवं निमित्त कारण आत्मा स्वयं ही होती है।

जिस प्रकार सरिता के अथाह प्रवाह में बहता हुआ पाषाण किसी विशिष्ट प्रयास के बिना स्वाभाविक रूप से गोल-मटोल एवं चिकना हो जाता है, उसी प्रकार संसार में भटकते हुए—संसाराभिमुख होकर भ्रमण करते हुए प्राणी के कदाचित् अनायास ही मोहकर्मावरण के अल्प हो जाने से, सहज भाव से, यथार्थता का बोध होने पर संसार को पीठ पीछे छोड़कर यानी संसार की मोहमाया से निरपेक्ष—उदासीन होकर वह मोक्ष की ओर दौड़ लगाने लगता है। आत्मा की इसी स्थिति को निसर्गज सम्यग्दर्शन कहा जाता है।

तत्वार्थ सूत्र के भाष्यकार आचार्य उमास्वाति निसर्गज सम्यग्दर्शन की उत्पत्ति की प्रक्रिया बताते हुए कहते हैं—ज्ञान-दर्शनोपयोग लक्षणरूप जीव को कर्मवश अनादिकाल से संसार में परिभ्रमण करते हुए स्वयंकृत कर्म के बन्ध, निकाचन, उदय और निर्जरा आदि के कारण नारक, तिर्यञ्च मनुष्य और देव के रूप में अनेक जन्म ग्रहण करने पर पुण्य-पापरूप विविध फल भोगते हुए ज्ञानदर्शनोपयोगरूप स्वभाव होने से उन परिणामों तथा अध्यवसाय-स्थानों को प्राप्त अनादि मिथ्यादृष्टि होते हुए भी विलक्षण परिणाम-विशेष से ऐसा 'अपूर्वकरण' होता है, जिसके कारण किसी बाह्य निमित्त के बिना स्वतः जो सम्यग्दर्शन होता है, वही निसर्गज सम्यग्-दर्शन है।

प्रश्न होता है—यदि निसर्गज सम्यग्दर्शन स्वभावतः—स्वतः होता है, तो क्या उसमें किसी भी कारण की अपेक्षा नहीं रहती ?

इसका समाधान यह है कि निसर्गज सम्यग्दर्शन का यह अभिप्राय नहीं है कि उसमें किसी भी कारण की अपेक्षा नहीं रहती। सम्यग्दर्शन, चाहे निसर्गज हो या अधिगमज दोनों में ही कारण की अपेक्षा तो रहती ही है। क्योंकि न्यायशास्त्र का यह अबाधित नियम है कि कारण के बिना किसी भी कार्य की उत्पत्ति नहीं होती। अतः निसर्गज सम्यग्दर्शन की उत्पत्ति में भी कोई न कोई कारण अवश्य है। कार्य की उत्पादक-सामग्री कारण कहलाती हैं। वह दो प्रकार का है—उपादान और निमित्त कारण। उपदान है—निज शक्तिरूप या निश्चयरूप कारण और निमित्त है—पर-संयोग रूप या व्यवहाररूप कारण। सम्यग्दर्शनरूप कार्य की उत्पत्ति में उपादान कारण तो स्वयं आत्मा ही है। क्योंकि दर्शन आत्मा का निज गुण है। दर्शन की अशुद्धपर्याय को मिथ्यादर्शन और शुद्ध पर्याय को सम्यग्दर्शन कहते हैं। यहाँ मिथ्यात्वरूप अशुद्ध पर्याय का व्यय (नाश) और सम्यक्त्वरूप शुद्ध पर्याय उत्पाद ही सम्यग्दर्शन है।

यहाँ स्वभाव से सम्यग्दर्शन प्राप्ति का आशय है—अपने (आत्मा के) शुद्ध परिणामों से, आत्मा के शुद्ध अध्यवसायरूप पुरुषार्थ से स्वतः प्राप्त सम्यग्दर्शन। अगर स्वभावतः प्राप्त का अर्थ बिना ही किसी शुद्ध परिणाम के, या आत्मा के पुरुषार्थ के बिना स्वतः प्राप्त कहें या निसर्गज कहें, तब तो सम्यग्दर्शन की प्राप्ति में अनन्तानुबन्धी चार कषाय तथा मोहनीय-त्रिक, इन सात प्रकृतियों का क्षय, उपशम या क्षयोपशम की क्या आवश्यकता है ? परन्तु ऐसा कहना सिद्धान्तविरुद्ध है। सम्यग्दर्शन चाहे निसर्गज हो चाहे अधिगमज दोनों में अन्तरंग कारण समान है। दोनों में अनन्तानुबन्धी कषायचतुष्क और दर्शनमोहनीयत्रिक, इन सात प्रकृतियों का क्षय, उपशम या क्षयोपशम करना ही पड़ता है। अर्थात् आत्मशुद्धि का जितना मार्ग अधिगमज सम्यग्दर्शन में तय करना पड़ता है, उतना ही मार्ग निसर्गज सम्यक्दर्शन में भी तय करना पड़ता है। इस दृष्टि से निसर्गज और अधिगमज सम्यग्दर्शन में विशेष अन्तर नहीं है। दोनों में अन्तरंग कारण समान है। उपादान की शक्ति दोनों ही जगह एक सी काम करती है। दोनों की स्वरूप शुद्धि—आध्यात्मिक शुद्धि का स्वरूप एक सा है। दोनों में अन्तर केवल इतना ही है कि निसर्गज सम्यग्दर्शन बाह्य निमित्तनिरपेक्ष है और अधिगमज सम्यग्दर्शन बाह्य निमित्तसापेक्ष है।

वास्तव में देखा जाए तो गुरु आदि के उपदेश, शास्त्र स्वाध्याय या किसी मार्गदर्शक की प्रेरणा आदि बाह्य निमित्तों की अपेक्षा के बिना ही स्वयं आत्मा की विशुद्ध परिणतिरूप उपादान शक्ति से जब अनन्तानुबन्धी (कषायचतुष्क) और दर्शनमोहनीय (त्रिक) कर्म का क्षय, उपशम या क्षयोपशम हो जाता है, तब अन्तर् में सम्यग्दर्शन का प्रकाश जगमगाने लगता है। इसमें बाहर का कोई भी निमित्त सहकारी नहीं बनता। अनन्तानुबन्धी कषाय तथा दर्शनमोहनीय कर्म का क्षय, उपशम या क्षयोपशम करने वाला कोई बाह्य निमित्त नहीं होता, स्वयं आत्मा ही होता है। कर्मों का आवरण स्वतः नहीं टूटता, आत्मा के अन्तर् के पुरुषार्थ से आत्मा की उपादान शक्ति से ही टूटता है। अतः नैसर्गिक सम्यग्दर्शन में आत्मा को आन्तरिक पुरुषार्थ जगाने के लिए किसी बाह्य निमित्त की अपेक्षा नहीं रहती। जब भी आन्तरिक पुरुषार्थ का वेग तीव्र होता है, तब आत्मा मिथ्यात्व कर्मों के बन्धनों को तोड़कर या शिथिल करके स्वयं उससे विमुक्त हो जाता है। निसर्गजसम्यग्दर्शन में आत्मा ही साधक है, वही साध्य और साधन है। भूतार्थग्राही निश्चयदृष्टि से आत्मा जब स्वयं अपनी उपादान शक्ति से स्व-स्वरूप की उपलब्धि करता है, या स्व-स्वरूप को प्रकट करता है, तब निसर्गज सम्यग्दर्शन होता है। कुछ आचार्यों के मतानुसार निसर्गज सम्यग्दर्शन के अंतरंग कारणों में दर्शनमोहनीयादि सप्तक के क्षयादि के अतिरिक्त निकट भव्यता, अप्रतिबन्धक कारणाभाव, संज्ञी-पंचेन्द्रियत्व, ज्ञानावरणीयादि कर्महानि, शुद्ध परिणाम आदि भी समझ लेने चाहिए।

मरुदेवी माता के जीवन को जब हम पढ़ते या सुनते हैं तो हमें स्पष्ट प्रतीत होता है कि उन्हें अपने वर्तमान जीवन में किसी भी प्रकार का बाह्य निमित्त नहीं मिला। न तो उन्होंने कभी तीर्थंकर के उपदेश का श्रवण किया और न ही किसी शास्त्र का स्वाध्याय किया तथा न किसी प्रकार की साधना ही की थी। कहते हैं कि मरुदेवी माता का जीव अनादिकाल से निगोद में रहा, इसलिए पूर्व जन्मों में भी उन्हें कभी उपदेश आदि का निमित्त नहीं मिला। इस जन्म में उन्हें हाथी के होदे पर बैठे-बैठे ही सम्यग्दर्शन, केवलज्ञान और मुक्ति की उपलब्धि हो गई। इस पर से स्पष्ट प्रतीत होता है कि निसर्गज सम्यग्दर्शन में किसी बाह्य निमित्त को महत्वपूर्ण नहीं माना जाता।

कहा जाता है कि सम्यग्दर्शन की प्राप्ति के वर्तमान क्षण से पूर्व

मरुदेवी माता ने हाथी के हौदे पर बैठे-बैठे दूर से ही भगवान् ऋषभदेव का समवसरण देखा, उनकी सेवा में इन्द्रों और देवी-देवों की उपस्थिति देखी, इनके विलोकन से सम्यग्दर्शन प्रकट हुआ, मगर हुआ तो अपनी उपादान शक्ति से ही। अगर उपादान शक्ति प्रबल न होती तो इन सब कारणों के रहते भी उन्हें सम्यग्दर्शन न होता। क्योंकि इन पर ऊहापोह या तत्व-चिन्तन तो आत्मा अपने आत्म-परिणाम-रूप अन्तरंग पुरुषार्थ से करती है। मूल वस्तु तो आत्मा की उपादान शक्ति की तैयारी है। कोई व्यक्ति गुरु का उपदेश सुने या शास्त्र स्वाध्याय भी करे, किन्तु अपने हृदय में उसे धारण न करे उसका वास्तविक अर्थ न सोचे-समझे तो उसे सम्यग्दर्शन कैसे हो जाएगा ?

दूसरा अधिगमज सम्यग्दर्शन है, जो पर संयोग या बाह्य निमित्त से तत्वार्थ-श्रद्धान होता है। फिर वह बाह्य निमित्त चाहे गुरु आदि के उपदेश, प्रेरणा या मार्गदर्शन हो अथवा शास्त्र स्वाध्याय आदि हो, वह अधिगमज सम्यग्दर्शन कहलाता है।[1] वाचकवर्य उमास्वाति ने अधिगम शब्द के समानार्थक शब्दों का प्रयोग इस प्रकार किया है—"अधिगम, अभिगम, आगम, निमित्त, श्रवण, शिक्षा तथा उपदेश, ये सब समानार्थक शब्द हैं।"[2]

प्रश्न होता है— अधिगम का अर्थ ज्ञान होता है। तब क्या निसर्गज सम्यग्दर्शन बिना ज्ञान के ही हो जाता है ? इसका समाधान यह है, ज्ञान के बिना पदार्थों का श्रद्धान तो दोनों ही प्रकार के सम्यग्दर्शनों में नहीं हो सकता। परन्तु निसर्गज में बाह्य उपदेश के बिना ही ज्ञान व श्रद्धान होता है, जबकि अधिगमज में बाह्य-उपदेशपूर्वक ज्ञान व श्रद्धान होता है। यही दोनों में अन्तर है।

सम्यग्दर्शन चाहे निसर्गज हो या अधिगमज दोनों की उपलब्धि का महत्वपूर्ण अन्तरंग कारण आत्म-शक्ति का एवं आत्म-गुणों का भान एवं निश्चय ही है। सम्यग्दर्शन या सम्यक्श्रद्धान की ज्योति और क्या है ? निश्चयनय की दृष्टि से शुद्ध आत्म तत्व की ज्योति के दर्शन करना है।

जिसे आत्मतत्व की ज्योति प्राप्त हो गई, समझ लो, उसे सम्यग्-

---

१ बिना परोपदेशेन सम्यक्त्वग्रहणलक्षणे।
तत्वबोधो निसर्गः स्यात् तत्कृतोऽधिगमजश्च यः।

२ "अधिगम अभिगम आगमो निमित्तं श्रवणं शिक्षा उपदेश इत्यनर्थान्तरम्।

दर्शन या सम्यक्श्रद्धान की उपलब्धि हो गई। वस्तुतः सम्यग्दर्शन की दिव्य ज्योति की उपलब्धि जीवन की सबसे बड़ी उपलब्धि है। ऐसी दिव्य-ज्योति के प्राप्त होने पर मानव को उतनी ही प्रसन्नता होती है, जितनी अन्धे आदमी को सहसा नेत्र-ज्योति प्राप्त होने पर होती है; बल्कि कई बार तो उससे भी अनन्त गुनी प्रसन्नता एवं आनन्द की उपलब्धि उस सम्यग्दर्शन प्राप्त व्यक्ति को होती है; जिसने अनन्त काल तक अपना जीवन मिथ्यात्व के गाढ़ अन्धकार में व्यतीत किया है। किसी जन्मान्ध व्यक्ति को पुण्य की प्रबलता से नेत्रों की ज्योति मिल जाये तो उसकी प्रसन्नता का पार नहीं रहता, क्योंकि वह यही सोचकर आनन्दित होता है कि अब मेरे जीवन में वह अँधेरा नहीं रहेगा, जो मुझे पदार्थों को देखने में रुकावट डालता था। इसी प्रकार सम्यक्श्रद्धान की दिव्य जोति प्राप्त होने पर भी व्यक्ति प्रसन्नतावश यही सोचता है कि अब मेरे जीवन के किसी भी कोने में भाव-अन्धकार नहीं रहेगा, मेरा आन्तरिक जीवन सम्यग्दर्शन के प्रकाश से जगमगाता रहेगा। अब मैं अबाधगति से मोक्ष-प्राप्ति के लिए पुरुषार्थ कर सकूँगा। सम्यग्दर्शन की दिव्य ज्योति की उपलब्धि हो जाने पर व्यक्ति को किसी प्रकार का भय नहीं रहता। वह निश्चिन्त होकर अपने निर्दिष्ट पथ पर चलता रहता है। लाटीसंहिता के अनुसार सम्यक्-श्रद्धान की उपलब्धि हो जाने पर व्यक्ति के लिए वही परम तप, त्याग, सत्पुरुषार्थ, परम पद, परम ज्योति एवं यम-नियम हो जायेगा।[1] फिर सम्यग्दर्शन को ही परम पद मानकर वह उसी की उपासना और साधना में संलग्न रहेगा। यही सम्यक्श्रद्धान की उपलब्धि का माहात्म्य है। ○

---

१ तदेवसत्पुरुषार्थस्तदेव परमं पदम् ।
तदेव परमं ज्योतिः, तदेव परमं तपः ।
—लाटीसंहिता, सर्ग ३, श्लोक २

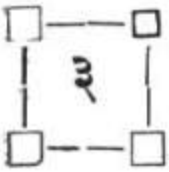

सुश्रद्धा के द्वार तक पहुंचने के लिए दस सुरुचियाँ

विभिन्न रुचियां क्यों ?

आध्यात्मिक जीवन में सम्यक् श्रद्धा का सर्वोपरि स्थान है; क्योंकि आत्मा और इसके विकास तथा शुद्धि से सम्बन्धित जितनी बातें हैं, वे अव्यक्त हैं, अदृश्य हैं, चर्मचक्षुओं से वे दृग्गोचर नहीं हैं, कुछ मानों में वे छद्मस्थ (अल्पज्ञ) के लिए अतीन्द्रिय हैं। अतः उन सभी अव्यक्त एवं अदृश्य, किन्तु श्रद्धेय तत्वों के प्रति मुमुक्षु को सम्यक्श्रद्धा रखना आवश्यक है।

विश्व में मानव जाति प्रायः स्वतन्त्रताप्रिय है। सम्यक्श्रद्धा के प्रासाद तक विभिन्न कोटि के मानव विभिन्न सम्यक्रुचियों के माध्यम से पहुँचते हैं। सबका लक्ष्य तो एक ही होता है, सम्यक्श्रद्धा को जीवन में चरितार्थ करना। परन्तु उनकी गति-प्रगति विभिन्न रुचियों की पगडण्डी से होती है। महिम्नस्तोत्र में इसी तथ्य की ओर संकेत किया गया है—

"रुचोनां वैचित्र्याद् ऋजु-कुटिलनाना-पथजुषाम्।
नृणामेको गम्यस्त्वमसि पयसामर्णव इव॥"

अर्थात्—जिस प्रकार विभिन्न नदियाँ टेढ़ेमेढ़े या सीधे मार्गों को पकड़ कर अन्त में एक समुद्र में गिरती हैं उसी प्रकार रुचियों की विचित्रता-विभिन्नता के कारण टेढ़े-मेढ़े या सोधे मार्गों को पकड़ कर चलने वाले मनुष्यों का एक मात्र तू ही गम्य-प्राप्य है।

यहां आध्यात्मिक क्षेत्र में भी सम्यक् श्रद्धा की मंजिल तक पहुँचने के लिए जैन शास्त्रों में दस प्रकार की सम्यक् रुचियाँ बताई गई हैं। उनमें से जिस मुमुक्षु जीव को जिस प्रकार की सुरुचि होती है, उसी रुचि को

पकड़ कर वह गति-प्रगति करता है और सम्यक् श्रद्धा तक पहुंच जाता है। वैसे तो जीवन की स्वतन्त्र इच्छा को रुचि कहते हैं। स्वातन्त्र्यप्रिय होने के नाते मनुष्य को चीज पसन्द होती है, अच्छी लगती है, या जिस चीज की प्यास होती है, उसमें ही उसकी रुचि या दिलचस्पी होती है। एक लोकोक्ति भी प्रसिद्ध है—

भिन्नरुचिर्हि लोकः'

लोगों की रुचियाँ भिन्न-भिन्न होती हैं।

सम्यक् रुचियां ही उपादेय

इसका यह मतलब नहीं है कि मनुष्यों की खाने-पीने, पहनने, एवं रहन-सहन की रुचियों से सुश्रद्धा के द्वार तक पहुँचा जा सकता हो, अथवा इन्द्रियों के विभिन्न विषयोपभोगों में रुचि से व्यक्ति सुश्रद्धा के दरवाजे पर दस्तक दे सकता हो। यहाँ उन भौतिक या लौकिक रुचियों या आध्यात्मिक विकास की अंतिम मंजिल मुक्ति तक पहुँचा देने वाली सम्यक्श्रद्धा या सम्यग्दर्शन के विपरीत गलत रुचियों का कथन कथमपि अभीष्ट नहीं है। यहाँ उन्हीं आध्यात्मिक लोकोत्तर रुचियों का कथन अभीष्ट है, जो सम्यक्श्रद्धा या सम्यग्दर्शन को प्राप्त करा देती हों। अर्थात् सम्यग्दर्शन की प्रथम यात्रा जिन रुचियों से हो, वे ही रुचियां यहां उपादेय हैं, अन्य सांसारिक कामभोगों की, रहन-सहन की, खानपान की या इन्द्रियविषय-सुखों की रुचियां इस क्षेत्र में उपादेय नहीं हैं। क्योंकि इन संसाराभिमुखी रुचियों को अपना लेने पर तो व्यक्ति संसार की विकट अटवी में भटक जाएगा, वह जन्म-मरण के कुचक्रों में फँसकर मोक्षरूपी अन्तिम लक्ष्य से दूरातिदूर होता चला जाएगा। इसलिए यहाँ उन्हीं सम्यक् रुचियों का वर्णन है, जो सम्यक्श्रद्धा या सम्यग्दर्शन के साथ मिलकर मोक्ष तक पहुँचाने में सहायक हों, जो मोक्षाभिमुखी हों। जिन रुचियों को अपनाने पर मनुष्य को संसार सागर को पार करना अटपटा न लगे, मोक्ष की मंजिल पाना जिन रुचियों के द्वारा आसान एवं सुलभ हो जाए, जिन रुचियों के माध्यम से मोक्ष निकटतर प्रतीत होता जाए। संसार के बीहड़ वन से जो रुचियाँ मनुष्य को दूर रखें और मोक्ष के पथिक को मोक्षमार्ग पर ही चलने को प्रेरित करें, वे ही रुचियाँ यहाँ उपादेय हैं। जिन रुचियों को अपनाने पर मोक्ष का मार्ग नीरस, कठोर या विकट न लगे; मोक्ष प्राप्त करने की इतनी तीव्रता, तड़फन, तल्लीनता या तन्मयता हो कि साधक उन रुचियों के सहारे मोक्ष पहुँचकर ही दम ले, बीच में कहीं इधर-उधर सांसारिक विषयों के लुभावने मोहजाल में न फंसे, जिन रुचियों का लक्ष्य

एकमात्र शुद्ध आत्मा—परमात्मा को पाने का हो, जिनकी एकमात्र यही प्यास हो कि हमें परमात्म पद—मोक्षपद के सिवाय और कुछ नहीं चाहिए वे ही रुचियाँ इस क्षेत्र में उपादेय है।

दशविध सम्यक् रुचियां

यही कारण है 'धवला' आदि आध्यात्मिक ग्रन्थों में (सम्यक्) दृष्टि श्रद्धा, प्रत्यय (निश्चय) आदि शब्दों को 'रुचि' के पर्यायवाची बताये गये हैं। अतः सम्यक् रुचि ऐसी सघन आध्यात्मिक प्यास का नाम है, जो परमात्मपद या परमपद (मोक्ष) को पाकर ही बुझे। उत्तराध्ययन सूत्र में भगवान् महावीर ने पावापुरी के अपने अन्तिम प्रवचन में निम्नोक्त क्रम से सम्यक् रुचियों का निरूपण किया है—

"निसग्गुवएसरुई आणारुई सुत्त-बीइरुइमेव।
अभिगम वित्थाररुई, किरिया-संखेव धम्मरुई॥[1]

अर्थात्—सम्यग्दर्शन को प्राप्त कराने वाली दस रुचियाँ हैं—

(१) निसर्ग रुचि, (२) उपदेश रुचि, (३) आज्ञा रुचि, (४) सूत्र रुचि या श्रुत रुचि, (५) बीज रुचि, (६) अभिगम रुचि, (७) विस्तार रुचि, (८) क्रिया रुचि, (९) संक्षेप रुचि और (१०) धर्मरुचि।

दस रुचियों का स्वरूप और विश्लेषण

अब हम क्रमशः इन दस रुचियों का स्वरूप आगम के अनुसार बता रहे हैं—

(१) **निसर्ग रुचि**—स्वाभाविक रूप से तत्त्वाभिलाषारूपी रुचि का नाम निसर्ग रुचि है। आशय यह है कि मिथ्यात्वमोहनीय का क्षय, उपशम या क्षयोपशम होने पर गुरु आदि किसी दूसरे के उपदेश के बिना, जातिस्मरणज्ञान, प्रातिभ (स्वप्रतिभाजनित) ज्ञान आदि से या अपनी बुद्धि अथवा सहसन्मति—अपनी स्फुरणा से, स्वतः उत्पन्न हुए यथार्थबोध से, जीव, अजीव, पुण्य, पाप, आस्रव, संवर, निर्जरा, बन्ध, मोक्ष आदि या देव, गुरु, धर्म, शास्त्र आदि तत्त्वभूत पदार्थों को जानने-मानने की जो सम्यक् रुचि होती है, उसे निसर्ग रुचि कहते हैं।

---

१ (क) उत्तराध्ययन. २८/१९—२६,
(ख) स्थानांग० स्था. १० सू. ७५१,
(ग) प्रवचनसारोद्धार द्वार ६३।

अथवा वीतराग सर्वज्ञ आप्त तीर्थंकरों द्वारा उपदिष्ट या दृष्ट तत्त्वभूत पदार्थों (भावों) तथा द्रव्य, क्षेत्र, काल और भाव की अपेक्षा से निर्दिष्ट पदार्थों के विषय में यह ऐसा ही है अन्यथा नहीं, इस प्रकार की स्वतःस्फूर्तश्रद्धा को भी निसर्गरुचि कहते हैं।

तात्पर्य यह है कि व्यक्ति के हृदय में सत्तत्त्वों के प्रति सहज स्वाभाविक रूप से उत्पन्न होने वाली श्रद्धा या भावना निसर्गरुचि है।

(२) **उपदेशरुचि**—वीतराग तीर्थंकरों द्वारा प्ररूपित या छद्मस्थ वीतराग—शिष्यों—निर्ग्रन्थ सद्गुरुओं आदि द्वारा कथित उपदेश से जीवादि तत्वों पर श्रद्धान करना उपदेशरुचि है।

(३) **आज्ञारुचि**—जिनके राग, द्वेष, मोह और अज्ञान आदि विकार दूर हो गये हैं, ऐसे सर्वज्ञ आप्त पुरुषों की (वचन रूप) आज्ञा में रुचि रखना—उसी में तत्पर रहना आज्ञा रुचि है। अथवा जिनके राग, द्वेष, कषाय आदि विकार मन्द हो गये हों, मिथ्यात्व नष्ट हो गया हो, उन आचार्य, उपाध्याय आदि की आज्ञा मात्र पर श्रद्धा रखकर, हठाग्रह छोड़कर जीवादि पदार्थ वैसे ही हैं, इस प्रकार (माषतुषादि की तरह) स्वीकार करना भी आज्ञारुचि कहलाता है।

(४) **श्रुतरुचि (सूत्ररुचि)**—जो अंगप्रविष्ट (द्वादशांगी) एवं अंगबाह्य श्रुत (शास्त्र या सूत्र) का अध्ययन-मनन-चिन्तन करता है, शास्त्रों में कथित तत्त्वों और तथ्यों का गहराई से तात्पर्य और रहस्यार्थ ढूंढ़ता है, शास्त्रों में एकाग्रचित्त होकर अवगाहन करता है और शास्त्र-स्वाध्याय में तन्मय होकर सम्यक्त्व प्राप्त कर लेता है तथा क्रमशः जीवादि तत्वों पर श्रद्धा कर लेता है, उसे श्रुतरुचि या सूत्ररुचि कहते हैं।

(५) **बीजरुचि**—जिस प्रकार एक बीज बोने से उससे सैकड़ों बीजों की प्राप्ति हो जाती है, अथवा पानी की सतह पर तेल की एक बूंद डालने से वह बहुत दूर तक फैल जाती है, उसी प्रकार जहां एक ही पद, पदार्थ या दृष्टांत से स्वतः स्वतः हो अनेक पदों, हेतुओं, पदार्थों या दृष्टांतों की स्फुरणा हो जाय और क्रमशः प्रतिबुद्ध होकर उनमें रुचि या श्रद्धा हो जाय, वहाँ बीजरुचि समझना चाहिए। अथवा एक तत्व के बोध से समस्त तत्त्वों का विस्तृत बोध हो जाना बीजरुचि सम्यक्त्व है।

(६) **अभिगम (अधिगम) रुचि**—अभिगम रुचि का अर्थ है—आचारांग आदि श्रुतज्ञान का अर्थ सहित अधिगत—ज्ञात हो जाना और उसके

कारण रुचि या श्रद्धा हो जाना। अथवा 'दृष्टिवाद सहित बारह अंगशास्त्र एवं अन्य प्रकीर्णक आदि शास्त्र सिद्धांत अर्थ सहित पढ़कर रुचि—श्रद्धा करना या उनमें तन्मय हो जाना अभिगमरुचि है।

अधिगम का अर्थ है—विशिष्ट परिज्ञान। शास्त्रों के विशिष्ट परिज्ञान के निमित्त से रुचि या श्रद्धा होना अधिगमरुचि है।

(७) **विस्ताररुचि**—द्रव्यों के सभी भावों को प्रमाणों और नयों से विस्तारपूर्वक जानकर उन पर श्रद्धा या रुचि करना विस्ताररुचि है।

(८) **क्रियारुचि**—दर्शन, ज्ञान, चारित्र, तप, विनय, पंचसमिति, त्रिगुप्ति आदि के आचारों (अनुष्ठानों या क्रियाओं) में भावपूर्वक रुचि होना या उनमें लीन हो जाना क्रियारुचि है।

(९) **संक्षेपरुचि**—अधिक पठित—शिक्षित न होने पर भी जो संक्षिप्त बोध से ही समझकर शुद्ध रुचि—श्रद्धा रखता है, वह संक्षिप्तरुचि है। अथवा जो बहुश्रुत नहीं है, सिद्धांत ज्ञान में मन्द है, निर्ग्रन्थ प्रवचन में अकुशल है, साथ ही जो अन्यतैर्थिकों के मिथ्याप्रवचनों, एकान्तवादी मत-मतान्तरों या शास्त्रों—सिद्धान्तों से भी अनभिज्ञ है, किन्तु कदाग्रही या कुदृष्टिआग्रही न होने से जो अल्पबोध से जीवादि तत्वों पर रुचि या श्रद्धा रखता है, वह संक्षेपरुचि है।

(१०) **धर्मरुचि**—वीतराग-प्रतिपादित श्रुतधर्म और चारित्रधर्म में अथवा रत्नत्रयरूप धर्म में अथवा धर्मास्तिकाय आदि अस्तिकायों के गुण—स्वभावादिरूप धर्म में जो रुचि—श्रद्धा या विश्वास रखता है, उन्हें यथार्थ मानता है, वह धर्मरुचि है।

दशविध रुचिरूपश्रद्धान—सरागसम्यग्दर्शन

स्थानांग सूत्र के मतानुसार पूर्वोक्त दशविध रुचिरूप सम्यग्दर्शन, (सम्यक्श्रद्धा) सरागसम्यग्दर्शन है। चूंकि 'रुचि' एक प्रकार की इच्छा है और इच्छा राग के बिना हो नहीं सकती। इसलिए दशविध रुचिरूप सम्यक्श्रद्धा सरागसम्यग्दर्शन के अन्तर्गत मानी गई है। वीतराग पुरुषों में रुचि या इच्छा नहीं होती, इसलिए उनके वीतरागसम्यग्दर्शन को रुचि रूप नहीं बताया गया है। रुचिरूप तत्त्वार्थश्रद्धा उन्हीं जीवों के होती है, जिनका मोहनीयकर्म उपशांत या क्षीण नहीं हुआ है। यही कारण है, इन

दशविध रुचिरूप सम्यक्श्रद्धानों को सरागसम्यग्दर्शन में परिगणित किया गया है।[1]

जो भी हो, ये दसों प्रकार की रुचियाँ सम्यक्श्रद्धा (सम्यक्त्व या सम्यग्दर्शन) की उत्पत्ति में निमित्त हैं। जनमानस विभिन्न रुचियों वाला होने से सम्यक्श्रद्धा को दस रुचियों में वर्गीकृत कर दिया गया है। प्रत्येक रुचि सम्यक्श्रद्धा या सम्यक्त्व का कारण होने से दिगम्बर परम्परा में कहीं तो इसे रुचि रूप बताया गया है, और कहीं कारण में कार्य का उपचार करके सीधा ही इन्हें सम्यक्त्व कह दिया गया है। दिगम्बर-परम्परा में इन दस नामों में अन्तर है। इनकी व्याख्या में भी कुछ अन्तर है।

दिगम्बर परम्परा में दसविध सम्यक्त्व

सम्यक्श्रद्धा की यात्रा में उपयोगी होने से हम यहाँ अनगार धर्मामृत, सुदृष्टि तरंगिणी आदि ग्रन्थों के अनुसार उनके नाम तथा क्रमशः व्याख्या दे रहे हैं—

"आणा-मग्ग-उवएसो, सुत्त-बीय-संखेव-वित्थारो ।
अत्थावगाढ-महागाढं, समत्तं जिणभासियं उ दसहा ॥

अर्थात्—जिनभाषित सम्यक्त्व दस प्रकार का है—(१) आज्ञा सम्यक्त्व (२) मार्ग-सम्यक्त्व, (३) उपदेश-सम्यक्त्व, (४) सूत्र-सम्यक्त्व, (५) बीजसम्यक्त्व, (६) संक्षेप-सम्यक्त्व, (७) विस्तार-सम्यक्त्व; (८) अर्थ-सम्यक्त्व, (९) अवगाढ़-सम्यक्त्व, और (१०) महागाढ़-सम्यक्त्व या परमावगाढ-सम्यक्त्व।[2]

(१) **आज्ञा-सम्यक्त्व**—ग्रन्थश्रवण या उपदेश-श्रवण के बिना ही दर्शन-मोह के उपशान्त होने से, अर्हन्त भगवान् की आज्ञा मात्र को शिरोधार्य करने से जो तत्व श्रद्धान उत्पन्न होता है, वह आज्ञा सम्यक्त्व है। अथवा अल्प बोध प्राप्त सरल परिणामी व्यक्ति स्वयं को अल्पज्ञ तथा तत्वज्ञान

---

१. दसविहे सरागसम्मद्दंसणे पण्णत्ते, तं....धम्मरुई ।
—स्थानांग, स्था० १०, उ० ३, सू० ७५१

२. (क) सुदृष्टि तरंगिणी गा. ५, (ख) अनगार धर्मामृत अ० २, श्लो. ६२ (ग) उपासकाध्ययन कल्प २१/२३४, (घ) आत्मानुशासन १२-१४, (ङ) राजवार्तिक २/३६/२/२०१/१३

का विशेष विश्लेषण करने में असमर्थ मानकर वीतराग सर्वज्ञ देव ने पदार्थों का जैसा स्वरूप कहा है, वह वैसा ही है, अन्यथा नहीं, इस प्रकार दृढ़ श्रद्धापूर्वक वीतरागोक्त पदार्थों पर शंकादि दोष रहित यथार्थ श्रद्धान करना भी आज्ञा-सम्यक्त्व है।

(२) मार्ग-सम्यक्त्व-- सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र ये तीनों मिलकर मोक्ष-मार्ग है, रत्नत्रयरूप मोक्षमार्ग ही वीतराग-आचरित मोक्षमार्ग है, वही सत्य है, निःशंक है, उससे भिन्न मोक्षमार्ग सम्भव नहीं है। इस प्रकार रत्न-त्रय रूप मोक्षमार्ग में दृढ़ श्रद्धा या रुचि करना मार्ग सम्यक्व या मार्गोद्भव सम्यक्त्व है।

(३) उपदेश-सम्यक्त्व— तीर्थंकर, चक्रवर्ती, बलदेव, वासुदेव आदि पुण्य पुरुषों के चरित, तीर्थंकरो के पंचकल्याणकों की महिमा, चक्रवर्ती के वैभव आदि को उपदेशरूप मे सुनने से जो तत्व श्रद्धान होता है, उसे उपदेश सम्यक्त्व कहते हैं।

(४) सूत्र-सम्यक्त्व— आचारांग आदि आचारशास्त्रों में कथित मुनियों एवं श्रावकों के आचार-विचार, चर्या, मुनियों का घोर परीषहविजय, समता, निस्पृहता, क्षमा, अहिंसा-सत्यादि धर्मों का वर्णन सुनने से जो सम्यक् श्रद्धा उत्पन्न होती है, उसे सूत्र-सम्यक्त्व कहते हैं।

(५) बीज-सम्यक्त्व— कर्म और आत्मा के स्वरूप को पृथक् पृथक् जान कर 'कर्म से आत्मा भिन्न है' यह और इस प्रकार के बीज पदों के ग्रहण से सूक्ष्म तत्वार्थ श्रद्धान होना बीज-सम्यक्त्व है। अथवा किन्ही बीज पदों द्वारा जीवादि पदार्थों का तथा गणितानुयोग के सूक्ष्म तत्वों का ज्ञान करके किसी भव्यजीव को जो तत्वार्थ श्रद्धान होता है उसे भी बीज सम्यक्त्व कहते हैं। अथवा जो देव, गुरु, धर्म, शास्त्र और तत्वों के स्वरूप पर दृढ़ श्रद्धा करता है, वह समस्त आगमों का रहस्य जान लेता है, इस प्रकार का फल सुनकर जो सम्यक् श्रद्धा कर लेता है, वह भी बीज सम्यक्त्व का धारक है।

(६) संक्षेप-सम्यक्त्व— जो भव्य आत्मा देव (आप्त), आगम, धर्म और पदार्थ आदि का स्वरूप संक्षेप में जानकर अथवा शास्त्र के पद, गाथा, श्लोक, काव्य, छन्द आदि का सामान्य अर्थ जानकर स्वपरभेद-विज्ञान कर लेता है, तथा इस संक्षिप्त कथन से ही तत्वार्थ श्रद्धान कर लेता है, उसके सम्यक्श्रद्धान को संक्षेप सम्यक्त्व कहते हैं।

(७) विस्तार-सम्यक्त्व—बारह अंगशास्त्रों, चोदह पूर्वों या अंगबाह्य शास्त्रों को विस्तार से सुनकर अथवा प्रमाण-नय निक्षेपादिपूर्वक विस्तृत रूप से सुनकर जो तत्वार्थ श्रद्धान होता है, उसे विस्तार सम्यक्त्व कहते हैं।

(८) अर्थ सम्यक्त्व—अंगबाह्य एवं अंगप्रविष्ट शास्त्रों के पढ़े बिना अथवा गुरु एवं शास्त्र का उपदेश सुने बिना, अकस्मात् उल्कापात, आदि किसी घटना, (अर्थ) को देखकर या किसी अर्थ (घटना) से संसार की क्षणभंगुर दशा से उदासीन होकर दृढ़ श्रद्धान करना अर्थ सम्यक्त्व है।

(९) अवगाढ़ सम्यक्त्व—द्वादश अंगशास्त्र, अंगबाह्य, प्रकीर्णक आदि आगमों को पूर्णतः जानने—सुनने से श्रद्धान में जो अवगाढ़ता (दृढ़ता) आती है, अथवा इनका पूर्णतः या देशतः अवगाहन करने पर जो श्रद्धान दृढ़ होता है, वह अवगाढ़ सम्यक्त्व है।

अथवा आचारांग आदि द्वादशांगो पर जिनका श्रद्धान अतिदृढ़ है, वे भी अवगाढ़रुचि सम्यक्त्व से सम्पन्न कहलाते हैं।

(१०) परमावगाढ़-सम्यक्त्व—केवलज्ञानी, अवधिज्ञानी या मनःपर्यवज्ञानी मुनिवर से जीवादि पदार्थों को जानकर अथवा उनसे अपने पूर्वजन्मों का वृत्तान्त सुनकर, अथवा केवलज्ञानी के अतिशययुक्त प्रभाव को देखकर अपनी शुद्ध आत्मा तथा उसके उत्थान-पतन के कारणभूत तत्त्वों के विषय में जो प्रगाढ़ श्रद्धान होता है, अथवा तत्त्वभूत पदार्थों तथा शुद्ध-आत्मा के प्रति स्वयं विश्वास या श्रद्धान हो जाए, आत्मानुभूति हो जाए वहाँ परमावगाढ़ सम्यक्त्व समझना चाहिए।

तत्त्वार्थसूत्र राजवार्तिक में दस प्रकार के दर्शनार्य के सन्दर्भ में सम्यक्त्व के ये ही (पूर्वोक्त) दस भेद दशविध रुचियों के रूप में बताये गये हैं। यथा—

दर्शनार्या दशधा—आज्ञा-मार्गोपदेश-सूत्र-बीज-संक्षेप-विस्तारार्थ-अवगाढ़-परमावगाढ़रुचि भेदात्।

अर्थात्—आज्ञारुचि, मार्गरुचि, उपदेशरुचि, सूत्ररुचि, बीजरुचि, संक्षेपरुचि, विस्ताररुचि, अर्थरुचि, अवगाढ़रुचि और परमावगाढ़रुचि के भेद से दर्शनार्य दस प्रकार के हैं।

जो भी हो, सम्यक्त्व के ये पूर्वोक्त दस भेद भी रुचिरूप ही हैं, जिस मुमुक्षु की जिस प्रकार की सुरुचि होती है, उसी सुरुचि के माध्यम से वह देव, गुरु, धर्म पर सुश्रद्धा तक, अथवा जीवादि तत्त्वों पर यथार्थ श्रद्धा तक पहुँचता है। सम्यक्श्रद्धान या सम्यग्दर्शन की उत्पत्ति में अन्तरंग

कारण तो दर्शनमोह आदि के क्षय, उपशम या क्षयोपशम ही है। उसका सभी सुरुचियों के साथ होना अनिवार्य है।

सचमुच, सम्यक्श्रद्धा के द्वार तक पहुँचने के लिए ये दशविध रुचियाँ भी भव्यजीव अपनाते हैं। वस्तुतः ये रुचियाँ सम्यक्श्रद्धा की प्रारम्भिक भूमिका हैं। इनमें से प्रत्येक रुचि सम्यक्श्रद्धा की उत्पत्ति में बाह्य निमित्त कारण हैं। इसलिए इन्हें सम्यक्त्व भी कह दिया गया है।

तत्त्वरुचि : कब सम्यक्श्रद्धा, कब नहीं ?

आचार्य हेमचन्द्र ने योगशास्त्र में सम्यग्दर्शन (सुश्रद्धान) का लक्षण दिया है—

रुचिर्जिनोक्ततत्त्वेषु सम्यग्दर्शनमुच्यते

वीतरागदेवों द्वारा प्ररूपित तत्त्वों पर रुचि होना, सम्यग्दर्शन कहलाता है।

इस सम्बन्ध में प्रश्न यह है कि रुचि को धर्म कहा जाए या कर्मों का औदयिक भाव ? गहराई से सोचा जाए तो रुचि एक प्रकार की इच्छा है, रागभाव है, कषायभाव है, वह धर्म नहीं बन सकती। अगर रुचि या इच्छा को धर्म कहा जायेगा तो संसार में कोई भी अभव्य नहीं रहेगा; क्योंकि रुचि तो अभव्य में भी रहती है, तथा मिथ्यादृष्टि में भी, फिर तो दोनों को सम्यग्दृष्टि कहना पड़ेगा।

इसका समाधान हेमचन्द्राचार्य आदि ने यही किया है कि सिर्फ रुचि को ही सुश्रद्धान या सम्यग्दर्शन नहीं कहा जाता, अपितु (जिनोक्त) तत्त्व-रुचि को सुश्रद्धान या सम्यग्दर्शन कहा जाता है।

फिर भी एक प्रश्न अवशिष्ट रहता है कि तत्त्वरुचि तो नास्तिक, अन्धविश्वासी, मांसाहारी, व्यभिचारी, किन्तु प्रखरबुद्धि वाले साक्षर (शिक्षित) व्यक्ति में भी होती है। उदाहरणार्थ—एक शिक्षित व्यक्ति है, दर्शनाचार्य है, उसमें अपनी प्रसिद्धि, तरक्की अथवा अन्य सांसारिक स्वार्थों को लेकर तत्त्वरुचि होती है। वह घन्टों तक तत्त्वचर्चा में लीन रहता है। किन्तु उसकी यह तत्त्वरुचि संसारलक्ष्यी है, सम्यक्श्रद्धामुखी नहीं है और न ही वह आत्मलक्ष्यी है। उसकी रुचि हेय को छोड़ने की और उपादेय को ग्रहण करने की ओर सम्मुख नहीं होती। इसी कारण उसकी दृष्टि

में उसके जीवन और संस्कारों में कोई परिवर्तन नहीं होता, क्योंकि उसकी तत्त्वरुचि आत्मलक्ष्यी और सम्यक्श्रद्धामुखी नहीं है, वह सिर्फ संसारलक्ष्यी है। इसलिए नास्तिक आदि में पाई जाने वाली तत्त्वरुचि संसारलक्ष्यी है, वह मोक्षाभिमुख या सम्यक्श्रद्धामुखी न होने से रागभाव-युक्त है, वह सम्यग्दर्शन नहीं हो सकती। जो तत्वरुचि आत्मलक्ष्यी एवं सुश्रद्धाभिमुखी है, वह आत्मा का शुद्धपरिणाम है, वह रागभावयुक्त नहीं होती, उसी को सम्यग्दर्शन समझना चाहिए।

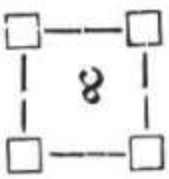

सम्यक्श्रद्धा की एक पांख : तत्वार्थश्रद्धान

सम्यक् श्रद्धा : कब है, कब नहीं ?

मुमुक्षु जीवन की मूलभूत निधि सम्यक्श्रद्धा है। सम्यक्श्रद्धा को जब तक वह सर्वांगीण रूप से नहीं समझ लेता, तब तक उसकी वह श्रद्धा कच्ची समझी जाती है। पक्की श्रद्धा तभी समझी जाती है, जब वह सम्यक्-श्रद्धामूलक सम्यग्दर्शन को दोनों पांखों से जान ले, भली भांति समझ ले। तात्पर्य यह है कि जब तक तत्वार्थश्रद्धान रूप तथा देव-गुरु-धर्म श्रद्धान-रूप सम्यक्श्रद्धात्मक सम्यग्दर्शन की दोनों पांखों को उनके सभी अंगो-पांगों सहित जान-पहचान न ले और अन्तःकरण से उन पर श्रद्धा न करले, तब तक सम्यक्श्रद्धा नहीं हो सकती।

सुश्रद्धा की प्रथम पांख

उदाहरणार्थ—सुश्रद्धात्मक सम्यग्दर्शन का प्रथम लक्षण है—'तत्वार्थ श्रद्धानं सम्यग्दर्शनं'[1]—तत्वभूत पदार्थों पर श्रद्धा करना सम्यग्दर्शन है। इतना सा लक्षण मान कर किसी व्यक्ति की तत्वभूत पदार्थों पर श्रद्धा तब तक सच्ची श्रद्धा नहीं मानी जा सकती, जब तक वह व्यक्ति तत्व क्या है ? वे कितने हैं ? उनका अर्थ या भाव (स्वभाव) क्या है ? उन पर श्रद्धान क्यों और कैसे किया जाए ? उन तत्वों का स्वरूप क्या है ? इन और इनसे सम्बन्धित तथ्यों को गहराई से न समझ ले।

---

१ तत्वार्थ सूत्र अ. १, सू. २

साथ ही सम्यक्श्रद्धा के लिए इन सात या नौ तत्वों में से जीवतत्व (आत्मा) को केन्द्रीभूत मानकर शेष सभी तत्वों को उस(आत्मा) के विकास या ह्रास की दृष्टि से भलीभाँति जान या मान लेना भी आवश्यक है। सम्यक् श्रद्धा की खरी कसौटी तभी है, जब मुमुक्षु में इन तत्वों में से हेय, ज्ञेय और उपादेय का विवेक करके हेय तत्वों को छोड़ने और उपादेय तत्वों को ग्रहण करने की रुचि पैदा हो। इन तत्वों के जिनेन्द्र प्ररूपित स्वभाव के प्रति उस की दृढ श्रद्धा हो, साथ ही उसके मन में अजीव, आश्रव और बन्ध से आकुलता-अशान्ति जानने-देखने और अनुभव करने की वृत्ति हो तथा जीव, संवर, निर्जरा एवं मोक्ष तत्व में अनाकुलता, शान्ति जानने-देखने एवं अनुभव करने की वृत्ति हो। इसके अतिरिक्त इन तत्वों के बार-बार श्रद्धापूर्वक आत्मलक्ष्यी चिन्तन से उसकी संसार और उसके कारणों के प्रति विरक्ति और मुक्ति तथा उसके कारणों के प्रति तीव्र उत्कण्ठा हो। ऐसी सम्यक् श्रद्धा जिसके जीवन में आ जाती है, उसकी कषायों में मन्दता, विषया-सक्ति में अल्पता, तथा प्राणि मात्र के प्रति समता एवं रत्नत्रयरूप मोक्ष मार्ग पर चलने की उत्सुकता होनी चाहिए। स्वयं शास्त्रादि पढ़कर या गुरु-देव के उपदेश से सुनकर मानी हुई, किन्तु आत्मलक्ष्यी चिन्तनपूर्वक हृदय से नहीं स्वीकारी हुई श्रद्धा आदि तोतारटनवत् ही सिद्ध होती है। वह अनुभवात्मक नहीं हो, तब तक सम्यक्श्रद्धा नहीं कही जा सकती।

सम्यक्श्रद्धा यह नहीं, वह है !

सम्यक्श्रद्धा के लिए केवल इतना-सा जानना या कह देना पर्याप्त नहीं है कि सर्वज्ञ वीतराग प्रभु द्वारा प्रतिपादित सात या नौ तत्व सत्य हैं। उसके लिए यह भी जानना-मानना आवश्यक है कि इन तत्वभूत पदार्थों में से कौन-से तत्व मेरे आत्महित में बाधक है, और कौन-से साधक हैं ? मैं आत्मा (जीव) हूँ, मेरा स्वभाव ज्ञान-दर्शनमय है, ज्ञान दर्शन, सुख और वीर्य आदि मेरे निजी गुण हैं, मैं अनन्त शक्तिमान् आत्मा हूँ। मेरा (जीव का) स्वरूप अजीव से भिन्न है। शरीर इन्द्रियाँ, मन, एवं संसार के समस्त अजीव या जड़ पुद्गलों के साथ या दूसरे जीवों के साथ केवल मेरा संयोग सम्बन्ध है, इसलिए मुझे उनके प्रति राग, द्वेष, मोह, आसक्ति, घृणा आदि करने से (कर्मों का) वन्ध होगा; मिथ्यात्व आदि पाँच आश्रवों से नये-नये कर्म आकर आत्मा के विकास को रोकेंगे। अतः आते हुए कर्मों को रोकना (संवर) तथा पूर्वबद्ध कर्मों को आंशिक रूप से क्षय (निर्जरा) करना और

धीरे-धीरे कर्मों से सर्वथा मुक्त होने (मोक्ष) की तीव्र भावना रखना आदि शुद्ध आत्मलक्ष्यी जागृति रखना भी सम्यक् श्रद्धावान् के लिए आवश्यक है।

उदाहरणार्थ—अहिंसा, करुणा, दया आदि की भावना या सामान्य श्रद्धा मनुष्य में ही क्यों, पशु-पक्षियों तक में होती है, परन्तु वह सम्यक्श्रद्धा का रूप तभी ले सकती है, जब अहिंसादि के प्रति उनकी निष्ठा या प्रतीति हो। जैसे माता के हृदय में अपने शिशु के प्रति करुणा और वात्सल्य का प्रवाह उमड़ता है उसमें अहिंसा की क्षीण धारा भले ही छिपी हो, परन्तु उसे हम अहिंसा की निष्ठा नहीं कह सकते। वह स्वल्प अहिंसा की सुषुप्त धारा, मोह, ममता या आसक्ति से प्रेरित भी हो सकती है, क्योंकि जैसी वत्सलता या करुणा उस माता की अपने माने जाने वाले पुत्र के प्रति है वैसी दूसरों के पुत्रों पर प्रायः नहीं होती। इसलिए वह अहिंसा की निष्ठा या प्रतीति नहीं है। आपने देखा होगा कि बिल्ली का अपने बच्चों के प्रति जैसा प्रेम होता है, वैसा चूहे के प्रति नहीं होता। जब वह अपने बच्चे को दांतों से पकड़कर ले जाती है, तब एक भी दाँत बच्चे के शरीर पर गड़ने नहीं देती, लेकिन उन्हीं दांतों से वह जब चूहे को पकड़कर ले जाती है तो सभी दांत उसके शरीर पर ऐसे गड़ा देती है कि वह पीड़ा के मारे चींचीं करने लगता है तथा उसके शरीर से खून की धारा बहने लगती है। बिल्ली की भावना में एक के प्रति वत्सलता है तो दूसरे के प्रति क्रूरता है। यह बिल्ली की अहिंसा में निष्ठा नहीं कही जा सकती। निष्ठा कहते हैं किसी भी तत्व की यथार्थ रूप से प्रतीति को।

जीव-अजीव, पुण्य-पाप आदि नौ या सात तत्वों के प्रति कभी तो श्रद्धा हो, और कभी अश्रद्धा हो जाय, तो वह निष्ठात्मक श्रद्धा नहीं है। जब कभी अपनी प्रतिष्ठा या विद्वत्ता की छाप समाज, राष्ट्र या जनता पर डालनी हो, तब तो कह दे कि जीव-अजीव आदि जिनोक्त तत्वों के प्रति मेरी पूर्ण श्रद्धा है, मुझे परम्परा से ऐसी श्रद्धा प्राप्त हुई है, परन्तु जब कभी उसे जैनसमाज बहिष्कृत करने लगे या वह स्वयं धर्मान्तर या सम्प्रदायान्तर करने लगे अथवा किसी कारणवश धर्माचरण करते हुए भी पूर्वकर्मवश उस पर कोई संकट, विपत्ति या दुःख आ पड़े अथवा संकट के समय वह वीतराग परमात्मा से पुकार करे, किन्तु किसी पूर्वकृत पापकर्म-वश उसका संकट दूर न हो, तब वह पुण्य-पाप को अथवा पाप-आश्रव और अशुभकर्म के बन्ध को फिजूल की गप्पें कहकर उन तत्वों के प्रति अश्रद्धा

प्रकट करने लगे, अथवा आत्मा के सर्वोच्च विकासरूप या सर्व कर्म विमुक्तिरूप मोक्षतत्व को मिथ्या कहने लगे। जीव (आत्मा) का अस्तित्व न मानकर (अजीव) शरीर को ही सब कुछ मानने लगे। ऐसी स्थिति में उस व्यक्ति की जीवादि तत्वों पर हुई निष्ठाहीन क्षणिक श्रद्धा को सम्यक्-श्रद्धा—निष्ठायुक्त या प्रतीतियुक्त श्रद्धा नहीं कहा जा सकता।

निष्कर्ष यह है कि उस व्यक्ति की इन तत्वभूत पदार्थों पर श्रद्धा इतने मात्र से सच्ची श्रद्धा नहीं कही जा सकती। जिसकी बुद्धि अत्यन्त तीव्र हो, जो शास्त्रों या ग्रन्थों को पढ़ सुनकर या रट-रटाकर इन तत्वभूत पदार्थों के नाम, भेद-प्रभेद, अर्थ, लक्षण या परिभाषाएँ कण्ठस्थ कर लेता है, इन जिनोक्त तत्वभूत पदार्थों का स्वरूप स्वयं जानकर, दूसरों को भी इनका स्वरूप समझा देता है। स्वयं अपनी वाणी से उन तत्वों पर लम्बे चौड़े भाषण भी दे देता है, वाणी से श्रद्धा भी प्रकट कर देता है, तत्वभूत पदार्थों के सम्बन्ध में चर्चा या शंका-समाधान भी कर देता हो, तत्वज्ञान की परीक्षाएं देकर उनमें पास भी हो जाता है। परम्परागत संस्कारों के कारण वह अपने तथाकथित सम्प्रदाय या पंथ के गुरु से उन तत्वभूत पदार्थों का स्वरूप जानकर उन्हें ग्रहण भी कर लेता है, तथा उनके समक्ष वाणी से यह भी प्रकट कर देता है कि ये ही तत्वभूत पदार्थ सत्य हैं, शेष नहीं।

वस्तुतः उसी की श्रद्धा को सम्यग्दर्शन या सम्यक्श्रद्धा कहा जा सकता है, जो किसी दूसरे के द्वारा सांसारिक उपलब्धि के लिए उकसाये बिना, अथवा कुलपरम्परा, साम्प्रदायिक मोह या पक्षपात के आधार पर प्राप्त किये बिना, या अपने जाने-माने परिचित गुरुओं पर अन्धभक्ति, विवशता या लोकप्रतिष्ठा को लेकर प्राप्त किये बिना,स्वयं हार्दिक निष्ठा-पूर्वक उन तत्वभूत पदार्थों में से उपादेय तत्वों को ग्रहण करने तथा हेय तत्वों को छोड़ने की प्रबल भावना करता हो, जीवन को उस श्रद्धा के अनुरूप ढालने में यथाशक्ति संकोच न करता हो, अपनी प्रसिद्धि या प्रतिष्ठा को ढाल बनाकर या अपनी लाचारी को प्रकट करके श्रद्धानुरूप प्रवृत्त होने की अपनी शक्ति को न छिपाता हो।

इस आत्मा में अनन्तकाल से जैसे तत्वभूत पदार्थों के प्रति अश्रद्धान रहा है, वैसे ही अतत्वभूत पदार्थों के प्रति श्रद्धान भी रहा है। दोनों ही मिथ्यादर्शन हैं—तत्वविषयक पदार्थों के प्रति यथार्थ श्रद्धान का अभाव भी

और अतत्वविषयक पदार्थों के प्रति अयथार्थ श्रद्धा भी। पहला सर्वथा मूढदशा (निगोद आदि जीवों) में होता है, जबकि दूसरा वैचारिकदशा में भ्रान्त मान्यता, एवं मताभिनिवेश के कारण होता है।[1] इसी कारण सम्यक्श्रद्धा के लिए तत्वभूत पदार्थों के प्रति आत्मलक्ष्यी निश्चयरूप श्रद्धान आवश्यक बताया गया है।

इसके अतिरिक्त इन जिनोक्त नौ या सात तत्वों के प्रति प्रतीति या निष्ठा भी तभी मानी जा सकती है, जब जीव, अजीव आदि जिस तत्व का जैसा स्वरूप है, जैसा लक्षण वीतराग प्रभु ने बताया है उसे उसी रूप में माने, उसी रूप में उस पर दृढ़ और अविचल श्रद्धा करे। यही सम्यक् श्रद्धा का वास्तविक स्वरूप है।

तत्त्वार्थश्रद्धात्मक सम्यग्दर्शन का विश्लेषण

व्यवहार सम्यग्दर्शन के सन्दर्भ में सम्यक्श्रद्धात्मक सम्यग्दर्शन का प्रथम लक्षण तत्वार्थसूत्र में इस प्रकार दिया गया है—

तत्वार्थश्रद्धानं सम्यग्दर्शनम्

इसका भावार्थ यह है कि (अपने अपने स्वभाव में स्थित एवं जिनोक्त) जीव अजीव आदि तत्वभूत पदार्थों पर श्रद्धा करना (सम्यक्श्रद्धा रूप) सम्यग्दर्शन है। इसी लक्षण का स्पष्टीकरण करते हुए तत्वार्थ सूत्र के भाष्यकार कहते हैं—

"तत्वानामर्थानां श्रद्धानं तत्वेन वाऽर्थानां तत्वार्थश्रद्धानं तत् सम्यग्दर्शनम्। तत्वेन भावतो निश्चितमित्यर्थः तत्वानि जीवादीनि····। त एव चार्थास्तेषां श्रद्धानं तेषु प्रत्ययावधारणम्।[2]

अर्थात्—तत्वरूप पदार्थों का श्रद्धान=निश्चय अथवा तत्वरूप से—यथार्थरूप से अर्थों—पदार्थों का जो श्रद्धान है वही सम्यग्दर्शन है। अर्थात् तत्व से यानी भाव से (शुद्ध हृदय से) या जो पदार्थ जैसा है, उसी रूप से उसका निश्चय करना। जीव, अजीव, पुण्य पाप, आश्रव संवर, निर्जरा, बन्ध, मोक्ष, ये नौ जिनोक्त तत्व हैं वे ही तत्वभूत पदार्थ हैं उनके प्रति श्रद्धा करना अर्थात्—प्रतीतिपूर्वक निश्चय करना तत्वार्थश्रद्धान है।

---

१. श्रद्धानं विपरीताभिनिवेशविविक्तम्। —पुरुषार्थ सिद्ध्युपाय श्लोक, २२

२. तत्वार्थ भाष्य अ. १, सू. २।

उत्तराध्ययनसूत्र में वीतराग तीर्थंकर भगवान् महावीर ने इसी प्रकार का लक्षण किया है—

तहियाणं तु भावाणं सब्भावे उवएसणं।
भावेण सद्दहंतस्स, सम्मत्तं तं वियाहियं ॥[1]

इन (पूर्वोक्त नौ) तत्वरूप भावों—पदार्थों के सद्भाव—अस्तित्व के जिनोक्त उपदेश या भाव से—अन्तःकरण से जो श्रद्धा करता है, उसके उस सम्यक्श्रद्धान को सम्यक्त्व कहा गया है।

तत्व, अर्थ और श्रद्धान का विश्लेषण

इस सम्बन्ध में प्रश्न होता है कि तत्व क्या है? व्याकरणशास्त्र के अनुसार तत्व का अर्थ होता है—

तस्य भावस्तत्वम्—जिस पदार्थ का जो भाव है, स्वभाव है, स्वरूप है या धर्म है, वही उसका तत्व है। अर्थात्—जो पदार्थ जिस रूप में व्यवस्थित है, उसका वैसा होना तत्व है। तात्पर्य यह है कि प्रत्येक पदार्थ में पृथक्-पृथक् धर्म रहता है। उसी धर्म पर से उस पदार्थ का निश्चय किया जाता है। उस धर्म को तत्व कहते हैं।

यदि तत्व-श्रद्धानं—(तत्व पर श्रद्धान) ही सम्यग्दर्शन का लक्षण किया जाता तो यह लक्षण दोषयुक्त होता। सांख्यदर्शन में उक्त पच्चीस तत्वों पर श्रद्धान करना या वैशेषिक दर्शन में कथित द्रव्य, गुण, कर्म आदि सात तत्वों (पदार्थों) पर श्रद्धा करना, अथवा वेदान्त दर्शन के अनुसार एकमेवाद्वितीयं ब्रह्म—एक मात्र ब्रह्म ही तत्व है, संसार में दृश्यमान जड़ और चेतन समस्त पदार्थ ब्रह्मरूप हैं, इस प्रकार एक ही ब्रह्मतत्व पर श्रद्धान को 'सम्यग्दर्शन' कहना पड़ता। यह अभीष्ट एवं युक्तिसंगत नहीं, तथा सिद्धान्तविरुद्ध भी है। इसलिए कहा गया—तत्वार्थश्रद्धान सम्यग्दर्शन है।

यदि 'अर्थ श्रद्धानं'—अर्थों पर (या अर्थ से—भाव से श्रद्धा करना) इतना ही सम्यग्दर्शन का लक्षण किया जाता तो पहली आपत्ति तो यह होती कि संसार में अर्थ पदार्थ तो एक दो नहीं, अनन्त हैं। किस पर श्रद्धा की जाए, किस पर नहीं? इस प्रकार व्यक्ति भूलभुलैया में पड़ जाता। दूसरी आपत्ति यह आती कि अर्थ शब्द के अनेक अर्थ होते हैं, यथा—धन,

---

१. उत्तराध्ययन सूत्र अ. २८ गा. १५

प्रयोजन, पदार्थ, अभिधेय उद्देश्य आदि। ऐसी स्थिति में जितने भी अर्थ शब्द के पर्यावाची शब्द हैं, उनके प्रति श्रद्धा करने का प्रसंग आता, जो युक्ति और सिद्धान्त से विरुद्ध है।

अतः सम्यग्दर्शन के लक्षण में 'अर्थ श्रद्धानं' से पूर्व 'तत्व' शब्द जोड़ा गया। तब उसका अर्थ हुआ—जो तत्वभूत पदार्थ हैं, उन्हीं पर श्रद्धा प्रतीति या निश्चय करना सम्यग्दर्शन है।

तत्वार्थश्रद्धान का रहस्यार्थ

कतिपय आचार्यों ने तत्व शब्द का फलितार्थ दिया है—जिस पदार्थ, द्रव्य या भाव का कथन करना अभीष्ट है, उसका स्वभाव। स्वभाव से तात्पर्य है—उस पदार्थ की जातीयता, जो कि उस प्रकार के अनेक पदार्थों में अनुगत हो। उदाहरणार्थ—जीवतत्व कहने से संसार में जितने भी जीव हैं, उनमें अनुगत उपयोगत्व या चैतन्य की समानता का बोध होता है। भले ही जीव अनंत हों, किंतु सभी जीवों का उक्त स्वभाव एक-सा है। इसी प्रकार अजीव तत्व कहने से जितने भी अजीव हैं, उन सब में अजीव स्वभाव का एक-सा बोध होता है। इसी प्रकार आस्रव, संवर निर्जरा, बंध और मोक्ष आदि तत्व भले ही एक-एक हों, किन्तु इन तत्वों के अन्तर्गत जितने भी अन्तरंगबहिरंग कारण हैं, उन सब में अनुगत उस-उस तत्व के स्वभाव का बोधहोगा। यही कारण है कि सम्यक्श्रद्धारूप सम्यग्दर्शन के लक्षण में तत्व मात्र पर श्रद्धान न कहकर तत्वार्थ-श्रद्धान कहा गया है। उसका रहस्यार्थ यह है कि इस लक्षण में जिन तत्वभूत जिनोक्त सात या नौ तत्वों का कथन किया गया है, उन शब्दों को या उनकी व्याख्याओं को जानना या उन पर श्रद्धा मात्र करना ही पर्याप्त नहीं है, किन्तु मूल वस्तु है—तत्वभूत पदार्थों के भावों या स्वभावों का ज्ञान और श्रद्धान करना। युक्ति और आगमोक्ति को स्वानुभूति के साथ मिलान करके उस-उस तत्व के स्वभाव का निश्चय करना—हृदयंगम करना तत्वार्थ-श्रद्धान है।

तत्वार्थश्रद्धान का फलितार्थ लाटीसंहिता के अनुसार इस प्रकार हैं–

"तत्वं जीवास्तिकायाद्यास्तत्-स्वरूपोऽर्थ संज्ञकः।
श्रद्धानं···· ···· ···· ···· ····॥"[1]

प्रत्येक तत्वभूत पदार्थ का पृथक्-पृथक् धर्म—स्वभाव है। उसी धर्म

---

१ लाटीसंहिता सर्ग ३, श्लोक ८।

को तत्व कहते हैं। उसी धर्म पर से उस पदार्थ का निश्चय किया जाता है कि वह कौन-सा तत्व है? इसी कारण तत्व शब्द के साथ 'अर्थ' शब्द जोड़ा गया है, जिसका अभिप्राय है—निश्चय करना। जिस पदार्थ का निश्चय उसमें निहित धर्म से कर लिया जाता है, उस पदार्थ का स्वरूप कभी अन्यथा (विपरीत) सम्भव नहीं है। ऐसे यथार्थ (तत्वभूत) जीवादि-पदार्थों का निश्चयपूर्वक श्रद्धान करना 'तत्वार्थश्रद्धान' है।

तत्त्वार्थभूत पदार्थ कौन से और कैसे ?

सम्यक्श्रद्धा का तत्वार्थश्रद्धानरूप लक्षण कर देने पर भी यह शंका बनी रहती है कि तत्वभूत पदार्थ किन्हें माने जाएँ? जिसे जो पदार्थ तत्व-भूत लगे या जचे, यदि उसे वह तत्वभूत मान ले, तब तो बहुत गड़बड़ी हो जाएगी। संसार के भोगों में आसक्त मानव को ये विषयभोग ही तत्वभूत लगते हैं, चोर को परधनहरण ही तत्वरूप लगता है, एक बच्चे को मां के दूध या मिठाई पर श्रद्धा या रुचि होती है, धनलोलुप को येन-केन-प्रका-रेण धन-संग्रह करने में श्रद्धा होती है, एक कामुक को कामिनी संग में तीव्र रुचि होती है। इसी प्रकार एक पोथी-पण्डित को पुस्तकों के रटने में, एक विद्यार्थी को भौतिक विद्याओं की प्राप्ति में और एक कसाई को, पशु-वध करने में, एक धर्मान्ध को दूसरे धर्म वालों को भय या प्रलोभन देकर या जबरन धर्म-सम्प्रदाय-परिवर्तन कराने में श्रद्धा या रुचि होती है। क्या इन और ऐसे ही अन्य लोगों की अपनी-अपनी रुचि या श्रद्धा के अनुकूल विषयों को तत्वभूत पदार्थ माना जाएगा? और इनके स्व-स्वमान्यतायुक्त पदार्थ को तत्वभूत मानकर उनकी उन पर श्रद्धा को क्या सम्यक् श्रद्धा या सम्यग्दर्शन कहा जाएगा? कदापि नहीं।

आप कह सकते हैं कि इन सब अल्पज्ञों के स्वच्छन्द बुद्धि से या मनमाने ये पदार्थ तत्वभूत हैं ही नहीं; फिर इन्हें तत्वभूत मानने का सवाल ही नहीं है। फिर प्रश्न उठता है कि यह तो आप कहते हैं कि हमारे द्वारा मान्य शास्त्रों या धर्मग्रन्थों में इन्हें तत्वभूत पदार्थ नहीं माने गए हैं, किन्तु जो मिथ्वात्वग्रस्त हैं, अज्ञानान्धकार में डूबे हुए हैं, या जिन्हें धर्म-अधर्म, पुण्य पाप आदि का जरा भी बोध नहीं है, या जो सर्वथा नास्तिक हैं, वे ऐसा कह सकते हैं कि इसका क्या प्रमाण है कि आपके द्वारा प्रतिपादित सात या नौ तत्व ही तत्वभूत पदार्थ हैं, हमारे द्वारा कथित—स्व-स्वमति-कल्पित पदार्थ—स्वश्रद्धा रुचिविषयक पदार्थ तत्वभूत नहीं हैं?

इसका समाधान यह है कि यहाँ आध्यात्मिक—आत्मा के विकास ह्रास से सम्बन्धित तत्वों का प्रसंग है, लौकिक, भौतिक या सांसारिक तत्वों का नहीं। यद्यपि आस्रव, बन्ध, पुण्य, पाप, अजीव आदि तत्व संसार परिभ्रमण के कारण होने से सांसारिक कहे जा सकते हैं, किन्तु यहाँ आध्यात्मिक विकास के सर्वांगीण एवं आत्मलक्ष्यी दृष्टि से सभी पहलुओं से विचार करने हेतु आत्मविकास के साधक तत्वों के साथ-साथ बाधक तत्वों पर भी विचार करना अनिवार्य है। यही कारण है कि इन नौ या सात तत्वों को सम्यक्श्रद्धा के सन्दर्भ में तत्वभूत माना गया है। आत्म-लक्ष्यी दृष्टि से विचार करने में आस्रव, बन्ध, पुण्य, पाप एवं अजीव आदि तत्व सांसारिक होते हुए भी तत्वभूत ही सिद्ध होते हैं। यों देखा जाय तो जब तक मोक्ष प्राप्त नहीं हो जाता, तब तक कोई भी साधक चाहे कितनी ही उच्चकोटि की साधना करता हो, वह है तो सांसारिक ही, संसार में ही रहता है, संसार में ही जीता है, परन्तु सम्यक्श्रद्धा वाले उस व्यक्ति की दृष्टि संसारलक्ष्यी नहीं होती, मोक्षलक्ष्यी होती है। यों भी देखा जाए तो जीव, अजीव, पुण्य, पाप, आस्रव, संवर से लेकर निर्जरा तक के सभी तत्व सांसारिक जीवों के लिए ही है, मोक्ष भी जब तक प्राप्त नहीं हो जाता तब तक सम्यग्दृष्टि—सम्यक्श्रद्धायुक्त साधक के लिए उपादेय एवं ध्येय हैं। जब वह साधक सिद्ध-बुद्ध-मुक्त हो जाता है, तब इन तत्वों को जानने, मानने, ग्रहण करने वा छोडने की जरूरत नहीं रहती।

परन्तु जो महापुरुष संसार में रहते हुए साधना करते-करते वीत-रागता की भूमिका तक या सिद्धत्व, परमात्मपद या मुक्त की भूमिका तक पहुँचे हैं, उन्होंने इन समस्त तत्वों का एक या दूसरे प्रकार से अनुभव किया और यह निश्चित किया कि इन नौ या सात तत्वों से एक या दूसरे प्रकार से प्रत्येक साधक से वास्ता पड़ता है, उस समय सम्यक्श्रद्धालु साधक को अमुक तत्व आत्म-विकास में बाधक होने से हेय, अमुक तत्व साधक होने से उपादेय और सभी तत्वों का स्वरूप एवं धर्म (स्वभाव) जानना अनिवार्य होने से ज्ञेय समझना चाहिए। पूर्ण श्रद्धा एवं निष्ठा पूर्वक इनको यथायोग्य जानना चाहिए। इसीलिए कहा गया है—**जिण-पण्णत्तं तत्तं**। अथवा **जिणवरेहिं पण्णत्तं तत्तं**।

यही कारण है कि ये सात या नौ तत्व अल्पज्ञों द्वारा कथित नहीं हैं, मनःकल्पित या मनगढ़न्त नहीं हैं, अपितु ये वीतराग सर्वज्ञ आप्त अरहन्तों (जिनेन्द्रों) द्वारा कथित, प्ररूपित या उपदिष्ट हैं। इसलिए तत्व-

भूत हैं, ये तत्व (पदार्थ) वीतराग सर्वज्ञ द्वारा भाषित या उपदिष्ट होने से इनकी तत्त्वरूपता में किसी शंका को अवकाश नहीं है। वीतराग सर्वज्ञ आप्त पुरुषों ने भी इन सात या नौ पदार्थों को तत्त्वभूत इसलिए बताया है कि जीवतत्त्व को छोड़कर शेष सभी पदार्थ आत्मा (जीव) के चरम विकास एवं ह्रास में, शुद्धि एवं अशुद्धि में अथवा संसारवृद्धि एवं संसार ह्रास में निमित्त कारण हैं। आत्मा के चरमविकासरूप मोक्ष का साधन जब सम्यग्दर्शन को बताया गया है तब आत्मा के चरमविकास में साधक या बाधक के रूप में इन्हीं पदार्थों को तत्वभूत बताना आवश्यक था। साथ ही आध्यात्मिक विकास के सन्दर्भ में इन पदार्थों में से हेय, ज्ञेय और उपादेय कौन कौन से तत्व हैं, यह बताना भी अभीष्ट था। ताकि सम्यग्-दृष्टि मुमुक्षु जीव इन पदार्थों को वास्तविकरूप में जानकर सम्यक्श्रद्धा कर सके। सूत्रप्राभृत में इसी तथ्य को उजागर किया गया है—

सुतत्थं जिण-भणियं जीवाजीवादि बहुविहं अत्थं।
हेयाहेयं च जहा जो, जाणइ सो हु सुदिट्ठी ॥[1]

वीतराग सर्वज्ञ तीर्थंकरों ने जीव, अजीव आदि बहुविध पदार्थों को सुतथ्य (तत्त्वभूत) बताया है, उनमें से जीव, संवर, निर्जरा और मोक्ष को उपादेय तथा अजीव, आस्रव (पुण्य-पाप) एवं बन्ध को हेय एवं सभी पदार्थों को ज्ञेय समझकर जो यथातथ्यरूप से जानता है, वही सम्यग्दृष्टि—सुश्रद्धा-सम्पन्न है।

तात्पर्य यह है कि जो पदार्थ हेय, उपादेय और ज्ञेय, जैसा जिस रूप में अवस्थित है, उसका जिनेन्द्र भगवन्तों ने वैसा रूप बताकर, इन नौ या सात पदार्थों की तत्त्वरूपता स्पष्ट कर दी है। इसलिए ये ही जिनोक्त पदार्थ तत्वभूत माने जाते हैं। हाँ, इनके नाम दूसरे दर्शनों में चाहे और हों, परन्तु तत्वतः ये ही पदार्थ सम्यग्दृष्टि के लिए श्रद्धानयोग्य हैं।

जिनोक्त सात तत्वभूत पदार्थ

जब पुण्य-पाप को पृथक पृथक बताते हैं, तब जीव, अजीव आदि तत्वभूत पदार्थ नौ होते हैं और जब पुण्य और पाप को आस्रव (शुभ आस्रव—अशुभ आस्रव) तथा बन्ध (शुभबन्ध—अशुभबन्ध) में समाविष्ट कर देते हैं तो ये सात ही होते हैं। इसीलिए तत्वार्थसूत्र, वसुनन्दिश्रावका-

---

१ सूत्रप्राभृत, गा. ५

चार आदि ग्रन्थों में सात ही पदार्थों को तत्वभूत माना गया है—

"जीवाजीवासव बंध संवरो, णिज्जरा तहा मोक्खो।
एयाइं सत्त तच्चाइं, सद्दहंतस्स सम्मत्तं॥[1]

जीव, अजीव, आस्रव, बन्ध, संवर, निर्जरा और मोक्ष ये सात तत्व (जिनोक्त तत्वभूत पदार्थ) हैं, इन पर श्रद्धा करना सम्यक्त्व—सुश्रद्धा है।

सात पदार्थ ही तत्त्वरूप क्यों ?

प्रश्न होता है कि ये सात पदार्थ ही तत्वरूप क्यों बताये गए, कम या अधिक क्यों नहीं ?

इस प्रश्न के समाधान के लिए हम एक लौकिक उदाहरण प्रस्तुत करते हैं—

किसी रोगी व्यक्ति को रोग को सर्वथा मिटाकर पूर्ण स्वस्थ होना हो तो उसे इन सात तत्वों को जानना और इन पर श्रद्धा करनी होगा। (१) मेरा मूल स्वभाव स्वस्थ—निरोग रहना है, (२) पर वर्तमान में किस विजातीय पदार्थ के संयोग से, कौन सा रोग आ गया है ?, (३) रोग का कारण क्या है ?, (४) रोग का निदान, (५) रोग को रोकने का—अपथ्य सेवन निषेधरूप उपाय, (६) पुराने रोग को नष्ट करने के लिए योग—औषध सेवन, (७) पूर्ण स्वस्थ अवस्था का स्वरूप।

जिस प्रकार इन और ऐसे लौकिक कार्यों की सफलता के लिए उपर्युक्त सात तथ्यों का जानना और उन पर श्रद्धा करना आवश्यक है, वैसे ही आत्मा की पूर्ण स्वस्थता अथवा समस्त दुःखों के सर्वथा विनाश एवं अनन्त आत्मिक सुख की प्राप्ति जैसे लोकोत्तर कार्य की सफलता के लिये भी जिनेन्द्र भगवंतों ने पूर्वोक्त सात तथ्यों का निर्धारण किया है उन्हें जानना, मानना और उन पर श्रद्धा करना आवश्यक है— (१) मैं—जिसे आत्मिक अनन्त सुख चाहिए, वह (जीव) क्या है ? (२) सम्पर्क में आने वाला विजातीय पदार्थ (अजीव) क्या है ? (३) दुःख और अशान्ति का कारण [आस्रव] क्या है ? (४) दुःख और अशांति क्या है ? [बन्ध], (५) नये [आने वाले] दुःखों को रोकने का उपाय (संवर) क्या है ? (६) पुराने दुःखों के कारणों का नाश [निर्जरा] कैसे हो ? और (७) अनन्त सुखशांति की अवस्था का स्वरूप क्या है ?

---

१ वसुनन्दि श्रावकाचार गा. १०

इन्हीं सात [पुण्य-पाप मिलाकर नौ] तत्वों पर भावतः श्रद्धा और निष्ठा करने पर सम्यक्श्रद्धा कहलाएगी।

जीवादि सात तत्वों का स्वरूप और श्रद्धा

जीवादि सात तत्वों पर श्रद्धा करने के लिए इनके स्वरूप का निश्चय करने की आवश्यकता है। **जीव का लक्षण** तत्वार्थ सूत्र में बताया गया है—**'उपयोगो लक्षणम्'**[1]। जीव का सर्व सामान्य लक्षण जो संसारी और सिद्ध दोनों प्रकार के जीवों में घटित होता है, वह है—उपयोग। उपयोग का अर्थ है—ज्ञान-दर्शनमय। दर्शन को निराकार उपयोग कहते हैं, और ज्ञान को साकार उपयोग। इन दोनों में सामान्य और विशेष ज्ञान का अन्तर है। निष्कर्ष यह है कि जो चेतनामय हो, वह जीव (आत्मा) है। इसी लक्षण को बृहद् द्रव्य संग्रह में स्पष्ट किया गया है—

जीवो उवओगमओ, अमुत्ति कत्ता सदेह-परिमाणो।
भोत्ता संसारत्थो, सिद्धो सो विस्ससोड्ढगई॥[2]

अर्थात्—संसारस्थ जीव का लक्षण—जो जीता है, प्राण धारण करता है, ज्ञान दर्शनमय है, अमूर्तिक (अरूपी) है, अपने कर्मों का कर्त्ता और भोक्ता है, अपने अपने शरीर के परिमाण वाला (बराबर) है। जो सिद्ध (मुक्त) जीव है वह उपयोगमय (पूर्ण निर्मल केवलज्ञान केवलदर्शनमय) है, अमूर्तिक (इन्द्रियों से अगोचर) तथा कर्त्ता (क्रिया रहित, अविचल ज्ञायक एक मात्र शुद्ध बुद्ध रूप, एवं स्व-स्वभाव का धारक) है, और भोक्ता (शुद्ध द्रव्यार्थिकनय की दृष्टि से रागादि विकल्प रूप उपाधियों से रहित तथा अपनी आत्मा में उत्पन्न सुख रूपी अमृत का भोक्ता) है। एवं निश्चयनय से लोकाकाश परिमित असंख्य स्वाभाविक शुद्ध प्रदेशों का धारक है। इसके अतिरिक्त वह मुक्त जीव शुद्ध निश्चयनय की दृष्टि से संसाररहित तथा नित्य आनन्द स्वभाव युक्त है। इसी प्रकार अनन्त ज्ञानादिमय होने से वह सिद्ध है, तथा केवलज्ञानादि अनन्त गुणों की प्राप्तिरूप मोक्ष में गमन करते समय ऊर्ध्वगमन करता है।

जीव ही समस्त तत्वों में प्रधान

व्यवहार और निश्चय दोनों दृष्टियों से जीव का यह लक्षण है। इस प्रकार जीव (शुद्ध आत्मा) समस्त ज्ञानादि गुणों और भावों का आधार

---

१. तत्त्वार्थ सूत्र अ. २ २. बृहद् द्रव्य संगह अधि. १ गा. २

है। अतः जिनेश्वर द्वारा बताये गए जीव के स्वरूप और स्वभाव पर विचार करके, उस पर श्रद्धा निष्ठा रखे। प्रस्तुत सात तत्वों में जीव तत्व ही मुख्य है। जीव के अतिरिक्त जितने भी अन्य तत्व या पदार्थ हैं, वे सब एक या दूसरे प्रकार से जीव से ही सम्बन्धित हैं। दूसरे सब तत्व जीव (आत्मा) को केन्द्र में रखकर अपने-अपने स्वभाव के अनुसार कार्य करते हैं। जीव है तो आस्रव और संवर है। जीव को लेकर ही बन्ध है, एवं निर्जरा की सत्ता है। जीव के साथ बार-बार संपर्क होने से, तथा जीव का विरोधी होने से अजीव भी जीव से सबन्धित है। मोक्ष भी जीव (आत्मा) की सर्वथा शुद्ध और पूर्ण विकास की अवस्था विशेष है। इसलिए जीव की प्रमुखता एवं श्रेष्टता को समझना भी जीव तत्व पर श्रद्धान है। इसीलिए एक महान् आचार्य ने 'जीव को उत्तम गुणो का धाम, सर्वद्रव्यों में उत्तम द्रव्य और समस्त तत्वों में श्रेष्ठ तत्व' कहा है।

जीवतत्व पर श्रद्धान का रहस्य

अतः जीवतत्त्व पर श्रद्धान का रहस्य यह है कि तत्त्वभूत सभी पदार्थों पर श्रद्धा तो की जाए, किन्तु उनके प्रति श्रद्धान की ओट में जीव (आत्मा) को ओझल न कर दिया जाए। जिन तत्वों से आत्मा का विकास होता हो, उन्हें अपनाया जाए और जिनसे आत्मा का ह्रास होता हो, उन तत्वों को त्याज्य समझा जाए।

जीव जब स्व और पर का भेद-विज्ञान न करके, अपना स्व-स्वरूप भूलकर धन, मकान, परिवार आदि मे या पचेन्द्रिय विषयों में अथवा मनोऽनुकूल पदार्थों पर राग, मोह आदि और अमनोज्ञ पदार्थों के प्रति द्वेष घृणा आदि करता है जड़ या सजीव इष्ट संयोग मे सुख-शांति ढूंढ़ता है, तब वह अपने (जीव के) स्वरूप के प्रति श्रद्धान से हट जाता है और रागादि विकल्प करता हुआ वह (जीव) अजीव, आस्रव और बन्ध के साथ अपना गाढ़सम्बन्ध जोड़ लेता है। सम्यक्श्रद्धावान् को चाहिए यह कि जीव और अजीव तथा स्वभाव और विभाव या परभाव का निष्ठापूवक भेद-विज्ञान करके अजीव, आस्रव एवं बन्ध के कारणों से सावधान रहे। तथा स्व-पर-भेदविज्ञान द्वारा रागद्वेषादि विकल्प उत्पन्न करने वाले शुभाशुभ कर्मों को आने से रोक दे और पूर्वकृत विकल्पों से बद्ध कर्मों को काटता चले। यो करते-करते क्रमशः वह समस्त कर्मों और विकल्पों से पूर्णतः मुक्त होकर निर्बाध शांति प्राप्त करने का अभ्यास करे।

इस प्रकार करने से ही जीव के साथ संवर, निर्जरा और मोक्ष तत्वों के प्रति उसकी श्रद्धा-भक्ति एवं निष्ठा प्रकट होगी ।

अजीव तत्व : स्वरूप और श्रद्धा

अजीव का लक्षण है—जिसमें चेतना, सुख-दुःख का संवेदन, या ज्ञान (उपयोग) न हो। जीवतत्व से ठीक विपरीत लक्षण अजीव का है, क्योंकि अजीव जीव का प्रतिपक्षी है। अजीव के मुख्यतया पांच भेद हैं—(१) धर्मास्तिकाय, (२) अधर्मास्तिकाय, (३) आकाशास्तिकाय, (४) काल और (५) पुद्गलास्तिकाय।

अजीव दो प्रकार का होता है—रूपी और अरूपी। शरीर, इन्द्रियां, अंगोपांग, मन, कर्म आदि तथा पुस्तक, मकान आदि इन्द्रियों से ज्ञात होने वाली सभी वस्तुएँ रूपी पुद्गल हैं। आकाश, धर्मास्तिकाय, अधर्मास्तिकाय आदि सब अरूपी अजीव हैं। रूपी पुद्गल अजीव हैं और जड़ परमाणुओं के पिण्ड हैं। रागादि भाव वस्तुतः चेतन के स्वाभाविक भाव न होने से अचेतन हैं, किन्तु चेतन के साथ घुल-मिल जाते हैं और ये मोहयुक्त सांसारिक जीव में होते हैं, मोहमुक्त जीव में नहीं। इस प्रकार सम्यक्श्रद्धावान् को अजीव का स्वरूप जानकर भलीभांति हृदयंगम कर लेना चाहिए ।

आस्रव : स्वरूप और श्रद्धा—आस्रव कर्मों के आगमन का द्वार है। जीवरूपी तालाब में शुभाशुभ कर्मरूप जल का आना आस्रव है। जिस प्रकार समुद्र पर चलने वाली छिद्रयुक्त नौका में पानी भर जाता है, उसी प्रकार मिथ्यात्व, अविरति, प्रमाद, कषाय और शुभाशुभयोगत्रय (मन-वचन-काय की प्रवृत्ति) इन पांच कारणों से आत्मारूपी नौका सच्छिद्र हो जाने से उसमें शुभाशुभ कर्मरूपी जल आ (प्रवेश कर) जाता है। वही आस्रव कहलाता है। दूसरी दृष्टि से देखें तो आस्रव में एक ओर जीव (आत्मा) रागद्वेषादिरूप विभाव अवस्था में परिणत होता है तो दूसरी ओर कार्मणवर्गणा के पुद्गल भी कर्मरूपी विभाव अवस्था में परिणत होते हैं। इन दोनों का विभाव-परिणति के कारण जब अजीव द्रव्य यानी कार्मणवर्गणा के पुद्गल जीव के साथ संयोग करने हेतु आकर्षित होकर जीव के सम्पर्क में आने लगता है, उसी अवस्था को आस्रव कहा जाता है।

पुण्य और पाप दोनों क्रमशः शुभ और अशुभ आस्रव हैं। शुभयोग से पुण्य का आस्रव (आगमन) होता है, जबकि अशुभ योग से पाप का।

संसारी आत्मा पुण्य (शुभास्रव) को पकड़ता है और पाप आस्रव को छोड़ता है, परन्तु सम्यक्श्रद्धावान् मानव पुण्य-पाप दोनों को छोड़ता है, त्याज्य समझता है। वह समझता है कि पाप लोहे की बेड़ी है उसी प्रकार पुण्य भी सोने की बेड़ी है। दोनों बन्धनरूप हैं, दोनों एक ही कार्य करने वाले हैं। परन्तु मोहावृत अज्ञानी नर पुण्य-बन्धन को पाकर अपने को भाग्यशाली और सुखी समझता है। सम्यग्दृष्टि मानव पुण्य को अनुकूल वेदनरूप एवं क्षणिक सुखरूप होने पर भी अन्त में त्याज्य समझता है, किन्तु पुण्य के कारण प्राप्त हुई सुखसाधन-सामग्री उस व्यक्ति के विपरीत भावों या दुरुपयोग के कारण दुःखरूप भी हो सकती है। अतः पुण्य या पाप का नाप-तौल बाह्यक्रियाओं या कार्य पर से नहीं होता, वह चेतन आत्मा के शुभाशुभ संकल्प या परिणाम (भाव) पर निर्भर है। तन-मन-वचन या साधन ये सभी जड़ हैं, जड़ पदार्थों से होने वाली क्रियाओं का फल इन जड़ वस्तुओं को नहीं मिलता, न ही इन्हें शुभाशुभ कर्मबन्ध होता है।

शुभाशुभ कर्मबन्ध या कर्मफल चेतन को उसके परिणामों के अनुसार मिलता है। बाह्य शारीरिक क्रियाओं पर से पुण्य-पाप का नाप-तौल किया जाएगा तो बहुत ही गड़बड़ होगा। एक सरीखी क्रिया होने पर भी उसके पीछे निहित व्यक्तियों के अपने-अपने भावों और प्रयोजनों में काफी अन्तर होने पर भी सबको पुण्य या पाप कह देना गलत होगा। बाह्य क्रियाएँ व्यक्ति के अनुकूल भी हो सकती हैं, प्रतिकूल भी। प्रतिकूल क्रिया होने पर भाव शुद्ध हैं तो पुण्य होगा, और अनुकूल क्रिया होने पर भी भाव अशुभ है तो पाप होगा। अतः पुण्य-पाप का निर्णय केवल तन-वचनादि की क्रियाओं पर से न करके व्यक्ति के परिणामों से करना ही उचित और शास्त्रसम्मत होगा। सम्यग्दृष्टि आत्मा शुभाशुभ आस्रव के जिनोक्त यथार्थस्वरूप को श्रद्धापूर्वक जानकर इन्हें त्याज्य समझता है, लेकिन चारित्रमोहकर्मवश कदाचित् त्याग नहीं पाता। जैसे—श्रेणिक राजा क्षायिक सम्यग्दृष्टि था, पुण्य-पाप-रूप दोनों प्रकार के आस्रवों को हेय समझता था; किन्तु चारित्रमोहकर्मवश पुण्य को सर्वथा त्याग न सका।

बन्ध : स्वरूप और श्रद्धा—जीव (आत्मा) और कर्मपुद्गलरूप अजीव दोनों का दूध और पानी की तरह एकमेक (एकक्षेत्रावगाही) हो जाना बन्ध है। बन्ध-अवस्था आत्मा की संसारी अवस्था है। इसमें आत्मा और कर्मपुद्गल दोनों विजातीय द्रव्य परस्पर सम्बद्ध हो जाते हैं। दोनों की

यह संयोगावस्था ही संसार दशा कहलाती है। यह दशा तभी समाप्त होती है, जब जीव कर्मों से सर्वथा मुक्त—पृथक् हो जाता है। बन्ध भी शुभाशुभ के भेद से दो प्रकार का होता है। शुभ बन्ध को पुण्य तथा अशुभ बन्ध को पाप भी कह सकते हैं। आस्रव और बन्ध में अन्तर इतना ही है कि आश्रव में शुभाशुभ कर्मों का आगमन होता है, और बन्ध में शुभाशुभ कर्म आत्मा के साथ घुलमिलकर बँध जाते हैं। सम्यक्श्रद्धावान् सम्यग्दृष्टि बन्ध के जिनोक्त स्वरूप को श्रद्धापूर्वक हृदय से जानता है, और सदैव सतर्क रहता है, कर्मों के बीजरूप राग-द्वेषादि विकार या शुभाशुभ विकल्प आत्मा में न आयें, क्योंकि सम्यग्दृष्टि का लक्ष्य मोक्ष है, और वह जानता है, कि जब तक आन्तरिक शुभाशुभ विकल्प और रागद्वेषादि विकार दूर नहीं होंगे, तब तक शुभाशुभ कर्मबन्ध नहीं रुकेगा, न ही क्षय होगा और कर्मों के सर्वथा क्षय (बन्ध-मुक्त) हुए बिना मोक्ष नहीं हो सकेगा। सम्यग्दृष्टि जानता है कि कर्मबन्ध जीव की परतन्त्रता का कारण है। रागद्वेष की स्निग्धता से युक्त चेतन ही कर्म बाँधता है, जो स्निग्धता से रहित है, वह मन-वचन-काया की क्रिया करता हुआ भी कर्म नहीं बाँधता। कर्मबन्ध के चार प्रकार हैं—प्रकृतिबन्ध, स्थितिबन्ध, अनुभाग (रस) बन्ध और प्रदेशबन्ध।

संवर : स्वरूप और श्रद्धा—आश्रवों का निरोध करना ही संवर है। अर्थात्—आत्मा जो प्रतिपल प्रतिक्षण कषाय और योग के वशीभूत होकर कर्मों का उपार्जन करता रहता है, अतः उन प्रतिक्षण आते हुए नये कर्म-दलिकों के आगमन को रोक देना ही संवर है। कषायों का निरोध भाव-संवर है, जबकि कषाय-निरोध होने पर ज्ञानावरणीयादि द्रव्यकर्मों के आगमन का रुक जाना द्रव्यसंवर है। संवर के समिति, गुप्ति, व्रत, आदि कुल ५७ भेद हैं। यों मुख्यतया अहिंसादि पांच महाव्रतों को भी पंच संवर कहा गया है। सम्यग्दृष्टि स्वरूप समझकर श्रद्धापूर्वक यथाशक्ति संवर के लिए सचेष्ट रहता है।

निर्जरा : स्वरूप और श्रद्धा—पुराने बंधे हुए कर्मों का आत्मा से आंशिक रूप से पृथक् (क्षय) होना निर्जरा है। परन्तु निर्जरा तब तक नहीं होती जब तक बन्ध के कारणों का अभाव नहीं होता और कर्मों का आस्रवण (आगमन) नहीं रुकता।

व्रत, नियम, संयम, परीषहजय, द्वादशविध तप आदि से कर्मों की

निर्जरा होती है। जो निर्जरा स्वेच्छा से उद्देश्यपूर्वक होती है, वह सकाम-निर्जरा कहलाती है, यही निर्जरा सम्यग्दृष्टि आदि के लिए उपादेय है। अज्ञानपूर्वक कष्ट सहने से, बलात् कष्ट सहने, हाय-हाय करते हुए किसी कष्ट को भोगना अकाम-निर्जरा है, जो साधु वर्ग के लिए अभीष्ट नहीं है। सम्यग्दृष्टि सुश्रद्धावान् व्यक्ति समभावपूर्वक आ पड़े हुए कष्ट, दुःख, विपत्ति, उपसर्ग, परीषह आदि को सहन करता है, वह निमित्तों आदि को कोस कर या शोक विलाप आदि करता हुआ नये कर्मों को नहीं बाँधता। निर्जरा से अवश्य ही आत्मशुद्धि होती है, इसे वह श्रद्धापूर्वक मानता है।

मोक्ष : स्वरूप और श्रद्धा—संचित सर्व कर्मों का सर्वथा क्षय हो जाना, तथा कर्मबन्ध के कारणों का अभाव हो जाना मोक्ष है। संवर और निर्जरा, ये मोक्ष के दो कारण हैं। इसमें आत्मा समस्त विकारों से रहित होकर निजस्वरूप में स्थिर हो जाता है। सम्यग्दृष्टि आत्मा इसके स्वरूप पर चिन्तन करके इसे अन्तिम लक्ष्य मानकर राग-द्वेषात्मक प्रवृत्ति से यथासम्भव बचकर संवर और निर्जरा में ही प्रायः अपने योगों को लगाता है। □□

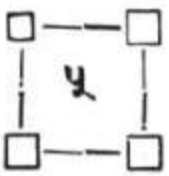

सम्यक् श्रद्धा की दूसरी पांख : देव-गुरु-धर्म-श्रद्धान

अध्यात्मयात्रा की पहली उड़ान : सम्यक् श्रद्धा

मुमुक्षु जीवन के लिए आध्यात्मिक विकास बहुत जरूरी है। आध्यात्मिकयात्रा की पहली उड़ान सम्यक्श्रद्धा या सम्यग्दर्शन से प्रारम्भ होती है। उसकी साधना के बिना अध्यात्म-यात्रा आगे नहीं बढ़ सकती; क्योंकि अध्यात्म यात्रा में आत्मा के अन्दर देखना होता है। आत्मा के अन्दर देखने की रुचि, वृत्ति या प्रवृत्ति तभी होती है, जब मनुष्य की दृष्टि और श्रद्धा सम्यक् हो। अज्ञान और मिथ्यात्व से आवृत दृष्टि वाला आत्मा बाहर ही बाहर देखता है। वह बाहर की सारहीन वस्तुओं को सारयुक्त समझता है। असारभूत बाह्य संसार को सम्यक् सारयुक्त समझता है। इन्द्रियों के विषय-भोगों और मन की विविध विकारी वृत्तियों को, अहंत्व-ममत्व को, मोहमाया को, मनोऽनुकूल इष्ट पदार्थों के संयोग को तथा अनिष्ट पदार्थों के वियोग को सारभूत समझकर उन्हीं में रमण करता रहता है। बाहर के भौतिक एवं सांसारिक क्षणिक सुख-साधनों में सार खोजने से अन्दर की झाँकी करने की रुचि तथा श्रद्धा होती ही नहीं। यह नहीं सोचा कि अध्यात्म यात्रा—भीतर की यात्रा करने वाले को भीतर के तत्वों का तो ज्ञान होता ही है, बाहर के तत्वों का भी ज्ञान हो जाता है। इसलिए आचारांग सूत्र में कहा गया है—

'जे अज्झत्थं जाणई, से बहिया जाणई।'[1]

---

१ आचारांग श्रु० १, अ० १, उ० ७, सूत्र १४७।

जो आत्मा के अन्दर (अध्यात्म) को जान लेता है, वह बाहर (आत्म-बाह्य वस्तुओं) को जान लेता है।

सम्यक् श्रद्धा की द्वितीय पांख का आलम्बन

इसी अध्यात्म-यात्रा की प्रथम उड़ान सम्यक्श्रद्धा की प्रथम पांख के रूप में 'तत्वार्थश्रद्धान' बताया है। जिसके विषय में हम पिछले अध्याय में विश्लेषण कर चुके हैं। इस अध्याय में हम सम्यक्श्रद्धा की द्वितीय पांख के विषय में चिन्तन प्रस्तुत करेंगे। सम्यक्श्रद्धा की द्वितीय पांख है—देव, गुरु और धर्म पर श्रद्धान। अध्यात्म यात्रा की अन्तिम मंजिल तक पहुँचने के लिए इन दोनों पांखों के अवलम्बन की आवश्यकता है। आत्मा की या अध्यात्म की साधना अपने-आप में निरालम्ब है, परन्तु साध्य (मोक्ष) तक पहुँचने के लिए शुद्ध आलम्बनों की अपेक्षा है। आत्मा के लिए साध्य तक पहुंचने हेतु साधक-बाधक तत्वों के स्वभाव के ज्ञान और श्रद्धा के आलम्बन की अत्यन्त आवश्यकता है। कोई भी अध्यात्म यात्री इस आलंबन के बिना आत्म-विकास की परिपूर्णता के शिखर तक नहीं पहुँच सकता।

श्रद्धेय त्रिपुटी-श्रद्धानरूप आलम्बन क्यों ?

प्रश्न होता है कि तत्वार्थश्रद्धानरूप सम्यक्श्रद्धा के आलम्बन से ही अध्यात्म यात्री का साध्य-प्राप्ति का काम हो जाता, फिर देव गुरु-धर्म-श्रद्धानरूप सम्यक्श्रद्धा के आलम्बन की क्या आवश्यकता है ?

इसका एक समाधान तो यह है कि जिस अध्यात्मयात्री को तत्वार्थ श्रद्धान हो गया है, उसे अरिहंतदेवादि त्रिविध श्रद्धेयों के प्रति श्रद्धान अवश्य होना ही चाहिए; क्योंकि जो तत्वभूत पदर्थ बताए गए हैं, उनके प्ररूपक, मार्गदर्शक एवं मार्ग तो देव (अरिहन्त), गुरु (निर्ग्रन्थ—सुसाधु) और वीतराग प्रज्ञप्त (रत्नत्रय रूप या श्रुत-चारित्ररूप) धर्म ही है। इन तत्वभूत पदार्थों का ज्ञान और दर्शन श्रुतधर्म के अन्तर्गत आजाता है। और यह भी सत्य है कि जिसका अरिहंतदेवादि त्रिविध श्रद्धेयों के प्रति श्रद्धान नहीं होता, उसे उनके द्वारा प्ररूपित, उपदिष्ट तथा मार्गदर्शित तत्वार्थों पर श्रद्धान हो नहीं सकता। अतएव तत्वार्थश्रद्धानरूप सम्यक्श्रद्धा के लिए देव-गुरु-धर्म-त्रिपुटी पर श्रद्धान होना अनिवार्य है। इसीलिए सम्यक्श्रद्धा के द्वितीय लक्षण के रूप में देव-गुरु-धर्म-श्रद्धान भी आवश्यक है।

दूसरा समाधान यह है कि सभी आध्यात्मिक यात्री एक सरीखी भूमिका वाले नहीं होते। जो अध्यात्मजीवन में प्रवेश करने वाले अध्यात्मयात्री हैं उन्हें 'तत्वार्थ-श्रद्धान' कह देने से पूर्णतया समझ में नहीं आता

कि आत्मा के पूर्ण विकास के लिए उपादेयरूप मोक्षतत्व तक पहुचने के लिए किस आदर्श को सामने रखकर, किस का मार्गदर्शन लेकर, किस मार्ग पर चलना चाहिए ? यद्यपि प्राथमिक भूमिका के अध्यात्मयात्री को अपने आत्मविकास के प्रति रुचि तो होती है, परन्तु उसकी आत्मा उस समय अविकसित दशा में होती है, वह किसी आदर्श का आलम्बन खोजती है, जिसके सहारे से वह अध्यात्म गिरि के सर्वोच्च शिखर तक पहुँच सके। फिर प्राथमिक भूमिका के मुमुक्षु की यह अपेक्षा भी रहती है कि मैं असंयम से संयम की ओर, असत्य (मिथ्यात्व) से सत्य (सम्यक्त्व) की ओर, अज्ञान से ज्ञान की ओर, अबोधि से बोधि की ओर, उन्मार्ग से सन्मार्ग की ओर, अब्रह्म से ब्रह्म की ओर गति-प्रगति करूं परन्तु उस समय गहरा अनुभव न होने से उसे किसी न किसी साधना की पराकाष्ठा पर पहुँचे हुए वीतराग सर्वज्ञ-आप्त पुरुष पर, वर्तमान में साधना-पथ पर अविश्रान्त विशुद्ध गति करने वाले मार्गदर्शक पर एवं उनके द्वारा बताए गये शुद्ध धर्म पर श्रद्धा रखकर चलने की आवश्यकता होती है। क्योंकि उस समय उसे न तो अपने आदर्श का पता होता है, न ही मार्गदर्शक का और न ही (सद्धर्म) मार्ग का। इसीलिए प्रबुद्ध तत्व मनीषियों ने प्राथमिक अध्यात्म यात्री के लिए तीन तत्वों पर श्रद्धा रखचर चलना भी सम्यक्श्रद्धा के लिए आवश्यक बताया—देव पर, गुरु पर और शुद्ध धर्म पर।

तात्पर्य यह है देव तत्व प्राथमिक अध्यात्म यात्री के लिए साधना के आदर्श को उपस्थित करता है, गुरुतत्व साधना का यथार्थ पथ प्रदर्शन है, साथ ही अध्यात्म यात्री साधक को मार्ग से इधर-उधर भटक जाने से रोकता है, मार्ग में स्थिर करता है, अध्यात्म यात्रा में शिथिलता आने पर प्रोत्साहन देता है, प्रेरित करता है। और तीसरा धर्म तत्व आत्मा के विकास और शुद्धि का यथार्थ सर्वज्ञ आप्त पुरुष प्रज्ञप्त मार्ग है। जैन सिद्धांत मर्मज्ञों ने यहाँ श्रद्धेय त्रिपुटी देव, गुरु और धर्म शब्द से अभिव्यक्त की है। इसीलिए सम्यक्श्रद्धा के लिए प्राथमिक अध्यात्म यात्री को बताया गया कि अरिहंत देव पर, निर्ग्रन्थ गुरु पर और वीतराग-सर्वज्ञ आप्तप्ररूपित धर्म (तत्व या आगम) पर श्रद्धान करना अनिवार्य है।

तीसरा समाधान यह है कि जिस प्रकार भौतिक विज्ञान टेक्नोलोजी आदि के क्षेत्र में प्राचीन वैज्ञानिकों या टेक्नेशियनों के अनुभव किये हुए अनुसंधानों के आधार पर चलना पड़ता है, अगर विज्ञान की प्राथमिक कक्षा का विद्यार्थी नये सिरे से उन अनुसन्धानों को प्रारम्भ करे तो उसकी

सारी जिंदगी उसी में पूरी हो जाएगी, वह उस क्षेत्र में आगे गति-प्रगति नहीं कर सकेगा; उसी प्रकार आध्यात्मिक विकास के क्षेत्र में भी प्राचीन अनुभवी वीतराग सर्वज्ञ निर्दोष आप्त पुरुषों पर, एवं उनके बताए पथ पर चलने वाले निर्ग्रन्थ साधकों द्वारा बताए हुए अनुभूत मोक्ष के उपाय-रूप, स्व-पर-कल्याणकारी एवं साध्य तक पहुँचाने वाले जिनोक्त रत्नत्रय-रूप धर्ममार्ग पर अनन्य श्रद्धा के आधार पर चलना पड़ता है। अन्यथा, अध्यात्म साधना की पराकाष्ठा का पूर्ण अनुभव या साक्षात्कार तो वह तेरहवें गुणस्थान की भूमिका पर पहुँचकर ही कर पाता है। यह प्रत्येक साधक के बूते की बात नहीं। अतः केवलज्ञानदशा की प्राप्ति न हो, वहाँ तक पूर्णता का साक्षात्कार किये हुए तथा उनके बताये पथ पर चलने वाले अनुभवियों तथा उनके अनुभव पर अनन्य श्रद्धा रखकर चलने में कोई दोष नहीं है।

तात्पर्य यह है कि सामान्य अविकसित अध्यात्मयात्री के लिए आदर्श भी अनजाना होता है, मार्गदर्शक भी अज्ञात होता है, और मार्ग भी। ये तीनों श्रद्धेय तत्व उसके लिए अज्ञात होते हैं। अभी तक जिस-जिस तत्व को जानना जरूरी था, उसे न तो जाना है, न ही उसके अनुभव का एवं उसके प्रति श्रद्धा का रसास्वादन हुआ है, उस अज्ञात, अननुभूत, अव्यक्त एवं अपरिचित तत्व की खोज कैसे हो ? इसकी यथार्थ शोध के लिए ऐसे महा-पुरुष का पता लगाना आवश्यक होता है, जिसने पहले शोध की हो और अपनी स्वानुभूत शोध से सफलतापूर्वक आगे से आगे बढ़कर साधना की अन्तिम मंजिल—साध्य तक पहुँच चुका हो, अथवा जो उसी महापुरुष के द्वारा उपदिष्ट पथ पर गति-प्रगति कर रहा हो। तात्पर्य यह है कि वह अज्ञात आदर्श, अपरिचित मार्गदर्शक और अननुभूत मार्ग तभी प्राप्त हो सकता है, जब अध्यात्मयात्रा में इन तीनों श्रद्धेय तत्वों को सर्वाधिक मूल्यवान समझकर उन पर श्रद्धा, प्रतीति और रुचि हो।

सांसारिक मनुष्य की बुद्धि इतनी प्रखर नहीं होती कि वह सभी तथ्यों को अपनी बुद्धि से जाँच-परख सके। इसलिए उसके लिए आवश्यक है कि वह सर्वज्ञ-सर्वदर्शी पुरुषों तथा समदर्शी मार्गदर्शक गुरुओं के द्वारा बताए हुए तत्वों पर श्रद्धा रखकर तदनुसार चले। परन्तु कई बुद्धिजीवी एवं पण्डितम्मन्य लोग हठाग्रहवश किसी दूसरे (आप्त पुरुष) की बुद्धि पर निर्भर नहीं रहकर अपनी बुद्धि से ही आदर्श आदि की खोज करना चाहते हैं। परन्तु ध्यान रहे कि ऐसे अल्पज्ञ, छद्मस्थ लोगों की

बुद्धि प्रायः निष्पक्ष नहीं होती। अल्पज्ञ की बुद्धि में यह दोष पाया जाता है कि वह प्रायः पूर्वाग्रहवश या मोहवश मन में जमे हुए राग के संस्कारों से युक्त हो जाती है।

यदि कोई किसी वस्तु को अच्छी मानता है, तो उसकी बुद्धि उसी का बखान करती हुई उसमें अनेक गुण बता देगी। अगर वह किसी वस्तु को खराब मानता है तो उसकी बुद्धि उसमें अनेक दोष निकाल देगी। बुद्धि के द्वारा यदि सत्य को जानना है तो बुद्धि पक्षपातरहित होनी चाहिए, और वह होती है—चित्तशुद्धि के द्वारा। शुद्धचित्त में अनुराग, मोह, आसक्ति, पक्षपात या द्वेष, घृणा, वैर, विरोधभाव नहीं होता। इस प्रकार की चित्तशुद्धि के लिए साधना की आवश्यकता है, जिसकी बुनियाद सम्यक्श्रद्धा है। इसीलिए सम्यक्श्रद्धा (सम्यग्दर्शन) के लक्षण में 'शुद्धा-धीः,' 'सुनिर्मलं', 'मलोज्झितं' आदि विशेषण प्रयुक्त किये गए हैं।

यही कारण है कि सम्यक्श्रद्धा का द्वितीय लक्षण देव, गुरु और धर्म पर श्रद्धान बताया गया है, जो कि अध्यात्म यात्रा में सच्चे आलम्बन हैं; निमित्त हैं।

तीनों श्रद्धेय तत्वों के प्रति श्रद्धान से लाभ कब और कब नहीं ?

यद्यपि देव, गुरु और धर्म अध्यात्मयात्री साधक के अन्तर् में विवेक जगा देते हैं और साधक उक्त विवेक के प्रकाश में हेय और उपादेय का, सत्य और मिथ्या का, हित और अहित का विवेक करके अपनी अध्यात्म यात्रा को सुखद, सरल और मंजिल तक पहुँचने में आसान बना लेता है परन्तु यदि साधक की विवेकबुद्धि निष्पक्ष और विकसित न हो तो देव, गुरु, धर्म के वचन कितनी ही हितकर बातें कहें, चाहे वह उनकी वाणी का कितना ही स्वाध्याय कर ले, उससे यथेष्ट लाभ होने वाला नहीं है। अरिहन्त सर्वज्ञदेव का, निर्ग्रन्थ गुरुदेव का एवं सद्धर्म का यह कथन किस द्रव्य, क्षेत्र, काल और पात्र को लेकर किया गया है ? किस अपेक्षा से यह कथन है ? इस प्रकार की विवेकप्रधान श्रद्धा एवं दृष्टि नहीं है तो ये तीनों तत्व भी उसके लिए लाभदायक सिद्ध नहीं हो सकते। इसीलिए उपासकाध्ययन एवं रत्नकरण्डक श्रावकाचार में तीन मूढताओं से रहित होने पर ही श्रद्धा को सम्यक्श्रद्धा या सम्यक्त्व से युक्त बताई है—

"मूढाद्यपोढमष्टांगं सम्यक्त्वं प्रशमादि भाक्।"[1]

---

१ (क) उपासकाध्ययन कल्प २, श्लो. ४८
(ख) रत्नकरण्डक श्रावकाचार, श्लोक ४

देवमूढता, गुरुमूढता, शास्त्रमूढता (धर्ममूढता और लोकमूढता) से रहित तथा आठ अंगों से युक्त एवं प्रशमादि लक्षण सम्पन्न जो श्रद्धान होता है, वही सम्यक्त्व कहलाता है।

जहाँ ये मूढताएँ होंगी, विचार जड़ता होगी, वहाँ इन तीनों श्रद्धेय तत्वों के प्रति श्रद्धा भी अन्धश्रद्धा या विवेकविकलश्रद्धा बन जाएगी।

वैसे तो सभी धर्म-सम्प्रदाय वाले कहते हैं—हमारी अपने मान्य देव, गुरु और धर्म या शास्त्र के प्रति पूर्ण (दृढ़) श्रद्धा है। प्रायः देखा जाता है कि मुस्लिम, ईसाई, शाक्त, शैव, वैष्णव या जैन, बौद्ध आदि सभी धर्म-सम्प्रदायानुयायी अपने-अपने आराध्यदेव (अवतार, पैगम्बर या गौड, खुदा आदि) के प्रति, अपने मान्य गुरुओं (फादर, प्रीस्ट, पुरोहित, साधु, संन्यासी, मौलवी आदि) के प्रति एवं स्व-स्व-मान्य धर्मसम्प्रदाय या धर्मशास्त्र पर श्रद्धा, यकीन, विश्वास या faith रखते हैं, परन्तु वे प्रायः स्वत्वमोह, कालमोह या विचार-विवेक-मूढ़ता से ग्रस्त होते हैं। यही कारण है कि उनकी श्रद्धा परीक्षाप्रधान, विवेकदृष्टियुक्त एवं युक्तिसंगत नहीं होने से तथा आत्मलक्ष्यी न होने से सम्यक्श्रद्धा नहीं कही जा सकती। आत्माभिमुखी श्रद्धा आत्मानुप्रेक्षण होने पर होती है। ऐसे आत्मलक्ष्यी श्रद्धा वाले साधक की श्रद्धा सर्वप्रथम आत्मा—शुद्ध आत्मा, परमात्मा पर होगी, तभी उसकी श्रद्धा सच्चे देव, सुगुरु और सद्धर्म पर टिकेगी। आत्मदर्शन ही देव-गुरु-धर्म पर श्रद्धान को कल्याणकारी, आत्मलक्ष्यी एवं आत्मविकासप्रेरक बनाता है। इस मूल रहस्य को न समझकर कोरे वंश परम्परागत देव-गुरु-धर्म-श्रद्धान से ही तो धर्मझनून, साम्प्रदायिक विद्वेष, कषाय, रागद्वेष और कलह-क्लेश बढ़ते हैं। ऐसा अन्धश्रद्धालु धर्मध्वजी व्यक्ति यह भूल जाता है कि देव, गुरु और धर्म पर श्रद्धा करने का उद्देश्य क्या है? वस्तुतः देव, गुरु और धर्म पर श्रद्धान आत्मविकास द्वारा अन्तिम ध्येय (मोक्ष) प्राप्ति के लिए, आत्मा को विकास की पूर्णता पर पहुँचाने और अनन्तचतुष्टयसम्पन्न बनाने के लिए है। देव, गुरु और धर्म ये तीनों श्रद्धेय तत्व साध्य नहीं हैं, साधन हैं, निमित्त हैं, आलम्बन हैं; साध्य तो स्वयं आत्मा है, जो अभी राग-द्वेष-कषायादि विकारों से आच्छन्न है, उसे पूर्ण शुद्धता के शिखर पर पहुँचाना है। देव, गुरु और धर्मतत्व तो एक प्रकार से मोक्षतत्व तक पहुँचने—ऊर्ध्वारोहण करने के लिए सहारे आलम्बन हैं। मोक्ष में पहुँचना या ऊर्ध्वारोहण करना तो आत्मा को है। मोक्ष प्राप्त होने पर तो आत्मा ही स्वयं देव, आत्मा ही अपना गुरु और आत्म-

भाव हो धर्म बन जाएगा। वहाँ ये तीनों श्रद्धेय तत्व स्वतः छूट जाएँगे। प्राथमिक भूमिका में मोक्ष की ओर गति-प्रगति करने के लिए इन तीनों श्रद्धेय तत्वों के आलम्बन की बार-बार आवश्यकता पड़ती है।

अनन्य श्रद्धा : कब और कब नहीं

कई लोग कुछ भी त्याग, तप, संयम या धर्माचरण करे-धरे बिना, अपने पापकर्मों से छुटकारा पाने या पापमाफी पाने हेतु देव, गुरु और धर्म के प्रति श्रद्धा रखते हैं, इनकी सेवा और पूजा-प्रतिष्ठा करते हैं, इनके लिए बड़े-बड़े आडम्बर, अखण्ड कीर्त्तन, भक्ति का घटाटोप करते हैं और यह मान लेते हैं कि इस प्रकार की श्रद्धा से हम इनके प्रति सम्यक्-श्रद्धालु भक्त या धार्मिक कहला सकेंगे, ये श्रद्धेय तत्व हमारे पापों को माफ कर देंगे। परन्तु इस प्रकार की श्रद्धा के प्रदर्शन से न तो सम्यग्दर्शन होता है, न ही इस प्रकार के घटाटोप से पाप-विघटन होता है। सम्यक्श्रद्धा कुछ और ही है। श्रद्धा के साथ तर्क का समन्वय होने पर ही श्रद्धा सम्यक्श्रद्धा बनती है। श्रद्धा का अर्थ—इन श्रद्धेय तत्वों के प्रति अन्धविश्वासी बनकर, आँखें मूंदकर लकीर के फकीर बनना नहीं, न ही बिना सोचे-समझे किसी भी व्यक्ति या तत्व को अपना हृदय समर्पित कर देना है। इतना ही नहीं, अन्धश्रद्धापूर्वक जिस किसी को आराध्यदेव, वन्दनीय गुरु या श्रद्धेय धर्म मान लेना भी सम्यक्श्रद्धा के लिए बहुत बड़ा खतरा है। कई लोग अपनी तर्क बुद्धि या विवेक-बुद्धि का आश्रय लिये बिना किसी के वाग्जाल और आडम्बर के चक्कर में पड़कर उक्त श्रद्धेय तत्वों की जांच-परख किये बिना झटपट इधर-उधर लुढ़क जाते हैं, कई वंश-परम्परागत धारणानुसार देव, गुरु या धर्म की ओर झुक जाते हैं। इस प्रकार उनकी श्रद्धा चल, मल और अगाढ़ (शिथिल) दोष से युक्त हो जाने से अनन्य श्रद्धा नहीं रहती। अतः सच्चे माने में सम्यक्श्रद्धा तभी होगी, जब मुमुक्षु देव, गुरु और धर्म के जो-जो गुण एवं लक्षण बताये गये हैं, तदनुसार पहले भलीभांति जांच-परख लेने के पश्चात् इन तीनों श्रद्धेय तत्वों से तादात्म्य सम्बन्ध स्थापित कर लेगा। सर्वप्रथम देवतत्व के साथ इस श्रद्धा के साथ जुड़ जाएगा कि जैसे वीतराग देव (अरिहन्त प्रभु) ज्ञान, सुख एवं शक्ति की उच्चतम भूमिका पर—*आत्मा के विकास की पूर्णता पर पहुँच चुके हैं और जैसा सर्वोत्कृष्ट उज्ज्वल भविष्य वे बना चुके हैं, एक दिन वैसा ही उत्तम* भविष्य मेरा भी होगा। तत्पश्चात् गुरुदेव के साथ इस विश्वास के साथ तादात्म्य सम्बन्ध जोड़ लेना कि जिस प्रकार ये वीतराग पथ के अग्रिम

पथिक बनकर स्वयं मोक्षमार्ग पर आगे बढ़ रहे हैं, और दूसरों को भी उस मार्ग पर बढ़ने के लिए आह्वान करते हैं—उपदेश एवं मार्गदर्शन देते हैं, मैं भी उनके बताये मोक्ष-पथ पर चलकर एक दिन मंजिल प्राप्त कर सकूंगा। तथा उन्हें जैसी अलौकिक सुख-शांति एवं आत्मशक्ति प्राप्त हुई है, वैसी एक दिन मुझे भी प्राप्त होगी। इसी प्रकार आत्मविकास की उच्चतम भूमिका पर पहुँचे हुए वीतराग सर्वज्ञ आप्त पुरुषों ने अपने अनुभव से जो कल्याणकारी तत्वरूप पथ बताये हैं, वे शुद्ध धर्म हैं, जिनके आचरण से अनेक मनुष्यों ने मुक्ति प्राप्त की हैं, संसार के जन्म-मरण से मुक्त होकर अनन्तचतुष्टय प्राप्त किये हैं, वैसे ही मैं भी एक दिन प्राप्त करूँगा।

सम्यक् श्रद्धा कब सफल, कब असफल ?

इस प्रकार इन तीनों श्रद्धेय—आराध्यतत्वों के स्वभाव पर जब दृढ़ प्रतीति, हार्दिक निष्ठा एवं तीव्र भक्ति हो जाती है, तब व्यक्ति इनके और अपने बीच में किसी प्रकार का दुराव, छिपाव या अलगाव न रखे, अपने हृदय को इनके समक्ष सर्वथा खोलकर निश्छल, निर्द्वन्द्व एवं निर्भय होकर चलने को उद्यत हो जाए, तभी उसकी श्रद्धा कृतार्थ एवं सफल हो सकती है। उन वीतरागी महापुरुषों के, वीतराग-पथ के पथिकों के एवं धर्मतत्त्व के सिर्फ गुणगान कर लेने, उनके माहात्म्य को सुन लेने, अथवा उनकी आकृति या प्रतिकृति देख लेने, तथा उनकी महिमा के स्तोत्र पढ़ लेने मात्र से श्रद्धा सफलीभूत नहीं हो सकती। श्रद्धा पूर्णतया तभी सफल हो सकेगी, जब व्यक्ति उन श्रद्धेय तत्त्वों के समक्ष आत्म-समर्पण कर देगा, अपने अहंत्व-ममत्व का विसर्जन करके इन तीनों के लिए सर्वस्व त्याग करने, यहाँ तक कि अपने प्राणों का व्युत्सर्ग करने को तैयार हो जाएगा। इसी प्रकार हृदय में उन श्रद्धेय तत्त्वों को धारण करके मन में ऐसा संकल्प कर लेगा कि आज से ये श्रद्धेय तत्व ही मेरे हृदय हैं, नेत्र हैं, कर्ण हैं, यही मेरी बुद्धि हैं, मैं इन्हीं के द्वारा चिन्तन-मनन करूँगा, देखूंगा, सुनूंगा और निर्णय करूँगा।

जिस व्यक्ति के हृदय में आदर्श, मार्गदर्शक और मार्ग स्थापित नहीं हो जाता, उसके अन्तर् में श्रद्धाभाव से शून्य भक्ति की क्रियाएँ होती हैं, उनसे सम्यक्श्रद्धा प्रतिफलित नहीं हो सकती। आचार्य सिद्धसेन ने कल्याणमन्दिरस्तोत्र में ठीक ही कहा है—

'आकर्णितोऽपि महितोऽपि निरीक्षितोऽपि,
नूनं न चेतसि मया विधृतोऽसि भक्त्या।

जातोऽस्मि तेन जन-बान्धव ! दुःखपात्रं,
यस्मात्क्रियाः प्रतिफलन्ति न भावशून्या ।।[1]

"हे जनबान्धव ! मैंने आपके (माहात्म्य) को बहुत सुना भी,आपकी बाह्य पूजा-अर्चा भी की, आपकी प्रतिमा का भी दर्शन किया, किन्तु यह अवश्य है कि मैंने आपको भक्तिभावपूर्वक हृदय में धारण (स्थापित) नहीं किया। इसी कारण मैं दुःख का भाजन बना। सच है, भावशून्य क्रियाएँ कदापि प्रतिफलित (सफल) नहीं होती।"

वास्तव में श्रद्धेय त्रिपुटी के प्रति श्रद्धा को सफलीभूत बनाने के लिए तीन बातें आवश्यक हैं—(१) परीक्षाप्रधान विवेक दृष्टि रखकर सर्वप्रथम तीनों श्रद्धेय तत्वों को जांच-परख ले, उनमें जिन-जिन गुणों और अर्हताओं की अपेक्षा है, वे हैं या नहीं ? इसकी छान-बीन कर ले, (२) तत्पश्चात् उनके साथ तादात्म्य स्थापित कर ले और (३) उन्हें हृदय में धारण करके तन्मय हो जाए, अहंकारमुक्त होकर समर्पित हो जाए और चित्त को स्वस्थ, शुद्ध, निष्पक्ष एवं विश्वस्त बनाकर इनमें एकाग्र कर दे।

सम्यक्श्रद्धा की लौ अखण्ड रहे

यह तो सर्वविदित है कि इन तीन श्रद्धेय तत्वों के प्रति श्रद्धा शारीरिक वस्तु नहीं है, वह शारीरिक क्रियाओं (करबद्ध वन्दन, हाथ जोड़ना, पंचांग नमाना आदि) में परिसमाप्त नहीं होती। वह अन्तर् की वस्तु है, हृदय में आत्मा के ज्ञानादि गुणों के विकास की माँग है वह। इसलिए श्रद्धाशील व्यक्ति को अपने हृदय और बुद्धि के कपाटों को श्रद्धेय तत्वों की ओर खोलकर उनका रस और स्वाद अपने में समा लेना आवश्यक है। यदि श्रद्धेय तत्वों के साथ तादात्म्य सम्बन्ध से जुड़ने के पश्चात् जरा-सा भी संकट, कष्ट, रोग या दुःख आ पड़ने पर अथवा किसी वाचाल एवं चालाक व्यक्ति के वाग्जाल द्वारा उन तत्वों पर छींटाकशी, आलोचना, या मिथ्यादोषारोपण किये जाने पर अथवा किसी अन्य व्यक्ति द्वारा आडम्बर, प्रदर्शन और बाह्य घटाटोप द्वारा प्रभावित एवं प्रलोभनों के पासे फेंक कर आकर्षित किये जाने पर श्रद्धेय तत्वों के प्रति उसकी श्रद्धा डगमगा जाती है, तो समझना चाहिए कि ऐसे व्यक्ति की श्रद्धा केवल वाचिक

---

१ कल्याणमन्दिर स्तोत्र, श्लोक ३८

है, अथवा श्रद्धा का प्रदर्शन है, हार्दिक सम्यक्श्रद्धा नहीं । जो व्यक्ति विवेकदृष्टि से बुद्धि की तुला पर श्रद्धेय त्रिपुटी को तौले बिना ही उनका मिथ्या आलोचक बन जाता है, या पूर्वाग्रहवश उनके विरुद्ध गलत धारणा बनाकर उनके विषय में सोचता-समझता है, वह भी इनके प्रति हृदय में सम्यक्श्रद्धा का दीपक नहीं संजो सकता । उसकी इस भयंकर गलती का नतीजा स्वयं को ही उठाना पड़ता है । उसके हृदय में सम्यक्-श्रद्धा-दीप बुझ जायेगा, उसका हृदय-कपाट श्रद्धेय के प्रति बंद हो जायेगा, और सम्यक्श्रद्धा का बीज उसके हृदय में अंकुरित नहीं हो पायेगा । समर्पित हृदय की श्रद्धा ही समर्पणकर्ता के चित्त को विश्राम देती है । श्रद्धेय तत्वों के प्रति ऐसी सम्यक् श्रद्धा जिसे उपलब्ध होती है, उसके जीवन में सुख, शान्ति, मानसिक और भावनात्मक शक्ति, तथा आध्यात्मिक रोग प्रतीकारक शक्ति आ जाती है । ऐसी श्रद्धा ही व्यक्ति के महान् बनने और मुक्ति पथ की ओर तीव्र गति से बढ़ने की सम्भावना के द्वार खोल देती है ।

खण्डित श्रद्धा से लाभ नहीं

यह भी निश्चित है कि जो व्यक्ति नाना देवों या अनेक कोटि के देवों के प्रति, अनेक प्रकार के तथाकथित गुरुओं के प्रति तथा अनेक धर्म-पन्थों या सम्प्रदायों के प्रति श्रद्धा रखता है, उसकी श्रद्धा खण्डित श्रद्धा है, अखण्डित या अनन्य श्रद्धा नहीं कही जा सकती । ऐसा विभक्त श्रद्धा वाला व्यक्ति किसी भी श्रद्धेय तत्व का भक्त नहीं बन पाता और न ही वह इन जिनोक्त श्रद्धेय तत्वों के प्रति खण्डित श्रद्धा से यथेष्ट लाभ उठा सकता है।

सम्यक्श्रद्धा-विषयक भ्रान्तियाँ

कई लोग यह सोचते हैं कि वीतराग सर्वज्ञ देवों, मार्गदर्शक गुरुदेवों एवं धर्मतत्व की बाह्य भक्ति, भजन–कीर्तन, स्तुति और स्तोत्र, गुणोत्कीर्त्तन तथा नाम–स्मरण आदि के द्वारा अथवा इनकी मूर्ति के आगे नैवेद्य—चढ़ावा आदि चढ़ाकर या महान् समारोहों द्वारा उनकी पूजा–प्रतिष्ठा करके हम उन्हें प्रसन्न कर देंगे, इससे हमारे पापों या दुश्चरित्रों, दुष्कर्मों या अधर्माचरणों पर पर्दा पड़ जाएगा, ये श्रद्धेय तत्व खुश होकर हमें हमारे पूर्वकृत पापकर्मों, दुष्कृत्यों के फलस्वरूप प्राप्त होने वाले दुःखों, कष्टों और विपत्तियों से छुटकारा दिला देंगे, हमें दुःखों से मुक्त कर देंगे । परन्तु यह भ्रान्ति है । भला, वीतराग देव, वीतरागता–

पथिक निर्ग्रन्थ गुरु या वीतरागता प्रेरक सद्धर्म इस प्रकार के राग-द्वेष-मोह के पचड़े में क्यों पड़ेगा ? न ही इन श्रद्धेय तत्वों को अपनी प्रशंसा, प्रसिद्धि, गुणगान या स्तुति आदि से कोई प्रयोजन है, और न ये इसी प्रकार की बाह्य पूजा—प्रतिष्ठा से प्रसन्न होते हैं। इन श्रद्धेय तत्वों को अपने प्रति किसी के द्वारा श्रद्धा-भक्ति करने न करने से कोई लाभ या हानि नहीं है। बल्कि आत्मविश्वासशील मुमुक्षु आत्मार्थी यदि इनके प्रति सम्यक्श्रद्धा नहीं करता है, तो उसी की आध्यात्मिक हानि है, उसी के आध्यात्मिक विकास की गति-प्रगति रुक जाती है, इनके प्रति अश्रद्धा से उसे ही आध्यात्मिक विकास को अन्तिम मंजिल पर पहुँचने में प्रोत्साहन, प्रेरणा, मार्गदर्शन, सन्मार्ग आदि का लाभ नहीं मिल पाता। इसके विपरीत जो इन तीनों श्रद्धेय तत्वों के प्रति सम्यक्श्रद्धाशील बनता है, वही अपनी आत्मशुद्धि, आत्मविकास एवं रत्नत्रय साधना की पूर्णता पर पहुँच कर एक दिन स्वयं वीतराग, सर्वज्ञ-सर्वदर्शी और सिद्ध-बुद्ध-मुक्त बन जाता है।

आदर्श : अरिहन्तदेव : स्वरूप और श्रद्धा

व्यावहारिक सम्यक् श्रद्धा के लिए सर्वप्रथम देवतत्व पर श्रद्धा करना अनिवार्य है। अरिहन्त देव श्रद्धेय आदर्श हैं। जैनधर्म इन्द्र, वरुण, मरुत आदि किन्हीं विलक्षण-शक्तियों को देव या देवी को वरदाता के रूप में आदर्श देव—आध्यात्मिक शक्तियों का स्वामी देव नहीं मानता और न ही स्वयं रत्नत्रय की साधना किये बिना, उद्धार कर देने, तथा सुख-शान्ति प्रदान करने वाले अवतारी पुरुषों को आदर्श देव के रूप में मानता है। जैनधर्म का आदर्श अरिहन्त है, किन्तु वह सदा से ही आदर्श नहीं रहा। वह अवनत से उन्नत बना है। वह भी एक दिन हमारे जैसा मनुष्य था, विविध गतियों और योनियों में परिभ्रमण करते हुए अपनी रत्नत्रय-साधना से राग-द्वेष-मोह का क्षय करके वीतराग अरिहन्त बना है। जीव अगर सम्यक् दिशा में तीव्र पुरुषार्थ करे तो वह भी एक दिन राग-द्वेष-मोह-मुक्ति अरिहन्त या अर्हन्त परमेष्ठी बन सकता है। तथा सिद्ध-बुद्ध-मुक्त हो सकता है। इसीलिए योगशास्त्र में देव का लक्षण इस प्रकार दिया है—

'सर्वज्ञो जितरागःद्वेषस्त्रैलोक्यपूजितः ।
यथास्थितार्थवादी च, देवोऽर्हन् परमेश्वरः ॥[1]

---

१. योगशास्त्र, प्रकाश २ श्लोक ४

जो सर्वज्ञ हो, राग, द्वेष, मोह आदि विकारों को जिसने पूर्णतया जीत लिया हो, जो वस्तु का जैसा स्वरूप है, वैसा ही प्रतिपादन करता हो, तीनों लोक द्वारा पूजनीय हो, ऐसा अर्हन्त परमेष्ठी ही सच्चा (आदर्श) देव है।

आत्मार्थी मुमुक्ष को अपने अन्तिम ध्येय (मोक्ष) तक पहुँचने यानी सतत स्व-स्वरूप में अवस्थिति करने के लिए अपने आदर्श (इष्टदेव) का चुनाव बहुत ही सावधानीपूर्वक करना चाहिए। व्यक्ति वैसा ही बनता है, जैसा उसका आदर्श होता है। आदर्श के अनुरूप ही, एवं आदर्श की छाया में व्यक्ति का वास्तविक जीवन निर्माण होता है, बशर्ते कि वह आदर्श के प्रति विवेकबुद्धिपूर्वक अनन्य श्रद्धा और निष्ठा रखे, आदर्श से दूर करने वाले विकृत भावों—विभावों एवं अनिष्ट कृत्यो से बचकर चले। निष्कर्ष यह है कि व्यक्ति जैसे आदर्श को चुनता है, जिसके प्रति समर्पित हो जाता है और जिस आदर्श के साथ तादात्म्य स्थापित करता है वैसा ही बन जाता है। अतएव सम्यक्श्रद्धाशील मुमुक्षु की साधना आराधना का आधार आदर्श ही है।

इसीलिए सम्यग्दृष्टि (सम्यक्श्रद्धाशील) के लिए ऐसा आदर्श बताया गया है—जो अनन्त ज्ञान, अनन्त दर्शन, अनन्त वीर्य (शक्ति) और अनन्त आनन्द आत्मिक सुख) से परिपूर्ण हो। अर्थात्—जिसके ज्ञान, दर्शन, आनन्द और शक्ति की कोई सीमा न हो। दूसरे शब्दों में कहें तो जो सच्चिदानन्दमय हो।

अर्हत् का अर्थ है पूर्ण आत्मा। जब तक ज्ञान की, शक्ति की, और आनन्द की अपूर्णता है, तब तक अर्हत् तत्व का विकास नहीं हो सकता। अज्ञान, शक्तिहीनता और सुख-दुःख की अनुभूति तथा दर्शन चारित्र की न्यूनता अपूर्णता है।

अगर सम्यग्दृष्टि का आदर्श कमजोर होगा तो वह उसे ले डूबेगा, संकट और कष्ट (उपसर्ग) के समय वह पस्तहिम्मत हो जाएगा, उसका धैर्य, सहिष्णुता और आत्मबल जबाब देने लगेंगे। अगर आदर्शपूर्ण आनन्द-मय नहीं होगा, तो प्रतिकूल परिस्थिति में,जरा-से सम्मान-अपमान, निन्दा प्रशंसा, लाभ-हानि बाह्य सुख-दुःख के प्रसंग पर अत्यन्त दुःखमय एवं अस्वस्थ बन जाएगा। अगर आदर्श अनन्त ज्ञान-दर्शनमय या अतीन्द्रिय

ज्ञानी नहीं हुआ, तथा अल्पज्ञ या छद्मस्थ हुआ तो वह जीव-अजीवादि तत्वों तथा संसार-मार्ग—मोक्ष मार्ग, मुक्ति-अमुक्ति, आत्मा-अनात्मा के स्वरूप के विषय में अज्ञान, संशय, विपर्यय, अनध्यवसाय (अनिश्चय), भ्रान्ति आदि के चक्कर में पड़ जाएगा। ज्ञानावरणीयादि विविध कर्मों को क्षय करने का पुरुषार्थ न करके या तो शुभ कर्मों को ही शुद्ध धर्म मानकर अथवा धर्म के नाम पर अज्ञान एवं मोहवश पशु बलि आदि जैसे अधर्मों एवं पापों को धर्म मानकर कर्मबन्ध करता रहेगा। इसीलिए लाटी संहिता और अनगार धर्मामृत में उस आदर्श आप्त पुरुष (अर्हन्त) का लक्षण स्पष्टतः बताया गया है—

दिव्यौदारिकदेहस्थो धौतघातिचतुष्टयः।
ज्ञान-दृग्-वीर्य-सौख्याढ्यः सोऽर्हन् धर्मोपदेशकः।[1]

मुक्तोऽष्टादशभिर्दोषैर्युक्तः सार्वज्ञसम्पदा।
शास्ति मुक्ति-पथं भव्यान् योऽसावाप्तो जगत्पतिः॥[2]

अर्थात्—जो दिव्य औदारिक शरीर में विराजमान हैं जिसने ज्ञानावरणीय, दर्शनावरणीय, मोहनीय और अन्तराय इन चार आत्मगुणघातक घाती कर्मों को नष्ट कर दिया है जो अनन्त ज्ञान अनन्तदर्शन, अनन्तवीर्य (शक्ति), और अनन्तसुख (आनन्द) से परिपूर्ण है, एवं सद्धर्मोपदेशक है, वही अर्हन् (आदर्श देव) है। जो अठारह दोषों से रहित है, तथा सर्वज्ञता की सम्पदा से युक्त है जो भव्य जीवों को मोक्ष मार्ग का उपदेश देता है, वह त्रिलोकनाथ आप्त-पुरुष (देवाधिदेव) है।

जैन धर्म में ऐसा आदर्श अरिहन्त देव को माना गया है। उनके प्रति श्रद्धा व्यक्त करने के लिए बोला जाता है—'णमो अरिहंताणं' (अरहंताणं) अरहन्तों का नमस्कार हो। "अरहंत" शब्द गुणात्मक है। इस गुणात्मक आदर्श के प्रति श्रद्धा करने में कोई खतरा नहीं है। अरहन्त कोई भी हो सकता है। इसमें न महावीर का नाम है, न ऋषभ का और न ही महादेव, हरिहर, राम आदि किसी भी व्यक्ति का। जिसमें भी अरहन्त के बारह मुख्य गुण हों, और जो अनन्त-चतुष्टय से युक्त हो, अठारह दोषों से रहित हो, सर्वज्ञ-सर्वदर्शी हो, जो सद्धर्मोपदेशक आप्त

---

१ लाटी संहिता सर्ग ४/१३९

२ अनगार—धर्मामृत, श्लोक १४

पुरुष हो, वे ही अरिहन्त हैं, चाहे उनका नाम कुछ भी हो। आचार्य हेमचन्द्र ने अरहन्त (जिन) का गुणात्मक लक्षण बताते हुए कहा है—

"भव-बीजांकुरजनना रागाद्याः क्षयमुपागता यस्य।
ब्रह्मा वा विष्णुर्वा हरो जिनो वा नमस्तस्मै॥

संसाररूपी बीज को अंकुरित करने वाले राग, द्वेष, मोह आदि विकार जिनके नष्ट हो गये हैं, वे चाहे ब्रह्मा हों, विष्णु हों, हर (महादेव) हों या जिन, मेरा उन्हें नमस्कार है।

अरहन्त देव के १२ गुण ये हैं, जो चार घातीकर्मों के क्षय के कारण निष्पन्न हुए हैं—

(१) अनन्तज्ञान, (२) अनन्तदर्शन, (३) अनन्त अव्याबाध सुख, (४) क्षायिक सम्यक्त्व, (५) यथाख्यातचारित्र, (६) अवेदित्व, (७) अतीन्द्रियत्व, (८—१२) दानादि पांच लब्धियाँ (दानलब्धि, लाभलब्धि, भोग-लब्धि, उपभोग-लब्धि एवं वीर्यलब्धि)।[1]

इसी प्रकार अरहन्त देव १८ दोषों से मुक्त होते हैं। वे १८ दोष इस प्रकार हैं—

(१) दानान्तराय, (२) लाभान्तराय, (३) भोगांतराय, (४) उपभोगांतराय, (५) वीर्यान्तराय, (६) हास्य, (७) रति, (८) अरति, (९) शोक (चिन्ता), (१०) भय, (११) जुगुप्सा (घृणा), (१२) काम (इच्छाकाम और मदनकाम=वेदत्रय), (१३) निद्रा (प्रमाद), (१४) अज्ञान (मूढता), (१५) मिथ्यात्व, (१६) राग, (१७) द्वेष और (१८) अविरति।

उपर्युक्त अठारह दोषों से जो रहित हो, वही आदर्शदेव सम्यक्-श्रद्धाशील व्यक्ति के लिए श्रद्धास्पद होता है। इसके विपरीत जो देव रागादि दोषों से युक्त हैं, जो स्त्री, शस्त्रादि रखते हैं, मन में शत्रुता रखते और शत्रु मानकर बदला लेते हैं, जो शाप (निग्रह) और वरदान (अनु-

---

१ कतिपय आचार्य अरिहन्त देव के १२ गुण (शारीरिक वैभव से युक्त) इस प्रकार मानते हैं– (१) अशोकवृक्ष, (२) देवों द्वारा पुष्पवृष्टि, (३) त्रिछत्र, (४) श्वेत चामर व्यजन, (५) दिव्य-ध्वनि, (६) भामण्डल, (७) देवदुन्दुभि और (८) स्फटिक सिंहासन, ये आठ महाप्रातिहार्य तथा (९) ज्ञानातिशय, (१०) पूजातिशय, (११) वचनातिशय और (१२) अपायापगमातिशय। ये केवल तीर्थंकरों की विशेषताएं (गुण) हैं। —संपादक

ग्रह) देने को तत्पर रहते हैं, जो सांसारिक प्रपंचों में मग्न रहते हैं, राग-रंग आदि में या भंग, गांजा, अफीम, शराब आदि नशीली चीजों से प्रसन्न रहते हैं, पशुबलि, नरबलि आदि से खुश होते हैं। सम्यग्दृष्टि के लिए ऐसे देव उपास्य, आराध्य और श्रद्धेय नहीं हो सकते।

सम्यक्श्रद्धा (सम्यग्दर्शन) आध्यात्मिक भावना प्रधान साधना है, इसमें स्वर्ग के भोगो-विलासो भौतिक ऐश्वर्य प्रधान देवों की पूजा, भक्ति श्रद्धा, या उपासना को स्थान नहीं। इसमें श्रदेय और उपास्य देव वही हो सकता है, जो राग-द्वेष, काम, क्रोध, मोह आदि दोषों—विकारों से ग्रस्त न हो।

ऐसे (पूर्वोक्त) आदर्श के प्रति श्रद्धा इतनी अविचल, निश्चल, और सुदृढ़ (गाढ़) हो, उनके प्रति तादात्म्य स्थापित हो तो साधक का द्वैत समाप्त हो जाता है। प्रारम्भिक अवस्था में ध्याता और ध्येय में भिन्नता होती है। पर जब श्रद्धा पूर्णरूप से परिष्कृत-शुद्ध हो जातो है, वह शैशवावस्था को छोड़कर प्रौढ़ावस्था में आ जाती है, तब ध्याता (सम्यग्दृष्टि), ध्येय (अर्हन्त) और ध्यान (आदर्श के प्रति एकतानता) ये तीनों एक हो जाते हैं। तीनों में अन्तर नहीं होता।

राजगृह-निवासो सुदर्शन श्रमणोपासक को अरहन्त वर्द्धमान महावीर के प्रति अटल, अविचल, अनन्य श्रद्धा थी, इसलिए बह यक्षाविष्ट अर्जुनमालो के आतंक के समक्ष निर्भय, निर्द्वन्द्व, निरुद्विग्न और निश्चिन्त होकर अकेला ही पहुँचा। और अर्हत् महावीर का ध्यान करते ही वह महावीरमय बन गया, महावोर को शक्ति और महावीर का पराक्रम, उसकी शक्ति और पराक्रम बन गए। उसमें इतनो शक्ति और पराक्रम आ गया कि यक्ष की शक्ति और पराक्रम समाप्त हो गए।

निष्कर्ष यह है कि जब व्यक्ति ज्ञानादि चतुष्टय को पूर्णता के शिखर पर पहुँचे हुए आदर्श के प्रति दृढ़तापूर्वक तादात्म्य स्थापित कर लेता है, तब छोटी-बड़ो कठिनाइयाँ, समस्याएं और आपत्तियाँ समाप्त हो जातो हैं। समस्याओं, कठिनाइयों एवं आपत्तियों का शान्तिपूर्वक सामना करने और उन्हें निर्विघ्नतापूर्वक पार करने को शक्ति आ जातो है। जिस प्रकार एक नन्ही-सो बूंद समुद्र से अलग रहती है, तो वह बूंद ही बनी रहती है, किन्तु जब वही बूंद सागर के साथ मिल जाती है, तब वह सागर बन जाती है। महान के साथ जुड़ जाने पर व्यक्ति महान बन जाता है, उसमें

कठिनाइयों और विपत्तियों को झेलने की शक्ति आ जाती है। ऐसे ही महान आदर्शरूप अर्हन्त के साथ जुड़ जाने से व्यक्ति भी महान बन सकता है।

जो व्यक्ति महान् आदर्श के साथ नहीं जुड़ता, उसके लिए जरा-सी विपत्ति, जरा-सी कठिनाई बड़ी बन जाती है, वह उसे पार नहीं कर पाता।

दूसरी बात यह है कि आदर्श के प्रति श्रद्धा निश्छिद्र, गाढ़ और सांसारिक कामना या स्वार्थ से बिलकुल रहित होनी चाहिए। ऐसी सम्यक् श्रद्धा ही सुन्दर प्रतिफल लाती है। जिनकी श्रद्धा आदर्श की अमुक-अमुक बातों पर ही टिकी होती है, जब वे बातें पूरी नहीं होती हैं तो श्रद्धा डगमगा जाती है, टूट जाती है--ऐसी छिद्रयुक्त अधूरी श्रद्धा से सुपरिणाम प्राप्त नहीं होता। आदर्श के प्रति श्रद्धा निश्छिद्र, अविचल और निष्काम हो, और यथेष्ट सुपरिणाम न आए, ऐसा हो नहीं सकता। अनन्तज्ञानादि चतुष्टयरूप अर्हत् के प्रति जब इस प्रकार की श्रद्धा घनीभूत और तन्मयी होती है, तब आत्मा में भी अनन्तज्ञानादि-चतुष्टय का स्रोत फूट पड़ता है। कौन कहता है--आदर्श के प्रति सम्यक्श्रद्धा से लाभ नहीं होता ? जैसे ही अनन्त शक्तिमान् अरहन्त की तन्मयतापूर्वक आराधना प्रारम्भ होती है, वैसे ही तन-मन के कण-कण में शक्ति का स्रोत फूटने लगता है। एक निर्बल व्यक्ति भी आदर्श के साथ तन्मय होते ही शक्ति का अनुभव करने लगता है।

निर्ग्रन्थ एवं साधनाशील गुणी गुरु : स्वरूप और श्रद्धा

देवतत्व के पश्चात् द्वितीय श्रद्धेय तत्व है —गुरु। सम्यक्श्रद्धा (सम्यक्त्व) ग्रहण करते समय व्यक्ति को पहले गुरु के गुणों की ओर ध्यान देना आवश्यक है। वह प्रतिज्ञा करता है—'जावज्जीवाय सुसाहुणो गुरुणो' यावज्जीव तक सुसाधु मेरे गुरु हैं। आवश्यकसूत्र में गुरु की अर्हता के लिए ३६ गुण होने अपेक्षित बताए हैं—

"पंचिंदिय संवरणो, तह नवविह-बम्भचेर-गुत्तिधरो।
चउविहकसाय मुक्को इअ अट्ठारस गुणेहिं संजुत्तो॥
पंचमहव्वयजुत्तो पंचविहायार-पालणसमत्थो।
पंच-समिओ तिगुत्तो छत्तीस गुणो गुरु मज्झ॥

पंचेन्द्रिय विषयों को रोकने अथवा वश करने वाले, नौ प्रकार की ब्रह्मचर्य गुप्ति के धारक, चतुर्विध कषायों से मुक्त; यों अठारह गुणों से संयुक्त तथा पांच महाव्रतों से युक्त, पंचाचार पालन करने में समर्थ, पांच समिति एवं तीन गुप्ति के पालक; इस प्रकार छत्तीस गुणों वाले ससाधु मेरे गुरु हैं।

सच्चा साधु संयम-पालनार्थ आवश्यक उपकरण रखता है, उनके प्रति, शरीर और शरीर से सम्बन्धित वस्तुओं (अंगोपांग, इन्द्रिय, सम्प्रदाय, भक्त-भक्ता तथा शिष्य-शिष्या) के प्रति मोह-ममत्व नहीं रखता। भिक्षाचर्या, आहार, विहार, आदि प्रत्येक चर्या में सावधानी रखता है, स्वाध्याय एवं सुध्यान में, कायोत्सर्ग एवं व्युत्सर्ग में तत्पर रहता है। स्वावलम्बन, स्वश्रम, स्वयं तप-संयम में पराक्रम उसकी जीवन चर्या के महत्वपूर्ण अंग हैं, इसीलिए रत्नकरण्ड श्रावकाचार में प्रशस्त गुरु का लक्षण दिया है—

"विषयाशावशातीतो निरारम्भोऽपरिग्रहः।
ज्ञान-ध्यान-तपोरक्तस्तपस्वी स प्रशस्यते॥"

जो पांचों इन्द्रियों के विषयों के वश में नहीं होता, जो आरम्भ और परिग्रह से विरत है, सम्यग्ज्ञान, ध्यान और सम्यक्तप में लीन रहता है, वही तपस्वी (श्रमण) प्रशस्त है।

जो कषायों, विषयों एवं रागद्वेष आदि विकारों का शमन करता है, जो अनुकूलता-प्रतिकूलता, शत्रु-मित्र, भवन-वन, निन्दा-प्रशंसा, लाभ-अलाभ में सम रहता है तथा तप-संयम में स्वयं श्रम (पुरुषार्थ) से आत्म-विकास की पूर्णता की ओर बढ़ता है, स्व-पर-कल्याण साधना करता है, जो आध्यात्मिक विषयों का मार्गदर्शक है, वही श्रद्धेय गुरु हो सकता है।

सम्यग्दृष्टि के आध्यात्मिक मार्गदर्शन के लिए ऐसा तथाकथित गुरु श्रद्धेय नहीं हो सकता, जो राजा-महाराजाओं का सा ठाठ-बाट और वैभव-विलास में ग्रस्त रहता है, अपने भक्तों से भेंट-चढ़ावे के नाम पर बड़ी-बड़ी रकमें लेते हैं, कंचन और कामिनी के चक्कर में पड़े रहते हैं, नाटक, सिनेमा, रागरंग देखते हैं, भांग, गांजा, अफीम एवं शराब आदि मादक पदार्थों का सेवन करते हैं, आरम्भ-परिग्रह में आसक्त रहते हैं, प्रतिदिन सरस-स्वादिष्ट उत्तेजक एवं पौष्टिक भोजन करते हैं।

सम्यक्श्रद्धा के मार्ग में आगे बढ़ने के लिए किसी सच्चे निःस्पृह, त्यागी, निर्ग्रन्थ मार्गदर्शक का सहारा बहुत जरूरी होता है। जैसे एक दीपक से हजारों दीपक प्रज्वलित हो सकते हैं, वैसे ही मार्गदर्शक सद्गुरु के सान्निध्य से हजारों श्रद्धालु अनुयायियों—शिष्यों में आत्मज्योति प्रज्वलित हो उठती है। फिर तो शिष्य या अनुयायी स्वयमेव सत्यपथ का प्रकाश पा जाता है। गुरु की सत्प्रेरणा से, सान्निध्य से, उनके प्रति श्रद्धाभक्ति एवं समर्पण से शिष्य को सम्यक्मार्ग मिल जाता है, वह अन्तिम ध्येय (मोक्ष) की यात्रा पर स्वयं चल पड़ता है। गुरु उसे हाथ पकड़कर नहीं चलाता, उसे स्वयमेव ही सन्मार्ग में पुरुषार्थ करना पड़ता है। सच्चा गुरु अपने प्रति श्रद्धा रखने वाले को आदर्श—अर्हत्देव का मार्ग बता देते हैं, उसकी प्राप्ति की विधि और उपाय भी बताते हैं, समय-समय पर उसकी भूल सुधारते हैं, आलोचना-निन्दना-गर्हणा से उसकी आत्मशुद्धि कराकर आत्मविकास के सर्वोच्च शिखर पर चढ़ने के मार्ग की प्रेरणा कर देते हैं। गुरु सम्यक् दृष्टि प्रदान करते हैं, वह अपने आश्रित एवं पराधीन न बनाकर अनुयायी को स्वाश्रित एवं स्वनिर्भर बनाते हैं। ऐसे गुरु प्राथमिक भूमिका में श्रद्धास्पद होते हैं। सम्यग्दृष्टि शिष्य या श्रद्धालु गुरु वचनों को विवेकदृष्टि से तौल कर अनुसरण करता है।

श्रद्धेय धर्मतत्त्व : स्वरूप और श्रद्धा

सम्यक् श्रद्धावान् के लिए तृतीय श्रद्धेय धर्मतत्त्व है। धर्म जीवन का बहुत बड़ा बल एवं सम्बल है। चाहे सामाजिक क्षेत्र हो, चाहे आर्थिक, चाहे सांस्कृतिक क्षेत्र हो, चाहे राजनैतिक, चाहे आध्यात्मिक क्षेत्र हो, चाहे साम्प्रदायिक; जीवन के सभी क्षेत्रों में धर्म की आवश्यकता है। बहुत से लोग भ्रान्तिवश धर्म को परलोक की वस्तु मानते हैं, वे सोचते हैं—धर्म का फल तो परलोक में मिलता है, कई लोग अमुक-अमुक क्रियाकाण्डों में धर्म बताते हैं, कई अमुक परम्परा या रीतिरिवाज को ही धर्म समझते हैं। कोई दाढ़ी, चोटी, जनेऊ या अमुक प्रकार की वेशभूषा में धर्म मानते हैं। परन्तु ये सब धर्म के पालन के लिए अमुक-अमुक सम्प्रदाय या परम्परा के आलम्बन हैं, इनसे धर्म-पालन में सहारा भी मिल सकता है, और कभी शुद्ध धर्माचरण में ये बाधक भी बन सकते हैं। संसार में प्रचलित विविध धर्म, धर्म के कलेवर हैं। ये अमुक-अमुक सम्प्रदाय, पंथ या मत के वाचक हैं। इनमें धर्म हो भी सकता है और नहीं भी हो सकता है। उदाहरणार्थ, कोई धर्म सम्प्रदाय यह कहे कि अमुक देवी-देवों के आगे पशुबलि

करना धर्म है, यज्ञ में हिंसा, हिंसा नहीं होती, अमुक वर्ण का व्यक्ति किसी की चीज चुरा ले, या जबरन ले ले, अथवा अमुक की स्त्री को बहकाकर अपनी बना ले तो पाप या अधर्म नहीं है, अथवा विश्वमैत्री का पवित्र धर्म सन्देश भूलकर अपने माने हुए सम्प्रदाय या पंथ के अतिरिक्त दूसरे सम्प्रदाय वालों की निन्दा करना, उन पर मिथ्यादोषण करना, उन पर बलात् या भय प्रलोभन से बहकाकर अपने सम्प्रदाय या पंथ को स्वीकार करने के लिए विवश करना, दूसरे सम्प्रदाय या पंथ वालों को सहयोग, दान, सहायता या कष्टापहरण करना, धर्म विरुद्ध है। यहाँ तक कह दिया कि दूसरे सम्प्रदाय या पंथ के अनुयायियों को मारना-पीटना, सताना, दुःख या कष्ट में डालना धर्म की सेवा है। पर ये सब सद्धर्मविरुद्ध प्रवृत्तियाँ हैं। धर्म का मूल एवं व्यापक लक्षण आचार्य कुन्दकुन्द ने बताया--

वत्थु-सहावो धम्मो[1]

प्रत्येक वस्तु का अपना मूल स्वभाव धर्म है। मूल स्वभाव को मिटाया नहीं जा सकता। अहिंसा, सत्य, ब्रह्मचर्य, अचौर्य, अपरिग्रह, क्षमा, संयम आदि दशविध धर्म, अथवा सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्ररूप धर्म या श्रुत चारित्र रूप धर्म—ये सब आत्मा के वास्तविक स्वभाव हैं। ये सब आत्मा के निजी गुणों—ज्ञान, दर्शन, आनन्द (सुख) और शक्ति (वीर्य) से संबन्धित हैं।

धर्म का बाह्य लक्षण आचार्य हेमचन्द्र ने किया है—

दुर्गतौ प्रपतत्प्राणि-धारणाद्धर्म उच्यते।
संयमादि-दशविधः सर्वज्ञोक्तो विमुक्तये॥[2]

'दुर्गति (नरक और तिर्यञ्चगति) में गिरते हुए जीवों को जो धारण करता है, बचाता है, वह धर्म कहलाता है। बशर्ते कि वह धर्म संयमादि दस प्रकार का और सर्वज्ञ वीतरागों द्वारा कथित हो क्योंकि वही मुक्ति की प्राप्ति कराने में सक्षम है।"

आचार्य समन्तभद्र के अनुसार तो एक मात्र मोक्ष प्राप्ति कराने वाला अर्थात् शुभाशुभ कर्मों से सर्वथा मुक्त कराने वाला जिनोक्त धर्म

---

१ समयसार

२ योगशास्त्र, प्रकाश २/११

ही वास्तविक धर्म है, जो सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र रूप है। और उत्तम (आत्मिक परम) सुख को धारण करा देता है।[1]

जिनोक्त धर्म को श्रद्धेय एवं उपादेय, इसलिए बताया कि अरिहन्त जिनेन्द्र राग-द्वेष से मुक्त हैं, पूर्ण ज्ञान, दर्शन, चारित्र, आनन्द और शक्ति से सम्पन्न हैं। राग, द्वेष, मोह, कषाय एवं अज्ञान आदि विकार ही मिथ्या भाषण, पक्षपात आदि के कारण होते हैं, और ये कोई भी दोष वीतराग-सर्वज्ञ में नहीं होते। उनके द्वारा प्ररूपित या उपदिष्ट धर्म या तत्व मिथ्या नहीं हो सकते।[2]

इसलिए सर्वज्ञ वीतराग अर्हन्त द्वारा प्ररूपित तत्व या धर्म मिथ्या नहीं हो सकता।

इसके विपरीत जो मिथ्यादृष्टि एवं रागी-द्वेषी पुरुषों द्वारा प्रवर्तित एवं हिंसादि दोषों से कलुषित धर्म है, वह धर्म या तत्व श्रद्धेय धर्म नहीं हो सकता; भले ही वह धर्म के नाम से प्रसिद्ध हो। जहाँ धर्म के नाम से धर्मान्धता, कट्टरता, छुआछूत, रंगभेद, उच्च-नीच भेद, घृणा आदि फैलते हों, वहाँ धर्म नहीं, अधर्म या पाप है। जबरन या प्रलोभन देकर धर्म परिवर्तन कराना धर्म-सेवा नहीं, न धर्म की सुरक्षा है। यह सब साम्प्रदायिकता एवं धर्मान्धता का परिणाम है। क्योंकि शुद्ध धर्म अन्तरात्मा में होता है, वह अन्दर में है; संप्रदाय बाहर की बात करता है। धर्म उपादान को महत्व देता है, सम्प्रदाय निमित्त को। धर्म बाहर से अन्दर की ओर, अशुद्धि से शुद्धि की ओर, दुःख से सुख की ओर, मृत्यु से अमरत्व की ओर तथा विभाव से स्वभाव की ओर मनुष्य को लाता है, परन्तु सम्प्रदाय, ग्रन्थ, पन्थ, पर्वत, तीर्थ, नदी, अमुकवेष, क्रिया काण्ड आदि बाह्य निमित्तों को लेकर चलता है। इसी कारण संसार में घृणा और विद्वेष का बवंडर फैलता है। शुद्ध धर्म बाह्य निमित्तों, परभावों या विभावों (राग द्वेष-कषायादि) को त्याग शुद्ध आत्मतत्व में—वीतराग भाव में स्थिर होना सिखलाता है। शुद्ध धर्म का जीवन के प्रत्येक क्षेत्र के साथ सम्बन्ध है। ऐसा

---

१ सद्दर्शन-ज्ञान-चारित्रं धर्मं धर्मेश्वरा विदुः।.....यो धरति उत्तमे सुखे।'
—रत्नकरण्डक श्रावकाचार

२ वीतरागा हि सर्वज्ञा मिथ्या न ब्रुवते क्वचित्।
यस्मात्तस्माद्वचस्तेषां तथ्यं भूतार्थदर्शकम्॥

शुद्ध धर्म ही श्रद्धेय एवं आराध्य होता है। जिसके अन्तर् में ऐसी धर्म श्रद्धा आ जाती है, वह दुख और विपत्ति के समय घबराता नहीं, शान्ति और समता रखता है। भगवान् महावीर ने धर्मश्रद्धा से लाभ के विषय में कहा कि धर्म श्रद्धा से जीव को सातावेदनीय कर्मोदय से प्राप्त होने वाले सांसारिक सुखसाता से विरक्ति हो जाती है।[1]

अर्थात्—अपने सुख को गौण करके दूसरों को सुख पहुँचाना या विघ्न बाधा न डालना उसका स्वभाव बन जाता है। दूसरों को कष्ट से बचाने के लिए अपने प्राप्त सुखों का त्याग कर देता है। सच्चा धर्मश्रद्धालु धर्म से धन, पुत्र, प्रसिद्धि, इह-पारलौकिक सुख की वांछा या फलाकांक्षा नहीं करता। वह परिवार, समाज एवं राष्ट्र आदि जीवन के सभी क्षेत्रों में भय, प्रलोभन, सुख–सुविधा, धन-वैभव, विषय-सुखों एवं रागादि से हटकर एक मात्र अपने स्वभाव में स्थित होकर अहिंसा, सत्यादि धर्म का पालन करता है।

□□

---

१ उत्तराध्ययन सूत्र अ. २९ तीसरा बोल

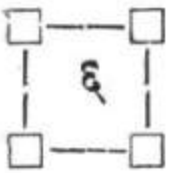

सम्यक्श्रद्धा का निश्चय-स्वरूप

व्यावहारिक स्वरूप पर्याप्त नहीं

किसी भी मनुष्य के बाह्य व्यवहार, उसकी आकृति, उसके शरीर के डील-डौल, रूप-रंग अथवा उसके चेहरे, नेत्र, मुख आदि से उसके अन्तरंग का, अन्तर्हृदय का पता नहीं लगता। बाह्य क्रियाओं, चेष्टाओं, अनुष्ठानों तथा साधना के क्रियाकाण्डों, वेशों आदि पर से किसी व्यक्ति को अन्तरात्मा को शुद्ध पवित्र और मुमुक्षु समझ लेने में भी मनुष्य बहुधा भ्रांति का शिकार हो जाता है। इसी प्रकार सम्यक्श्रद्धा (सम्यग्दर्शन) का भी केवल बाह्य स्वरूप जान लेने, समझ लेने से एवं उस पर श्रद्धा एवं बौद्धिक प्रतीति कर लेने मात्र से व्यक्ति के जीवन में मुमुक्षा, सम्यग्दृष्टि, आत्मार्थिता आगई, ऐसा समझ लेना भूल होगी। इसीलिए सम्यक्श्रद्धा (सम्यग्दर्शन) के व्यावहारिक स्वरूप का दो प्रकार से निरूपण करने के बाद अब हम उसके निश्चय स्वरूप का वर्णन करेंगे।

जैनदर्शन की यह विशेषता रही है कि वह आध्यात्मिक जीवन की प्रत्येक साधना की केवल बाह्य दृष्टि से ही प्ररूपणा करके नहीं रह जाता उसका अन्तरंग दृष्टि से भी विवेचन विश्लेषण करता है। किसी भी वस्तु के केवल बाह्य रूप को जान लेने से उस वस्तु का वास्तविक रूप=मूलरूप नहीं जाना जा सकता। और यदि केवल अन्तरंग दृष्टि से ही वस्तु का स्वरूप बताया जाए तो उसे साधारण व्यक्ति अथवा अल्पज्ञ छद्मस्थ जन

सहसा ग्रहण नहीं कर सकेगा। कोई व्यक्ति वास्तव में सम्यक्श्रद्धा सम्पन्न है, इसका पता साधारण व्यक्ति को प्रारंभ में तो उसके बाह्य व्यवहार पर से ही लग सकेगा। किसी की आत्मा सम्यक्श्रद्धायुक्त है,इसका ज्ञान प्रत्यक्ष ज्ञानी के सिवाय सहसा अन्य को होना कठिन है। यही कारण है कि आचार्यों ने सम्यग्दर्शन (सम्यक्श्रद्धा) का स्वरूप निश्चय और व्यवहार दोनों नयों की दृष्टि से बताया है।[1]

निश्चय सम्यग्दर्शन होने पर ही व्यवहार सम्यग्दर्शन सफल

देव, गुरु और धर्म के प्रति अथवा जिनोक्त सात या नौ तत्व के प्रति श्रद्धान रूप जो व्यवहार-सम्यग्दर्शन (सम्यक्श्रद्धा) का स्वरूप बताया गया है, वह तभी सच्चे माने में सफल हो सकता है, जब आत्मा के प्रति गाढ़ श्रद्धा, रुचि या सुदृढ प्रतीति हो, अर्थात् वे श्रद्धादि गुण स्वानुभूति से युक्त हों। इसी तथ्य को 'पंचाध्यायी में इस प्रकार उजागर किया गया है—

स्वानुभूति-सनाथाश्चेत् सन्ति श्रद्धादयो गुणाः।
स्वानुभूतिं विनाऽऽभासा, नार्थाच्छ्रद्धादयो गुणाः॥

विना स्वानुभूतिं तु या श्रद्धा श्रुतमात्रतः।
तत्त्वार्थाऽनुगताऽप्यर्थाच्छ्रद्धा, नानुपलब्धितः॥[2]

अर्थात्—श्रद्धा, रुचि,प्रतीति, विश्वास आदि गुण तभी सार्थक होते हैं, जब वे स्वानुभव से युक्त हों। अर्थात् आत्मा के प्रति अपने प्रत्यक्ष अनुभव से मुक्त हो, तभी देव, गुरु और धर्म के प्रति श्रद्धा आदि सम्यक्श्रद्धा होंगे। स्वानुभूति के बिना केवल शास्त्रों से, बौद्धिक तर्क-वितर्क एवं युक्ति से अथवा गुरुजनों के उपदेश श्रवण से जो श्रद्धा होती है, वह तत्वार्थ के अनुकूल होती हुई भी वस्तुतः शुद्ध आत्मा की उपलब्धि से रहित होने से सम्यक्श्रद्धा नहीं हो सकती।

---

१ शुद्धं यदाऽऽत्मनो रूपं निश्चयेनाऽनुभूयते।
व्यवहारो भिदा द्वाराऽनुभावयति तत् परम्॥

—अध्यात्मसार प्र. ६, अ. १८, श्लो. १०

२ पंचाध्यायी (उत्तरार्द्ध) श्लोक ४१५, ४२१

इसीलिए निश्चयनय से सम्यग्दर्शन को स्वानुभूति रूप बताया गया है।[1]

दीर्घदृष्टि से सोचा जाय तो सम्यग्दर्शन (सुश्रद्धा) को मोक्ष का प्रमुख मार्ग बताया गया है। मोक्ष या बन्धन दोनों आत्मा से ही सम्बन्धित हैं, क्योंकि सम्यग्दर्शन आत्मा का ही अमूर्तिक गुण है। वह न तो इन्द्रियों का धर्म है, न ही शरीर का और न किसी जड़ पदार्थ का है; वह आत्मा (जीव) का ही धर्म है। इसीलिए उपासकाध्ययन में तथा योगशास्त्र में सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्ररूप रत्नत्रय को आत्मरूप अथवा आत्मा के साथ तादात्म्य रूप बताया गया है।[2]

तात्पर्य यह है कि निश्चयनय के अनुसार जो सम्यक्श्रद्धा (दर्शन) है, वही आत्मा है, जो सम्यग्ज्ञान है, वही आत्मा है और जो सम्यक्-चारित्र है, वह भी आत्मा है। साधक की आत्मा ही अपनी साधना द्वारा स्वानुभूति, दृढश्रद्धा, प्रतीति, विनिश्चिति या उपलब्धि करती है।

विश्व के सभी अध्यात्मवादी दर्शनों ने आत्मा (जीव) को अन्य सभी तत्वों में प्रधान तत्व माना है। आत्मा की वास्तविक अनुभूति या प्रतीति होने पर ही उसके प्रतिपक्षी जड़ (अजीव) को पहचाना जा सकता है। आत्मस्वरूप की प्रतीति एवं अनुभूति होने पर ही आत्मा से भिन्न कर्मादिजन्य आस्रव एवं बन्ध से मुक्त हुआ या रहा जा सकता है तथा संवर और निर्जरा की साधना की जा सकती है। आत्मस्वरूप का विनिश्चय, प्रतीति या अनुभव नहीं हुआ और आत्मिक शक्तियों की पहचान नहीं हुई तो बन्धनों से कैसे मुक्त हुआ जा सकेगा और मोक्ष के लिए पराक्रम कैसे किया जाएगा? निष्कर्ष यह है कि जीव के अतिरिक्त

---

१ सम्यक्त्वं स्वानुभूतिः स्यात् सा चेच्छुद्धनयात्मिका ॥
—पंचाध्यायी (उत्तरार्द्ध) श्लो. ४/३

२ (क) आत्मैव दर्शन-ज्ञान-चारित्राण्यथवायतेः।
यत्तदात्मक एवैष शरीरमधितिष्ठति ॥
—योगशास्त्र प्र. ४, श्लो. २

(ख) अक्षाज्ज्ञानं रुचिर्मोहाद्देहाद्वृत्तं च नास्ति यत्।
आत्मन्यस्मिन्शिवीभूते, तस्मादात्मैव तत् त्रयम् ॥
—उपासकाध्ययन कल्प २१, श्लो. २४५

जितने भी तत्त्वभूत पदार्थ हैं, वे सब एक या दूसरे प्रकार से जीव से ही सम्बन्धित हैं। जीव का अस्तित्व है तो उनका भी अस्तित्व है। इसीलिए निश्चयनय की दृष्टि से सम्यक्श्रद्धा (सम्यग्दर्शन) का लक्षण बताया गया—आत्मा के स्वरूप की अनुभूति, विनिश्चिति और दृढ़श्रद्धा।[1]

जब जीव (आत्मा) तत्त्व ही सर्वश्रेष्ठ प्रधान तत्त्व है तब फलितार्थ यही निकलता है कि तत्त्व एकमात्र जीव (आत्मा) ही है, शेष आस्रव, बन्ध, संवर, निर्जरा, मोक्ष आदि सब उसके ही परिवार हैं। समयसार में जो भूयत्थेणाभिगदा....[2] अर्थात्—सम्यग्दर्शन का लक्षण—शुद्ध (निश्चय) नय से अभिगत जीवादि नौ (या सात) तत्वों का श्रद्धानरूप बताया गया है, उसका रहस्य भी यही है कि वहाँ जीव (आत्मा) का अजीवादि तत्वों के साथ एकत्व प्रकट किया गया है। इस प्रकार शुद्ध नय की अपेक्षा से जीवादि नौ तत्वों को जानने से आत्मा की अनुभूति होती है। इस अनुभूति का कारण है—वहाँ विकारी होने योग्य और विकारकर्ता दोनों ही पुण्य हैं तथा दोनों ही पाप हैं। आस्रव, संवर, बन्ध और निर्जरा होने योग्य, तथैव क्रमशः आस्रवकर्ता, संवरकर्ता, बन्धकर्ता और निर्जराकर्ता चारों ही क्रमशः आस्रव, संवर, बन्ध, और निर्जरा हैं। और मोक्ष होने योग्य तथा मोक्षकर्ता दोनों ही मोक्ष हैं। जीव के विकार का हेतु अजीव है। यों नौ तत्वों में से जीव द्रव्य के स्वभाव को छोड़कर स्वयं और पर भी एक (जीव) द्रव्य की पर्याय के रूप में अनुभव करने पर भूतार्थ है। इस प्रकार प्रस्तुत नौ तत्वों में भूतार्थनय से जीव के साथ एकत्व होने पर एक जीव तत्व ही प्रकाशमान होता है। आत्मख्याति टीका में यही बात कही है—

'नव-तत्व-गतत्वेऽप्येकत्वं न मुञ्चति।'

'जीव नवतत्वरूप में परिणमन करता हुआ भी एकत्व को अर्थात्—अपने मूल स्वभाव को नहीं छोड़ता।'

---

१ तत्राऽप्यात्मानुभूतिः सा, विशिष्टं ज्ञानमात्मनः।
सम्यक्त्वेनाऽविनाभूतमन्वयाद् व्यतिरेकतः॥

—पंचाध्यायी (उ०) श्लो. ४९३

२ भूयत्थेणाभिगदा जीवाऽजीवा य पुण्ण-पावं च।
आसव-संवर णिज्जर-बंधो मोक्खो य सम्मत्तं॥

—समयसार गाथा १३

निष्कर्ष यह है कि सम्यक्श्रद्धा (सम्यग्दर्शन) का मूलाधार निश्चय-दृष्टि से शरीर और आत्मा की भिन्नता की प्रतीति कराने वाला अनुभव है। केवल शास्त्र या गुरु-उपदेश के सहारे से या बौद्धिक ज्ञान से कह दिया जाए कि 'आत्मा है,' अथवा 'शरीर और कर्मादि से बिलकुल भिन्न एक स्वतन्त्र आत्मद्रव्य का अस्तित्व है,' इतने से निश्चयसम्यग्दर्शन नहीं आ सकता। देह और आत्मा की भिन्नता की स्वानुभूतिजन्य प्रतीति पर ही निश्चयसम्यग्दर्शन का दारोमदार है।

अनादिकालीन कर्मबन्धन और अपनी संसाराभिमुखी प्रवृत्ति के कारण आत्मा अपने स्वरूप को भूल बैठा है। उसे अपनी आत्मशक्ति पर विश्वास ही नहीं रहा, फलतः कर्म की शक्ति के समक्ष वह अपने को विवश समझ बैठता है। उसकी बुद्धि पर अहंत्व, ममत्व, मोह एवं देहात्मभ्रम का आवरण पड़ा हुआ है, तब तक वह सांसारिक पुद्गलों या कर्मपुद्गलों के अधीन रहता है। जिस क्षण उसे अपने स्वरूप और अनन्त शक्ति का भान हो जाता है, उसे स्व-स्वरूप की प्रतीति या उपलब्धि हो जाती है।

व्यवहार और निश्चय सम्यग्दर्शन का संतुलन

कोई कह सकता है कि जब निश्चयसम्यग्दर्शन ही वास्तविक सम्यग्-दर्शन है, दूसरे शब्दों में, शुद्ध आत्मदर्शन है तब व्यवहारसम्यग्दर्शन का स्वरूप बताने की क्या आवश्यकता थी? इसका समाधान यह है कि विकास की प्रारम्भिक भूमिका में स्थित जीव को धर्म के प्रथम सोपान पर पैर रखने के लिए व्यवहारसम्यग्दर्शन का अवलम्बन लेना आवश्यक है। जैसे—नदी के उस पार जाने के लिए नौका का आश्रय लेना पड़ता है। परन्तु नौका का आश्रय तभी तक ही लिया जाता है, जब तक किनारा नहीं आ जाता। किनारा आ जाने पर तो नौका स्वतः ही छूट जाती है। नौसिखिया नट रस्सी पर बेधड़क चलने के लिए पहले बांस का सहारा लेता है। परन्तु जब वह उसमें प्रशिक्षित (Trained) हो जाता है तब बांस का सहारा छोड़ देता है। इसी प्रकार मुमुक्षु को प्रारम्भिक भूमिका में आत्मतत्व की विनिश्चिति या दृढ़ अनुभूति की सिद्धि के लिए व्यवहार सम्यग्दर्शन का अवलम्बन लेना पड़ता है।

तात्पर्य यह है कि विशिष्ट प्रकार से आत्मस्वरूप का दृढ़ निश्चय या अनुभव प्रारम्भ में तब तक नहीं हो सकता, जब तक आत्मा और कर्मों के सम्बन्ध से जिन तत्वों की सृष्टि होती है, उनके प्रति तथा उनके उपदेष्टा आप्त सुदेव, सुगुरु (या सुशास्त्र) तथा जिनदेवोक्त सद्धर्म पर श्रद्धान न हो, क्योंकि परम्परा से ये सभी आत्मस्वरूप की अनुभूति या विनिश्चिति के

कारण हैं। इनके द्वारा ही क्रमशः आत्मस्वरूप की अनुभूति की भूमिका निर्मित होती है जिससे अन्त में स्वानुभूतिरूप सम्यग्दर्शन प्राप्त होता है। मुमुक्षु को पूर्णज्ञानी आप्त वीतराग पुरुषों के वचन पर दृढ़ विश्वास रखे बिना प्राथमिक भूमिका में इनके द्वारा बताये गए तत्वों पर श्रद्धान नहीं हो सकता। और जिनोक्त तत्वों पर श्रद्धान-निश्चय हुए बिना आत्मस्वरूप का अनुभव, निश्चय एवं आत्माभिमुखत्व सम्भव नहीं है। अतः प्रारम्भिक भूमिका में वीतराग अर्हत् आप्त पुरुष का अवलम्बन, आत्मज्ञानी गुरुओं का मार्गदर्शन और जिनोक्त धर्म या जिनाज्ञा की आराधना की रुचि से व्यवहारसम्यक्त्व द्वारा अल्पज्ञ मुग्धजीव भी क्रमशः सच्चे साधनामार्ग पर गति करके मोह की गिरफ्त से क्रमशः निकलकर उत्तरोत्तर आत्मज्ञान का अधिकाधिक प्रकाश प्राप्त कर लेता है। जब वह निश्चयसम्यग्दर्शन में निरालम्बनपूर्वक रहने में समर्थ हो जाता है, तब व्यवहारसम्यग्दर्शन स्वयमेव छूट जाता है। किन्तु प्रारम्भ में व्यवहार का अवलम्बन लिये बिना निश्चय की सिद्धि सम्भव नहीं। इसलिए पंचास्तिकाय में व्यवहार-सम्यक्त्व को निश्चयसम्यक्त्व का बीज बताया है—

'तेषां मिथ्यादर्शनोदयापादिताऽश्रद्धाना भावस्वभावं भावान्तरं श्रद्धानं सम्यग्दर्शनं, शुद्धचैतन्यरूपात्मतत्वविनिश्चयबीजम्।"

अर्थात्—उन भावों (तत्वभूत नौ पदार्थों) का, मिथ्यात्व के उदय से प्राप्त अश्रद्धान के अभावस्वभावरूप भावान्तर यानी तत्वभूत नौ पदार्थों पर श्रद्धान (व्यवहार) सम्यग्दर्शन है, जो कि शुद्ध चैतन्यरूप आत्मतत्व का विनिश्चय (निश्चय-सम्यग्दर्शन) का बीज है।"

अतः निश्चय-सम्यग्दर्शन साध्य है, तो व्यवहार-सम्यग्दर्शन उसे प्राप्त करने का साधन है, निमित्त है। इसलिए कारण (व्यवहार सम्यग्-दर्शन) में कार्य का उपचार करके देव-गुरु-धर्म-श्रद्धान अथवा तत्वार्थ-श्रद्धान को व्यवहार से सम्यग्दर्शन कहा है। इसीलिए प्रारम्भिक भूमिका के अल्पबुद्धि लोगों को समझाने के लिए पहले व्यवहारसम्यग्दर्शन का उप-देश देकर उसके साथ-साथ निश्चयसम्यग्दर्शन की प्रतीति कराई जाती है। इस दृष्टि से व्यवहारसम्यग्दर्शन को निश्चयसम्यग्दर्शन का कारण बताया जाता है।

तात्पर्य यह है कि आत्मस्वरूप की अनुभूति या विनिश्चिति तब तक नहीं हो पाती, जब तक आत्मा और कर्मों के सम्बन्ध से जो सात तत्व बनते हैं, उनके प्रति तथा उनके उपदेशक एवं मार्गदर्शक देव, गुरु, धर्म या

शास्त्र के प्रति श्रद्धान न हो, क्योंकि परम्परा से ये सभी तत्वभूत पदार्थ या श्रद्धेय तत्व एक या दूसरे प्रकार से आत्म-प्रतीति या आत्मानुभूति के कारण हैं। देवादि पर श्रद्धान हुए बिना, इनके द्वारा प्रज्ञप्त सात या नौ तत्वभूत पदार्थों पर श्रद्धान नहीं हो सकता। और इनके द्वारा प्रज्ञप्त तत्वभूत पदार्थों पर श्रद्धान नहीं होता, तब तक उत्तरोत्तर आत्मतत्व के प्रति रुचि, श्रद्धा, प्रतीति, अनुभूति या विनिश्चिति नहीं हो सकती।

वास्तव में देखा जाए तो व्यवहार-सम्यग्दर्शन का मुख्य उद्देश्य तो निश्चय-सम्यग्दर्शन तक पहुँचना है, क्योंकि तत्वभूत पदार्थों के अथवा देव-गुरु-धर्म-शास्त्र आदि के ज्ञान या श्रद्धान का लक्ष्य तो आत्मश्रद्धान, आत्मज्ञान या आत्मप्रतीति ही है।

जब व्यवहार-सम्यग्दर्शन-सम्पन्न व्यक्ति अपनी साधना का लक्ष्य निश्चय-सम्यग्दर्शन की प्राप्ति यानी भेदज्ञान कराने वाली साक्षात् अनुभूति को बना लेता है, तब उसमें राग क्रमशः कम होता जाता है, और वह व्यवहार से निश्चय की ओर उत्तरोत्तर बढ़ता जाता है। निश्चय की प्रबलता होने पर सम्यग्दर्शनादि रत्नत्रय भी व्यवहार से निश्चय का रूप ले लेते हैं। इसका यह अर्थ नहीं है कि चतुर्थ आदि गुणस्थानों में जो सम्यग्दर्शन होता है, उसमें आत्मस्वरूप की अनुभूति, आत्मविनिश्चिति या आत्मप्रतीति कतई नहीं होती, वहाँ भी आंशिकरूप में यह सब रहता ही है, अन्यथा उसे सम्यग्दर्शन ही कैसे कहा जायेगा ?

व्यवहारसम्यग्दर्शन से निश्चय-सम्यग्दर्शन को प्राप्त करने की अनिवार्यता बताते हुए कहा गया है कि तत्व-प्राप्ति के मुख्यतया तीन मार्ग हैं—(१) जिनोक्त आगम, (२) युक्ति और (३) अनुभूति।

प्रारम्भिक भूमिका में मुमुक्षु मुख्यतया आप्तादि के मार्गदर्शन पर निर्भर रहता है, किन्तु तत्व प्राप्ति की दिशा में गति-प्रगति करते समय आगे चलकर वह केवल आप्तादि के प्रति श्रद्धा को लेकर नहीं चलता, अपितु स्वयं शास्त्र, तर्क और युक्ति का आश्रय लेकर तत्व-मन्थन करता है। वह आत्मा, जीव-अजीव, आस्रव (कर्म), बन्ध, मोक्ष और उसके उपायभूत संवर और निर्जरा आदि का रहस्य पाने हेतु शास्त्र, गुरु-उपदेश आदि के माध्यम से चिन्तन-मनन करता है। मोक्षमार्ग में साधक-बाधक अनेक प्रश्नों पर वह आगमों का परिशीलन एवं तत्व-चिन्तन करता है। इस प्रकार क्रमशः आत्मतत्व की विशद प्रतीति प्राप्त करता जाता है। वीतराग वचनों को मद्देनजर रखकर चिन्तन-मनन एवं युक्ति द्वारा

सूक्ष्म प्रज्ञाशील विवेकी व्यक्ति आत्मतत्व की जो प्रतीति करते हैं, उसे लक्ष्य में लेकर ही व्यवहार-सम्यग्दर्शन का तत्वार्थ श्रद्धानरूप लक्षण किया गया है।

परन्तु परिपक्व सम्यग्दर्शन के लिए आप्तवचन पर श्रद्धा और युक्ति एवं तर्क द्वारा आत्मा और पर के भेदविज्ञान की बौद्धिक प्रतीति पर्याप्त नहीं है। सम्यक्श्रद्धा का व्यावहारिक आधार भले ही आप्तवचन और बौद्धिक प्रतीति हो, किन्तु निश्चयरूप आधार तो अनुभूति ही है। बौद्धिक स्तर का भेद-विज्ञान आत्मा की ऐसी दृढ़ प्रतीति नहीं पैदा कर सकता, जिससे राग-द्वेष की निविड़ ग्रन्थि टूट जाए। इसीलिए निश्चय-सम्यग्दर्शन का स्पष्ट लक्षण किया गया है—

'स्व-परयोर्विभाग-दर्शनम्।'

अर्थात्—स्व और पर की पृथक्ता का दर्शन निश्चयसम्यग्दर्शन है। इसका एक रहस्य यह है कि पूर्वोक्त नौ या सात तत्वों में से हेय तत्वों को 'पर' में और उपादेय तत्वों को 'स्व' में समाविष्ट कर लिया गया है। जैसे—'स्व' अर्थात् 'मैं' जीव (आत्मा) हूँ। इसके आश्रय से उत्पन्न होने वाले अजीव, आस्रव (पुण्य-पाप) और बन्ध को परभाव समझकर छोड़ना तथा जीव, संवर, निर्जरा और मोक्ष को स्वभाव समझकर ग्रहण करना, यही स्व-पर भेद-दर्शन है। मोक्ष आत्मा (जीव) के स्वभाव के पूर्ण विकास की अवस्था है, तथा संवर और निर्जरा से प्राप्त होने वाली शांति उसका (जीव का) अपना स्वभाव है।

दूसरी दृष्टि से 'पर' में स्वबुद्धि और 'स्व' में परबुद्धि का रहना ही बन्धन है। जबकि 'स्व' में स्वबुद्धि और 'पर' में पर-बुद्धि का रहना ही भेदविज्ञान की भूमिका है। अतः 'मैं आत्मा हूँ'। 'शरीरादि पर-भाव हैं। मैं इनसे पृथक हूँ।' इस प्रकार की स्व-पर-भेदविज्ञान की स्वानुभूतिजन्य दृढ प्रतीति ही निश्चयसम्यग्दर्शन है।

यद्यपि तत्त्व प्राप्ति में देवादि पर श्रद्धा और तत्वभूत पदार्थों की बौद्धिक प्रतीति की अपेक्षा अनुभूति का मूल्य सर्वाधिक है, तथापि यह भूलना नहीं चाहिए कि यदि वह अनुभूति आप्तवचनों पर श्रद्धा और प्रतीति से निरपेक्ष बन जाए तो उसमें भ्रांति की सम्भावना है। निष्कर्ष यह है कि आप्तवचनों पर श्रद्धा तत्वार्थ-प्रतीति और स्वानुभूति, इन तीनों के समन्वय से विशुद्ध तत्वप्राप्ति होती है।

दूसरी बात यह है कि आप्त वचनों पर श्रद्धा और तर्क युक्ति द्वारा

प्राप्त स्व (आत्मा) और पर का भेद-ज्ञान चाहे जितना गहरा हो जाए तो भी वह बौद्धिक स्तर का होने से वह स्व-पर-भेद की दृढ़ प्रतीति उत्पन्न नहीं कर सकता, जिससे कि सघन रागद्वेष की ग्रन्थि टूट सके। इसलिए स्व-पर के भेद का, अर्थात्—शरीर और आत्मा की भिन्नता का साक्षात्कार कराने वाली अनुभूति को परमार्थ-सम्यग्दर्शन का लक्षण बताया गया है। तात्पर्य यह है कि काया से आत्मा को पृथक् अनुभव करने वाली दृष्टि ही निश्चय-सम्यग्दर्शन है। इसलिए भव-भ्रमण को मर्यादित करने वाले निश्चयसम्यग्-दर्शन के इच्छुक को केवल सुदेव-सुगुरु-सुधर्म के प्रति श्रद्धान् से या श्रवण-मनन-युक्ति-तर्क से प्राप्य तत्त्वार्थ के ज्ञान और श्रद्धान से ही संतोष मानकर नहीं बैठ जाना चाहिए, अपितु स्व और पर की यथार्थ प्रतीति, यानी भेदज्ञान कराने वाली साक्षात्-अनुभूति को अपनी साधना का लक्ष्य बनाना चाहिए।

स्व-पर-भेद विज्ञान की अनुभूति होने पर शरीर और मन तक के कर्म जनित सर्व बाह्य पर्यायों को वह अपने (आत्मा) से पृथक् समझता है, इस कारण उसके अन्तर् में उनके प्रति ममत्व नहीं होता। यद्यपि चारित्र-मोहनीय के उदयवश वह बाह्य विषयोपभोग आदि में प्रवृत्त दिखाई देता है, तथापि उसके अन्तर् की गहराई में अनिवार्य विषयोपभोगों के प्रति भी आनन्द न होकर पश्चात्ताप, वितृष्णा, अनिच्छा आदि होते हैं। उसे व्यक्त-अव्यक्त रूप से यह भान रहता है कि ये देहादि सब कर्मजनित हैं, क्षणिक हैं, मेरे से पृथक् हैं, मैं परभाव मे लाचारी से प्रवृत्त हो रहा है। अतः उस का मन विषयोपभोग में या अन्य व्यावहारिक प्रवृत्तियों में तीव्र रसपूर्वक प्रवृत्त नहीं होता, साथ ही इन प्रवृत्तियों में उसकी प्रायः गाढ कर्तृत्व-भोक्तृत्व-बुद्धि नहीं रहती।

आत्मानुभूतिरूप निश्चय-सम्यग्दृष्टि प्राप्त होने पर व्यक्ति, भगवद्-गीता में उक्त निष्काम कर्मवत् साक्षीभाव का अभ्यास भी सहज रूप से करता है। पंचसूत्र में श्रावक[1] धर्म के आचार का निरूपण करते हुए कहा गया है कि वह निर्ममत्वभाव से, साक्षीभाव से, कुटुम्बीजनों के हित और सुख की दृष्टि से परिवार का पालन-पोषण करता है, और कुटुम्ब-पालन

---

१ (क) निमम्मे भावेण, तप्पालणे वि धम्मो, जह अन्नपालणेत्ति। .....ममत्त बंध कारणम्। —श्रीपंच सूत्र, सूत्र २

(ख) भिन्नग्रन्थेः कुटुम्बचिन्तनादिको व्यापारोऽपियोगो निर्जराफलश्च।

—योगविन्दु टीका २०३

की यह प्रवृत्ति उसके लिए निर्जरा रूप धर्म बनती है। क्योंकि अन्तर् से वह इन सबसे स्व (आत्मा) को पृथक् समझता है।

जिसे आत्मा की साक्षात् अनुभूति, या देह और आत्मा के भेदज्ञान की प्रतीति अथवा जागृति हो जाती है, वह इस पौद्गलिक देह या रागादि कर्मकृत व्यक्तित्व, अर्थात्—कर्मों से होने वाले विविध क्षणिक् परिवर्तनशील पर्यायों को आत्मीय (आत्मगत) समझने की प्राथमिक अन्धकारपूर्ण भूमिका से निकल जाता है। वह नामरूप, तथा कर्मकृत व्यक्तित्व से ऊपर उठकर शाश्वत ज्ञानानन्दमय, निराकार, शुद्ध आत्मा के अखण्ड प्रकाश को चमकता हुआ देखता है। वह शुद्ध आत्मा में ही परमात्मा के दर्शन करने लगता है। अतः रागादि विकल्परहित शुद्ध आत्मस्वरूप की प्रत्यक्ष अनुभूति या जागृति को ही बृहद्द्रव्यसंग्रह में, निश्चय सम्यग्दर्शन बताया गया है।

रागादि-विकल्पोपाधि-रहित-चिच्चमत्कार - भावोत्पन्न - मधुररसास्वाद-सुखोऽहमिति निश्चयरूपं सम्यग्दर्शनम्।[1]

निश्चयरूप सम्यग्दर्शन प्राप्त होने पर व्यक्ति सदैव जागृत तथा प्रतीतियुक्त रहता है कि मैं रागादि विकल्पों तथा कर्मकृत देहादि उपाधियों से रहित, शुद्ध चित् (ज्ञानरूप चैतन्य) के चमत्कारभावों से उत्पन्न मधुर-रसास्वाद-सुख से युक्त (आत्मा) हूँ, इस प्रकार की जागृति एवं प्रतीतियुक्त आत्मानुभूति होना ही निश्चयसम्यग्दर्शन है।

शुद्ध आत्मा की ऐसी अनुभूति किसी भी उपाधि, उपचार या कर्मकृत विकल्पों या पर्यायों से रहित होती है। इसलिए निश्चयसम्यग्दर्शन एक ही प्रकार का है, उसका कोई भेद नहीं है। निश्चयसम्यग्दर्शन की जब प्रबलता होती है, तब अपनी ही विशुद्ध आत्मा को वह देव, उसी को गुरु और उसी की स्वाभाविक परिणति को धर्म समझता है। बाहर के देव, गुरु, धर्म अथवा शास्त्र तो निमित्त मात्र हैं—विशुद्ध आत्मा के, या भेदविज्ञान के निमित्त हैं, वह उपादान नहीं, मूल स्वभाव नहीं। अतः निश्चयदृष्टि से शुद्ध आत्मा को ही देव, गुरु, धर्म या शास्त्र समझना सम्यग्दर्शन है। समयसार में यही लक्षण दिया गया है।[2]

अथवा अरहन्त और सिद्ध में जो ज्ञानादि चतुष्टयमय विशुद्ध

---

१ बृहद-द्रव्य-संग्रह टीका ४०/१६३/१०

२ विशुद्ध ज्ञान-दर्शन-स्वभावे निज परमात्मनिवद् रुचिरूपं तत् सम्यग्दर्शनम्।"
—समयसार २/८/१०

आत्मा है, उसी को देव, तथा आचार्य, उपाध्याय और साधु में विराजमान जो शुद्ध आत्मा है, उसे ही शुद्ध गुरु मानता है, एवं रत्नत्रय में रत्नत्रयमयी अभिन्न स्वानुभूति को ही शुद्ध धर्म मानता है। उसे ऐसी दृढ़ प्रतीति हो जाती है, कि मेरा शुद्ध स्वरूप अनन्तज्ञानदर्शन-शक्ति-सुखमय है। स्वभाव में रमण ही मोक्ष का हेतु है। परभाव—राग-द्वेषादि ही कर्मबन्ध का हेतु है। अतः स्व-पर–भाव के भेद-विज्ञान की प्रतीति हो जाने से व्यक्ति आत्मकेन्द्रित हो जाता है।

स्वानुभूति-रहित जीव सदैव शरीर और अपने कर्मकृत व्यक्तित्व के साथ अपने (आत्मा के) तादात्म्य (एकत्व) का अनुभव करते हैं, जबकि स्वानुभूति होने के पश्चात भेदज्ञान की जागृति वाले व्यक्ति को ऐसी प्रतीति रहा करती है कि ये शरीरादि (शरीर और शरीर से सम्बन्धित सजीव निर्जीव पदार्थ) 'मैं' नहीं हूँ। खाते-पीते,सोते-उठते, चलते-फिरते यानी मन-वचन-काया से प्रत्येक प्रवृत्ति करते समय भी निश्चयसम्यग्दर्शनयुक्त व्यक्ति की दृष्टि-वृत्ति स्व-स्वरूप की ओर ही रहती है। अन्य प्रवृत्तियों की भीड़ के बीच में भी शाश्वत आत्मतत्व के साथ अपने तादात्म्य की स्मृति चित्त में झलकती रहती है।

स्वरूप के साथ अपने तादात्म्य का भान आत्मानुभूति द्वारा अवचेतन मन तक पहुँचता है, तब स्वप्न में भी आत्म-बोध की विस्मृति नहीं होती। जबकि विपत्ति, तंगी और चिन्ता के प्रसंगों में केवल गुरु-उपदेश और शास्त्रीय ज्ञान के बल से चित्त संकल्प-विकल्प अथवा भय से अनाक्रान्त नहीं रह सकता। ऐसे मौके पर सारी बौद्धिक समझ एक ओर धरी रह जाती है और चित्त भयविह्वल, आकुल-व्याकुल, स्तब्ध या कलुषित हो जाता है, असमाधिभाव मन में आ जाता है। कारण यह है कि व्यक्ति की बौद्धिक भूमिका द्वारा प्राप्त समझ सिर्फ जागृत मन तक की होती है। परन्तु इस देह और कर्मकृत व्यक्तित्व के साथ वर्षों तक सतत् एक्य का भान करते रहने से तथा जागृत मन की उस वस्तु को बार-बार घोंटने से वह अवचेतन मन (Subconscious mind) में पहुँच चुकती है। जिससे अवचेतन मन में विपत्ति, संकट, तंगी, चिन्ता, दैन्य, मद, तृष्णा, आर्त्तरौद्रध्यान आदि के संस्कार निमित्त मिलते ही उभर आते हैं। और तब जागृत मन के नियंत्रणों को एक ओर फेंककर अवचेतन मन के वे संस्कार सहसा प्रकट हो जाते हैं। अनुभव की आंखों से देखें तो बाह्य अनुकूलताओं के अवसर पर जो बातें मानस में ठीक जम गई प्रतीत होती हैं, वे ही बातें बाह्य प्रतिकूल-

ताओं के अवसर पर टिकी रहनी अत्यन्त कठिन होती हैं, उस समय चित्त अस्वस्थ, कलुषित और असमाधियुक्त हो जाता है, श्रद्धा का टिमटिमाता दीपक बुझने लगता है।

अगर हम अपनी चित्तवृत्तियों का निरीक्षण करें तो प्रतीत होगा कि अविकारी, ज्ञायक, शुद्ध आत्मस्वरूप के साथ अपने तादात्म्य का भान जागृत होता है, तब बाहर की घटनाओं, बनावों या परिस्थितियों आदि का हमारे चित्त पर गहरे आघात-प्रत्याघात नहीं होते, परन्तु जब हम इस देह और कर्मकृत व्यक्तित्व के साथ ऐक्य का अनुभव करते हैं, तब चित्त में संक्लेश, चिन्ता, दीनता, मद, तृष्णा आदि खुलकर खेलने लगते हैं। तात्पर्य यह है कि निज के शुद्ध, ज्ञायकस्वरूप की प्रतीति जितनी-जितनी दृढ़ होती जाती है, उतने-उतने संक्लेश, दैन्य, चिन्ता, तृष्णा, मद कम होते जाते हैं। स्वरूप की विस्मृति होते ही चित्त में मोहजनित वृत्तियाँ उमड़-घुमड़ कर आ जाती हैं, ऐसी स्थिति में वहाँ देहात्मबुद्धि, अहंकार, ममकार और कर्तृत्वाभिमान आदि का बोलवाला हो जाता है।

स्वरूप के साथ अपने तादात्म्य का भान जब आत्मानुभूति द्वारा अवचेतन मन तक पहुँच जाता है, तब स्वप्न में भी उस बोध की विस्मृति नहीं होती; इसलिए श्रुत (शास्त्र) और चिन्तन से कृतार्थता न मानकर अनुभूति को तत्त्व-प्राप्ति का तृतीय और अन्तिम उपाय बताया है।

फिर स्व-पर-भेदविज्ञान की आत्मानुभूति का सत्य अपना स्वयं का होता है, वाचन, श्रवण, चिन्तनादि से प्राप्त सत्य परकीय है, उधार लिया हुआ है, अपनी बुद्धि पर पड़ी हुई अन्य को प्राप्त बोध की परछाई है। परछाई कितना काम कर सकती है ? जिसे अनुभूतिरूप निश्चयसम्यग्दर्शन का साक्षात् नहीं होता, उत्तेजना के क्षणों में या संकटापन्न परिस्थिति में उसकी प्रतिक्रिया कर्मकृत व्यक्तित्व के साथ तादात्म्य की बोधपूर्वक भूमिका —भौतिक भूमिका के अनुरूप ही रहती है। इससे ऊपर उठना हो तो आत्मानुभूति के परिप्रेक्ष्य में विचार और तदनुरूप यथाशक्य आचरण करना चाहिए।

निश्चयसम्यग्दर्शनी का जीवनदर्शन

सामान्यरूप से मानव प्रायः अपने माने हुए परिवार, सम्प्रदाय, जाति, पैसा, पद, प्रतिष्ठा, बौद्धिक कुशलता, शारीरिक स्वास्थ्य आदि बातों को जीवन के आधार मानकर चलता है। परन्तु वास्तविकता यह है कि ये सब विनाशशील हैं, क्षणिक हैं। किस क्षण ये सब धराशायी हो

जाएँगे, यह निश्चित नहीं है। जिसका जीवन बिलकुल मही-सलामत सुदृढ़ और समृद्ध दिखाई देता है, रात ही रात में उसे असहाय स्थिति में फेंक दिया जाता है। राष्ट्रपति देशद्रोही के रूप में कारागार के सींखचों में डाल दिया जाता है। करोडपति रोड़पति बन जाता है, अथवा जेल में बन्द कर दिया जाता है। राष्ट्रविख्यात फर्म का व्यापार एक ही दिन में चौपट हो जाता है। अर्थतन्त्र में उथल-पुथल होते ही व्यवसाय की सारी परिस्थिति बदल जाती है।

प्रेमी परिवार के साथ किसी नगण्य निमित्त से ऐसा झमेला पड़ जाता है कि परिवार के सभी सदस्य विरोधी बन जाते हैं। स्वस्थ शरीर सहसा दुःसाध्य व्याधि से ग्रस्त हो जाता है। मनुष्य पराधीन बन जाता है। इस प्रकार मानव-जीवन में पूर्वबद्ध कर्मों के फलस्वरूप विपत्तियाँ, विघ्न-बाधाएँ, संकट, अड़चनें, कष्टदायक परिस्थितियाँ एवं व्याधियाँ आती रहती हैं। ऐसे समय में स्व-पर-भेदविज्ञान की प्रतीति और अविकारी शुद्ध आत्म-स्वरूप की अनुभूति ही व्यक्ति को इन और ऐसी ही अन्य प्रतिकूल परि-स्थितियों में पैदा होने वाली असुरक्षा की भीति, चित्तक्षोभ, चिन्ता, दीनता और आर्त्तध्यान से उबार सकती है। जिसे पूर्वोक्त आत्मानुभूति नहीं होती, वह शरीर और शरीर से सम्बन्धित सजीव निर्जीव इष्ट पदार्थ अथवा परिस्थिति को स्थिर रखने के लिए प्रयास करेगा। ऐसी स्थिति में उक्त अभीष्ट पदार्थों एवं अनुकूल परिस्थिति में किसी भी परिवर्तन या विनाश या वियोग की कल्पना या सम्भावना उसे बेचैन बना देगी। इसके विपरीत जिसके चित्त में—अवचेतन मन के स्तर में कर्मपुद्गलकृत सर्व-संयोगों यानी औदयिक भावों की, सजीव-निर्जीव पदार्थों अथवा परिस्थिति की क्षणिकता का भान स्थिर हो गया है, अथवा आत्मा एवं आत्मगुणों का अस्तित्व, तथा बाह्य वस्तु एवं व्यक्ति या परिस्थिति से निरपेक्ष है, यह समझ और विश्वास जम गया है, वह बाह्य जगत् में होने वाली उथल-पुथलों से अथवा प्रतिकूल संयोगों और परिस्थितियों से क्षुब्ध, व्याकुल, अशान्त या संकल्प-विकल्पग्रस्त नहीं होगा। संसार के समस्त झंझावातों, विडम्बनाओं, संकटों या विपत्तियों को भी वह समभावपूर्वक पार कर जाता है। उसे बार-बार के अभ्यास से यह अनुभव हो जाता है, कि उसका अस्तित्व या सुखशान्ति 'पर' पर निर्भर नहीं है, वह अपने स्वभाव और अपने निजी गुणों (ज्ञान, दर्शन, आनन्द और शक्ति) पर निर्भर है। इस-लिए आत्म-बाह्य उतार-चढ़ावों से वह व्याकुलता का अनुभव नहीं करता।

पूर्वबद्ध कर्मानुसार उसे सुख-दुःख, सम्पत्ति-विपत्ति सम्मान-अपमान, तंगी या समृद्धि प्राप्त होती है, परन्तु उसको यह पक्की अनुभूति हो जाती है कि स्वयं (आत्मा) इन सबसे अस्पृष्ट है, असम्बद्ध है। इस कारण वह इन उतार-चढ़ाव की घटनाओं और परिवर्तनों में से साक्षीभाव से पार होना पसन्द करता है। शहर के बाजार में अनेक दूकानों में शो-केसों में तरह-तरह का माल सजा हुआ है, जिसे कुछ भी खरीदना न हो वह उन दूकानों में सजे हुए माल पर लक्ष्य न देकर जैसे उन्हें पार कर जाता है, वैसे ही आत्मानुभूति वाला सम्यग्ज्ञाता-द्रष्टा, उन-उन घटनाओं या परिस्थितियों को भी सिर्फ साक्षीभाव से पार कर जाता है। उसे इनसे कुछ लेना-देना नहीं होता, वह आत्मतृप्त होता है।

मृग मरीचिका को जलरहित जानने वाला व्यक्ति प्यास बुझाने के लिए उसकी ओर नहीं दौड़ता तथा इस पानी को तैर करके कैसे पार किया जाएगा ? इस बात की भी चिन्ता नहीं करता। हाई-वे रोड पर कार तेजी से दौड़ती जा रही हो, उस समय सामने पानी की लहरें मस्तक तक ऊँची दिखाई दें तो, वह हिचकिचाहट अनुभव नहीं करता, वह मोटर को पूर्ववत् पूरे वेग से दौड़ाता हुआ इसके बीच से ले जाता है; क्योंकि वह उस प्रदेश से परिचित है कि यह पानी तो मृगमरीचिका के कारण दिखाई दे रहा है। ऐसी ही स्थिति आत्मानुभवी सम्यग्दृष्टि मानव की होती है। भौतिक सुख-सुविधाओं के उतार-चढ़ाव में वह बहुधा स्थितप्रज्ञ रहकर अपने आध्यात्मिक जीवन की गाड़ी को तेजी से पार कर लेता है। इसमें उसे कुछ खोने की भीति या प्राप्त करने की अपेक्षा नहीं होती। उसकी एकमात्र इच्छा स्व-स्वरूप में स्थिर रहने की होती है। हाँ, चारित्रमोहनीय से विवश होकर विषयोपभोग को सर्वथा छोड़ नहीं सकता, किन्तु उसमें उसकी आसक्ति या ममता-मूर्च्छा नहीं होती। चित्त में उठती वृत्तियों की लहरों को उपशान्त करके वह स्वभाव में अधिक से अधिक स्थित रहने का प्रयत्न करता है। सचमुच, आत्मानुभूति की सुदृढ़ नींव पर जिसके जीवन का निर्माण होता है, वह अविनाशी अनन्तज्ञानादि चतुष्टय सम्पन्न परमात्मा के शान्त सहवास का सतत अनुभव करता है, इस कारण उसे सुरक्षितता का अखण्ड अनुभव होता है। कई बार उसके चित्त की सतह पर विक्षोभ की क्षणिक लहर उठती दिखाई देती है, परन्तु उसका अन्तस्तल तो निर्भय, निराकुल, निरीह और निःस्पृह ही रहता है। विशुद्ध चेतना के साथ ऐक्य की प्रतीति उसे अन्तर् में निराकुलता की शान्ति का सतत अनुभूति कराती रहती है।

इस प्रकार आत्म-स्वरूप की स्वानुभवजन्य प्रतीति होने के कारण सम्यग्दृष्टि आत्मा सारी भव-चेष्टा को नाटक के खेल की तरह निर्लिप्त भाव से—साक्षीभाव से—देखता है। वह समझता है कि इस समय का मेरा व्यक्तित्व कर्मजन्य होने के कारण संसाररूपी नाटक के मंच पर एक अभिनय-मात्र है। नाट्यशाला के स्टेज पर अभिनयकर्ता कभी शासन-संचालक राजा बनता है, कभी दीनता प्रदर्शित करने वाला भिखारी बनता है, कभी वह मोटी तोंद वाला धनाढ्य सेठ बनता है तो कभी उसके आश्रित नौकर बनता है। कभी तत्त्ववेत्ता का स्वांग रचता है तो कभी मूर्ख या विदूषक का पार्ट अदा करता है। परन्तु इन सबका अभिनय करने वाला समझता है कि यह सब तो अल्पक्षणों का प्रदर्शन है। मुझे दिशानिर्देशक के निर्देशानुसार ही ये विविध पार्ट अदा करने पड़ते हैं। इसी प्रकार भेदविज्ञान की दृष्टि वाला निश्चयसम्यग्दर्शनी आत्मानुभूति-जन्य प्रतीति के कारण सोचता है कि मैं भी संसाररूपी नाट्यशाला के रंगमंच पर कर्म-परवश होकर नाना पार्ट अदा कर रहा हूँ। वास्तव में से सब अभिनय क्षणिक हैं, मेरे असली रूप नहीं हैं। उसे यह निश्चित भान रहता है कि कर्मपरवश होकर मुझे ये सब अभिनय करने पड़ते हैं, मेरा स्वभाव या असली व्यक्तित्व इन सबसे भिन्न है। शरीर और मन से सम्बन्धित ये सब बाह्य पर्याय कर्मजनित हैं, अपने (आत्मा) से भिन्न हैं। इन सबके प्रति उसे अन्तर् से ममत्व नहीं होता।

निष्कर्ष यह है कि जिसे आत्मा के शुद्ध स्वरूप की प्रतीति, अनुभूति या रुचि सुदृढ़ हो जाती है, वह पर पदार्थों पर रागादि नहीं करता, इन्द्रियों के भौतिक विषय-सुखों में लुब्ध नहीं होता, उसे मनोऽनुकूल या प्रतिकूल वस्तुओं या परिस्थिति के प्रति राग-द्वेष, मोह, घृणा, आदि नहीं होती। इसीलिए जिन सूत्र में कहा गया है—

"अप्पा अप्पम्मि रओ, समाइट्ठी हवइ फुडुजीवो।"

आत्मा का शुद्ध आत्मा में रत—लीन होना ही जीव का स्पष्टतः (निश्चय) सम्यग्दृष्टि हो जाना है। अतएव निश्चयसम्यग्दर्शन जिसमें आ जाता है, वह पर-पदार्थों के प्रति रुचि का त्याग करके, उसकी अपनी आत्मा में रुचि दृढ़ हो जाती है। आत्मतत्व को ही वह उपादेय मानता है। आत्मा के निज गुणों और शक्तियों पर उसका विश्वास सुदृढ़ हो जाता है। यही क् सम्यश्रद्धा का निश्चय स्वरूप है। ○

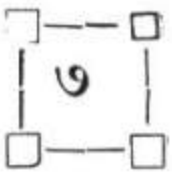

सुरक्षा : सम्यक्श्रद्धा की

सम्यक्श्रद्धा की सुरक्षा क्यों ?

सामान्य मानव शरीर को ही सबसे अधिक मूल्यवान समझता है। एक ओर धन, साधन या अन्य अभीष्ट पदार्थ नष्ट हो रहे हों, और दूसरी ओर शरीर नष्ट होने जा रहा हो तो मनुष्य धन आदि साधनों को गौण समझ कर सर्वप्रथम अपने शरीर की ही रक्षा करेगा। शरीर पर रोग, आतंक और विपत्ति आ पड़ने पर चाहे लाखों रुपये खर्च हो जाएँ, चाहे निकृष्ट कोटि के व्यक्तियों के आगे हाथ जोड़ना, गिड़गिड़ाना और उन्हें मनाना पड़े तो भी सामान्य व्यक्ति वैसा करके शरीर को बचाना चाहेगा। शरीर को सर्दी, गर्मी, धूप, वर्षा, रोग, कष्ट आदि से बचाने के लिए मनुष्य अनेक प्रकार से जतन करता है, वस्त्र, मकान, तथा अन्य अनेकों साधन अपनाता है। यहाँ तक कि इस शरीर की रक्षा के लिए अगर अपना परिवार, ग्राम, नगर और देश भी छोड़ना पड़े तो मनुष्य नहीं हिचकिचाता। ऐसा क्यों ? क्योकि शरीर को वह सबसे अधिक मूल्यवान समझता है। रेडियम धातु, हीरा, रत्न, मोती आदि अथवा अणु-परमाणु आदि संसार के सर्वाधिक मूल्यवान पदार्थ हैं, परन्तु मनुष्य उनसे भी अधिक मूल्यवान अपने शरीर को समझता है। मनुष्य ही क्यों, छोटे-से छोटा क्षुद्रकाय कीट भी अपने शरीर की रक्षा के लिए हर सम्भव प्रयत्न करता है, फिर द्वीन्द्रिय, त्रीन्द्रिय, चतुरिन्द्रिय और पंचेन्द्रिय प्राणियों का तो कहना ही क्या ? वे भी अपनी शरीर-रक्षा के लिए स्थानान्तर करना पड़े, सुदूर भ्रमण करना पड़े तो करते हैं।

एक सामान्य मानव से लेकर उच्च कोटि के साधक तक भी शरीर

रक्षा के लिए प्रयत्न करते देखे जाते हैं। यह अवश्य है कि उच्चकोटि के साधक शरीर पर ममता या आसक्ति रखकर शरीर-रक्षा नहीं करते, किन्तु इस शरीर से धर्म-पालन के लिए अथवा मोक्षमार्गरूप रत्नत्रय की साधना के लिए शरीररक्षा करते हैं।

जो भी हो, जिस प्रकार मानव-शरीर को बहुमूल्य एवं देवदुर्लभ समझकर उसकी सुरक्षा की जाती है। वह नष्ट न हो जाए, अथवा उसको कोई संकट में न डाल दे, इसकी सावधानी और चौकसी रखी जाती है। किन्तु मानव-शरीर से भी बढ़कर मूल्यवान आत्मा को अक्षय-असीम सुख के हिमाचल तक पहुँचाने वाली सम्यक्श्रद्धा (सम्यग्दर्शन) है। मानव-शरीर की सुरक्षा करने का उद्यम करने पर भी जब आयुष्य की डोरी टूट जाती है, तो सुरक्षा का कोई भी उपाय काम नहीं देता, जबकि आत्मा शाश्वत है, आत्मा को परमात्मा बनाने वाला सम्यग्दर्शन अतीव दुर्लभतम और महामूल्यवान है। उसकी सुरक्षा करना अत्यन्त आवश्यक है। अतः मुमुक्षु मानव को मोक्षमार्ग को प्रकाशित करनेवाले मोक्षपथप्रदर्शक सम्यग्-दर्शनरूपो महामूल्यवान आध्यात्मिक रत्न की सुरक्षा करने का सर्वाधिक प्रयत्न करना चाहिए। अन्यथा, एक बार सम्यग्दर्शनरूपी रत्न प्राप्त होने पर असावधानी या लापरवाही रखी गई तो सम्यक्त्वरत्न हाथ से चला जाएगा, फिर वापस मिलना अतीव दुर्लभ है। 'सद्धा परम दुल्लहा' के प्रकरण में हम सम्यक्श्रद्धा की दुर्लभता का विस्तृत विवेचन कर चुके हैं। अतिदुर्लभ एवं अतिदुष्प्राप्य सम्यक्श्रद्धा भी यदि सुरक्षित न रही, वह हाथ से चली गई तो फिर पश्चात्ताप के सिवाय और कुछ भी नहीं मिलेगा।

सम्यक्श्रद्धा की सुरक्षा किन-किन से ?

प्रश्न होता है, सम्यक्श्रद्धा की सुरक्षा किन-किन बाधक बातों से होनी चाहिए ? इसका समाधान यह है कि सम्यक्श्रद्धा की सुरक्षा के लिए मुख्यतया निम्नोक्त बातों से बचकर चलना चाहिए—

(१) मिथ्यात्व तथा इसके भेद—प्रभेदों से (२) मिथ्यात्व के अन्त-रंग—बहिरंग कारणों से, (३) पांच अतिचारों से, (४) आठ प्रकार के मदों से, (५) सब प्रकार की मूढताओं से, (६) महारम्भ, महापरिग्रह से, (७) पंचेन्द्रिय विषयों के प्रति तीव्र राग, मोह एवं घृणा से, (८) परभावों के प्रति अस्पष्ट तथा अयथार्थ दृष्टि एवं आसक्ति से, और (९) छह अना-*यतनों से।*

इनसे क्यों और कैसे सम्यग्दर्शन को बचाना चाहिए ? इसके विषय में अब हम क्रमशः संक्षिप्त झांकी दे रहे हैं—

१—मिथ्यात्व और इसके भेद प्रभेदों से बचो !

मिथ्यात्व से बचो—सम्यक्श्रद्धा की सुरक्षा के लिए सर्वप्रथम मिथ्यात्व का त्याग करना आवश्यक है। जिस प्रकार प्रकाश के लिए अंधकार को दूर करना जरूरी है, उसी प्रकार सम्यग्दर्शन के प्रकाश के लिए मिथ्यात्व के अन्धकार को दूर करना जरूरी है। मिथ्यात्व जब तक रहेगा तब तक सम्यक्त्व, सम्यग्दर्शन का सम्यक्श्रद्धा यथार्थ रूप में जीवन में नहीं आ सकेंगे। मिथ्यात्व के कारण व्यक्ति की बुद्धि, दृष्टि, श्रद्धा, रुचि और प्रतीति सभी विपरीत हो जाती हैं। जैसे पिपासा से आकुल मृग भ्रान्तिवश मृगमरीचिका को पानी से भरी समझकर उसकी ओर बेतहाशा दौड़ता है, वैसे ही मिथ्यात्वग्रस्त व्यक्ति भ्रान्तिवश आपातरमणीय क्षणिक विषय-सुखों में सुख समझकर विषय-सुखों की पिपासा से व्याकुल होकर उनको पाने के लिए अहिंसा, सत्य आदि स्वाभाविक गुणों को ताक में रखकर दौड़ लगाता है। पर मिलते हैं—दुःख, चिन्ता, शोक, ईर्ष्या, अशान्ति आदि। मिथ्यात्व से मूढ़ बना हुआ व्यक्ति कुदेव, कुगुरु और कुधर्म के चक्कर में पड़ जाता है, जीव आदि तत्वों को अतत्त्व और अतत्त्वों को तत्त्व समझता है, फलतः वह जन्म-मरण-रूप संसार में परिभ्रमण करता रहता है। मिथ्यात्वग्रस्त व्यक्ति लम्बे-चौड़े क्रियाकाण्ड, अनुष्ठान, दीर्घकालीन एवं कष्टकारक तप करता है, परन्तु उनके पीछे दृष्टि सम्यक् न होने तथा सम्यक्ज्ञान न होने से वे तप, तथा वे क्रियाकाण्ड आदि सब उसे कर्मों से मुक्त करने वाले न होकर संसार-परिभ्रमण के कारण बनते हैं। इसीलिए भक्त-परिज्ञा प्रकीर्णक में कहा गया है कि जीव (आत्मा) को मिथ्यात्व जितना अहित एवं तीव्र महादोष से दूषित करता है, उतना बिगाड़ या अहित काला सर्प, आग या विष भी नहीं करते।[1] मिथ्यादृष्टि यथार्थरूप से वस्तु के स्वरूप को नहीं समझ पाता, उसकी दृष्टि सम्यक् न होने के कारण वह दुःख, कष्ट या विपत्ति के समय आकुल-व्याकुल हो जाता है, और सुख में अहंकार से उन्मत्त, हर्षाविष्ट। इन दोनों ही स्थितियों में

---

१ 'न वि तं करेइ अग्गी, ने अ विसं किण्हसप्पो वा।
जं कुणइ महादोसं, तिव्वं जीवस्स मिच्छत्तं ॥"

—भक्तपरिज्ञा प्रकीर्णक गा. ६१

वह क्रमशः द्वेष और राग से लिप्त हो जाता है, जिससे अशुभास्रव और अशुभकर्मों का बन्ध हो जाता है, जबकि सम्यग्दृष्टि सम्यक्श्रद्धा (सम्यग्-दर्शन) के दिव्य प्रकाश में बाह्य दुःखों के बीच भी आन्तरिक सुखानुभूति करता है, और बाह्य सुख के समय भी वह स्वस्थचित्त एवं सावधान होकर रहता है, वह विषय-सुखों में आसक्त एवं लुब्ध नहीं होता। वह सुख और दुःख दोनों में राग-द्वेष से दूर रहकर समभाव में स्थित रहता है। मिथ्या-दृष्टि नरक-तिर्यञ्च आदि के भयंकर दुःखों, प्रतिकूल परिस्थितियों एवं विपत्तियों के समय व्याकुल होकर समभाव से विचलित होकर अपना पतन करता ही है, सुख-समृद्धि के समय भी वह उन सुख-भोगों में लुब्ध आसक्त होकर अपना पतन कर लेता है। सम्यग्दृष्टि संवर और निर्जरा तत्व का ज्ञाता एवं आत्मद्रष्टा होने से न तो भयंकर दुःखों के समय समभाव से विचलित होता है और अतीव सुख-समृद्धि के समय संवर और निर्जरा करने से चूकता है। इसीलिए मिथ्यात्व को महान्धकार कहा है। तथा सूत्रकृतांग सूत्र में बताया है कि मिथ्यात्वी अनार्य जीव तीव्र मिथ्यात्वज्वर से ग्रस्त होकर संसार में परिभ्रमण करते हैं। मिथ्यात्व जन्म-मरण के अनन्त दुःखों की परम्परा को बढ़ाता है। मिथ्यात्वतिमिर के कारण जीव अनन्तानुबन्धी (तीव्रतम) क्रोध, मान, माया और लोभ, तथा सम्यक्त्व-मिथ्यात्व, मिश्र मोहनीय; इन सात प्रकार की ज्वालाओं से जलता रहता है, मिथ्यात्वी के जीवन में कभी मानसिक सुख-शांति नहीं रहती। वह इन सप्तज्वालाओं के कारण नाना दुःख और कष्ट पाता है।

मिथ्यात्व का स्वरूप— सामान्यतः जैनागमों में अज्ञान और विपरीत बुद्धि अथवा विपरीत श्रद्धा के लिए मिथ्यात्व शब्द प्रयुक्त हुआ है। जिस प्रकार मद्य पीने से मनुष्य की बुद्धि भ्रान्त और मूढ़ हो जाती है, उसी प्रकार मिथ्यात्वमोह कर्म के उदय से वह आत्मीय एवं श्रद्धेय तत्वों को अनात्मीय एवं अश्रद्धेय समझता है, संवर-निर्जरारूप धर्म या सम्यग्ज्ञान-दर्शन-चारित्ररूप धर्म को वह अधर्म समझता है या पित्तज्वरग्रस्त व्यक्ति की मधुर रस में अरुचि की तरह, मिथ्यात्वी धर्म में बिलकुल रुचि नहीं रखता। इसीलिए मिथ्यात्व का एक लक्षण तो यह दिया गया है कि जो तत्व, तथ्य या पदार्थ जैसा हो, उसे वैसा न मानना, विपरीत मानना मिथ्यात्व है।[1] दूसरा लक्षण योगशास्त्र में दिया गया है—'कुदेव को देव

---

१ स्थानांग सूत्र (टीका) स्थान १० सू. ७३४

मानने की जो बुद्धि है, तथा कुगुरु को सद्गुरु मानने की और कुधर्म या अधर्मतत्व को सद्धर्म तत्त्व मानने की जो विपरीत बुद्धि है, वह मिथ्यात्व है।'[1]

मिथ्यात्व के ये दोनों व्यावहारिक लक्षण हैं। तात्त्विक दृष्टि से कर्मग्रन्थ में मिथ्यात्व का स्वरूप इस प्रकार बताया गया है—मिथ्यात्व-मोहनीय के उदय से जीव के स्वभाव से विपरीत श्रद्धान रूप परिणाम को अथवा तीव्रतम कषायवृत्ति और इष्ट-अनिष्ट विषयों के प्रति मोहवश तीव्र राग-द्वेष भाव को मिथ्यात्व कहते हैं।

मिथ्यात्व के दस रूप—व्यावहारिक दृष्टि से मिथ्यात्व के दस रूपों का उल्लेख स्थानांगसूत्र में इस प्रकार है—

(१) अधर्म में धर्मसंज्ञा, (२) धर्म में अधर्मसंज्ञा, (३) (मोक्ष) मार्ग में कुमार्ग-संज्ञा, (४) कुमार्ग (संसार के मार्ग) में मार्गसंज्ञा, (५) जीव में अजीव-संज्ञा, (६) अजीव में जीव-संज्ञा, (७) सुसाधु में असाधु-संज्ञा, (८) असाधु में सुसाधु-संज्ञा, (९) (आठ कर्मों से) मुक्त में अमुक्त संज्ञा और (१०) अमुक्त में मुक्त-संज्ञा।[2]

संज्ञा शब्द यहाँ मानने, समझने, कहने तथा आस्था करने एवं तथा-रूप बुद्धि होने आदि अर्थों में प्रयुक्त किया गया है।

मिथ्यात्व के अन्य रूप—इसी प्रकार जीव, अजीव आदि नौ तत्वों को विपरीत रूप से समझना, यथार्थरूप में न मानना अथवा इनका अस्वी-कार करना, आत्मा, लोक, कर्म (शुभाशुभ) और क्रिया (शुद्ध-अशुद्ध अथवा शुभाशुभ आचरण) पर आस्था न रखना, और यह कहना कि आत्मा नाम का कोई अन्य पदार्थ नहीं है, पंचभौतिक शरीर ही आत्मा है, स्वर्ग, नरक आदि लोक नहीं हैं, शुभ (पुण्य) और अशुभ (पाप) कर्म भी नहीं है, तथा हिंसा-अहिंसा, सत्य-असत्य, ब्रह्मचर्य-अब्रह्मचर्य आदि शुभाशुभ क्रियाएँ भी नहीं हैं[3] इन्द्रियों और मन पर संयम (नियन्त्रण) रखने का कोई लाभ नहीं है, इन्हें खुला छोड़ दो, स्वेच्छाचरण—स्वच्छन्दाचरण से जीव सुख पाता

---

१ अदेवे देवबुद्धिर्या, गुरुधीरगुरौ च या।
अधर्मे धर्मबुद्धिश्च, मिथ्यात्वं तद् विपर्ययात्॥

—योगशास्त्र प्र. २, श्लोक ३

२ स्थानांगसूत्र स्थान १०, उ. १, सू. ७३४

३ आचारांग श्रु. १

है, इत्यादि आस्थाहीनताएँ या नास्तिकताएँ मिथ्यात्व के ही रूप हैं, जिन्हें जीव मोहकर्म से मूढ़ होकर अपनाता है। इसी सन्दर्भ में सूत्रकृतांग में कहा गया है—

लोक-अलोक, जीव-अजीव, धर्म-अधर्म, बन्ध-मोक्ष, पुण्य-पाप, आस्रव-संवर, वेदना-निर्जरा, क्रिया-अक्रिया, क्रोध-मान-माया-लोभ, राग-द्वेष, चतुर्गतिक संसार, देव-देवी, सिद्धि-असिद्धि, सिद्धों का स्व-स्थान, साधु-असाधु, कल्याण-पाप आदि नहीं हैं, ऐसी[1] संज्ञा (मान्यता या श्रद्धा) कदापि नहीं करना चाहिए, किन्तु निश्चय ही ऐसा मानना चाहिए कि लोक-अलोक से लेकर कल्याण-पाप आदि सबका अस्तित्व है। जो इन तत्वों के अस्तित्व को मानता है, वह सम्यग्दृष्टि है, और जो इनका नास्तित्व मानता है, वह मिथ्यादृष्टि है।

मिथ्यात्व के पच्चीस भेद– प्रकारान्तर से मिथ्यात्व के पच्चीस भेद आवश्यक सूत्र में वर्णित हैं। उनमें से स्थानांगसूत्र में प्रतिपादित दस भेदों का वर्णन इससे पूर्व किया जा चुका है। इनके उपरान्त स्थानांग-सूत्र में तात्विकदृष्टि से पाँच भेद और बताये गए हैं। वे इस प्रकार हैं—

(११) **आभिग्रहिक मिथ्यात्व**—मन और बुद्धि से विकसित यानी विचारशक्ति से विकसित चेतनाशील होने पर भी परम्परागत धारणाओं की समीक्षा किये बिना अपने मताभिनिवेश के कारण अतत्व में तत्वरूप श्रद्धा को अपनाना आभिग्रहिक या अभिगृहीत मिथ्यात्व कहलाता है। यह अभिगृहीत मिथ्यात्व इसलिए कहलाता है कि यह विचारजन्य या उपदेश-जन्य होता है। इसमें तत्व-विषयक यथार्थ श्रद्धान का अभाव होता है।

(१२) **अनाभिग्रहिक मिथ्यात्व**—जहाँ विचारदशा जागृत न हुई हो, अनादिकालीन दर्शनमोहनीय कर्म के आवरण के कारण सतत मूढ़दशा होती है, ऐसे निगोदवर्ती तथा असंज्ञी पंचेन्द्रिय तक के अविकसित जीवों द्रव्य-मन न होने से तत्व के श्रद्धान का अभाव यानी तत्व का अश्रद्धान अनाभिग्रहिक अथवा अनभिगृहीत मिथ्यात्व है जो उपदेशनिरपेक्ष—विचार-शून्य दशा में होता है। इन जीवों में केवल मूढदशा होने से न तो तत्त्व का श्रद्धान होता है, न अतत्व का श्रद्धान।

इन दोनों प्रकार के मिथ्यात्वों में अनभिगृहीत (या अनाभिग्रहिक) मिथ्यात्त्व अधिक भयंकर होता है, क्योंकि उसमें किसी प्रकार की विचार-दशा नहीं रहती। विचारशील प्राणी के लिए आभिग्रहिक मिथ्यात्व भयंकर

---

१ सूत्रकृतांग सूत्र श्रु. २ अ. ५ गा.१२ से १८

भले ही हो, उसमें विचार और विकास सीधी दशा में होने का अवकाश रहता है। पर अनाभिग्रहिक में तो यह अवकाश बिलकुल ही नहीं रहता। इन दोनों की तुलना क्रमशः तीव्र ज्वर और दीर्घकालस्थायी मन्द ज्वरसे की जा सकती है।

इन दोनों का अन्तर दूसरे प्रकार से भी बताया गया है। आभिग्रहिक मिथ्यात्व में शरीर, मन और इन्द्रिय आदि को आत्मा समझा जाता है, अर्थात्—वहाँ शरीर आदि में ही आत्म-बुद्धि होती है, जबकि अनाभिग्रहिक मिथ्यात्व में आत्मा को किसी भी रूप में आत्मा नहीं समझा जाता, अर्थात्--वहाँ शरीरादि के अतिरिक्त आत्मा का शुद्ध चैतन्य के रूप में भान ही नहीं रहता। अभिगृहीत मिथ्यात्व में कदाचित देहादि से भिन्न आत्मा की प्रतीति हो भी जाए तो भी वह या तो अणु या महत् के रूप में, अथवा एकान्त कर्ता या अकर्ता के रूप में होती है; अथवा एकान्त नित्य या अनित्य के रूप में स्वरूप विपर्यास होता है। बहुधा आभिग्रहिक मिथ्यात्वी आत्मा अपने देहादि के अध्यास में फंसी रहती है, उसे शुद्ध चैतन्य रूप आत्मा की प्रतीति नहीं होती।

(१३) **आभिनिवेशिक मिथ्यात्व**—वहाँ होता है, जहाँ सत्य जानते हुए भी उसे स्वीकार नहीं किया जाता, अपना असत्य मान्यता को अहंकारवश दृढ़तापूर्वक पकड़े रहा जाता है।

(१४) **सांशयिक मिथ्यात्व**—संशयशील बने रहकर सत्य का निर्णय न करना। सांशयिक दशा अनिर्णय की स्थिति है। सांशयिक मिथ्यात्वी लक्ष्योन्मुखता और लक्ष्यविमुखता के बीच की स्थिति में डोलता रहता है। ऐसा मिथ्यात्वी नैतिक दृष्टि से भी भ्रष्ट हो सकता है। जहाँ संशय, शंका या प्रश्न निर्णय करने के लिए या वस्तुतत्व को समझने के लिए किया जाता है, वहाँ सांशयिक मिथ्यात्व नहीं होता, बशर्ते कि वह जिज्ञासा, सरलता या लक्ष्याभिमुखता के साथ हो। किन्तु जो जीवादि तत्व सर्वज्ञ वीतराग-भाषित है एवं जिनके स्वरूप का प्ररूपण सर्वज्ञों ने किया है, उनके विषय में संशय करना कि जीवादि तत्व हैं या नहीं ? वहाँ सांशयिक मिथ्यात्व है।

(१५) **अनाभोगिक मिथ्यात्व**—बिना ही उपयोग के, सनक में आकर तत्त्व को तत्त्व भी कह देना, अतत्त्व भी। अहिंसा को कभी हिंसा कह देना, कभी अहिंसा, इत्यादि प्रकार की उपयोगशून्यता जहाँ होती है, वहां अनाभोगिक मिथ्यात्व होता है।

इनसे आगे के १६ से लेकर २५ तक के मिथ्यात्व इस प्रकार हैं—

(१६) **लौकिक मिथ्यात्व**—अपने सम्यक्त्व और व्रतों का विचार किए बिना ही लौकिक कुरूढ़ियों में फँसे रहना लौकिक मिथ्यात्व है। जैसे नदी की बाढ़ को रोकने के लिए कुत्ते आदि को, सन्तानादि के लिए बकरे आदि की बलि देना, अमुक नदी में स्नान करने से पाप मुक्त होने की मान्यता आदि लोकरूढ़ि सम्यक्त्व तथा अहिंसा व्रत की घातक होने से लौकिक मिथ्यात्व है।

(१७) **लोकोत्तर मिथ्यात्व**—पारलौकिक उपलब्धियों या स्वर्गादि प्राप्ति के लिए या प्रसिद्धि, प्रशंसा या प्रतिष्ठा आदि के लिए धर्म की साधना करना लोकोत्तर मिथ्यात्व है।

(१८) **कुप्रावचनिक मिथ्यात्व**—मिथ्या दार्शनिक विचारणाओं को मानना, उन पर श्रद्धा करना।

(१९) **न्यून मिथ्यात्व**—पूर्ण सत्य या तत्त्व-स्वरूप को आंशिक सत्य या न्यून समझना।

(२०) **अधिक मिथ्यात्व**—वहां होता है, जहां आंशिक सत्य को उससे अधिक सत्यरूप या पूर्ण सत्य समझा जाता है।

(२१) **विपरीत मिथ्यात्व**—वस्तुतत्व को उसके स्वरूप में ग्रहण न करके, उससे विपरीत रूप में ग्रहण करना, या समझना विपरीत मिथ्यात्व है। जैसे—द्रव्यार्थिकनय से आत्मा नित्य है, किन्तु पर्यायार्थिकनय से भी आत्मा को नित्य मानना विपरीतमिथ्यात्व है। विपरीत दृष्टि वाला तथ्य या तत्त्व को अतथ्य या अतत्व समझता है।

(२२) **अक्रिया मिथ्यात्व**—आत्मा (जीव) को एकान्तरूप से अक्रिय मानना; अथवा सिर्फ ज्ञान को महत्व देना क्रिया (चारित्र) के प्रति उपेक्षा करना।

(२३) **अज्ञान मिथ्यात्व**—शुभाशुभ, तत्त्व-अतत्त्व, हित-अहित, कर्तव्य-अकर्तव्य एवं धर्म-अधर्म का ज्ञान या विवेक करने की क्षमता का अभाव अज्ञान मिथ्यात्व है। संशय, विपरीत, गृहीत एवं एकान्त मिथ्यात्व से अज्ञान-मिथ्यात्व भिन्न है। संशय आदि मिथ्यात्वों में ज्ञान तो है, पर वह अयथार्थ है, जबकि अज्ञान मिथ्यात्व में अपेक्षित ज्ञान या विवेक का अभाव होता है। अज्ञानमिथ्यात्वी को अपने लक्ष्य, हित, धर्म और कर्तव्य आदि का भान नहीं होता। वह मूढ़दृष्टि होता है। वह वीत-राग देव को रागयुक्त, अपरिग्रही साधु को परिग्रही एवं अहिंसादि युक्त धर्म को हिंसादियुक्त मानता है।

(२४) **अविनय मिथ्यात्व है**—देव, गुरु आदि पूज्य वर्ग के प्रति या

सद्धर्म एवं जिनोक्त तत्त्वों के प्रति समुचित सम्मान प्रगट न करना, उनकी अवज्ञा करना, उनकी आज्ञाओं का पालन न करना।

(१५) आशातना मिथ्यात्व—पूज्यवर्ग की निन्दा-चुगली करना, उनका अपमान-तिरस्कार करना, उनसे द्वेष या वैर-विरोध करना, उन्हें सताना, बदनाम करना, या नीचा दिखाना आशातना मिथ्यात्व है।

अविनय और आशातना को मिथ्यात्व इसलिए कहा गया है कि इससे व्यक्ति देव, गुरु और सद्धर्म से, पूज्यजनों से मिलने वाले यथार्थ बोध (सम्यग्दर्शन) से वंचित हो जाता है।

उत्पत्ति की दृष्टि से दो प्रकार

जैनाचार्य पूज्यपाद ने[1] उत्पत्ति की दृष्टि से मिथ्यात्व के दो प्रकार बताए हैं--अर्जित मिथ्यात्व और अनर्जित मिथ्यात्व। इन्हें क्रमशः परोपदिष्ट और नैसर्गिक भी कह सकते हैं। अनर्जित मिथ्यात्व तो मिथ्यात्वमोहनीय कर्म के उदय से होता है, जबकि अर्जित मिथ्यात्व मिथ्याधारणा या मिथ्यामान्यता वाले लोगों के उपदेश या तर्कयुक्ति से स्वीकार किया जाता है। अर्जित मिथ्यात्व के ही मुख्य चार भेदों का निरूपण नन्दीसूत्र, सूत्रकृतांग आदि में मिलता है। ये एकांतमतवादी मिथ्यात्वी कहलाते हैं। इनके मुख्यतः चार भेद ये हैं—(१) क्रियावादी, (२) अक्रियावादी, (३) विनयवादी और (४) अज्ञानवादी। इन चारों में एकांतरूप से अपने वाद का आग्रह है, इसलिए इन चारों को मिथ्यात्व कहा गया है। सूत्रकृतांग में क्रियावादी के १८०, अक्रियावादी के ८४, विनयवादी के ३२ और अज्ञानवादी के ६७ भेद बताए गए हैं।[2]

क्रियावाद इसलिए मिथ्यात्व है कि वह एकान्तरूप से कहता है—जीवादि नौ तत्त्व हैं ही, पर की अपेक्षा से नहीं भी हैं, ऐसा नहीं मानता। ऐसा एकान्त मानने से जीवादि पदार्थ एक हो जाते हैं, यह मिथ्यात्व है। अक्रियावाद कहता है—जीवादि पदार्थ सर्वथा नहीं है। इस प्रकार एकान्त रूप से जीवादि का निषेध करना मिथ्यात्व है। विनयवादी गधे से लेकर गाय तक, चाण्डाल से लेकर ब्राह्मण, साधु आदि को तथा सभी प्राणियों को एकान्तरूप से एकमात्र विनय करना—नमन करना ही धर्म और मोक्ष

---

१ तत्वार्थ सर्वार्थसिद्धि टीका।

२ विशेष विवेचन के लिए देखिए—नन्दीसूत्र, सूत्रकृतांगसूत्र आदि आगम।

का कारण मानते हैं और अज्ञानवादी अज्ञान को ही एकान्ततः कल्याण-कर मानते हैं, वे ज्ञान के सर्वथा विरोधी हैं।

इस प्रकार मिथ्यात्व के इन सभी भेदों के स्वरूप को ज्ञ-परिज्ञा से जानकर | प्रत्याख्यान-परिज्ञा | से इनका त्याग करना सम्यक्श्रद्धा की सुरक्षा के लिए सर्वप्रथम अनिवार्य है।

(२) मिथ्यात्व के अन्तरंग-बहिरंग कारणों से बचो

सम्यक्श्रद्धा के लिए मिथ्यात्व से बचना, जितना आवश्यक है उतना ही आवश्यक है—मिथ्यात्व के अन्तरंग व बहिरंग कारणों से बचना। मिथ्यात्व में प्रवृत्त होने के पूर्वोक्त दो बाह्य कारण बताए गये हैं। मिथ्यात्व के अन्तरंग कारण मुख्यतया ७ हैं—अनन्तानुबन्धी क्रोध, मान, माया और लोभ तथा सम्यक्त्वमोहनीय, मिथ्यात्वमोहनीय और मिश्रमोहनीय। इन सातों कर्म प्रकृतियों से बचना आवश्यक है। इन सातों को सात प्रकार की ज्वाला (सप्तार्चि) कहा जाता है। ये सम्यग्दर्शन (सम्यक्श्रद्धा) को जला डालती हैं। जिस प्रकार पाला पड़ने से हरी-भरी फसल जल जाती है या सूख जाती है, उसी प्रकार मिथ्यात्व के इन अन्तरंग तीव्रतम कषाय का पाला पड़ने से तथा तीव्र मोह के उदय से सम्यग्दर्शन सूख जाता है, नष्ट हो जाता है। अज्ञात मन में ये तीव्रतम कषाय एवं मोह के संस्कार जमा हों तो आत्म-संकेत (ओटो-सजेशन), प्रभु प्रार्थना, तीव्रतम भक्ति, देव-गुरु-धर्म पर तथा जिनोक्त तत्वों पर तीव्रतम श्रद्धा आदि से इन्हें निकाल देना चाहिए। अन्यथा इनके अस्तित्व से जन्म-जन्मान्तर तक मिथ्यात्व कष्ट देता रहता है। वैसे देखा जाए तो मिथ्यात्व के मुख्य कारण दो हैं—अज्ञान एवं मोह। ये दोनों ही मिलकर १८ पापस्थानों की वृद्धि करते हैं। मनुष्य मे हिताहित, कर्तव्य-अकर्तव्य, श्रेय-अश्रेय, धर्म-अधर्म आदि का विवेक नहीं होने देते। इसीलिए १८ पाप-स्थानों में सबसे बड़ा पापस्थान मिथ्यादर्शन-शल्य को माना गया है। इसके प्रभाव से जीव निगोद में जाता है, जहाँ दीर्घ काल तक अनेक क्षुद्रभव (जन्म-मरण) करने पड़ते हैं।

बहिरंग कारणों में पांच अतिचार, आठ प्रकार के मद, सब प्रकार की मूढ़ताएँ आदि हैं। सम्यक्त्व की सुरक्षा के लिए इनसे बचना भी अति आवश्यक है।

(३) सम्यक्त्व की सुरक्षा पांच अतिचारों से करो

सम्यक्श्रद्धा की सुरक्षा के लिए शास्त्र में वर्णित सम्यक्त्व के पांच अतिचारों से बचना आवश्यक है। अतिचार उस दोष को कहते हैं, जिसमें सम्यग्दृष्टि को ऐसा भ्रम रहता है कि इतनी-सी शंका आदि या किसी मिथ्यात्वी से संसर्ग कर लिया तो कैसे दोष हो जाएगा ? जिनोक्त तत्वों या देव-गुरु-धर्म के स्वरूप के प्रति शंका, संदेह या उपेक्षा प्रकट करना शंका है। अथवा जीव आदि तत्व जिनेन्द्रों ने बताए तो हैं, पर वे हैं या नहीं ?

कांक्षा—दोष वह है जिसमें धर्म, अथवा देव-गुरु की आराधना से सांसारिक या भौतिक फलाकांक्षा करना। अथवा अन्य तैर्थिक व्यक्तियों के आडम्बर-चमत्कार आदि को देखकर उधर झुक जाना या उसमें फंस जाना अथवा धर्म या धर्मदेवों, देवाधिदेवों से चमत्कार या आडम्बर की इच्छा करना।

विचिकित्सा का अर्थ है—धर्माचरणादि के फल में सन्देह प्रकट करना। जैसे—अरहन्त प्रभु की अथवा धर्म की आराधना तो कर रहा हूँ, परन्तु इसका फल मिलेगा या नहीं, इस प्रकार का संदेह होना।

मिथ्यादृष्टिप्रशंसा—मिथ्यादर्शन, अथवा मिथ्यात्वी की प्रशंसा करना, उसे सार्वजनिक प्रतिष्ठा देना, मिथ्यात्वग्रस्त धर्मों, धर्मगुरुओं एवं देवी-देवों की अपने आर्थिक या अन्य किसी सांसारिक स्वार्थ के लिए पूजा-प्रतिष्ठा करना, अथवा जो मिथ्यादर्शन से ओतप्रोत है, उसे वन्दना, सत्कार-सम्मान करना।

मिथ्या दृष्टि-संस्तव—का लक्षण है, जो लोग मिथ्यात्व से ग्रस्त हैं, वे चाहे अर्थ और सत्ता की दृष्टि से कितने ही महान् हों, चाहे अद्भुत चमत्कारी हों, जादूगर हों, अनेक विद्याओं, भाषाओं, कलाओं के जानकार हों, परन्तु उनके जीवन में घोर नास्तिकता हो, वे महाहिंसादि पापाचरण में रत हों, भोगी-विलासी हों, उनकी स्तुति करना, उनसे अत्यधिक साठ-गांठ मेलजोल या संसर्ग करना। सम्यक्श्रद्धा के लिए यह अतीव घातक है। कहावत है—"संसर्गजा दोष गुणा भवन्ति।" सामान्यतया जिज्ञासु बुद्धि से या हितोपदेश या प्रेरणा लेने के लिए पापी से पापी व्यक्ति भी आए तो उससे सम्पर्क करना, उसको सुधारने की दृष्टि से परिचय करना मिथ्यादृष्टि-संस्तव नहीं है। सम्यक्श्रद्धा को रक्षा के लिए इन शंकादि पांच अतिचारों से बचना नितान्त आवश्यक है।

(४) आठ प्रकार के मदों से बचो

सम्यक् श्रद्धा की सुरक्षा के लिए आठ प्रकार के मदों (अहंकारों) से बचना भी आवश्यक है। ये मद अहंकार को बढ़ाकर मनुष्य को हिंसादि पापों में प्रवृत्त करने के कारण बन जाते हैं। मद से ग्रस्त व्यक्ति सत्य (सम्यक् वस्तु स्वरूप) को समझ नहीं पाता। वह अहंग्रस्त होकर अपने में किसी भी मद को स्थान देता है तो वह अपनी सम्यक् श्रद्धा को लांछित, दूषित या कलंकित करता है। आठ मद इस प्रकार हैं—

(१-२) **जातिमद और कुलमद**—सम्यक्त्वी यदि अपने जाति और कुल का मद (गर्व) करता है तो शाश्वत आत्मा का पुजारी न होकर अनित्य नाशवान शरीर का पुजारी होता है। सम्यक्त्व का जाति और कुल से कोई सम्बन्ध नहीं है। किसी भी जाति या कुल का व्यक्ति सम्यग्-दृष्टि, धर्मात्मा, साधु या साध्वी बन सकता है, रत्नत्रयसाधना करके मोक्ष प्राप्त कर सकता है। सम्यग्दृष्टिसम्पन्न चाण्डाल भी देवों का पूज्य हो सकता है। इसलिए जाति-कुल का अहंकार अपने धार्मिकों के अपमान का कारण बनता है। जाति आदि आठ मदों से ग्रस्त नीचगोत्र का बन्ध कर लेता है। ऐसा मदग्रस्त व्यक्ति जैन सिद्धान्त के प्रति अनास्थावान एवं अज्ञ होता है। अतः सम्यक्त्व की सुरक्षा के लिए इन दोनों मदों का त्याग आवश्यक है।

(३) **बलमद**—सम्यक् श्रद्धावान् के लिए शक्ति का अहंकार भी घातक है। सिंह, असुर, बर्बर आदि हिंस्र प्राणी मनुष्य से बल में बढ़कर हैं। उनके बल के आगे मनुष्य का बल टिक नहीं सकता। धन, बुद्धि आदि का बल भी अहंकारवश दूसरों को ठगने, अन्याय-अत्याचार हिंसा आदि घोर पापकर्म करने में प्रायः लगता है। शक्ति का दुरुपयोग करने वाला सम्यग्दृष्टि अपने ही पैरों पर कुल्हाड़ी मारता है। अपनी आत्म-शक्ति के प्रति उसकी श्रद्धा खत्म हो जाती है, प्रायः वह आत्मविकास को भी खो बैठता है। अतः बलमद से भी सम्यग्दृष्टि को बचना चाहिए।

(४) **रूपमद**—सम्यक्त्व के लिए बाधक बनता है। रूप का गर्व मनुष्य को आसक्ति, मोह, विषयवासना की ओर भटकाता है, वह अनेक जन्मों तक संसार-परिभ्रमण करता रहता है। फिर रूप तो नश्वर है, अस्थिर है, उसका गर्व कैसा? सम्यग्दृष्टि सदैव रूपमद से दूर रहता है, उसकी दृष्टि सदैव आत्मिक सौन्दर्य पर टिकी रहती है।

(५) **तपोमद**—तप का गर्व भी मनुष्य को नीचे गिराता है। केवल

बाह्य तपस्या करके व्यक्ति लम्बे-चौड़े उपवास करके अपनी प्रशंसा और प्रसिद्धि सुनता है तो गर्व से फूल जाता है, ऐसा करके सम्यग्दृष्टि तपस्या से जो निर्जरा का लाभ आत्मा को मिल सकता था, उसके बदले वह तप को शुभ कार्य (पुण्य) बन्ध का कारण बनाकर अहंकारवश निकृष्ट और तामस कोटि का बना डालता है। अतः सम्यग्दृष्टि के लिए तपोमद सम्यक्श्रद्धा में बाधक है, तप को दूषित करने वाला है।

(६) **लाभमद**—धन, समृद्धि या वैभव के (भौतिक) लाभ का गर्व भी सम्यग्दृष्टि के लिए घातक है, क्योंकि धन-वैभव आदि सभी भौतिक पदार्थ नाशवान् हैं। शास्त्र में बताया गया है कि ऋद्धि (धन-वैभव), रस और साता (सुखसामग्री) की प्राप्ति का गर्व (गौरव) आत्मा को अशुभ कर्म से भारी बनाने वाला है। सच्चा सम्यग्दृष्टि जानता है कि धन, सम्पत्ति, अभीष्ट पदार्थ या सुख सामग्री का लाभ गर्व करने पर पतन की खाई में डालने वाला है। गर्व और मोह (आसक्ति) का गठबन्धन है। इस दृष्टि से इन नाशवान पदार्थों के प्रति आसक्ति और मद आत्मा को कर्म बन्धनों में जकड़ने वाले हैं। अतः लाभ का मद भी सम्यग्दर्शन को दूषित और कलंकित करने वाला और मिथ्यात्व के प्रवाह में बहा ले जाने वाला होता है।

(७) **श्रुतमद या ज्ञानमद**—सम्यग्दृष्टि के लिए शास्त्रज्ञान या तत्वज्ञान का गर्व भी सम्यक्ज्ञान के विकास में बाधक है तथा विशिष्ट ज्ञानियों की आशातना (अवमानना) करने से ज्ञानावरणीयकर्मबन्ध का कारण है। सम्यग्दृष्टि को यह सोचना चाहिए कि सर्वज्ञों के ज्ञान के सामने छद्मस्थ—अल्पज्ञ का ज्ञान कितना नगण्य है, अल्प है ? उस बूंदभर ज्ञान का गर्व ही क्या ? अतः ज्ञान का मद सम्यग्दर्शन को मलिन बनाने वाला है।

(८) **ऐश्वर्यमद या सत्तामद**—सत्ता या ऐश्वर्य के मद में उन्मत होना सम्यग्दृष्टि के लिए पतन का कारण है। सत्ता या ऐश्वर्य (प्रभुता) का मद करके मनुष्य अपनी पूर्वकृत पुण्य की कमाई खोकर बदले में दूसरों पर हुकूमत जमाकर, गरीबों पर अन्याय-अत्याचार करके, नाना यंत्रणा देकर या अधीन (गुलाम) बनाकर पाप-कमाई करता है। सत्ता या प्रभुता पाकर नम्र बनने और दूसरों की (धर्म-संघ की, या दीन-दुःखियों की) निःस्वार्थ भाव से सेवा करने वाला व्यक्ति तप-संयम (संवर) एवं निर्जरा की या पुण्य की कमाई कर लेता है।

ये आठों ही मद सम्यग्दर्शन को दूषित एवं लांछित करते हैं, ये नाना कदाग्रह, दुराग्रह, क्लेश, कलह और युद्ध तक के जनक हैं। इनसे शुद्ध धर्म की हानि होती है। मदान्ध मनुष्य अपने शुद्ध देव-गुरु-धर्म के प्रति श्रद्धा को भी साम्प्रदायिक कट्टरता, और धर्मान्धता से दूषित कर देता है। तथा सम्यग्दर्शन से विमुख होकर वह देवभ्रम गुरुभ्रम, और धर्म-भ्रम को ही देव-गुरु-धर्म मानकर अहंकार का पोषण करता है, वह ऋजुता, मृदुता, क्षमा, विनय और पवित्रता (शौच) सत्य आदि धर्मों को तिलांजलि दे देता है।

(४) सब प्रकार की मूढ़ताओं से बचो

सम्यक्श्रद्धा की सुरक्षा के लिए मूढताओं का त्याग करना आवश्यक है। मूढताएँ मुख्यतया पाँच प्रकार की हैं—देवमूढता, गुरुमूढता, धर्ममूढता, शास्त्रमूढता (या तत्वमूढता) एवं लोकमूढता।

देवमूढ़ता—तब होती है, जब सम्यग्दृष्टि वीतराग देवों के बदले रागी-द्वेषी, हिंसापरायण तथा सांसारिक प्रपंचों में फँसे देवों को भी उनके समान मानता और श्रद्धा-अर्चा करता है, अथवा वीतराग देवों का सम्यक् स्वरूप न जानकर उन्हें भी शृंगारी, विलासी, शाप एवं आशीर्वाद देने वाला रागी-द्वेषीतुल्य देव मानता है। उनसे सन्तान, धन आदि सांसारिक स्वार्थों की पूर्ति की आशा रखता है।

गुरुमूढ़ता—निर्ग्रन्थ, निःस्पृह, त्यागी गुरुओं का स्वरूप न समझ कर भोगी-विलासी, आडम्बरी, प्रपंची, परिग्रही या चमत्कार दिखाने वाले तथाकथित गुरु को मानना देवमूढ़ता है।

धर्ममूढ़ता—अहिंसा, सत्य आदि विशाल व्यापक सद्धर्मों को मान कर अपने माने हुए सम्प्रदाय, मत, पंथ को ही धर्म मानता हो; वहाँ धर्म-मूढ़ता होती है। धर्ममूढ़ता के कारण हिंसा, द्वेष, हत्याकाण्ड, बलात्कार आगजनी आदि पाप पनपते हैं।

शास्त्रमूढ़ता—अहिंसा, क्षमा, तप, संयम आदि की प्रेरणा एवं मार्ग-दर्शन देने वाले वीतराग सर्वज्ञ प्ररूपित सुशास्त्रों के बदले हिंसाप्रेरक (पशुबलि, नरबलि आदि की प्रेरणा देने वाले) अज्ञानपूर्वक कष्ट को धर्म बताने वाले कुशास्त्रों को मानना, उनमें क्षुद्राशयों द्वारा लिखी युक्तिहीन, कुरूढ़िपरक असंगत सिद्धान्तविहीन बातों को सत्य समझना शास्त्रमूढ़ता कहलाती है।

लोकमूढ़ता—इसका क्षेत्र बहुत ही व्यापक है। किसी नदी में स्नान करने से, किसी पेड़ के चार चक्कर लगाने से, अमुक कुप्रथाओं को मानने से धर्म या पुण्य होता है। इस प्रकार की सैकड़ों लौकिक रूढ़ियों, परम्पराओं या प्रथाओं को, जिनसे अन्धविश्वास का पोषण होता है, हिंसा-असत्य को बढ़ावा मिलता है, व्रतों (अहिंसादि) और सम्यक्श्रद्धा को हानि पहुँचती है। अतः सम्यग्दृष्टि को सम्यक्श्रद्धा की सुरक्षा के लिए इन और ऐसी सभी मूढ़ताओं से बचना आवश्यक है।

(५) महारम्भ एवं महापरिग्रह से बचो

महारम्भ का अर्थ है—जिस प्रवृत्ति में अनाप-शनाप हिंसा हो, जीवों का अहित हो, उनके इन्द्रियादि दशविध प्राणों को हानि पहुँचती हो, ऐसी प्रवृत्तियाँ और महापरिग्रह का अर्थ है—अपने तथा परिवार के जीवन निर्वाह और गृहस्थाश्रम चलाने के लिए आवश्यक धन एवं साधनसामग्री के उपरांत प्रचुर धन, साधन एवं सामग्री का संग्रह करना, उनके प्रति आसक्ति, ममता और उनके अर्जन, रक्षण और वियोग की चिन्ता करना। सम्यग्दृष्टि के लिए आत्म-स्वभाव में रमण करना, आत्मा के लिए अहित-कर कर्मास्रवों और कर्मबन्धों से बचना जरूरी है। जब वह उक्त महारम्भ और महापरिग्रह की प्रवृत्ति करेगा तो स्वाभाविक है कि वह अपनी आत्मा के विकास, शुद्धि और स्वभाव-रमण से विमुख हो जाएगा। और यह भी सम्भव है कि महारम्भ-महापरिग्रह के पाप के प्रति रुचि तथा सद्धर्माचरण के प्रति उसकी अश्रद्धा और उपेक्षा हो जाए। अतः महारम्भ और महापरि-ग्रह व्यक्ति को मोहमद, तीव्रकषाय और विषयासक्ति की ओर घसीटकर उसके सम्यग्दर्शन और सम्यग्ज्ञान तथा सम्यक्चारित्र (आचरण) पर आवरण और विघ्न डाल देते हैं। इनके रहने से सम्यक्श्रद्धा का केवल कलेवर रह जाएगा, उसके प्राण उड़ जायेंगे। इसलिए सम्यक्श्रद्धा की सुरक्षा के लिए इन दोनों को उपशांत करने, घटाने या दूर करने का अभ्यास करना चाहिए।

(६) पंचेन्द्रिय-विषयों के प्रति तीव्र आसक्ति एवं घृणा से बचो

सम्यग्दृष्टि को पाँचों इन्द्रियों के मनोज्ञ विषयों के प्रति तीव्र राग, मोह, आसक्ति तथा अमनोज्ञ विषयों के प्रति द्वेष, घृणा आदि से दूर रहना चाहिए। शरीर, सांसारिक विषयभोगों, संसार के राग-रंग के प्रति या शरीर से सम्बन्धित सजीव निर्जीव पदार्थों के प्रति अधिकाधिक

आसक्ति, मोह-ममता या मूर्च्छा रखेगा तो वह अपने सम्यग्दर्शन से हाथ धो बैठेगा, उनकी सुरक्षा नहीं कर सकेगा। वह अपने को सम्यक्श्रद्धावान कहेगा, परन्तु आत्म-चिन्तन से विमुख होने से वास्तविक सम्यग्दृष्टि नहीं रहेगा।

(७) परभाव और स्वभाव के प्रति स्पष्ट दृष्टिवान हो

सम्यग्दृष्टि को आत्मप्रतीति या आत्म-स्वभाव के प्रति अधिकाधिक प्रवृत्त होना चाहिए। इसके लिए उसकी दृष्टि स्वभाव–परभाव के प्रति स्पष्ट होनी चाहिए, उसे स्व-समय-परसमय (स्वसिद्धान्त और पर-सिद्धान्त) का ज्ञाता होना चाहिए तथा तीव्र कषाय, काम, मोह, मद-मत्सर आदि विभावों से भी उसे विरक्ति होनी चाहिए। तभी वह परभावों, विभावों, परसिद्धान्तों को भलीभाँति समझकर उनसे दूर रह सकेगा और अपनी सम्यक्श्रद्धा को सुरक्षित रख सकेगा।

(८) छह अनायतनों से बचे

इसके अतिरिक्त सम्यग्दृष्टि को निम्नोक्त छह अनायतनों से बचना चाहिए, अन्यथा उनके संसर्ग से सम्यक्त्व सुरक्षित रहना कठिन है। वे छह अनायतन इस प्रकार हैं—(१) मिथ्यादर्शन, (२) मिथ्याज्ञान, (३) मिथ्याचारित्र, (४) मिथ्याज्ञानी, (५) मिथ्यादर्शनी और (६) मिथ्या-चारित्री।

किसी भी लौकिक या लोकोत्तर विधि-विधान, परम्परा, रीति-रिवाज अथवा प्रथा का पालन करने से पूर्व इन छह अनायतनों से दूर रहना आवश्यक है। जहां व्यक्ति के सम्यग्ज्ञान (सिद्धान्त) में बाधा पहुँचती हो, जहां उसकी सम्यक्श्रद्धा को आँच आती हो और जहां उसकी सम्यक्चारित्र (व्रत, नियम, त्याग, प्रत्याख्यान, वैराग्य, तप आदि) खण्डित या दूषित होता हो, उनके सेवन और संसर्ग से बचना अनिवार्य है। अतः सम्यग्दृष्टि के लिए उक्त छह अनायतनों से बचना आवश्यक है। अन्यथा, उसके सम्यक्त्व, व्रत, नियम, सिद्धान्त आदि की सुरक्षा होनी कठिन है। किन्हीं आचार्यों ने प्रकारान्तर से ६ अनायतन ये बताये हैं—(१) मिथ्यादेव, (२) मिथ्यादेव के आराधक, (३) मिथ्यातप, (४) मिथ्या-तपस्वी, (५) मिथ्याआगम और (६) मिथ्याआगम के धारक। सम्यक्त्व की सुरक्षा चाहने वालों को इन ६ अनायतनों के संसर्ग और सेवन से दूर रहना चाहिए। मूल में यदि मिथ्यात्व से सर्वथा दूर रहे तो शेष अनायतनों से अनायास ही दूर हुआ जा सकता है।

सम्यक्श्रद्धा की सुरक्षा के लिए इनका ध्यान रखो

वस्तुतः जिसका मन सम्यक्त्व (सम्यक्श्रद्धा) में स्थिर हो जाता है, वही सम्यक्त्व को सुरक्षित रख सकता है। अतः मन को सम्यक्त्व में स्थिर रखने के लिए (१) उन्मार्ग-प्ररूपणा न करे (२) उत्तम पथ पर चलने में प्रमाद न करे, (३) कामभोगों की वांछापूर्वक नियाणा न करे, (४) इहलोक-परलोक में सुखभोग की वांछा से तप, त्याग या धर्माचरण न करे, (५) अपने गुणों एवं दूसरे के अवगुणों को अहंकार, द्वेष, ईर्ष्या, मत्सर आदि के वश प्रकट न करे, (६) दुःख, विपत्ति, कष्ट आदि प्रसंगों में धैर्य रखे, सद्धर्म न छोड़े, (७) सदा सन्तोषी रहे, प्रत्येक परिस्थिति में सन्तुष्ट रहे, (८) स्वयं और दूसरों में आध्यात्मिक ज्ञान की वृद्धि करे, (९) जिनोक्त तत्वों का स्वरूप विचारकर हेय उपादेय को यथार्थ रूप में समझे, (१०) जादू-टोना, कौतुक, भांडकुचेष्टा, मारण, उच्चाटन आदि हिंसप्रयोग तथा कामोत्तेजक कथाएँ न करे, (११) पद-पद पर क्रोधादि कषाय न करे, तीव्र कषाय न करे, न ही दीर्घकाल तक कषाय रखे, (१२) अरिहंत, सिद्ध, केवली, आचार्यादि गुरुओं तथा साधर्मिकों एवं संघ का अवर्णवाद (निन्दा) न करे। (१३) ज्ञान-गर्व, बौद्धिक मूढ़ता, कठोर वचन, रौद्र भाव और प्रमाद तथा जुआ, चोरी आदि कुव्यसनों से दूर रहे। ये सम्यग्श्रद्धा के प्रतिबन्धक एवं विनाशक हैं। सम्यक्श्रद्धा की सुरक्षा के लिए इन बातों का ध्यान रखना अतीव आवश्यक है।

□

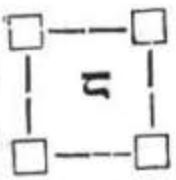

सम्यक्श्रद्धा की शुद्धि और वृद्धि

शरीर शुद्धि से सम्यग्दर्शन शुद्धि बढ़कर

मनुष्य अपने देह की शुद्धि और उसकी पुष्टि वृद्धि के लिए अहर्निश प्रयत्न करता है। अपने शरीर पर धूल, मैल, पसीना आदि जमा हो जाये तो मनुष्य पानी आदि से उसकी शुद्धि करता है। अथवा अपने शरीर में किसी कारणवश मवाद पड़ जाये, सड़ने लगे, मल आदि जमा हो जाने से गैस, कोष्ठबद्धता आदि से शरीर विकृत और रोगाविष्ट होने लगे तो वह शीघ्र ही मवाद को मिटा-सुखाकर शरीर को शुद्ध करता है, उसे सड़ने से बचाता है। पेट में भी हुए रोगादि विकारों को दूर करके शरीर को विकृत होने से बचाता है। वह जानता है कि यदि इस समय शरीर की प्रत्येक प्रकार से शुद्धि की उपेक्षा की, इसे दुर्बल और अशक्त होने से नहीं बचाया तो शरीर से जो सत्कार्य अथवा कुटुम्ब आदि का पालन, धर्माचरण एवं आध्यात्मिक चिन्तन आदि करते हैं, वे हो नहीं सकेंगे और एक दिन यों ही शरीर नष्ट होने से सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र-तपरूप धर्म का आचरण नहीं होगा और परलोक में दुर्गति का मेहमान बनाना पड़ेगा।

परन्तु शरीर की शुद्धि से भी कई गुना बढ़कर आत्मा के विकास की पूर्णता तथा मुक्ति की मंजिल (अन्तिम लक्ष्य) तक पहुँचाने वाली सम्यक् श्रद्धा (सम्यग्दर्शन) शुद्धि का ध्यान रखना आवश्यक है। क्योंकि सम्यक्श्रद्धा के मलिन, दूषित, शिथिल और विचलित हो जाने पर धीरे-धीरे मनुष्य मिथ्यात्व के घोर अन्धकारपूर्ण गत में पड़ जायेगा, पतन की खाई में गिर पड़ेगा, और एक दिन दुर्गति का अतिथि बन जायेगा। इस-

लिए अतिदुर्लभ दुष्प्राप्य सम्यक्श्रद्धा को प्राप्त करने के पश्चात् यदि मनुष्य उसे अशुद्धि से या अशुद्ध होने के कारणों से न बचाये, उसे शंका, कांक्षा, विचिकित्सा आदि, तथा पूर्व प्रकरण में उल्लिखित आठ मद एवं पच्चीस प्रकार के मिथ्यात्व आदि दोषों से सम्यक्श्रद्धा को विचलित, मलिन और अगाढ़ (शिथिल) करता रहे, उसकी विशुद्धि की उपेक्षा करता रहे, तो सम्यग्दर्शन अशुद्ध हो जायेगा। एक बार सम्यग्दर्शन के अशुद्ध हो जाने पर पुनः विशुद्ध सम्यग्दर्शन को प्राप्त करना बहुत कठिन होगा। अति-दुर्लभ एवं विशुद्ध सम्यग्दर्शन को प्राप्त करने में जितना कठोर श्रम करना पड़ा था, वह भी सम्यग्दर्शन के मलिन एवं दूषित हो जाने पर व्यर्थ चला जायेगा। यही कारण है कि सावधानी रखते हुए भी दृष्टिभ्रम, प्रमाद एवं कुसंग के कारण अथवा मोहकर्मवश कदाचित् सम्यक्श्रद्धा में अशुद्धि आने लगे, वह अतिचारों, दोषों या विकृतियों से चंचल (अस्थिर), मलिन एवं शिथिल होने लगे तो तुरन्त उसकी शुद्धि आलोचना, निन्दना (पश्चात्ताप), गर्हणा, अतिक्रमण एवं प्रायश्चित्त से कर लेनी चाहिए। वीतराग सर्वज्ञ तीर्थंकरों ने, महान् धर्माचार्यों एव तत्वज्ञ मनीषियों ने सम्यक्त्व की विशुद्धि और सुरक्षा के लिए सम्यक्त्व-साधकों को बार-बार चेतावनी दी है।

दर्शन-विशुद्धि का स्वरूप और महत्व

जैनागमों में दर्शनविशुद्धि को तीर्थंकर पद प्राप्त करने का सर्व-प्रथम कारण बताया गया है। वैसे तो तीर्थंकर पद-प्राप्ति के बीस कारण हैं,[1] किन्तु मूल में दर्शनविशुद्धि (शुद्ध सम्यक्श्रद्धा) के होने पर शेष १९ कारण शुद्ध होकर उसी में समाविष्ट हो जाते हैं।[2] कोरे सम्यग्दर्शन होने मात्र से तीर्थंकर नाम-गोत्र कर्म का बन्ध नहीं होता, उसके लिए विशुद्ध सम्यग्दर्शन का होना अनिवार्य है। उदाहरण के लिए 'भगवती-आराधना' की यह गाथा प्रस्तुत है—

---

१ (क) समवायांग सूत्र २० वां समवाय।
(ख) तत्त्वार्थ सूत्र ६/२४ दर्शनविशुद्धिर्विनय····तीर्थकरत्वं च।

२ (क) चारित्रसार ५२/४।
(ख) धवला ८/३/४१/८०/ १।

सुद्धं सम्मत्तं वि अज्जेदि तित्थयरणामं ।
जादो दु सेणिगो आगमेसि अरुहो अविरदो ।[1]

अर्थात्—शंका-कांक्षा आदि या चल-मल-अगाढ़ आदि दोषों से रहित शुद्ध सम्यग्दर्शन होने पर अविरत (व्रत-प्रत्याख्यान आदि से रहित) होने पर भी सम्राट् श्रेणिक भविष्य में तीर्थंकर नाम (अर्हत्पद) को प्राप्त करेगा।

दर्शन-विशुद्धि को इतना महत्व इसलिए दिया गया है कि दर्शन विशुद्ध हुए बिना न तो ज्ञान विशुद्ध होता है, न ही चारित्र और न तप। विशुद्ध सम्यग्दर्शन के बिना जो भी अहिंसा आदि का आचरण किया जायेगा, अथवा जो भी त्याग, व्रत, प्रत्याख्यान आदि किया जायेगा, उसके पीछे आवेश, कामना, वासना, अहंकार आदि प्रविष्ट हो जाने से ये सकाम-निर्जरा के कारण नहीं होंगे, अर्थात् संसार (कर्म) क्षय के कारण नहीं होंगे। जिसका दर्शन (श्रद्धान) शुद्ध होता है, वही आत्मा निजस्वरूप का निश्चय करके काम, क्रोध, लोभ, मोहादि विकारों से दूर रहकर अपने ज्ञान, तप, चारित्र आदि का शुद्ध रूप में पालन कर पाता है और कर्मक्षय करके मोक्ष प्राप्त कर सकता है। 'मोक्षपाहुड' में इसी तथ्य का समर्थन करते हुए बताया गया है—

दंसणसुद्धो सुद्धो, दंसणसुद्धो लहेइ णिव्वाणं ।
दंसण-विहीण- पुरिसो न लहइ तं इच्छियं लाहं ।।[2]

जो आत्मा सम्यग्दर्शन की विशुद्धि से शुद्ध है, वही (आत्मा) वास्तव में शुद्ध है। अर्थात्—उसी आत्मा का ज्ञान, चारित्र, त्याग, तप आदि शुद्ध है। दर्शनशुद्ध आत्मा ही निर्वाण (मोक्ष) को प्राप्त करता है। शुद्ध दर्शन (श्रद्धा) से रहित पुरुष अभीष्ट (मोक्ष) लाभ को प्राप्त नहीं कर पाता।

वस्तुतः जो व्यक्ति विशुद्ध श्रद्धा (सम्यग्दर्शन) सम्पन्न होता है, वह अपने जीवन में किसी भी प्रकार की शंका, कांक्षा, विचिकित्सा आदि नहीं आने देता, न ही अपनी रत्नत्रय साधना के साथ फलाकांक्षा, चंचलता, मलिनता, शिथिलता, निदान आदि दोषों को आने देता है। वह जिनोक्त तत्वों अथवा श्रद्धेय त्रिपुटी (देव-गुरु-धर्म) के प्रति श्रद्धा-प्रतीति से जरा भी विचलित नहीं होता। आवश्यकनिर्युक्ति में व्यवहार दृष्टि से शुद्ध सम्यग्-दर्शन का स्वरूप और माहात्म्य बताते हुए कहा है—

---

१ भगवती आराधना गा० ७४० ।

२ मोक्षपाहुड गा. ३९

"मन्नइ 'तमेव सच्चं निस्संकं, जं जिणेहिं पन्नत्तं।'
सुहपरिणामो सव्वकंखाइ-विसुत्तिया-रहिओ॥
एवंविह-परिणामो सम्मदिट्ठी जिणेहिं पन्नत्तो।
एसो य भवसमुद्दं लंघइ, थोवेण कालेण॥"[1]

जो यह मानता है कि जो (तत्त्व आदि) वीतराग जिनेन्द्रों ने कहा है, वही सत्य है, निःशंक है, इसी प्रकार जो समस्त आकांक्षा आदि विपरीत अध्यवसायों (परिणामों) से रहित शुद्ध परिणाम वाला है, जिनेन्द्रों ने उसे ही शुद्ध सम्यग्दृष्टि कहा है। ऐसा शुद्ध श्रद्धा-सम्पन्न व्यक्ति संसार-समुद्र को अल्पकाल में ही लांघ (पार कर) जाता है।

सचमुच, अशुद्ध या मलिन वस्त्र से कोई भी वस्तु शुद्ध (साफ या स्वच्छ) नहीं की जा सकती, वैसे ही अशुद्ध सम्यग्दर्शन से आत्मा को, या ज्ञान, तप, चारित्र, त्याग, प्रत्याख्यान या जीवन को शुद्ध नहीं किया जा सकता, और न ही शुद्ध रखा जा सकता है। इसीलिए भगवान् महावीर ने पावापुरी के अपने अन्तिम प्रवचन में कहा था—**'धम्मो सुद्धस्स चिट्ठइ।'**[2]

सम्यग्दर्शन से शुद्ध आत्मा में ही सद्धर्म (श्रुत-चारित्रधर्म) टिक सकता है।

शुद्ध सम्यग्दर्शन से ही सद्धर्म का लाभ

तात्पर्य यह है कि अहिंसा, सत्य, अचौर्य, ब्रह्मचर्य और अपरिग्रहवृत्ति का पालन तो एक अभव्य, मिथ्यादृष्टि या एकमात्र सद्ज्ञानरहित क्रियाकाण्ड का पालन करने वाला भी कर सकता है। इनका पालन करना कोई बुरा नहीं है, अच्छा ही है। इनके पालन करने से जगत् में प्रसिद्धि, प्रशंसा या प्रतिष्ठा भी प्राप्त हो सकती है, इनके पालन से स्वर्गादि सुख भी प्राप्त हो सकते हैं, परन्तु इन सबके पालन से सच्चे माने में संवर-निर्जरारूप या रत्नत्रयरूप धर्म का लाभ और भविष्य में कर्मक्षय होने से मोक्ष का लाभ कब हो सकता है? जैनसिद्धान्त-मर्मज्ञों ने इसका एक ही उत्तर दिया है **'सम्यक्त्वशुद्धाविव धर्मलाभः'**[3]—सम्यक्त्वविशुद्धि होने पर ही धर्मलाभ होता है।

---

१ आवश्यकनिर्युक्ति मलयगिरिवृत्ति ५९, ६०

२ उत्तराध्ययन ३/१२

३ अमितगति-श्रावकाचार परि. १-१

आशय यह है कि शुद्ध सम्यग्दर्शन होने पर अहिंसा-सत्यादि धर्म के अंग कहलाने वाले तथ्यों का सम्यग्ज्ञानपूर्वक आचरण धर्म हो सकता है, अन्यथा नहीं। उत्तराध्ययन सूत्र भी इस तथ्य का साक्षी है—

'दिट्ठीए दिट्ठिसम्पन्ने धम्मं चर सुदुच्चरं।'[1]

अर्थात्– शुद्ध दृष्टि से दृष्टिसम्पन्न होकर सुदुश्चर धर्म का आचरण करो।

कतिपय व्यक्तियों को यह बात जचती नहीं है कि शुद्ध सम्यग्दर्शन-रहित कोई अहिंसा आदि का पालन करे, फिर भी उसे धर्म का लाभ न हो, परन्तु तत्त्व-मर्मज्ञ व्यक्ति शीघ्र ही बता देगा कि शुद्ध सम्यग्दर्शन के बिना व्यक्ति अहिंसादि का पालन तो करता है, किन्तु उसके साथ अविवेक, स्वरूप का अज्ञान, भ्रान्ति, यश-कीर्ति, फलाकांक्षा, दूसरों से अपने आपको उच्च मानने या कहने की अहंवृत्ति, स्वयं को उत्कृष्ट या श्रेष्ठ और दूसरों को निकृष्ट या नीचा बताने की ईर्ष्यालु वृत्ति, प्रतिस्पर्द्धा, अष्टमद या विविधमूढ़ता, भय, प्रलोभन, शंका, कांक्षा, विचिकित्सा आदि तथा निदान (इहलौकिक-पारलौकिक सुखभोगरूप फल की आकांक्षा), सन्तान, धन, यश आदि लौकिक लाभ की इच्छा से आदि अनेक दोष एवं अतिचार चिपक जाते हैं। यही कारण है कि श्रद्धा या दर्शन (दृष्टि) इन और ऐसे ही विकारों से दूषित-मलिन होने के कारण अहिंसादि का वह पालन शुद्ध आत्म-स्वभावरूप धर्म न होकर या तो पुण्यरूप होगा या अहिंसादि-पालन के पीछे दूसरों को सताने या मारण-उच्चाटन करने की दुर्वृत्ति हो तो पापरूप भी हो सकता है। धर्म का कार्य है—पूर्वकृत शुभाशुभ कर्मों का क्षय या आते हुए शुभाशुभ कर्मों का निरोध। शुद्ध सम्यग्दर्शन से रहित होकर अहिंसा आदि का पालन करने वाले व्यक्ति के शुभ-अशुभ कर्मों का क्षय या निरोध दोनों ही न होने से केवल शुभ या अशुभकर्मरूप पुण्य-पाप आदि से युक्त हो जाता है।

जो व्यक्ति शुद्ध सम्यग्दर्शन से युक्त होता है, वह अहिंसादि धर्म का पालन या आचरण करेगा, तब भी शुद्ध रूप में करेगा। अर्थात्—वह

---

१ उत्तराध्ययन १८/२३

अविवेक, यश-कीर्ति, या किसी प्रकार की इहलौकिक पारलौकिक फलाकांक्षा से युक्त होकर नहीं करेगा, न ही अहिंसादि व्रतों के आचरण में मर्यादा-तिक्रमण करेगा, वह अणुव्रतों में संभावित अतिचारों-दोषों तथा मलिनताओं से दूर रहेगा। अहिंसादि का पालन निष्काम और निःस्वार्थ दृष्टि से ही करेगा। यही अन्तर है, शुद्ध और अशुद्ध सम्यग्दर्शन में। ऐसी शुद्ध सम्यक् श्रद्धा जिसके जीवन में आ जाती है, उसके लिए आचार्यों ने कहा है—

'सम्यग्दर्शन-शुद्धं यो ज्ञानं विरतिमेवि चाप्नोति।
दुःखनिमित्तमपीदं तेन सुलब्धं भवति जन्म ॥[1]

अतिचार-विनिर्मुक्तं यो धत्ते दर्शनं सुधीः।
तस्य मुक्तिः समायाति, नाकसौख्यस्य का कथा ?[2]

"यद्यपि जन्म दुःख का कारण है, तथापि जो व्यक्ति शुद्ध सम्यग्-दर्शन से सम्पन्न होकर ज्ञान और चारित्र (विरति) को प्राप्त कर लेता है, उसका मनुष्य जन्म सम्यक् उपलब्धि है।"

"जो शुद्धबुद्धि वाला मानव अतिचारों (दोषों) से विमुक्त शुद्ध सम्यक्दर्शन को ग्रहण कर लेता है, उसे मुक्ति स्वयं वरण करने आती है, स्वर्ग के सुखों का तो कहना ही क्या ?"

और तो और, व्रत, नियम आदि स्वीकार न करके भी विशुद्ध सम्यग्दर्शन भी मनुष्य को उच्च आध्यात्मिक भूमिका पर ले जाता है। देवों द्वारा अर्चित केवलज्ञान-सम्पदा भी उसे प्राप्त हो जाती है। इसके अतिरिक्त विशुद्ध सम्यग्दर्शन-सम्पन्न व्यक्ति को मानव-श्रेष्ठ बताते हुए रत्नकरण्ड श्रावकाचार में कहा है--

ओजस्तेजो-विद्या-वीर्य-यशोवृद्धि विजयविभवसनाथाः।
महाकुलाः महार्था मानवतिलका भवन्ति दर्शनपूताः ॥[3]

जिनका सम्यग्दर्शन विशुद्ध होता है, वे ओज, तेज, विद्या, वीर्य (बल) तथा यश में अन्य लोगों से बढ़कर होते हैं, शत्रुओं के हृदय को जीतने वाले, महाकुलीन, महान् पुरुषार्थी एवं मनुष्यों में तिलक के समान

---

१ अभिधान राजेन्द्र कोष भा. ७
२ प्रश्नोत्तर श्रावकाचार परि. १/१३
३ रत्नकरण्ड श्रावकाचार श्लो. ३६

श्रेष्ठ होते हैं। इन उपलब्धियों को देखते हुए यह समझा जा सकता है कि विशुद्ध सम्यग्दर्शन का कितना महत्व, लाभ एवं चमत्कार है।

दर्शन-विशुद्धि : शास्त्रीय दृष्टि से

प्रत्येक सम्यक्श्रद्धा-सम्पन्न व्यक्ति को अपनी श्रद्धा (दर्शन) को शुद्ध रखने का प्रत्येक मानसिक, वाचिक और कायिक प्रवृत्ति करते समय ध्यान रखना चाहिए। सम्यग्दर्शन की विशुद्धता का सैद्धान्तिक (शास्त्रीय) दृष्टि से भी विचार करना आवश्यक है। दर्शन-विशुद्धता के निम्नलिखित दृष्टिबिन्दु हैं—

(१) औपशमिक, क्षायिक एवं क्षायोपशमिक सम्यग्दर्शनों का स्वरूप समझकर उनको चल, मल, अगाढ़ आदि यथायोग्य अनेक प्रकार से बचा कर शुद्ध रखना।

(२) जीवादि तत्त्वभूत पदार्थों अथवा देव-गुरु-धर्म विषयक श्रद्धेय-त्रिपुटी के सम्बन्ध में स्वरूपविषयक रुचि, श्रद्धा, प्रतीति एवं अनुभूतिरूप दर्शन की नाना प्रकार से निर्मलता-विशुद्धि रखना।

(३) जिनोपदिष्ट मोक्षमार्ग के विषय मे शंका, कांक्षा, विचिकित्सा, मिथ्यादृष्टि-प्रशंसा एवं मिथ्यादृष्टि-संस्तव (अतिपरिचय) तथा देव-गुरु-धर्म-लोक-मूढ़ताओं आदि से रहित होना, इनसे दूर रहने का ध्यान रखना।

(४) धवला में कहा गया है कि तीन प्रकार की मूढ़ताओं, आठ प्रकार के (पूर्वोक्त) मदों तथा मलों से रहित सम्यग्दर्शन का नाम दर्शन-विशुद्धता है।[1]

(५) 'तत्त्वार्थ-सर्वार्थसिद्धिवृत्ति'[2] में कहा गया गया है—वीतराग प्रभु द्वारा उपदिष्ट मोक्षपथ पर निःशंकित आदि आठ अंगों से युक्त रुचि या श्रद्धा होना दर्शन विशुद्धि है।

(६) तत्त्वार्थ-श्लोकवार्तिक'[3] में दर्शनविशुद्धि का लक्षण दिया गया है—शंकादि मलों के निराकरण से प्रसन्नता—निर्मलता होना।

---

१ ....तिमूढावोढ-अट्ठमल-वदिरित्त-सम्मद्दंसणभावो दंसण-विसुज्झदा नाम।
—धवला ८/७९-८०

२ तत्त्वार्थ-सर्वार्थसिद्धि ६/२४।

३ तत्त्वार्थ श्लोकवार्तिक ६/२४/१—२।

(७) 'भगवती[1] आराधना में निःशंकित आदि आठ गुणों से युक्त शुद्ध आत्मपरिणति को दर्शन-विशुद्धि बताया गया है।

(८) 'रयणसार'[2] में दर्शनविशुद्धि के लिए सात प्रकार के भय, सात प्रकार के कुव्यसन, तथा २५ प्रकार के (पूर्वोक्त) मिथ्यात्व से रहित होना, निःशंकितादि आठ अंगों से सम्पन्न होना, एवं संसार, शरीर और भोगों से विरक्त होकर पंच परमेष्ठी के प्रति भक्ति होना आवश्यक बताया है।

(९) प्रवचन-सार[3] की तात्पर्यवृत्ति में दर्शन-विशुद्धि से युक्त पुरुष का लक्षण यों बताया गया है कि "निजशुद्ध-आत्मस्वरूप की रुचिरूप निश्चय-सम्यग्दर्शन (तत्त्वार्थश्रद्धानरूपदर्शन) के तीन मूढ़ताओं आदि २५ मलों (दोषों) से रहित पुरुष ही शुद्ध सम्यग्दर्शन से युक्त है।"

इस प्रकार सम्यग्दर्शन की विशुद्धि के कुछ तथ्य अंकित किये गये हैं, जिन पर चिन्तन-मनन करना आवश्यक है।

सम्यक्श्रद्धा की विशुद्धि में सहायक

वैसे देखा जाये तो सम्यक्श्रद्धा की विशुद्धि सम्यग्दृष्टि के अपने हाथ में है। वह सावधानी और अप्रमत्तता रखेगा, तभी सम्यग्दर्शन शुद्ध रह सकता है। किन्तु सभी व्यक्ति इतनी उच्च भूमिका के नहीं होते, उन्हें सम्यक्श्रद्धा की विशुद्धि के लिए किसी न किसी सहायक आलम्बन की आवश्यकता होती है। व्यवहार-सम्यग्दर्शन की विशुद्धि के लिए 'चतुर्विंशति-स्तव' का आलम्बन महत्वपूर्ण निमित्त माना गया है। भगवान् महावीर से जब पूछा गया कि चतुर्विंशति स्तव से जीव को क्या लाभ होता है? तो उन्होंने फरमाया—

"चउव्वीसत्थएण दंसण-विसोहिं जणयइ।"[4]

चौबीस तीर्थङ्करों की स्तुति (स्तव) से जीव दर्शन-विशुद्धि प्राप्त करता है।

---

१ भ० आराधना १६७।

२ रयणसार गाथा ५।

३ प्रवचनसार तात्पर्यवृत्ति ८२/१०४/१८।

४ उत्तराध्ययन अ० २९ सूत्र ९।

आशय यह है कि व्यवहारदृष्टि से सम्यक्श्रद्धा का एक लक्षण दिया गया है—देव, गुरु और धर्म के प्रति अनन्यश्रद्धान। इनमें से देव—अरिहन्तदेवों के प्रति श्रद्धा-प्रतीति और भक्ति तभी अनन्य और सुदृढ़ रह सकती है, जब व्यक्ति निष्काम और निःस्वार्थ भाव से अनन्यभक्ति-पूर्वक केवल आत्महित या आत्मशुद्धि की दृष्टि से उनकी स्तुति या स्तव करेगा, उनके चरणों में अपने आपको समर्पित कर देगा, 'अप्पाणं वोसिरामि' के उच्चारण के साथ ही जब उसके हृदय में यह स्फुरणा होगी कि मैं अपने दोषयुक्त मन-वचन-काय से युक्त आत्मा का उनकी साक्षी से व्युत्सर्ग करता हूँ, तभी उसका ध्यान तीर्थङ्करदेवों की स्तुति से अपने तथा उनके विशुद्ध निर्मल आत्मस्वरूप पर जायेगा। साथ ही उसका विशुद्ध चिन्तन भी स्फुरित होगा कि मेरी आत्मा और देवाधिदेव प्रभु की आत्मा में क्या, कितना और क्यों अन्तर है? उस अन्तर को कैसे मिटाया, घटाया या रोका जा सकता है? प्रभु की आत्मा और अपनी आत्मा के बीच में रहे हुए अन्तर को दूर करने की तीव्रतम अविरत साधना कौन कर रहे हैं? उनसे इस अन्तर को दूर करने का मार्गदर्शन कैसे मिल सकेगा? उक्त अन्तर को दूर करने का शुद्धमार्ग कौन-सा है? इस प्रकार जैसे-जैसे सम्यग्दृष्टि का तीव्र शुद्ध जिज्ञासा-भाव से चिन्तन बढ़ता जायेगा, वैसे-वैसे देव, गुरु और सद्धर्म (आदर्श, मार्गदर्शक और मार्ग) के प्रति उसकी श्रद्धा सम्यक्, शुद्ध और अनन्य भक्तियुक्त होती जायेगी।

ज्यों-ज्यों आदर्श (अरिहन्तदेव) और अपनी आत्मा के बीच अन्तर के सम्बन्ध में चिन्तन बढ़ेगा, त्यों-त्यों उनके मानसपटल पर जिनेन्द्र-द्वारा प्ररूपित—उपदिष्ट जीव-अजीव के भेदविज्ञान के साथ ही, आस्रव-संवर, पुण्य-पाप, बन्ध, निर्जरा और मोक्ष आदि तत्वों के स्वरूप के निश्चय के प्रति श्रद्धा, प्रतीति, अनुभूति शुद्ध और सुदृढ़ होती जायेगी।

इस प्रकार चतुर्विंशति-स्तव व्यवहारदृष्टि से सम्यग्दर्शन की शुद्धि-वृद्धि में महत्वपूर्ण निमित्त बनता है। निश्चयदृष्टि से भी आत्मा-अष्टकर्ममुक्त शुद्ध आत्मा के स्वरूप की दृढ़ निश्चिति, भेदविज्ञान और अनुभूति होने से निश्चय-सम्यग्दर्शन की विशुद्धि में चतुर्विंशति तीर्थङ्करों (जीवन्मुक्त परमात्मा) का स्तव निमित्त बनता है। इससे सम्यक्श्रद्धा की विशुद्धि के लिए तत्पर आत्मा में हेय-उपादेय के विवेक का दीपक जल जाता है, जिससे उसे सम्यग्दर्शन पर आई हुई मलिनताओं का शीघ्र ही पता लग जाता है, और वह अपनी सम्यक्श्रद्धा पर आये हुए दोषों को दूर करने के लिए तत्पर हो जाता है।

अतः चतुर्विंशति-स्तव सम्यक्श्रद्धावान् के सम्यग्दर्शन की विशुद्धि में विशिष्टरूप से सहायक होता है।

अनगार-धर्मामृत में भी बताया गया है कि सम्यग्दर्शन की शुद्धि-वृद्धि के लिए जैसे उपगूहन (उपबृंहण) आदि गुणों (अंगों) का पालन किया जाता है, वैसे ही सम्यग्दर्शन की शुद्धि-वृद्धि के लिए देव (अरिहन्त) गुरु (निर्ग्रन्थ साधु) और श्रुत या धर्म (श्रुत-चारित्ररूप धर्म) की भक्ति आदि के रूप में गुणयुक्त महानुभावों की अत्यन्त विनय करनी चाहिए।[1]

सम्यक्श्रद्धा की शुद्धि का उपाय

सम्यक्श्रद्धा की सुरक्षा के लिए जिस प्रकार आठ प्रकार के मद, तीन मूढ़ताएँ, छह अनायतन एवं शंकादि आठ दोष इस प्रकार २५ दोषों तथा पच्चीस प्रकार के मिथ्यात्व आदि का त्याग पूर्व प्रकरण में बताया गया है, उसी प्रकार सम्यक्श्रद्धा की विशुद्धि के लिए भी उन्हीं दोषों का त्याग करना अनिवार्य है। दिगम्बर जैन परम्परा के अनेक ग्रन्थों में इन २५ दोषों को सम्यग्दर्शन की अशुद्धि में मुख्य कारण बताया गया है—

'मूढ़त्रयं मदश्चाष्टौ, तथाऽनायतनानि षट्।
अष्टौ शंकादयश्चेति दृग्दोषाः पंचविंशतिः॥[2]

तीन मूढ़ताएँ, आठ मद, तथा छह अनायतन एवं शंकादि आठ ये पच्चीस सम्यग्दर्शन के दोष हैं। इनके रहते सम्यग्दर्शन शुद्ध नहीं रह

---

१ "दृग्-विशुद्धि-विवृद्धयर्थं गुणवद्-विनयं भृशम्।
—अनगार धर्मामृत अ० २/११०

२ (क) ज्ञानसार, तारण-तरण-श्रावकाचार आदि।
(ख) **तीनमूढ़ता**—देव-गुरु-शास्त्रमूढ़ता। **आठ मद**—जातिमद, कुलमद, बलमद, लाभमद, श्रुतमद, तपोमद, रूपमद और ऐश्वर्यमद। इनका विवरण पूर्व प्रकरण में पढ़िए।

षट् अनायतन—मिथ्यादेव, मिथ्यादेव के आराधक, मिथ्यातप, मिथ्यातपस्वी, मिथ्याआगम और मिथ्याआगम के धारक, अथवा मिथ्यादर्शन, मिथ्याज्ञान, मिथ्याचारित्र, मिथ्यादृष्टि, मिथ्याज्ञानी और मिथ्याचारित्री
शंकादि आदि आठ अंग-दोष—*शंका, कांक्षा, विचिकित्सा, मूढ़दृष्टित्व,* अनूपबृंहण (अनूपगूहन) अस्थिरीकरण, अवात्सल्य और अप्रभावना।
—सं०

सकता। सम्यग्दर्शन की अशुद्धि में ये निमित्त बनते हैं। अतः इनका त्याग अनिवार्य है। जो सम्यग्दर्शन को शुद्ध रखना चाहता है, उसे इनमें से किसी भी दोष को अपने जीवन (मन-वचन-काय-प्रवृत्ति) में फटकने नहीं देना चाहिए। वास्तव में ये दोष सम्यक्श्रद्धा को लांछित, दूषित और कलंकित करते हैं।

सम्यक्श्रद्धा की शुद्धि और वृद्धि के लिए ६७ बोल

इसके अतिरिक्त सम्यक्श्रद्धा (दर्शन) की विशुद्धि और प्रकारान्तर से वृद्धि (पुष्टि) के लिए परमार्थद्रष्टा महान् आचार्यों ने ६७ बोल (स्थानक =कारण) बताए हैं। देखिए वह गाथा—

तस्स विसुद्धि-निमित्तं नाऊण सत्तसट्ठि-ठाणाइं।
पालिज्ज-परिहरिज्जं च जहारिहं इत्थ गाहाओ ॥[1]

उस अति कठिनता से उपलब्ध सम्यक्त्व (सम्यग्दर्शन) की विशुद्धि के निमित्तभूत जो ६७ स्थानक (बोल) बताये गए हैं, उन्हें जानकर उनमें से जो पालन करने योग्य (आचरणीय) हों, उनका पालन करना और जो त्यागने योग्य हों, उनका यथायोग्य त्याग करना चाहिए।

आशय यह है कि सम्यग्दर्शन की विशुद्धि और वृद्धि के लिए सम्यग्-दृष्टि को सर्वप्रथम जिनोक्त जीव-अजीव आदि का या सम्यक्त्वशुद्धि-वृद्धि के कारणभूत ६७ बोलों का, जैसा स्वरूप सर्वज्ञों ने बताया है, उन ज्ञेय तत्वों या बोलों को जाने, उन पर चिन्तन-मनन-विश्लेषण करे, उनका निश्चय करे, फिर श्रद्धा-निष्ठापूर्वक अपने विशुद्ध मतिज्ञान से उनमें से जो उपादेय हों, उनका ग्रहण, पालन एवं यथायोग्य आचरण करे, तथा जो हेय (त्याज्य) हों, उनका त्याग करे। इस प्रकार हेय और उपादेय का विवेक-दीपक प्रज्वलित रख कर चले। वही सम्यग्दर्शन की शुद्धि-वृद्धि का अचूक साधन है। सम्यक्श्रद्धा की शुद्धि-वृद्धि के परमनिमित्त वे ६७ बोल इस प्रकार हैं—

(१) चार प्रकार की श्रद्धा, (२) तीन लिंग, (३) दशविध विनय, (४) त्रिविध शुद्धि, (५) पांच दूषण (अतिचार), (६) अष्टविध सम्यक्त्व-प्रभावना, (७) पांच भूषण, (८) पांच लक्षण, (९) छह प्रकार की यतना, (१०) छह आगार, (११) छह भावनाएँ और (१२) षट्-स्थानक।

---

१ सम्यक्त्वसित्तरी पृ० १३८, १३९

सम्यग्दृष्टिप्राप्त मानव के जीवन में यदि ये ६७ बोल यथायोग्य ज्ञेय, हेय और उपादेय के रूप में उतर जाएँ तो समझना चाहिए, उसमें सम्यक्-श्रद्धा शुद्धरूप में स्थिर हो चुकी है, एवं अहर्निश वृद्धिगत (पुष्ट) हो रही है।

१ (चतुर्विध) श्रद्धा[1]—सम्यक्श्रद्धा की स्थिरता के लिए चार पहलुओं से श्रद्धा का सेवन करना चाहिए। (१) सर्वप्रथम पहलू है—**परमार्थ संस्तव**। उसके दो अर्थ हैं—(१) परमार्थ यानी तत्त्वभूत जीवादि पदार्थों का संस्तव-परिचय, (२) परमार्थ=मोक्षप्राप्ति के कारणभूत तत्त्वज्ञान=सम्यग्ज्ञान का संस्तव=अभ्यास।

(२) दूसरा पहलू है—सुदृष्ट-परमार्थ-सेवना। इसका अर्थ है—जिन्होंने परमार्थ का भलीभांति अभ्यास या निश्चय कर लिया है, ऐसे निर्ग्रन्थ मुनि, आचार्य, उपाध्याय आदि महापुरुषों की सेवा करना, उनकी पर्युपासना करके अपनी सम्यक्श्रद्धा की शुद्धि-वृद्धि के लिए पुरुषार्थ करना। इसी सन्दर्भ में एक आचार्य ने कहा है—

देव-शास्त्र-गुरु-सेवा, संसारे नित्यभीरुता।
पुण्याय जायते पुंसां, सम्यक्त्ववर्द्धिनी क्रिया॥

वीतरागदेव, उनके द्वारा उपदिष्ट शास्त्र या तत्त्व, या सिद्धान्त और निर्ग्रन्थ गुरु की सेवा-उपासना करना, जन्म-मरणवर्द्धक संसार से या संसारवर्द्धक विचारों या कार्यों से सदा डरते रहना, ये सब क्रियाएँ सम्यक्त्व (सम्यक्श्रद्धा) को शुद्धि-वृद्धि करने वाली तथा पुण्योत्पादक हैं।

(३) श्रद्धा का तीसरा पहलू है—सम्यग्दर्शन तथा चारित्र से व्यापन्न=भ्रष्ट व्यक्तियों का परिहार=त्याग करना। आशय यह है कि जिनकी श्रद्धा विपरीत हो चुकी है, जो दर्शन के साथ-साथ चारित्र से भी दूषित हो चुके हैं, जो स्वलिंग (स्व-वेष) में रहते हुए भी जिनोपदिष्ट तत्व या जिनदेव द्वारा उक्त तत्त्व-स्वरूप या प्ररूपित सिद्धान्त के विरुद्ध प्ररूपणा करते हैं, उन स्वलिंगी निह्नवों का संसर्ग न करना।

(४) श्रद्धा का चौथा पहलू है—कुदर्शन या कुदृष्टि व्यक्ति का परिहार

---

१ परमत्थ-संथवो वा सुदिट्ठ परमत्थसेवणा वा वि।
वावण्ण-कुदंसण वज्जणा इअ सम्मत्त सद्दहणा।

—उत्तराध्ययन अ० २८/२८

करना। इसका तात्पर्य यह है कि सम्यग्दृष्टिप्राप्त व्यक्ति को तत्त्वज्ञान का अभ्यास करके हंस की तरह अतत्त्वभूत=असारभूत (एकान्तवाद या सद्धर्म के विपरीत) अर्थ का त्याग और सारभूत=तत्वभूत अर्थ का विवेक करना चाहिए। जब हेय और उपादेय तत्वों, वस्तुओं या व्यक्तियों का यथार्थ ज्ञान (विवेक) नहीं होता, तब असली हीरे के बदले कांच के चमकते हुए टुकड़ों को पकड़ लेने की तरह व्यक्ति सत्य पथ पर न लगकर इधर-उधर के मिथ्या भ्रमजाल को सत्य समझ कर पकड़ लेता है।

अतः सम्यक्श्रद्धा की शुद्धि, वृद्धि अथवा पुष्टि के लिए श्रद्धा को चारों पहलुओं से जांचते-परखते रहना चाहिए।

(२) त्रिलिंग—जो अपनी सम्यक्श्रद्धा (सम्यक्त्व) को शुद्ध रखता है, उसकी निम्नोक्त तीन चिन्हों (लिंगों) से पहचान हो जाती है—(१) परम आगम—शुश्रूषा (श्रवणेच्छा) (२) धर्मसाधना के प्रति उत्कट अनुराग, एवं (३) जिनेश्वर देव एवं पंचाचारपालक गुरुदेव की वेयावृत्य करने का नियम।

इन तीन बातों से शुद्ध सम्यक्त्वी की पहचान भी होती है और वह सम्यक्श्रद्धा की अभिवृद्धि एवं शुद्धि भी कर सकता है। आध्यात्मिक तथ्यों से परिपूर्ण, आत्मा के मोक्ष के लिए साधक-बाधक तत्वों के विवरण से से युक्त उत्कृष्ट आगमों[1] के श्रवण करने की उत्कण्ठा शुद्ध सम्यक्त्वी की पहली निशानी है। श्रवण करने की उत्कण्ठा जब विस्तृत होती है, तब वह श्रवण तक ही सीमित नहीं रहती, किन्तु श्रवण से ज्ञान, विज्ञान, प्रत्याख्यान, संयम, अनास्रव, तप, व्यवदान, अक्रिया और अन्त में निर्वाण होता है।[2] यानी श्रवण का फल परम्परा से मोक्ष है। वैसे भी सच्चा श्रोता श्रवण के पश्चात् मनन-चिन्तन, प्रश्न, तर्क-वितर्क और तत्पश्चात् ग्रहण करके स्मृति में धारण करता है।

श्रवण के पश्चात् सम्यक्त्वी की द्वितीय पहचान है—धर्मसाधना में श्रद्धापूर्वक तीव्र अनुराग। अर्थात्—धर्मसाधना—धर्मक्रिया, जप, तप, सामायिक, प्रतिक्रमणादि या स्वाध्याय, सिद्धान्तज्ञान आदि में तथा अहिंसादि व्रत ग्रहण करने तथा उनका अप्रमत्त भाव से आचरण करने में

---

१ जं सोच्चा पडिवज्जंति तवं खंतिमहिंसयं।"

२ भगवती सूत्र—सवणे नाणे·····अकिरिया सिद्धि।

सदा उद्यत रहता है। वह धर्मकार्य में सदा उत्साहपूर्वक आगे रहता है। सम्यक्श्रद्धालु की तीसरी पहिचान है—देव और गुरु की वैयावृत्य करना। अठारह दोषरहित सर्वज्ञ वीतराग अर्हन्तप्रभु की तथा मोक्षमार्ग पर चलने वाले पंचाचारपालक निर्ग्रन्थ गुरु की नियमित रूप से सेवा-उपासना करता है। अपने गाँव या नगर में गुरुदेव पधारे हों तो उनकी आहार-पानी, औषध, सत्कार-सम्मान आदि से सेवा अवश्य करता है।

(३) **दस प्रकार का विनय**—विनय का अर्थ है—देव-गुरु-धर्म एवं इनसे सम्बन्धित अंगों के प्रति श्रद्धा, भक्ति, सत्कार, सम्मान, बहुमान, प्रशंसा, गुणानुवाद करना। इनके अवर्णवाद (निन्दा, बदनामी, अप्रतिष्ठा) तथा इनकी आशातना करने, इनसे ईर्ष्या-द्वेष आदि न करना। भगवती सूत्र में विनय के दस प्रकार बताए हैं—(१) अरहंतों का, (२) अर्हत्प्ररूपित धर्म का, (३) आचार्यों का, (४) उपाध्यायों का, (५) स्थविरों का, (६-७-८) कुल का, संघ का, गण का (९) धार्मिक क्रिया का एवं (१०) साधर्मिक का विनय।[1]

यों शुश्रूषा तथा अनाशातना, द्विविधरूप से दस प्रकार से विनय करने से मनुष्य के सम्यक्त्व (सम्यक्श्रद्धा) की शुद्धि-वृद्धि और पुष्टि होती है।

(४) **तीन प्रकार की शुद्धि**—मन, वचन और काया की शुद्धता भी सम्यक्श्रद्धा की शुद्धि-वृद्धि करती है।[2] आशय यह है कि प्रशस्त मन से निःशंकित आदि ८ दर्शनाचारों का चिंतन करना, प्रशस्त वचन से श्रद्धेय तत्वों की प्रशंसा करना[3] तथा काया से दर्शनाचार का प्रशस्त रूप से पालन =आचरण करना।

(५) **शंकादि पाँच दोषों का निवारण**—पूर्वोक्त शंका-कांक्षादि पांच दोष (अतिचार) सम्यक्त्व (सम्यक्श्रद्धा) के लिए घातक हैं। उनसे स्वयं को बचाने वाला सम्यक्त्वी सम्यक्श्रद्धा की शुद्धि करता है।

(६) **अष्टविध सम्यक्प्रभावना**—'सम्यक्त्व-सप्तति में ८ प्रकार के

---

१ (क) स्थानांग सूत्र स्था. १० (ख) भगवती सूत्र शतक २५ उ. ७.

२ भगवती सूत्र शतक २५ उ० ७
मण-वय-कायाए सुही सम्मत्तसोहिणी तत्थ।

३. (क) अप्पमाउसो एस अट्ठे, एस परमट्ठे, ऐसे अणट्ठे
(ख) इणमेवनिग्गंथं पावयणं सच्चं.....

प्रभावक बताए गये हैं, जो जिनोक्त धर्मसंघ (जैनशासन) की विविध रूप से प्रभावना करते हैं। वे ८ प्रभावक इस प्रकार है—(१) प्रावचनी, (२) धर्मकथी, (३) वादी, (४) नैमित्तिक, (५) तपस्वी, (६) विद्यावान, (७) सिद्ध और (८) कवि। प्रावचनी बारह अंगशास्त्रों तथा उपांग आदि प्रधान आगमों का सम्यक्ज्ञाता होकर दूसरों को उन पर विश्लेषण-विवेचनपूर्वक युक्ति-सूक्ति अनुभूति द्वारा समझाने व उन पर प्रवचन करने वाला प्रवचन प्रभावना करके सम्यक्त्व की शुद्धि-वृद्धि करता है। धर्मकथी--आक्षेपिणी, विक्षेपिणी, संवेगिनी, निर्वेदिनी इन चार प्रकार को धर्मकथाओं को ऐसे ढंग से कहता है कि श्रोताओं को देवगुरुधर्म तथा मोक्षमार्ग के प्रति उन्मुख करता है। वादी--वाद-विवाद द्वारा सिद्धान्तविरुद्ध मत का खण्डन, और सिद्धान्त समर्थित मत का मण्डन करके धर्मप्रभावना करता है। नैमित्तिक—तीनों काल में संघ या संघ के किसी अंग पर होने वाले हानि-लाभ का ज्ञाता नैमित्तिक होता है। तपस्वी—उग्र एवं उत्कट तप करने वाला तपस्या द्वारा जैन शासन की प्रभावना करता है। विद्यवान– प्रज्ञप्ति आदि विद्याओं और मंत्रों को सिद्ध करके उनका प्रयोग करने वाला भी शासन-प्रभावना करता है। सिद्धप्रभावक—अंजन, पादलेप आदि सिद्धियों-लब्धियों वाला भी शासन-प्रभावना करता है, तथा कविप्रभावक भी गद्य-पद्य में रचना करके धर्मसंघ की प्रभावना करता है।[1]

आठ प्रकार की प्रभावना से सम्यक्त्व की शुद्धि-वृद्धि होती है।

(७) **पांच भूषण**—यह तो सभी जानते हैं कि आभूषणों से शारीरिक सुन्दरता और चमक-दमक बढ़ जाती है। इसी प्रकार मोक्ष के प्राणरूप सम्यग्दर्शन के सौन्दर्य और चमक-दमक में वृद्धि के लिए तथा सम्यक्श्रद्धा में तेजस्विता लाने के लिए योगशास्त्र एवं सम्यक्त्वसित्तरी में पांच भूषण बताए हैं—(१) धर्म में स्थिरता (२) धर्म-प्रभावना, (३) भक्ति, (४) धर्म-कौशल एवं (५) तीर्थ (चतुर्विध संघ) की सेवा। (१) स्थिरता—सम्यक्त्व में या धर्म में दृढ़ता को कहते हैं। कोई भी देव, दानव, मानव आदि जीव सम्यक्त्वी की परीक्षा करे, उसे धर्मपथ से भय या प्रलोभन देकर विचलित करना चाहे, तब वह विचलित न हो, अपने सम्यग्दर्शन में स्थिर

---

१ पावयणी धम्मकही वाई निमित्तओ तवस्तो य।
विज्जासिद्धो य कइ अट्ठेव पभावगा भणिया॥ सम्यक्त्व सप्तति प्रकरण
—प्रवचनसारोद्धार द्वार १४८ गा. ६३४

और सुदृढ़ रहे। अन्य धर्म-सम्प्रदायों अथवा तथाकथित साधकों या उनके अनुगामियों की पूजा-प्रतिष्ठा, आडम्बर, धुआंधार प्रचार, अनुयायियों की संख्या वृद्धि देखकर भी मन को सम्यग्दर्शन से स्खलित न होने दे, इसी विचार पर दृढ़ रहे कि मनुष्य मोक्षरूपफल जब भी पायेगा, सम्यक् श्रद्धा पूर्वक ज्ञान एवं चारित्र की आराधना से ही पाएगा। मगधसम्राट श्रेणिक को सम्यग्दर्शन से कई वार विचलित करने का प्रयास किया गया, फिर भी वह सम्यक्त्व में दृढ़ रहा (२) अपनी शक्ति के अनुसार धर्म एवं धर्मसंघ की उन्नति एवं प्रतिष्ठा के लिए विविध कार्यक्रमों का आयोजन करना, विविध प्रकार से लोगों को धर्म की ओर प्रभावित करना धर्मप्रभावना है। (३) देव, गुरु एवं धर्म तथा धर्म में तत्पर सम्यक्त्वधारक जनों की सेवा-शुश्रूषा, पर्युपासना, वन्दना, सत्कार-सम्मान, नमन-वन्दन आदि करना भक्ति है। (४) धर्म-कौशल—धर्म के सभी अंगों तथा जैनधर्म के अकाट्य सिद्धान्तों एवं तत्वों का युक्ति, प्रमाण, अनुभूति, नय-निक्षेप आदि द्वारा स्वयं जानने और दूसरों को समझाने में दक्षता प्राप्त करना, धर्म कौशल है। (५) तीर्थसेवा का वास्तविक अर्थ है—साधु-साध्वी, श्रावक-श्राविकारूप चतुर्विध जंगमतीर्थ, संसार-सागर से तारने में सहायक हैं, यह जानकर उनकी सेवा-पर्युपासना करना।

ये पांचों भूषण व्यक्ति के सम्यग्दर्शन की शुद्धि, वृद्धि एवं गुणसमृद्धि करने वाले हैं।[1]

(८) **पाँच लक्षण**—सम्यक्श्रद्धा (सम्यक्त्व) को लक्षित करने वाले पांच लक्षण हैं—(१) शम, (२) संवेग, (३) निर्वेद, (४) अनुकम्पा और (५) आस्तिक्य। इन पांचों की विस्तृत व्याख्या हम पहले के प्रकरणों में कर चुके हैं। अपने जीवन में सम्यक्त्व की जाँच-परख के लिए तथा सम्यक्त्व की विशुद्धि, पुष्टि एवं समृद्धि के लिए ये पांच लक्षण होने आवश्यक हैं।

(९) **छह प्रकार की यतना**—सम्यग्दर्शन की सुरक्षा, शुद्धि एवं दृढ़ता के लिए निम्नोक्त छह प्रवृत्तियों के सम्बन्ध में यतना-सावधानी या जागृति रखना अत्यन्त आवश्यक है—(१) वन्दना, (२) नमस्कार (३) दान, (४) अनुप्रदान, (५) आलाप, और (६) संलाप। सम्यक्श्रद्धा की सुरक्षितता देव, गुरु और धर्म पर विवेकपूर्वक श्रद्धान, तत्वदर्शन एवं स्वरूपज्ञान का

---

१ योगशास्त्र प्र. १

ध्यान रखना आवश्यक है। अन्यथा देवरूप आदर्श, निर्ग्रन्थगुरु रूप मार्ग-दर्शक एवं अहिंसादिमय सद्धर्म के प्रति अनन्यश्रद्धा-भक्ति, निष्ठा रहनी कठिन है। इसी बात की जागृति के लिए ६ प्रकार का यत्नाचार रखना जरूरी है। इनका आशय यह है कि (१) देवबुद्धि तथा गुरुबुद्धि से मिथ्या-दृष्टिसम्पन्न देव तथा गुरु की वन्दना या स्तुति (गुणगान) न करे, (२) देव या गुरुबुद्धि से नमस्कार न करे, (३) धर्मबुद्धि या गुरुबुद्धि से अन्य-तीर्थिक गुरु को दान न दे। अनुकम्पाबुद्धि से पीड़ित, संकटग्रस्त आदि को दान देने का जैनशास्त्रों में कतई निषेध नहीं है। (४) अन्यतैर्थिक गुरुओं का गुरुबुद्धि से सत्कार, सम्मान या बहुमान या आसनादि प्रदान (अनुप्रदान) न करे तथा (५) उनके बिना बुलाये एक बार भी सम्भाषण (आलाप) न करे, (६) न ही बार-बार सम्भाषण (आलाप) करे। वास्तव में ये यतनाएँ कच्चे सम्यक्त्वसाधकों के लिए अनन्यश्रद्धा को लक्ष्य में रखकर बताई गई हैं।

(१०) छह आगार—बहुत से लोग सम्यक्त्व ग्रहण करने के पश्चात् अर्थलोलुपता, शंका, साधारण भय, प्रलोभन या भ्रान्ति के शिकार होकर सम्यक्श्रद्धा से विचलित होकर कुदेव, कुगुरु एवं कुधर्म की ओर झुक जाते हैं। प्रारम्भ में वे देखादेखी या किसी स्वार्थवश अपनी सुश्रद्धा से विचलित होते हैं, किन्तु बाद में वे उनके कट्टर अनुयायी, भक्त या पूजक बन जाते हैं। परन्तु जो जागरूक, दृढ़धर्मी, सम्यग्दृष्टि होते हैं, वे सच्चे देव (आदर्श) गुरु (मार्गदर्शक) एवं धर्म (मोक्षमार्ग) से कदापि विचलित नहीं होते, वे पूर्वोक्त ६ यतनाओं का बराबर ध्यान रखते हैं। किन्तु सभी गृहस्थों की, सदा-सर्वदा एक-सी परिस्थिति और क्षमता नहीं होती। उन्हें गृहस्थजीवन में रहते हुए आजीविका, सुख-शांति, सुरक्षा एवं कुटुम्बपालन आदि कई आवश्यक कार्य करने पड़ते हैं। इसलिए आचार्यों ने सम्यक्त्वी के बाह्य व्यवहार की दृष्टि से ६ आगार बताए हैं—

(१) रायाभिओगेणं, (२) गणाभिओगेणं, (३) बलाभिओगेणं (४) देवाभिओगेणं, (५) गुरुनिग्गहेणं, (६) वित्तीकंतारेणं। अभियोग का अर्थ है—बलप्रयोग, दबाव या विवशता की स्थिति। आगार छूट को कहते हैं। पर वह छूट जरा-जरा-सी बात में या शासक, समूह आदि को खुश रखने, कोई आग्रह या दबाव न होने पर भी उनसे अपना स्वार्थ सिद्ध करने, पद-प्रतिष्ठा या तरक्की पाने हेतु या देखादेखी मुलाहिजे में आकर इन आगारों का सेवन करना, सम्यक्श्रद्धा से विचलित होना है, अपने सम्यक्त्व को

भंग करना है। जब सम्यक्त्वी के जीवन पर कोई मरणभय, आजीविका संकट या ऐसी ही कोई अत्यन्त खतरे की स्थिति पैदा हो जाए तब इन आगारों में से विवेकबुद्धि से सोच-समझकर किसी आगार का बाह्य दृष्टि से आपवादिक रूप में सेवन कर सकता है। (i) पहला आगार है—राजाभियोग। यानी शासक का बलप्रयोग। (ii) दूसरा है—गणाभियोग, अर्थात्—जाति, समुदाय, संघ, समाज, व्यावसायिक संगठन अथवा दल गण कहलाता है। गण की अमुक बात अपने सम्यक्त्व के विरुद्ध हो, किन्तु न मानने से उससे सहयोग या संरक्षण मिलना कठिन हो जाता हो। ऐसी स्थिति में गण का आग्रह या अनुरोध अनिच्छा से मानना गणाभियोग आगार है। (iii) **बलाभियोग**—बल का अर्थ—सेना या बलवान् व्यक्ति है। कोई जबरदस्त व्यक्ति अपने देव या गुरु को नमन करने या किसी सम्यक्त्वविरुद्ध बात को मानने के लिए बाध्य कर दे, और अपनी शक्ति उसका प्रतीकार करके या विरोध करके अपने धर्म पर डटे रहने की न हो तब अनिच्छा से उसका कथन मानना बलाभियोग है। इसी प्रकार (iv) देवाभियोग में भी सम्यक्त्वी को अपने सिद्धान्त के विरुद्ध डाकिनी, शाकिनी, भूत, प्रेत, पिशाच आदि किसी देव के द्वारा बाध्य किए जाने पर अनिच्छा से उसे मानना, नमन आदि करना पड़े तो वहाँ देवाभियोग आगार समझना चाहिए। किन्तु इस आगार का नाम लेकर यदि कोई व्यक्ति किसी लौकिक स्वार्थ, लोभ, अन्धविश्वास, मनोरथपूर्ति, गलत कुरूढ़ि के वश किसी भी मिथ्यात्वग्रस्त या हिंसापरायण मांस-मदिरा से प्रसन्न होने वाले देवी या देव को मानता-पूजता है तो वहाँ देवाभियोग नहीं, वह सरासर सम्यक्त्वभंग का कारण है।

(v) **गुरुनिग्रह**—अपने माता-पिता, बुजुर्ग अध्यापक, कलाचार्य या कुलगुरु के आग्रहवश बलात् उनकी बात माननी पड़े जिससे अपने सम्यक्त्व में आंच आती हो, तो वहाँ गुरुनिग्रह आगार समझना चाहिए। जैसे—किसी के माता-पिता आदि अन्य धर्मसम्प्रदायानुयायी हों अथवा जैनधर्मानुयायी होते हुए उनको कोई भयंकर कष्ट दे रहा हो या असाध्य रोग हो वह मामूली प्रतीकार से न मिटता हो, ऐसी संकटापन्न परिस्थिति में गुरुजनों के दबाव से विवशतापूर्वक अनिच्छा से किन्हीं कुदेव-कुगुरु को मानना या पूजना पड़े तो उसका आगार गुरुनिग्रह कहलाता है।

(vi) **वृत्तिकान्तार**—वृत्ति यानी आजीविका में, कान्तार यानी कठिनता (खतरा) उपस्थित होने पर कोई चारा न हो, आजीविका खतरे

में पड़ जाने पर अपना या अपने परिवार का पालन करना कठिन हो जाए तो उस समय अन्यतीर्थिक कुदेव, कुगुरु की मान्यता-सेवा आदि व्यवहार विवशतापूर्वक करना वृत्तिकान्तार नामक आगार है।

ये छहों आगारों का सेवन संकटापन्न परिस्थिति में, तात्कालिक लाचारीवश ही किया जा सकता है, संकट दूर होने पर नहीं। संकटकाल में भी अन्तर्मन से तो वह अपने गृहीत सम्यग्दर्शन के प्रति पूर्ण निष्ठा-श्रद्धा रखेगा। ये आगार सम्यक्श्रद्धा से विचलित होने के लिए नहीं, किन्तु जागृतिपूर्वक उसकी सुरक्षा, शुद्धि और वृद्धि करने के लिए हैं।

(११) **छह भावनाएं**—सम्यग्दर्शन को पुष्ट और समृद्ध करने के लिए निम्नोक्त ६ भावनाएँ अपनानी चाहिए—सम्यग्दर्शन (१) धर्मरूपी वृक्ष का मूल है, (१) धर्मरूपी नगर का द्वार है, (३) धर्मरूपी प्रासाद की नींव है, (४) धर्म-जगत् का आधार है, (५) धर्मरूपी पदार्थ को धारण करने का पात्र (भाजन) है और (६) धर्मरूपी गुणरत्नों को रखने की निधि (निधान) है। इन सबके भाव स्पष्ट हैं।

(१२) **सम्यग्दर्शन साधना को पुष्ट करने हेतु छह स्थानक**—मूल में सम्यग्दर्शन की आधारशिला आत्मा है। यदि आत्मा के सम्बन्ध मेंसम्यग्दृष्टि के मन में शंका, भ्रान्ति या अस्पष्टता हो, तो सम्यग्दर्शन शुद्ध और सुरक्षित नहीं रह सकता। इसलिए आत्मा के विकास और उसकी शुद्ध-स्वरूप प्राप्ति में साधक-बाधक तथ्यों से सम्बन्धित ६ स्थानकों का प्रतिदिन चिन्तन करना आवश्यक है—(१) आत्मा है, (२) आत्मा नित्य है, (३) आत्मा अपने कर्मों का कर्ता है, (४) स्वयंकृतकर्मों के फल का भोक्ता है, (५) आत्मा मुक्ति प्राप्त कर सकता है और (६) मुक्ति का उपाय या मार्ग भी है। आत्मा का अस्तित्व एवं नित्यत्व कई प्रमाणों से सिद्ध है। आत्मा का व्यवहारदृष्टि से कर्मों का कर्तृत्व और भोक्तृत्व भी अनुभवसिद्ध है। आत्मा चाहे जितने बन्धन में पड़ा हो, किन्तु वह सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र तप की साधना में पुरुषार्थ करके उन कर्मों से सर्वथा मुक्त हो सकता है। कर्मबन्धनों से तथा जन्म-मरण आदि से सर्वथा मुक्त हो जाना ही मोक्ष है। मोक्ष का उपाय रत्नत्रय की साधना में स्वयं पुरुषार्थ करना है। नियति भाग्य, ईश्वर या किसी शक्ति के हाथ में मोक्ष नहीं है, वह स्वयं के हाथ में है। इन छह स्थानकों पर बार-बार चिन्तन-मनन करने से आत्मस्वरूप का दृढ़ निश्चय, शुद्ध आत्मा की अनुभूति-प्रतीति और

जिनोक्त तत्वों पर दृढ़ श्रद्धान होता है, जो सम्यक्त्व की शुद्धि में सहायक है।

सम्यक्श्रद्धा की शुद्धि-वृद्धि के आठ अंग

कोई भी शरीर के किसी अंग से हीन हो तो उसका शारीरिक सौन्दर्य, सुपुष्टता और शोभा में न्यूनता आ जाती है, इसी प्रकार सम्यग्-दर्शन की सुपुष्टता, सुन्दरता एवं शुद्धि के लिए जैनाचार्यों ने उसके आठ अंग या गुण निश्चित किये हैं—(१) निःशंकता (निर्भयता), (२) निष्कांक्षता, (३) निर्विचिकित्सा, (४) अमूढ़दृष्टि, (५) उपगूहन (या उपबृंहण), (६) स्थिरीकरण, (७) वात्सल्य एवं (८) प्रभावना। वस्तुतः सम्यग्दृष्टि व्यक्ति को नाना जातियों, नगर-ग्रामों, राष्ट्रों, धर्मसम्प्रदायों, अनेक परिवारों से, समाज एवं संस्कृति के लोगों से तथा उनके धर्मग्रन्थों या मान्यताओं से सम्पर्क आता है। ऐसी स्थिति या उसका व्यवहार, आचरण या शिष्टाचार अपनी मान्यता, सिद्धान्त, आदर्श श्रद्धा के प्रति वफादार रहते हुए कितना सुदृढ़ रहेगा, अपने सहधर्मियों, सहकर्मियों एवं साथियों के प्रति कितनी आत्मीयता या वत्सलता होगी? आत्मलक्ष्यी दृष्टि एवं धर्म-आचरण के सांचे में अपने जीवन को ढालकर वह अन्य लोगों को कैसे प्रभावित कर सकता है? इसके विषय में जागृत रहने हेतु ८ अंग बताये हैं, जिन्हें दर्शनाचार भी कहा गया है।

इन सब तथ्यों को ध्यान में रखने से ही सम्यक्श्रद्धा की शुद्धि-वृद्धि हो सकती है। □□

श्रद्धा के विभिन्न रूप

●

श्रेय का पथ ही श्रेयस्कर
सफलता का मूल मंत्र : विश्वास
सद्धा परम दुल्लहा
आत्मिक प्रगति की जननी : सत्श्रद्धा
आत्मविश्वास की अजेय शक्ति
संकल्प शक्ति के चमत्कार
दृष्टि बदलिए, सृष्टि बदलेगी
उत्कृष्ट आस्था के मूल मंत्र
यथार्थ जीवन दृष्टि का मूल्यांकन
उपासना का राजमार्ग
आत्म-समर्पण का मूल्य
'शम' और उसका स्वरूप
'शम' का द्वितीय रूप–शम
श्रमण संस्कृति का तृतीय मूल मंत्र : सम
समदृष्टि को परखने का दूसरा चिन्ह : संवेग
सम्यग्दृष्टि का तीसरा चिन्ह : निर्वेद
सम्यग्दृष्टि का चौथा चिन्ह : अनुकम्पा
आस्तिक्य का मूल : आत्मवाद
आस्तिक्य का द्वितीय आधार : लोकवाद
आस्तिक्य का तृतीय आधार : कर्मवाद
कर्मवाद : आस्तिक्य का प्राण
आस्तिक्य का चतुर्थ आधार : क्रियावाद

सद्धा परम दुल्लहा

द्वितीय खण्ड

१

श्रेय का पथ ही श्रेयस्कर

दो मार्ग

मनुष्य के सामने दो ही मार्ग हैं—एक है उत्थान का मार्ग और दूसरा है पतन का। दोनों की परस्पर विरोधी दो दिशाएँ हैं। इनमें से हम एक को श्रेय[1] का और दूसरे को प्रेय का, अथवा एक को पुण्य का और दूसरे को पाप का मार्ग कह सकते हैं।

परमार्थ और स्वार्थ, प्रशंसा और निन्दा, शान्ति और अशान्ति अथवा स्वर्ग और नरक के मार्ग भी यही हैं। इन दोनों में से मानव स्वेच्छापूर्वक किसी भी मार्ग को अपने लिए चुन सकता है और अपना भविष्य आलोकमय या अन्धकारमय अथवा शान्तिमय या क्लेशमय बना सकता है। श्रेयमार्ग पर चलता हुआ मनुष्य मानवता की पगडंडी से मार्गानुसारी, सम्यग्दृष्टि, श्रावकत्व और साधुत्व के महापथ पर बढ़कर अन्त में या तो सीधे ही मोक्ष की मंजिल पा लेता है, या फिर देवलोक में जाकर भोग्य शुभकर्मों का फल भोगकर उन्हें क्षीण करता है। इसके विपरीत प्रेयमार्ग पर चलने वाला मानव मानवता से च्युत होकर पशुता की पगडंडी अपनाता है, और अन्त में, 'दानवता की स्थिति में पहुँचकर नरक की अशान्त एवं क्षुब्ध मनोदशा की आग में झुलसता रहता है।

न चाहते हुए भी प्रेय का मार्ग अपनाते हैं

अधिकांश मानव यह जानते हैं कि स्वार्थ और दम्भ का अथवा

---

१. श्रेय का अर्थ है—आत्मिक सुख और प्रेय का अर्थ है इन्द्रिय-सुख।

लुभावने इन्द्रिय-विषयभोगों का प्रेयमार्ग परिणाम में दुःखकर है, जबकि परमार्थ और त्याग-तप-संयम का श्रेयमार्ग परिणाम में सुखकर है, फिर भी सामान्यतया वे इस गलती को बार-बार दुहराते रहते हैं, वे श्रेय का मार्ग छोड़कर प्रेय के मार्ग पर ही चल पड़ते हैं।

चित्तमुनि के जीव ने अपना कर्तव्य समझकर चक्रवर्ती ब्रह्मदत्त (सम्भूति के जीव) को प्रेयमार्ग की हानियाँ और श्रेयमार्ग के विविध दूरगामी लाभ बताकर समझाया था कि "प्रेयमार्ग तो इस जीव ने अनन्त-अनन्त बार अपना लिया, उससे अनन्त बार विभिन्न योनियों और गतियों में जन्म-मरण किया, अब तो इस मनुष्य-जन्म को पाकर श्रेयमार्ग अपनाने का अवसर है। श्रेयमार्ग को अपना लो।" परन्तु भोगों में अत्यासक्त ब्रह्मदत्त चक्रवर्ती पर उनके इस उपदेश का उलटा असर हुआ। वह चित्त-मुनि के जीव से रमणीय भोगों के लुभावने प्रेयमार्ग पर चलने का अनुरोध करने लगा। उनके लिए महल, भोगों की विविध सामग्री—सुन्दर रमणियाँ, वस्त्राभूषण आदि चित्ताकर्षक प्रेयमार्ग के सभी साधन देने को तैयार हो गया। परन्तु भोगों से सर्वथा विरक्त, तप-संयम के आग्नेय पथ पर आनन्द मनाने वाले आत्मार्थी चित्तमुनि के लिए प्रेयमार्ग को अपनाना असम्भव था। अतः उन्होंने ब्रह्मदत्त चक्रवर्ती से साफ-साफ कह दिया कि मैं इस संसारचक्र में नहीं फँस सकता। जिस प्रकार दलदल में फँसा हुआ मत्त हाथी जलाशय का तटस्थल देखते हुए भी वहाँ तक पहुँचने में असमर्थ होता है, उसी प्रकार ब्रह्मदत्त भी भोगों के दुष्परिणाम जानता हुआ भी भोगों के दलदल में फँसा हुआ था, वह निकल नहीं पा रहा था। तब अन्त में चित्तमुनि ने उसे सुलभ मार्ग बताते हुए कहा—

[1]जइतासि भोगे चइउं असत्तो, अज्जाइं कम्माइं करेहि रायं।

—हे राजन्! यदि तुम भोगों का त्याग करने में असमर्थ हो तो कम से कम आर्यकर्म तो करो, जिससे कि यहाँ से आयुष्य पूर्ण कर देवलोक में तो जा सको, कुगति के दुःखों से तो बच सको। परन्तु ब्रह्मदत्त ने मुनि की इतनी-सी बात भी नहीं मानी। आखिर मरकर ब्रह्मदत्त नरक का मेहमान बना।

इसके विपरीत चित्तमुनि ने कामभोगों से सर्वथा विरक्त, निष्काम

---

१. उत्तराध्ययन अ० १३ गा० ३२

होकर श्रेयमार्ग को ग्रहण किया, अनुत्तर संयम-पालन करके मुक्ति प्राप्त की।[1]

इस प्रकार हम देखते हैं कि श्रेय का मार्ग अपनाने की इच्छा रहते हुए भी व्यक्ति प्रेय की ओर लुढ़कने लगता है। मन में संकोच, भय और लज्जा रहते हुए भी पैर बरबस उसी दिशा में बढ़ते चले जाते हैं। क्या कारण है कि सुख चाहते हुए भी सुख का मार्ग छोड़कर व्यक्ति दुःख की ओर, तथा स्वर्ग का पथ छोड़कर नरक की ओर चल पड़ता है? शास्त्रों में इसका मूल कारण बताया है--अज्ञान और मोह। इन दोनों से बचते रहना चाहिए।[2]

अज्ञान और मोह के कारण ही व्यक्ति सत्पुरुषों से, सद्ग्रन्थों से तथा अपने अनुभव से पुण्य की महत्ता और पाप की हानियों को जानता-बूझता हुआ भी कुपथगामी बन जाता है।

गीता में अर्जुन द्वारा कर्मयोगी श्रीकृष्ण से पूछे जाने पर उन्होंने रजोगुणोत्पन्न काम और क्रोध को ही इसके लिए कारण बताया है। विविध कामनाओं, इच्छाओं, वासनाओं और आवेशों के वशीभूत होकर मनुष्य अदूरदर्शी बनकर तुरन्त उस ओर फिसल पड़ता है। ऐसे प्रेयमार्गी लोग प्रलोभनों के आते ही फिसल पड़ते हैं और क्षणिक सुख के कुचक्र में पड़ कर अपना भविष्य अन्धकारमय बना लेते हैं। उनमें देर या दूर के लाभ तक ठहर सकने योग्य धैर्य एवं साहस नहीं होता। वर्तमान के, आज के, अभी के क्षणिक लाभ की ओर इतना आकर्षित हो जाना कि भविष्य के दुष्परिणामों की ओर ध्यान ही न जाना—प्रेयमार्ग है। इस मार्ग को अपनाने का कारण है—अदूरदर्शिता, अधीरता, अविवेक, विचारहीनता या अविद्या। अज्ञान और मोह इनके जनक हैं। वैदिक परम्परा में इसे माया या अविद्या कहा गया है। कई लोग अनीति और अन्याय का, धर्म-अधर्म का या पुण्य-पाप का परिणाम जानते हुए भी तुरन्त लाभ के चक्कर में पड़कर अनीति और अधर्म को अपना लेते हैं।

दुर्योधन स्वयं राजनीतिज्ञ था। उसकी राजसभा में कई धर्म-धुरन्धर विद्वान् थे, कई इतिहास एवं पुराणों के वेत्ता भी थे, जो अहर्निश

---

१. उत्तरा० अ० १३, गा० ३५

२. अन्नाण मोहस्स विवज्जणाए.....। —उत्तरा० ३२/२

उसे हित-अहित की बातें सुनाकर धर्म नीति की प्रेरणा देते रहते थे। किन्तु दुर्योधन उन सबसे यही कहता था—

जानामि धर्मं न च मे प्रवृत्तिः।
जानाम्यधर्मं न च मे निवृत्तिः।

मैं धर्म को जानता हूँ, लेकिन उसमें प्रवृत्ति नहीं कर पाता, इसी प्रकार मैं अधर्म को भी जानता हूँ, किन्तु उससे निवृत्ति नहीं कर सकता। पाप और अनीति का मार्ग ऐसा है कि इसमें तात्कालिक लाभ मालूम होता है, परन्तु बाद में जब कठिनाइयाँ उत्पन्न होती हैं, तब पाप का भयंकर परिणाम भोगना पड़ता है। इसके विपरीत पुण्य, धर्म या नीति का मार्ग ऐसा है कि इस पर चलने वाले को प्रारम्भ में तप, त्याग एवं आत्मसंयम करना पड़ता है। उनके लाभ देर से दृष्टिगोचर होते हैं।

प्रेयमार्गी की मनोवृत्ति

उत्तराध्ययन सूत्र में ऐसे अदूरदर्शी लोगों की मनोवृत्ति का विश्लेषण करते हुए कहा गया है—

न मे दिट्ठे परे लोए, चक्खुदिट्ठा इमा रई····॥
हत्थागया इमे कामा, कालिया जे अणागया।
को जाणइ परे लोए, अत्थि वा नत्थि वा पुणो॥

परलोक मेरे सामने प्रत्यक्ष नहीं है; किन्तु यह रात्रि तो मेरी आँखों के समक्ष प्रत्यक्ष है। ये कामभोग तो हस्तगत हैं, (इन्हें तो मैं इच्छानुसार भोग सकता हूँ), किन्तु भविष्यकालीन कामभोग हैं, परोक्षकाल के गर्भ में हैं। और फिर परलोक है या नहीं, इसे कौन जानता है?

यह है प्रेयमार्गी की मनोवृत्ति! वह तात्कालिक कामभोगों के क्षणिक सुख के चक्कर में पड़कर बाद में मानसिक एवं शारीरिक क्लेश पाता है। इतना ही नहीं, वह कामभोगों के दूरगामी परिणामों को न जान कर हिंसा, झूठ, चोरी, डकैती, अन्याय-अनीति, बेईमानी, ठगी, माया, पैशुन्य आदि के चक्कर में पड़ जाता है। मांस-मदिरा का निःशंक होकर उपभोग करने लगता है। मन-वचन-काया से मतवाला होकर वह धन-वैभव और स्त्रियों में आसक्त हो जाता है। इस प्रकार के पाप कर्मों के फलस्वरूप वह यहाँ भी दुःख पाता है, अपना अधःपतन करता है, और परलोक में नरक का अतिथि बनकर भयंकर यातनाएँ सहता है।

मृगतृष्णा के समान प्रेयमार्ग

मरुस्थल में मृग को दूर से पानी ही पानी भरा हुआ दिखता है, बेचारा प्यासा मृग उस पानी को पीने के लिए दौड़ता है; परन्तु निकट जाने पर पानी हाथ नहीं लगता, केवल बालू ही नजर आती है। वैसे ही प्रेयमार्गी कामभोगों के सेवन से सुख पाने की आशा में दौड़ लगाता है। परन्तु ज्यों-ज्यों वह कामभोगों का अधिकाधिक सेवन करता है, त्यों-त्यों सुख पाने के बदले उत्तरोत्तर अधिक दुःख पाता है। पाँचों इन्द्रियाँ क्षीण, चंचल और रुग्ण हो जाती हैं, मन व्यग्र, व्याकुल और अस्थिर हो जाता है। कई बार तो वह अपना सर्वनाश कर बैठता है।

अल्पलाभ : महाहानि

यह माया या अविद्या ऐसी है, जिसके जाल में फँसकर मनुष्य तत्काल के अल्पलाभ के लिए भविष्य को अन्धकारमय बना लेता है। वह कोई बाहरी या दैवी-दानवी शक्ति नहीं है, वह है मनुष्य की अदूरदर्शिता। जिसे शास्त्रीय भाषा में हम प्रेयमार्ग कहते हैं। दूरगामी दुष्परिणामों की चिन्ता न करके तुरन्त का लाभ सोचने वाले मानव भयंकर से भयंकर दुष्कर्म करने पर उतारू हो जाते हैं। उत्तराध्ययन सूत्र में इस सम्बन्ध में एक सुन्दर रूपक द्वारा समझाया गया है।

एक धनाढ्य ने एक मेमना पाला। उसे वह बढ़िया चावल, जौ एवं चारा-दाना देकर पोसने लगा। धीरे-धीरे वह मेमना अत्यन्त हृष्ट-पुष्ट और विशालकाय मेंढा बन गया। एक दिन उस धनाढ्य के यहाँ कुछ मेहमान आये। उनकी खातिरदारी करने के लिए उक्त परिपुष्ट मेढ़े को काटकर उसका मांस पकाकर खिलाया। जिस प्रकार वह मेंढ़ा सुन्दर पुष्टिकर भोजन के बदले में अपना सर्वनाश करा बैठा, उसी प्रकार प्रेयार्थी मानव कामसुखों के लोभ में पड़कर हिंसा, झूठ, चोरी, लूट-पाट, माया, व्यभिचार, मांस, मदिरा आदि का सेवन करके हृष्ट-पुष्ट एवं विशालकाय बन जाता है, किन्तु एक दिन जब मौत का वारंट आता है तो उसे ये सब कामभोग सामग्री छोड़कर पापकर्मों से भारी होकर बहुत ही पश्चात्ताप के साथ घोर अन्धकारमय नरकगति में भयंकर यातना भोगने के लिए जाना पड़ता है।

आजकल के जेलखानों में निन्दा, घृणा और यातना का जीवन बिताने वाले अधिकांश वे लोग हैं, जो अपने तात्कालिक लोभ, स्वार्थ या आवेश का संवरण नहीं कर सके और भयंकर पापकर्म में रत हो गये। आज वे जन-

समाज से बहिष्कृत एवं दयनीय होकर जेलों में पड़े सड़ रहे हैं। नरक की बड़ी जेल में ले जाने वाला भी यही एक कारण है—प्रलोभनों में फिसलने से बच सकने योग्य धीरता और दूरदर्शिता का अभाव।

कांटे की नोंक में लगी हुई जरा-सी आटे की गोली का लोभ मछली संवरण नहीं कर पाती। फलतः वह अपने प्राणों से हाथ धो बैठती है। जाल में बिखरे हुए जरा से दानों के चुगने के लोभ में यदि भोली चिड़िया न पड़ती तो फड़फड़ाकर मरने की आफत से वह बच सकती थी। दीपक के रूप पर लुभाने वाला पतंगा आगा-पीछा न सोचकर दीपक पर टूट पड़ता है, वह आखिर क्या पाता है? खुद भी जल मरता है और दीपक को भी बुझा देता हैं। रस का लोभी भौंरा कमल की पंखुड़ियों में बंद होकर क्या पाता है? वह हाथी द्वारा रौंदा जाता है और कमल का भी नाश करवाता है। प्रारंभ में थोड़े-से लालच में पड़कर ठग के चक्कर में पड़ने वाला भोला मनुष्य बुरी तरह मूंड़ लिया जाता है।

तिर्यंच तो बेचारे अज्ञानवश रूप, रस, गंध एवं स्पर्श के जरा से लोभ में पड़कर अपना जीवन खो बैठते हैं। परन्तु मनुष्य जैसा समझदार प्राणी भी अपने शारीरिक स्वार्थ के थोड़े से लाभ के लिए अपनी महान् आत्मा को कलुषित करके सर्वनाश अधःपतन करा बैठता है। इन्द्रियों की विषय-वासनाएँ तृप्त करने के समय बड़ी प्रिय लगती हैं, परन्तु उस काम-भोग-सेवन के दूरवर्ती परिणाम इतने भयंकर, उलझन-भरे एवं मानसिक-शारीरिक यातना देने वाले होते हैं जो अन्त में मनुष्य का सर्वनाश करके ही छोड़ते हैं, उसे असंख्य भवों में भ्रमण कराते हैं, और उन दुर्गतियों और दुर्योनियों में उसे सद्बोध नहीं मिलता।

परलोक में दुःख पाने की बात छोड़ दें, इस लोक में भी प्रेयमार्गी—इन्द्रिय विषयों के दास को उसका भारी मूल्य चुकाना पड़ता है। उदाहरण के तौर पर—एक जिह्वालोलुप व्यक्ति विविध स्वादिष्ट भोजनों, व्यञ्जनों और चटपटे खान-पान को जल्दी-जल्दी अधिक मात्रा में सेवन करने के लिए लालायित रहता है। इस प्रकार जिह्वेन्द्रियतृप्ति में सुख मानने वाला व्यक्ति अपने इस असंयम के कारण अखाद्य, दुष्पाच्य एवं गरिष्ठ स्वादिष्ट खाद्य-पेय का सेवन करके अपना पेट खराब करता है, रक्त को दूषित करता है, नाना प्रकार की भयंकर बीमारियों का शिकार बनता है। इस प्रकार शारीरिक दुर्बलता की वह समस्या केवल शारीरिक कष्ट ही नहीं, परा-धीनता, आर्थिक कठिनाई, कार्यों में असफलता आदि की अगणित समस्याएँ

पेदा करती है। जिह्वेन्द्रिय के विषय-सेवन के क्षणिक लोभ में पड़कर इहलौकिक अगणित समस्याएँ पैदा करने वाले प्रेयमार्गी की तुलना में जिसने जिह्वेन्द्रिय पर संयम करके अपने तन-मन को स्वस्थ रखा है, उस श्रेयमार्गी की समस्याएँ बहुत ही कम होती हैं। इसी प्रकार कामेन्द्रिय (स्पर्शेन्द्रिय) की वासना-पूर्ति के क्षणिक सुख में आसक्त होकर जो अपने जीवन-रस को निचोड़ डालते हैं, उन्हें असमय में ही बुढ़ापा आ घेरता है, शरीर रोगों का घर बन जाता है; आँख, नाक, कान, जीभ, हाथ-पैर आदि सभी इन्द्रियाँ जबाब देने लगती हैं; प्रायः असमय में ही मौत सामने आ धमकती है। जितने बच्चों का उत्तरदायित्व वह नहीं उठा सकता, उतने बच्चे पैदा हो जाते हैं। फिर उनके खाने-पीने, पहनने-रहने और मौज-शौक पूरे करने की तथा बीमारी, पढ़ाई, शादी आदि की समस्याएँ सामने आती हैं। उन्हें रोजगार-धन्धे से भी लगाना पड़ता है। कोई लड़का अयोग्य या कुपात्र निकला तो नई उलझनें आ पड़ती हैं। पत्नी भी यदि सुलक्षणी और सुपात्र न हुई तो दुर्गुणी, कर्कशा एवं क्रोधी पत्नी को लेकर नित नई समस्या उत्पन्न हो जाती है। ऐसे प्रेयमार्गी को शरीर की वासनाएँ भोग के समय अत्यन्त प्रिय लगती हैं, परन्तु उनका परिपाक इतना भयंकर होता है कि संभाले नहीं सँभलता।

इसी प्रकार मन की तृष्णा को शान्त करने में सुख मानने वाला प्रेयमार्गी अर्थलोलुप बनकर अन्याय-अनीति, अधर्म एवं पाप को अपनाकर येन-केन-प्रकारेण धन कमाता है, भवन, वाहन, उद्यान तथा अन्य सुख-साधन जुटाता है। इस प्रकार धन-वैभव और अर्थ-लोभ के प्रवाह में बहकर वह केवल शरीर और शरीर से सम्बन्धित परिवार आदि की चिन्ता में ही अपना सारा जीवन खपा देता है। यद्यपि अपनी और अपने आश्रित परिवार की ठीक प्रकार से गुजर-बसर करने लायक धनप्राप्ति से उसे सन्तोष कर लेना चाहिए था, किन्तु प्रेयमार्गी ऐसा नहीं करता, वह दूरदर्शिता से सोच भी नहीं पाता है। वास्तव में प्रेयार्थी केवल शरीर तक ही सोच पाता है, दूरदर्शी बनकर आत्मा के विषय में वह सोच ही नहीं पाता। होना यह चाहिए था कि वह अपने कुटुम्ब के निर्वाह के योग्य धन न्याय-नीति से अर्जित करने के साथ ही बचा हुआ समय आत्मचिन्तन में, परमार्थ में, आत्म-कल्याण में लगाता, परन्तु प्रेयार्थी के मन-मस्तिष्क में, ऐसा सुबोध आता ही नहीं, न ही वह ऐसा सुबोध प्राप्त करने अथवा उसे क्रियान्वित करने की परवाह करता है। अपनी मानसिक तृष्णा की पूर्ति के लिए वह हजार से

लाख और लाख से करोड़ की ओर दौड़ लगाता है। परन्तु मान लो इतना प्राप्त हो जाए तब भी उसे सुख-शांति की नदी मृगतृष्णा की तरह सूखी ही मिलती है। प्रचुर धनप्राप्ति के साथ ही अपार समस्याएँ उसके सामने मुँह बाए खड़ी रहती हैं, इन्कमटेक्स, सेल्सटेक्स, वेल्थटेक्स की, चोर-डाकू आदि से, आग से एवं अन्य दुर्घटनाओं से धन की रक्षा की समस्याएँ, फिर लड़कों में बँटवारे की समस्या, रात-दिन चिन्ता ही चिन्ताएँ उसके प्राण चूस लेती हैं। वह आत्मकल्याण की बात सोच ही नहीं पाता। उसे प्रारम्भ में धन कमाना, जोड़ना और अपने सुख-भोग-विलास में उड़ाना-फूँकना प्रिय, सुखकर एवं स्वाभाविक लगता है किन्तु बाद में जब उपर्युक्त समस्याएँ सामने आती हैं, तो निरंतर बेचैनी बनी रहती है। बेचैनी मिटाने के लिए तिकड़मबाजी एवं जालसाजी करने पर भी हरदम चिन्ता लगी रहती है। फिर उसका जंजाल इतना बढ़ जाता है कि उसे खाने-पीने, सोने, पत्नी-बच्चों से बात करने, बच्चों को शिक्षण-संस्कार देने की भी फुरसत नहीं मिलती। प्रसिद्धि, वाहवाही और नामबरी की तृष्णा भी इतनी भयंकर है कि वह आदमी को ऐसे उड़ाये फिरती है, जैसे—आंधी के झोंके पत्तों को उड़ाये फिरते हैं। विवाह-शादियों में लोग पैसे को पानी की तरह बहाते हैं, इसमें प्रतिष्ठा और बड़प्पन की तृष्णा काम करती है। फैशन और ठाठ-बाट पर लोग प्रचुर मात्रा में खुलकर खर्च करते हैं, वह भी वाहवाही की तृष्णा का परिणाम है। चुनावों में खड़े उम्मीदवार प्रायः इसी तृष्णा के शिकार होते हैं। इस प्रकार की अगणित तृष्णाएँ प्रेयार्थी मनुष्य की अदूरदर्शिता के कारण उसके चारों ओर मंडराती रहती हैं। उन तृष्णाओं की पूर्ति के लिए इतने विशाल ताने-बाने बुनने पड़ते हैं कि जाले में फँसी हुई मकड़ी की तरह अपने ही द्वारा गूंथे जाल में प्रेयार्थी फँसा रहता है।

जब उन्हें श्रेयार्थी बनकर आत्मचिन्तन, आत्म-कल्याण एवं परमार्थ के लिए कहते हैं तो वे यही वाक्य बार-बार दुहराते हैं क्या करें, समय ही नहीं मिलता।

प्रेयार्थी यह सोचे

यदि शरीर और इन्द्रियविषयों की अमिट वासनाओं और मन की अगणित तृष्णाओं को स्वल्पमात्र में एक लघु क्षण के लिए तृप्त करने में सारा जीवन खपा दिया जाए, फिर भी अग्नि में घी डालते रहने पर न बुझने वाली ज्वाला की तरह प्रेयार्थी के अशान्ति ही पल्ले पड़ी तो इस

गोरख-धन्धे में उलझे रहना क्या बुद्धिमानी समझी जाएगी ? इसके बदले श्रेयार्थी बनकर यदि समुचित श्रम, समय और मन-मस्तिष्क को जीवनयात्रा के लिए आवश्यक एवं उचित साधन जुटाने में लगाया जाए और बचे हुए समय और पुरुषार्थ को आत्मकल्याण एवं परमार्थ में लगाया जाए तो उभयलोक में चिरकाल तक जीवन का आनन्द प्राप्त होता। साथ ही उक्त अगणित समस्याओं और चिन्ताओं से भी छुटकारा मिलता, तथा इस धरती पर जीने वाले असंख्य प्राणियों को उसके शान्तिमय जीवन से लाभ मिलता। इसीलिए ज्ञानी पुरुषों ने कहा है—

सोच्चा जाणइ कल्लाणं, सोच्चा जाणइ पावगं।
उभयं पि जाणइ सोच्चा, जं सेयं तं समायरे॥

भावार्थ यह है कि 'मनुष्य श्रवण-मनन करके कल्याण (श्रेय) और पाप (प्रेय) को जानता है। अतः श्रेय और प्रेय दोनों को जानकर जो श्रेय (कल्याणकर) है, उसका आचरण करे।'

किसको महत्त्व दें ? : शरीर को या आत्मा को ?

प्रश्न होता है—शरीर को महत्त्व दें या आत्मा को ? शरीर को महत्त्व देने वाले प्रेयार्थी जीवन का वास्तविक स्वरूप न समझने के कारण पूर्वोक्त नाना परेशानियों और समस्याओं में उलझते एवं बेचैन होते रहते हैं जबकि श्रेयार्थी आत्मा को महत्व देते हैं, वे शरीर को एक औजार या साधन समझ कर उसी प्रकार से उसका उपयोग करते हैं, जिससे वह आत्मसाधना करने के लिए सक्षम, सशक्त और उपयोगी बना रहे, वह उसमें बाधक न हो। श्रेयार्थी यह समझता है कि मूल में तो भवभ्रमण के कारणों से आत्मा की रक्षा के लिए मानव-शरीर मिला है। वह एक प्रकार का वाहन है, जिसका उद्देश्य आत्मा को भवसागर से पार कराना है। उत्तराध्ययन सूत्र में कहा है—

सरीरमाहु नाविति, जीवो वुच्चइ नाविओ।
संसारो अण्णवो वुत्तो, जं तरंति महेसिणो॥

शरीर को नौका और जीव को नाविक कहा गया है, संसार को सागर कहा गया है, जिसे मनस्वी महर्षि पार कर लेते हैं।

शरीर एक नौका है। इसका मालिक (नाविक) अपने इस वाहन की आवश्यक देखभाल एवं सुरक्षा व्यवस्था तो करता है क्योंकि टूटी-फूटी और जर्जर नौका होगी तो वह पानी पर तैरने के बजाय डूबने लगेगी, नाविक को भी अतल समुद्र में डुबा देगी। किन्तु नौका का मालिक चौबीसों

घंटे उसे सजाने-संवारने, उसे चमकाने और उसे पर पॉलिश करते रहने में नहीं लगा रहता। उसे अपनी मंजिल का भी ध्यान रखना होता है, जिसके लिए उसने नौका खरीदी है, इसी प्रकार शरीर के मालिक आत्मा (जीव) को भी चाहिए कि वह शरीर की यथोचित संभाल रखे, किन्तु चौबीसों घंटे उसे सजाने-संवारने, उसे नहलाने-धुलाने, खिलाने-पिलाने और ऐश-आराम करने में ही वह न लगाए। इसके विपरीत यदि कोई व्यक्ति 'यह शरीर संसार-सागर को पार कराने के लिए मिला है; इससे संसार-सागर को पार करना है,' इस उद्देश्य को भूल कर चौबीसों घंटे शरीर को ही सजाने-संवारने आदि में लगा रहे, शरीर के अन्तर्गत इन्द्रियाँ, मन, बुद्धि आदि को भी उनकी वासनाओं और तृष्णाओं की पूर्ति में अहर्निश लगा रहे, तो क्या वह बुद्धिमान समझा जाएगा? आगम की भाषा में वह 'बहिरात्मा' है, अन्तरात्मा नहीं।'

आगम की आध्यात्मिक भाषा में संसार को सागर इसलिए कहा गया है कि सागर अथाह एवं अनन्त होता है, उसी प्रकार विविध गतियों में परिभ्रमणरूप या जन्म-मरणरूप संसार भी अनन्त है, क्षेत्र एवं काल दोनों दृष्टियों से। दूसरे, जैसे समुद्र मगरमच्छों, घड़ियालों तथा अन्य अनेक हिंस्र जलजन्तुओं से भरा रहता है, जो दाव लगते ही अपने शिकार को निगल जाते हैं, वैसे ही संसार-सागर क्रोध, मान, माया, लोभ, राग-द्वेष, विषयवासना, मानसिक तृष्णाओं एवं मोह, मद, मत्सर, ममता-मूर्च्छा इत्यादि विकारों से भरा पड़ा है, ये भी भोले-भाले संसारी जीव को प्रलोभन देकर फँसा लेते हैं। जैसे—समुद्र को सही-सलामत पार करने के लिए मनुष्य को समुद्री जलजन्तुओं से बहुत ही सतर्क और बाहोश रहना पड़ता है, अगर जरा-सा भी असावधान रहे तो उसे हिंस्र जलजन्तु निगल सकते हैं, इसी प्रकार संसार-सागर में भी श्रेयार्थी साधक को बहुत सावधान रहना पड़ता है, जरा-सी असावधानी उसके लिए प्राणघातक बन सकती है। संसार-सागर को पार करने के लिए मिली हुई शरीररूपी नौका भी कहीं इन्द्रियों और मन की विषय-वासनाओं या तृष्णाओं के चक्कर में पड़कर डुबो न दे, इसकी भी पूरी सावधानी रखता है। परन्तु खेद है कि वर्तमान में अधिकांश मनुष्यों को मिली हुई देवदुर्लभ मानवदेह-रूपी नौका का उद्देश्य भुलाकर संसार-सागर के विषय-कषायादि विकारों के भंवरजाल में ही फँसाकर इसे डुबा रहे हैं। ऐसे असावधान, लापरवाह, प्रेयार्थी नाविक आत्मा को एवं उसके कल्याण को महत्त्व न देकर शरीर-रूपी नाव को सजाने-सँवारने और इसे ही चमकाने-दमकाने में लगे हुए हैं।

मानव-जीवन का द्विविध उपयोग

मानव-जीवन के दो ही उपयोग हो सकते हैं। एक जीवन ऐसा है, जो तृष्णाओं और वासनाओं के जंजाल में जकड़ा हुआ, उसी में व्यस्त है, जिसमें न तो आत्मकल्याण की साधना के लिए अवकाश मिलता है, न ही वैसी इच्छा जागती है। दूसरा वह है, जिसमें सीमित आवश्यकताओं और आकांक्षाओं के साथ संतोषपूर्वक जीते हुए तथा कर्मयोगी की तरह संसार के कर्तव्यों और उत्तरदायित्वों को शान्तिपूर्वक विवेक से निभाते हुए, परमार्थ का भी सम्पादन किया जाता है। निश्चय ही दूसरा जीवनक्रम अधिक दूरदर्शितापूर्ण, श्रेयःसाधक एवं लाभदायक है। परन्तु खेद है कि आज अधिकांश लोग श्रेय की बातें भले ही करते हों, परन्तु जीवनक्रम प्रेय को ही अपनाये हुए हैं, जिसमें अशांति, बेचैनी, बर्बादी और पश्चात्ताप के अतिरिक्त और कुछ भी मिलता नहीं है। प्रेयार्थी लोग उसी सुखाभास को सुख समझकर अपनाये हुए हैं।

तुलनात्मक दृष्टि से इन दोनों प्रकार के जीवनक्रमों पर विचार करने पर सूर्य के उजाले की तरह स्पष्ट प्रतीत होगा कि लाखों-करोड़ों वर्षों बाद मिले हुए करोड़ों रुपयों से भी अधिक मूल्यवान इस सुरदुर्लभ मानव-जीवन को श्रेयमार्ग में लगाकर सदुपयोग किया जाना चाहिये, न कि इन्द्रिय-विषयभोगों, कामादि विकारों या मानसिक तृष्णाओं के चक्कर में फँसाकर इसे प्रेयमार्ग में बर्बाद किया जाय।

फुरसत का अभाव भी बहाना है

प्रेयार्थियों द्वारा श्रेय कर्मों के लिए फुरसत न मिलने का कथन भी बहाना ही है। गम्भीरता से सोचने पर इसकी सत्यता समझ में आ जाएगी। यह सत्य है कि जीवन पानी के बुलबुले की तरह क्षणिक है। भरी जवानी में उठती उम्र के नौजवानों की लाशें रोज ही आँखों के सामने गुजरती हैं। फूल-से कोमल बच्चे देखते ही देखते मुर्झा जाते हैं, फिर किसी के बारे में क्या निश्चय है कि उसे सौ वर्ष तक जीने का अवसर मिलेगा ही। अगर आज ही जीवन समाप्त हो जाये, मौत सामने आ खड़ी हो तो फिर ये समस्याएँ, आकांक्षाएँ, चिन्ताएँ, तृष्णाएँ या वासनाएँ किस प्रकार पूर्ण होंगी, जो आज प्रेयार्थियों को परेशान करती हैं? सोचने की बात है कि यदि वह दुःखद घड़ी कल ही उपस्थित हो जाए तो जिन व्यस्तताओं में से घड़ी भर भी आत्मचिन्तन, आत्मकल्याण या परमार्थ के लिए फुरसत नहीं

मिलतो, फिर कब मिलेगी? श्रेयपथ पर चलने को यह उपेक्षा परलोक-विदाई के समय कितनी कष्टकारक और पश्चात्तापदायक होगी?

फिर यह बात भी विचारणीय है कि व्यस्त मनुष्य भी अपने स्वजनों की जीवनरक्षा में बहुत समय लगाने में कठिनाई महसूस नहीं करता; क्योंकि उसे वह उपयोगी और आवश्यक समझता है। यदि स्त्री या बच्चा बीमार हो तो व्यस्तता के अगणित कार्यों या लाभ के कितने ही कार्यों को पीछे के लिए छोड़कर सर्वप्रथम उनकी चिकित्सा तथा परिचर्या में समय लगाता है, क्योंकि उसकी दृष्टि में यह कार्य महत्त्वपूर्ण या आवश्यक है। प्रेयार्थी की दृष्टि में महत्त्वपूर्ण समझे जाने वाले कार्य सदा प्राथमिकता प्राप्त करते हैं, उनके लिए तुरन्त समय निकाला जाता है। समय का अभाव आमतौर पर उन्हीं आत्मश्रेयस्कर कर्मों के लिए रहता है, जिन्हें वे महत्त्वहीन, अनुपयोगी और बेकार समझते हैं। निष्कर्ष यह है कि आत्म-कल्याण के लिए फुरसत नहीं मिलती, इसका अर्थ इतना ही है कि इस श्रेयस्कर कार्य को सबसे व्यर्थ, सबसे कम उपयोगी और उपेक्षणीय माना जाता है। अतः फुरसत न मिलने का कथन सहज एक बहाना है।

उचित आवश्यकताओं की पूर्ति भी कठिन नहीं

अब रहा शरीर की उचित आवश्यकताओं की पूर्ति का प्रश्न। वस्तुतः शरीर की उचित आवश्यकताएँ बहुत आसानी से पूरी हो सकती हैं, बशर्ते कि वासनाओं, तृष्णाओं और महत्वाकांक्षाओं पर नियंत्रण प्राप्त कर लिया जाए। वासनाओं और तृष्णाओं पर यदि स्वेच्छा से अंकुश लगा दिया जाये तो मन-मस्तिष्क को काफी अवकाश आत्मचिन्तन के लिए मिल सकता है। वासनाओं और तृष्णाओं की महत्त्वाकांक्षाएँ ही प्रेयार्थी मनुष्य का सारा समय, सारी मन-मस्तिष्कीय शक्ति और ओज को जोंकों की तरह चूसती रहती है। यदि इन जोंकों से छुटकारा प्राप्त किया जा सके तो हर आदमी के पास आत्मकल्याण के लिए कुछ सोचने और करने को बड़ी मात्रा में समय बच सकता है। पेट भरने को रोटी, तन ढकने को कपड़ा तथा आश्रित परिवार के उचित पोषण की सीमा तक जिसकी महत्त्वाकांक्षाएँ सीमित हो जाएँ तो कोई कारण नहीं कि उसे परमार्थ एवं आत्मश्रेय के लिए पर्याप्त समय न मिले। जो व्यक्ति तन-मन की भौतिक एवं कृत्रिम आवश्यकताओं की पूर्ति में ही सारा समय न लगाकर उसमें कटौती और संयम करता है, वह इस सुरदुर्लभ मानव-शरीर का सदुपयोग करके स्वयं ८४

लाख योनियों में लाखों वर्षों तक भ्रमण करने वाली पीड़ाओं से छूट जाता है, तथा भावी पीढ़ी के लिए प्रकाशस्तम्भ बन जाता है।

श्रेयमार्ग पर चलने की अर्हताएं

श्रेय का मार्ग महान है। जो विवेक और दूरदर्शिता को अपनाए रहता है, प्रलोभनों और भयों से स्खलित नहीं होता, सन्मार्ग से किसी भी मूल्य पर कदम पीछे नहीं हटाता, वास्तव में वही श्रेयपथ का अधिकारी है, वही इस शरीररूपी नैया द्वारा भवसागर को पार कर लेता है, उसी का मानव-शरीर धारण करना सार्थक है। श्रेयमार्ग का पथिक बनने के लिए सर्वप्रथम लक्ष्य की ओर दृष्टि रखना आवश्यक है। वह दूरदर्शी बनकर विवेक से काम ले। आज का कार्य करने से पूर्व कल की सम्भावनाओं का ध्यान रखे। वही करे जो करने योग्य है, वही सोचे जो श्रेय के लिए विचारणीय है, उसे ही अपनाये जो उचित जचे। अनुचित, अकरणीय एवं अनाचरणीय से तुरन्त अलग हो जाये। अनीति-अन्याय के मार्ग पर दिखाई देने वाले प्रलोभनों की ओर दौड़ने वाले मन को कड़ी लगाम लगाकर रोकने की वीरता दिखाये। आज नीरस या कठिन दीखने वाले कार्य या मार्ग को भविष्य की उज्ज्वल आशाओं तथा आत्मिक विकास को ध्यान में रखते हुए अपनाने का साहस दिखाए। ऐसे श्रेयमार्गी दूरदर्शी सबके हित में अपना हित और सबके सुख में अपना सुख समझते हैं। संकुचित लाभ या संकुचित स्वार्थ की उनकी दृष्टि नहीं होती। दूसरों की सुख-शान्ति के लिए वे अपना सर्वस्व त्याग करने को तैयार होते हैं। दूसरों को जिलाकर जीने का महामन्त्र उनकी रग-रग में भरा रहता है।

श्रेय मार्ग पर चलने वालों की कसौटी भी होती है। चोरी, बेईमानी आदि करके अपने व्यक्तित्व की प्रतिष्ठा बेचकर छोटा-सा लाभ प्राप्त करने वाले प्रेयमार्गियों की अपेक्षा श्रेयमार्गी को बहुत कम क्लेश एवं कष्ट प्राप्त होता है। पुण्य, परमार्थ, श्रेष्ठता और महानता के तथा आस्तिकता और धार्मिकता के श्रेयपथ पर चलना तथा निरन्तर प्राप्त होने वाली शांति को उपलब्ध करना कोई कष्टसाध्य नहीं है, बशर्ते कि मनुष्य तात्कालिक लोभ को त्यागकर दूरवर्ती परिणामों पर विचार करे और उसी के आधार पर गति-प्रगति करने के लिए कृतसंकल्प एवं कटिबद्ध हो जाये। अतः प्रेय और श्रेय दोनों मार्गों में से श्रेयमार्ग को अपनाना ही श्रेयस्कर है

२

सफलता का मूलमंत्र : विश्वास

विश्वास : जीवनयात्रा का पाथेय

हमारी जीवनयात्रा बहुत लम्बी है। पहले शैशवकाल, फिर बाल्यकाल, किशोरावस्था, युवावस्था, प्रौढ़ावस्था और फिर वृद्धावस्था, यों अनेक पड़ाव करती हुई हमारी जीवनयात्रा चलती है। जीवन से मृत्यु तक के बीच में हमें अनेक मंजिलें पार करनी पड़ती हैं। इस प्रकार की लम्बी जीवनयात्रा में हमारा पाथेय होता है—विश्वास। अगर विश्वास हमारे साथ न हो तो हमारी आगे की यात्रा ठप्प हो जायेगी। हम अपनी जीवनयात्रा के प्रत्येक पड़ाव पर संदेह, शंका, अविश्वास, घृणा और भय से घिरे रहेंगे। हमें आगे का मार्ग नहीं मिलेगा। हम शंकाग्रस्त होकर वहीं ठिठक जायेंगे। विश्वास ही हमारा सम्बल है, जो हमें अपनी जीवनयात्रा में आगे बढ़ाता है।

मनुष्य जब से जन्म लेता है, तब से शैशवावस्था पार करने तक बिल्कुल अबोध होता है। उस समय वह अबोध शिशु माता पर विश्वास रखता है। माता उसे जो भी कह देती है, जो भी सिखाती है, वह उस पर पूर्ण विश्वास रखता है। उस समय माता उसे जो भी खिलाती-पिलाती है, वह विश्वास रखकर खाता-पीता है। वह उसे जहाँ नहीं जाने को कहती है, वहाँ नहीं जाता। शैशवावस्था में माता जो भी देती है, बच्चा उसे विश्वासपूर्वक ले लेता है।

शैशवावस्था के पश्चात् बाल्यावस्था आती है, उस समय तक बालक

कुछ जानकार हो जाता है। वह अपने पिता, भाई, बहन, चाचा, मामा आदि अन्य सम्बन्धियों को जान जाता है और उनकी बात पर विश्वास करके चलता है। इस अवस्था में उसे लकड़ी का घोड़ा, हाथी या लोहे की मोटर, रेलगाड़ी आदि खिलौने देकर पहचान कराई जाती है कि यह घोड़ा है, यह हाथी है, यह मोटर है, यह रेलगाड़ी है आदि। बालक अपने सम्बन्धियों पर विश्वास करके उन खिलौनों को ही असली घोड़ा-हाथी आदि मानने लग जाता है। आगे चलकर असली हाथी-घोड़े आदि को देखकर उनका विश्वास परिपक्व हो जाता है।

बाल्यकाल पार करने के बाद किशोरावस्था में आता है, तब वह पाठशाला में जाने लगता है। वहाँ अध्यापकों के द्वारा किशोर को जो कुछ बताया जाता है, वह उस पर विश्वास रखकर सीखता है, अपनी ज्ञानवृद्धि करता है। अगर वह अपनी पाठशाला में अध्यापक पर विश्वास न रखे तो उसका शिक्षणकार्य एक दिन भी आगे नहीं बढ़ सकता। अध्यापक के द्वारा सिखाये हुए पाठ पर विश्वास न रखे तो उसका शिक्षण वहीं ठप्प हो जायेगा।

युवावस्था में पदार्पण करते ही उसका जीवन जगत् के साथ जुड़ता है। युवक के समक्ष सभी दिशाएँ खुलती हैं। महाविद्यालय, (कॉलेज) में इंजीनियरी, डॉक्टरी, वकालत या विज्ञान, कैमिस्ट्री, जीवविज्ञान, अथवा अन्य किसी विषय की शिक्षा का कोर्स करना चाहता है। क्या वह अपने मनोनीत विषय के प्रोफेसर पर विश्वास किये बिना उस विषय की शिक्षा प्राप्त कर सकती है या उस विषय में पारंगत हो सकता है ? कदापि नहीं। यदि वह उस विषय की कुञ्जी से अपनी ज्ञानवृद्धि करेगा, तो भी उस उसे कुञ्जी पर तो विश्वास रखकर पढ़ना ही होगा। तभी वह उत्तीर्ण हो सकेगा।

अगर वह युवक व्यावसायिक क्षेत्र में निष्णात होना चाहता है तो उस व्यवसाय के किसी जानकार या विश्वस्त व्यक्ति या पिता आदि पर विश्वास रखकर ही उसे अपनी ज्ञानवृद्धि करनी होगी।

व्यापारिक क्षेत्र में अपने माल के आयात-निर्यात के मामले में अथवा बड़े व्यापारी को छोटे व्यापारी को माल उधार देने अथवा छोटे व्यापारी को बड़े व्यापारी से माल खरीदने में विश्वास रखकर ही चलना होता है। बैंकों पर लोग यह विश्वास रखकर अपनी पूँजी जमा कराते हैं, कि हमारी पूँजी सुरक्षित रहेगी, समय पर जब चाहें तब मिल सकेगी। इसी प्रकार एक देश का, एक प्रान्त का, दूसरे देश, प्रान्त, जिला या ग्राम-

नगरों के साथ विश्वास पर ही सारा कार्य चलता है। अगर विश्वास न रखा जाये तो सारी व्यवस्था ही बिगड़ जायेगी।

इस प्रकार मनुष्य की जीवनयात्रा में पद-पद पर विश्वास करना आवश्यक होता है।

बिजली चमक रही हो, बादल गरज रहे हों, उस समय कोई व्यक्ति ऐसा संदेह रखे कि आकाश टूट पड़ेगा तो ? या बिजली मेरे सिर पर गिर तो नहीं पड़ेगी ? इस प्रकार की शंका करने से मनुष्य घर से बाहर भी नहीं निकल सकता। कौन ऐसा अविश्वास डॉक्टर के प्रति रखता है कि इस दवा में डॉक्टर ने जहर तो नहीं मिला दिया ? इसी प्रकार 'यह शिक्षक उलटा तो नहीं पढ़ाता ? यह स्त्री पतिव्रता है या नहीं ? बाप-दादा से चलते आये हुए व्यवसाय के विषय में यह शंका करे कि यह व्यवसाय चलेगा या नहीं ? अथबा यह मुनीम नीतिमान है या नहीं ? और इस प्रकार के अविश्वास-पूर्वक जीवन के किसी भी क्षेत्र में मनुष्य क्रिया करें तो वे सदैव शंकित और दुःखित रहा करेंगे, चिन्तातुर और कुढ़न से ग्रस्त होकर वे कभी सुखी नहीं हो सकेंगे। संदेह का कीड़ा जब मनुष्य के मन को कुरेदता रहता है, तब वह निश्चिन्त होकर बैठ नहीं सकता। उसके मन में सतत् अविश्वास का गन्दा नाला बहा करे तो वह व्यक्ति धन-जन से सम्पन्न होने पर भी सुखी नहीं हो सकता।

अज्ञात विषय में उसके निष्णात पर विश्वास आवश्यक

एक व्यक्ति बीमार है, रोग और उसके निदान तथा चिकित्सा के विषय में उसका ज्ञान बहुत ही नगण्य है, ऐसी स्थति में उसे किसी योग्य चिकित्सक पर विश्वास रखकर अपने शरीर की जाँच कराना, उसे नाड़ी बताना, उसके द्वारा किये गये रोग के निदान को मानना, स्वस्थ होने के लिए उस चिकित्सक द्वारा बताये हुए मार्ग पर विश्वासपूर्वक चलना अनिवार्य है। इस प्रकार रोग-विषयक एवं चिकित्साविषयक अज्ञान मनुष्य को डॉक्टर या वैद्य पर विश्वास रखने को प्रेरित करता है। कानून-कायदों से अज्ञात मनुष्य को मुकदमे-मामले के विषय में किसी विधिवेत्ता वकील पर विश्वास करना ही पड़ता है। संगीत के स्वरों का अज्ञान मनुष्यों को संगीतज्ञों पर विश्वास रखने के लिए की प्रेरणा प्रदान करता है। इस प्रकार चिकित्सक, वकील या संगीतज्ञ उस-उस विषय के अनभिज्ञ व्यक्ति के लिए विश्वासपात्र बनते हैं। अगर उपर्युक्त व्यक्तियों पर पूरा विश्वास रखा जाए तभी उस-उस विषय से अनभिज्ञ व्यक्ति को उस-उस क्षेत्र में लाभ मिल सकता है।

ज्ञेय की अपेक्षा श्रद्धेय का क्षेत्र विशाल

विश्व के जीवन से सम्बन्धित समग्र विषयों को हम दो भागों में विभक्त कर सकते हैं—ज्ञेय और श्रद्धेय। जिन विषयों की मनुष्य को जानकारी होती है, वे विषय उसके लिए ज्ञेय होते हैं। उन विषयों में किसी से परामर्श लेने या जानकारी प्राप्त करने की आवश्यकता नहीं रहती। किन्तु जिस विषय का किसी व्यक्ति को ज्ञान नहीं है, जिस विषय से जो अभी तक अपरिचित या अनभिज्ञ है, या जो विषय अतीन्द्रिय है, उस विषय में उसके विशेषज्ञ पर विश्वास रखकर उसके द्वारा सूचित मार्ग पर चलना पड़ता है। आशय यह है कि जो विषय किसी मनुष्य के ज्ञान के प्रकाश में प्रतीत नहीं होते, वे सभी विषय उसके लिए श्रद्धेय बनते हैं।

सामान्य मनुष्य सभी विषयों का ज्ञाता नहीं होता, प्रायः मनुष्य का ज्ञान बहुत ही सीमित होता है। सभी विषयों का ज्ञान प्राप्त करने के लिए काफी समय, साधन और पुरुषार्थ अपेक्षित है। थोड़े-से समय में और विघ्नों से परिपूर्ण जीवन में एक मनुष्य प्रायः सभी विषयों का ज्ञान प्राप्त नहीं कर पाता। जिस विषय का जिस मनुष्य को परिपक्व ज्ञान नहीं होता, उसे उस विषय के विशेषज्ञ (एक्सपर्ट) पर विश्वास रखकर उसके द्वारा सूचित मार्ग से चलना ही पड़ता है। कहना होगा कि ज्ञेय की अपेक्षा श्रद्धेय (विश्वास) का क्षेत्र विशाल है।

विश्वास : सफलता का आधार

जिस विषय में जिसकी जानकारी नहीं है, उस विषय में उसे किसी प्रतिष्ठित एवं उस विषय के विशेषज्ञ व्यक्ति पर विश्वास करने से ही प्रायः सफलता मिलती है। जैसे—किसी रोगी को नीरोग करने के लिए व्यक्ति किसी यशस्वी और प्रसिद्ध डाक्टर को ढूंढता है और उस पर पूर्ण विश्वास रखकर इलाज कराता है, तो प्रायः सफलता मिलती ही है। इसी प्रकार किसी मुकदमे में पैरवी करने के लिए व्यक्ति किसी वरिष्ठ और होशियार वकील को खोजकर उस पर पूरा भरोसा रखकर उसे अपना मुकदमा सौंप देता है। प्रायः उसमें व्यक्ति को सफलता मिलती है। इसी प्रकार जीवन के प्रत्येक क्षेत्र में उस विषय से अनभिज्ञ व्यक्ति को उस विषय के विशेषज्ञ पर पूर्ण विश्वास रखने से उस क्षेत्र में बहुधा सफलता मिलती है।

कहावत है—'विश्वासः फलदायकः'। विश्वास ही फलदायक होता है। कोई व्यक्ति मंत्र पर विश्वास नहीं करता है, यों ही सूने मन से मंत्रजाप करता जाता है, तो उसे उस मंत्रजाप के पश्चात् सफलता मिलनी कठिन

होती है। जो व्यक्ति किसी मंत्र या यंत्र पर पूर्ण विश्वास रखकर विधि-पूर्वक जाप करता है, या उस मंत्र, यंत्र की आराधना करता है तो उसे उस मंत्र या यंत्र का वास्तविक फल अवश्य मिलता है।

जिस विषय से या व्यक्ति के भविष्य से जो अनभिज्ञ हो, उन सब विषयों पर या व्यक्तियों पर विश्वास करना ही पड़ता है। जितने अधिक विश्वास के साथ व्यक्ति उस विषय में या उस क्षेत्र बढ़ता है, उतनी ही शीघ्र सफलता उस विषय में या उस व्यक्ति से प्राप्त कर पाता है।

कल्पना कीजिए एक व्यक्ति जंगल के रास्ते से जा रहा है, अकस्मात् सामने से एक चरवाहा आकर कहता है—आगे मत बढ़ो, आगे रास्ते पर एक भयंकर सिंह बैठा है। उस समय वह यात्री उक्त चरवाहे की बात पर विश्वास न करके आगे बढ़ता है और यह कहता है कि मैं स्वयं आगे जाकर देखने के पश्चात् ही तुम्हारी बात पर विश्वास कर सकता हूँ, अभी नहीं। तो बताइये उसके उक्त अविश्वास का क्या नतीजा आ सकता है ? यही कि इस मूर्खता का फल यह हो सकता है कि वह उस सिंह का भक्ष्य बन जाए। किन्तु दूरदर्शी एवं समझदार व्यक्ति उस गँवार चरवाहे की बात पर अविश्वास करने की मूर्खता नहीं करता। वह उस चरवाहे पर अवश्य विश्वास कर लेगा।

इसी प्रकार जीवन के अन्य अज्ञात क्षेत्रों में भी विश्वास करना पड़ता है। व्यावहारिक क्षेत्र में विश्व का तंत्र विश्वास के बिना चल ही नहीं सकता।

कहाँ विश्वास, कहाँ अविश्वास ?

कल्पना कीजिए, एक व्यक्ति जवाहरात का सच्चा परीक्षक है, वह हीरों की परख करने में निष्णात है, उसने किसी हीरे की वास्तविक परीक्षा कर ली। अब उसकी परीक्षा के विरुद्ध कोई साधारण मनुष्य, जिसे हीरों की परख करनी नहीं आती, वह बोलता है तो उस पर बिलकुल विश्वास नहीं किया जा सकता। इसी प्रकार कोई देवी-देवों के नाम पर, यज्ञ या ईश्वर के नाम पर पशुवध (पशुबलि) में धर्म बताता है, अर्थात्—हिंसा में धर्म बताता है, वहाँ कोई भी समझदार व्यक्ति उसकी बात पर विश्वास नहीं कर सकता।

निष्कर्ष यह है कि व्यावहारिक क्षेत्र में उस विषय के अनभिज्ञ पर विश्वास नहीं किया जा सकता। इसी प्रकार धार्मिक क्षेत्र में भी लौकिक स्वार्थी, या राग-द्वेष-अज्ञान से ग्रस्त व्यक्ति पर विश्वास नहीं किया जा सकता। जिस प्रकार व्यावहारिक क्षेत्र में उस विषय के विशेषज्ञ या

माता-पिता आदि लौकिक आप्त पुरुषों पर विश्वास किया जाता है, उसी प्रकार धार्मिक क्षेत्र में वीतराग, सर्वज्ञ, लोकोत्तर आप्त पुरुषों तथा उनके अनुगामी वीतराग पथ के पथिक धर्म-धुरंधर महाव्रती साधु-साध्वियों पर विश्वास किया जाता है।

कभी-कभी अज्ञानी, स्वार्थी और मतान्ध लोग भोले-भाले लोगों को विश्वास के नाम पर अन्धविश्वास में धकेल देते हैं, कई बार कुछ परवंचक लोगों को विश्वास में लेकर, हाथ की सफाई या जादू के खेल के चमत्कार से चमत्कृत कर ठग लेते हैं, ऐसे ठग, वंचक या धूर्त लोगों पर विश्वास नहीं किया जा सकता। जो लोग अन्धविश्वास फैलाकर अपना उल्लू सीधा करते हैं, ऐसे लोगों के चक्कर में नहीं आना चाहिए, और न ही अन्ध-विश्वास का शिकार बनना चाहिए।

एक बात और, अन्धविश्वास और मिथ्याविश्वास के अतिरिक्त एक होता है अविश्वास। जिसे लोक व्यवहार में बहम कहते हैं। उसका शिकार भी नहीं बनना चाहिए। कई लोग बात-बात में बहम करते हैं, वे जिस मकान में बैठते हैं, उसके विषय में भी बहम करते हैं कि कहीं यह गिर न पड़े। जिस मोटर या रेलगाड़ी में बैठते हैं, उसके विषय में बहम करते हैं कि कहीं एक्सीडेंट न हो जाय, कहीं यह गाड़ी खड्डे में न गिर पड़े। ऐसे बहमी व्यक्ति परिवार के प्रत्येक सदस्य पर शंका करते रहते हैं। वह किसी पर भी विश्वास नहीं करते। कहते हैं—औरंगजेब ऐसा ही था। वह एक ओर कट्टर धर्मान्ध व्यक्ति था, दूसरी ओर वह इतना अविश्वासी था कि अपने परिवार के किसी भी व्यक्ति पर—यहाँ तक कि अपने पुत्र-पुत्री, भाइयों, बेगमों या पिता पर भी विश्वास नहीं करता था। इस प्रकार का अविश्वास भी जीवन में उपादेय नहीं हो सकता। भगवद्गीता में इसी का परिणाम बताते हुए कहा है—**संशयात्मा विनश्यति**'—जो बात-बात में संशय करता रहता है, वह नैतिक जीवन से विनष्ट हो जाता है। हितोपदेश में ऐसे बहम का निराकरण करते हुए कहा है—

शंकाभिः सर्वमाक्रान्तमन्नं पानं च भूतले।
प्रवृत्तिः कुत्र कर्त्तव्या, जीवितव्यं कथं नु वा॥

"इस पृथ्वी पर अन्न-पान आदि समस्त वस्तुएं शंकाओं से आक्रान्त हैं। अतः यदि हम पद-पद पर शंका (बहम—अविश्वास) करने लगें तो कहाँ और कैसे प्रवृत्ति करेंगे और कैसे जीएँगे ?"

कुछ नीतिकार अपने अनुभव के आधार एक श्लोक द्वारा मुख्यतः अविश्वसनीय वस्तुओं का उल्लेख करते हुए कहते हैं—

नदीनां शस्त्रपाणिनां, नखिनां शृंगिणां तथा ।
विश्वासो नैव कर्तव्यः स्त्रीषु राजकुलेषु च ॥

सामान्यतया नदियों, शस्त्रधारियों, तीखे नख वालों, बड़े-बड़े सींग वाले पशुओं का तथा स्त्रियों एवं राजपरिवारों (वर्तमान में राजनीतिज्ञों) पर विश्वास नहीं करना चाहिए।

इस श्लोक में उल्लिखित निर्जीव-सजीव वस्तुओं पर सामान्यतः सहसा विश्वास न करने की बात ठीक हो सकती है, परन्तु विशेषतया आपवादिक रूप से इन सभी पर विश्वास किया भी जा सकता है। जो नदियाँ गहरी नहीं होतीं, उन्हें लोग पार करते भी हैं, इसी प्रकार जो महिलायें धर्मिष्ठ हैं, वात्सल्यमयी हैं, माताएँ हैं या मातृतुल्य हैं, वे अविश्वसनीय नहीं हो सकतीं। इसी प्रकार जो शस्त्रधारी जनता की सुरक्षा के लिए तैनात होते हैं, वे भी अविश्वासयोग्य नहीं होते। जो नख या सींग वाले पशु पालतू होते हैं, वे वफादारी के साथ मालिक की सेवा करते हैं, उन पर भी अविश्वास नहीं किया जा सकता। अतः विश्वसनीय तत्वों का भली-भाँति विवेक करके मनुष्य को अपनी जीवनयात्रा सुखद, सरल, निश्चिन्त, निरापद तथा निराबाध बनानी चाहिए।

श्रद्धेय त्रिपुटी पर घोर अविश्वास

दुर्भाग्य की बात यह है कि वर्तमान युग में पापकर्म और अधर्म, अधार्मिक आदि चविश्वसनीय तत्त्वों पर लोगों का विश्वास बढ़ता जा रहा है, किन्तु जो श्रद्धेय एवं परम विश्वसनीय तत्त्व हैं—देवाधिदेव, गुरु या धर्मोपदेशक निर्ग्रन्थ साधुवर्ग एवं सत्य-अहिंसा आदि सद्धर्म, इन पर से विश्वास उठता जा रहा है। इन तीन श्रद्धेय तत्त्वों पर से इस प्रकार विश्वास उड़ता जा रहा है, जिस प्रकार बल्ब का फ्यूज उड़ जाता है।

विश्वसनीय सद्धर्म पर अविश्वास

जिस अहिंसा, सत्यादि सद्धर्म का सेवन करने से व्यक्ति सदाचारी बन सकता है, व्यवहार में प्रतिष्ठित होकर रह सकता है, जिस सद्धर्म के उपदेश के बल पर तृष्णा पर अंकुश लगाकर, लालसा को नियन्त्रित करके, इच्छाओं को सीमित करके मनुष्य अपने जीवन को शान्त, उदार, परोपकारी एवं सेवामय बनाकर संसार के समस्त प्राणियों को, विशेषतः मनुष्यों को अपना आत्मीय बना सकता है, जो सद्धर्म मनुष्य को ओजस्वी एवं तेजस्वी बनाने हेतु ब्रह्मचर्य का पालन एवं वीर्य का सरक्षण करने की प्रेरणा देता है, जो सद्धर्म सत्य-अहिंसा का पाठ पढ़ाकर मनुष्य को उदार,

न्यायप्रिय, विश्वसनीय, निर्भय, विश्वबन्धु, विश्वमित्र एवं गौरववान् बनाता है। जो सद्धर्म व्यक्ति के इस लोक और परलोक को सुधारकर सुखों से परिपूर्ण बनाता है। जिस सम्यग्दर्शनादि रत्नत्रयरूप अथवा श्रुत-चारित्ररूप धर्म की कृपा से मनुष्य वीतराग, सर्वज्ञ-सर्वदर्शी तथा समस्त कर्मों का क्षय करके सिद्ध-बुद्ध-मुक्त अथवा अर्हन्त तीर्थंकर बन जाता है। अथवा जिस ग्राम-नगर-राष्ट्रादि धर्म का पालन करने से व्यक्ति और समाज का जीवन सुखी, सुव्यवस्थित एवं समृद्ध बन जाता है, उसी परमविश्वसनीय एवं श्रद्धेय धर्म पर घोर अविश्वास।

धर्म जैसे परम विश्वसनीय तत्त्व पर विश्वास करने से अर्जुनमाली जैसे मानव-हत्यारे पापात्मा संसार सागर से तिर गये, धर्मात्मा बनकर जीवन के चरम लक्ष्य को प्राप्त कर चुके, चण्डकौशिक जैसे प्रचण्ड क्रोधी सर्प जैसे प्राणी भी क्षमाशील बनकर स्वर्गसुखों को प्राप्त कर चुके। अनेक भव्यजीव, धर्मात्मा, साधु-साध्वी, श्रावक-श्राविकावर्ग, सद्गृहस्थ एवं सन्नारियाँ सद्धर्म और सद्धर्मोपदेशक वीतरागदेव के वचनों पर विश्वास रखकर तदनुसार चलकर अपना आत्मकल्याण कर चुके।

उसी विश्वसनीय श्रद्धेय सद्धर्म के प्रति लोग अविश्वासपूर्वक कहने लगते हैं—धर्म के नियम बड़े कठोर हैं। हमारा विश्वास नहीं है कि शरीर को कष्ट में डालने से धर्म हो जाएगा। धर्म हमारा खाना-पीना बन्द करता है। वह हमारी सुख-सुविधा और स्वतन्त्रता को छीन लेता है। हमारे सुखमय जीवन पर प्रतिबन्ध लगाता है। हमारे ऐश-आराम में विघ्न डालता है, इसलिए न तो धर्म पर हमें विश्वास है, और न ही हम उस धर्म के अनुसार चलते हैं।

जिस धर्म के लिए नीतिकार चाणक्य कहता है—'**सुखस्य मूलं धर्मः**' धर्म सुख का मूल है; वीतराग तीर्थंकर महावीर कहते हैं—'**धम्मो मंगल-मुक्किट्ठं**—धर्म उत्कृष्ट मंगल है, जैनाचार्य समन्तभद्र कहते हैं—'**यो धरत्युत्तमे सुखे**'—धर्म वह है, जो जीव को उत्तम सुख में धरता-रख देता है। वैशेषिकदर्शनकार कहते हैं—**यतोऽभ्युदय निःश्रेयस्-सिद्धिः स धर्मः**।—जिससे अभ्युदय (इहलौकिक जीवन की उन्नति) और निःश्रेयस् (मोक्ष) की सिद्धि-प्राप्ति हो, वह धर्म है। उस धर्म के प्रति अविश्वास लाकर उसे अपने सुख का लूटने वाला, आनन्द में विघ्न डालने वाला तत्त्व कहें, यह कितना घोर अज्ञान है। उस कल्याणकारी धर्म के प्रति इतना भ्रम! वकालत एवं राजनीति में जिस सत्यधर्म का आंशिक पालन करके महात्मा गाँधी ने अपने मुवक्किल को भारी दण्ड से मुक्त करवा दिया, ब्रिटिश सत्ताधारियों के

दिल में विश्वास और सत्यप्रियता की छाप बिठा दी थी। जिस सत्य के कारण महात्मा गाँधी इतने निर्भीक होकर ब्रिटिश सरकार को सच्ची बात कह सकते थे। जिस अहिंसा धर्म के बल पर ब्रिटिश सरकार तक का सिंहासन हिला दिया और स्वराज्य प्राप्त कर लिया था। जिस शीलधर्म के बल पर सुदर्शन सेठ को दण्ड के रूप में मिली शूली सिंहासन बन गई थी। क्या उस धर्म के प्रताप और प्रभाव के विषय में कभी अविश्वास हो सकता है?

किन्तु मध्ययुग में और आज भी कहीं-कहीं धर्म के नाम पर अन्याय, अत्याचार, शीलहरण, ठगी, लड़ाई, झगड़े, सिरफुटौव्वल, कलह, वादविवाद, गाली-गलौज, हत्या, आतंक, निन्दा, टीका-टिप्पणी, नुक्ताचीनी और चखचख आदि हुए हैं, पर वे क्या सत्य-अहिंसादि धर्म के नाम पर हुए हैं, होते हैं या धर्म के नाम से प्रचलित संघ, तीर्थ, समाज, सम्प्रदाय, मत, पंथ आदि के कारण हुए हैं या होते हैं? वास्तव में देखा जाय तो अन्याय-अत्याचार आदि जितने भी अधर्म या अनाचार धर्म के नाम से हुए हैं, वे सत्य-अहिंसादि धर्म के नाम से नहीं हुए, जब भी हुए हैं वे सम्प्रदाय, पंथ, मत आदि के कारण हुए हैं। इस बात को भलीभाँति समझ लिया जाए तो सद्धर्म के नाम पर कभी अधर्म या अनाचार हो नहीं सकता।

वर्तमान काल के कई तर्कशील शिक्षित युवक धर्माचरण करने वालों या धर्मिष्ठ पुरुषों को संकट, कष्ट या विपत्ति में पड़े या अभावपीड़ित देखकर धर्म पर अविश्वास और कुशंका करने लगते हैं कि धर्म यदि जीवन को सुखमय बनाता है तो भगवान् महावीर, सुदर्शनसेठ, धर्मिष्ठ पाण्डव आदि पर इतना संकट क्यों आया? क्यों इन्हें कष्टों के पहाड़ों से गुजरना पड़ा? परन्तु वे यह भूल जाते हैं कि मनुष्य की जीवनयात्रा केवल इसी जन्म से प्रारम्भ नहीं हुई है, उसकी आत्मा अनेक जन्मों में भ्रमण करती हुई आई है, उस आत्मा ने पूर्वजन्मों में जो पापकर्म किये होंगे, उनके उदय में आने पर उन पूर्वकृत पापकर्मों का फल प्रत्येक व्यक्ति को भोगना पड़ता है। इस जन्म में जो व्यक्ति सद्धर्म का आचरण कर रहे हैं, उन्हें उनका फल कभी यहीं और कभी अगले जन्म/जन्मों में मिलता ही है। इसमें धर्म का क्या दोष है? इसमें धर्म पर अविश्वास करने का कोई कारण नहीं है। बल्कि जो लोग सद्धर्म पर विश्वास रखते हैं, और सद्धर्म का आचरण करते हैं, वे उस आने वाले कष्ट, संकट या अभाव को कष्ट, संकट या अभाव मानते ही नहीं। वे मानते हैं कि ये हमारे किन्हीं पूर्वकृत कर्मों के फल हैं, इन्हें वे समभाव से भोगते हैं, सहन करते हैं, किसी भी निमित्त को वे दोष नहीं देते, न कोसते हैं, अपितु अपने उपादान को ही देखते हैं।

दूसरी बात, धर्म का आचरण तो स्वेच्छा से होता है, वह किसी पर दबाव नहीं डालता न किसी के सुख को लूटता है, बल्कि आत्मिक, स्वाधीन एवं शाश्वत सुख की ओर व्यक्ति के जीवन को ले जाता है।

देवाधिदेवों पर अविश्वास का कारण नहीं

जैनधर्म में अरिहन्तों और सिद्धों को देवकोटि में माना गया है। ये दोनों देवाधिदेव, वीतराग, सर्वज्ञ, परमात्मा हैं, भगवान् हैं। यद्यपि सिद्ध परमात्मा तो मोक्ष में पहुँचने के बाद निरंजन निराकार होने के कारण संसार से बिल्कुल अलिप्त हो जाते हैं। वे संसार के लोगों को सुख-दुःख कुछ भी देते नहीं, न ही उपदेश देते हैं। देहधारी वीतराग पुरुष सर्वज्ञ तीर्थंकर होते हैं। वे राग-द्वेष से रहित हैं। अज्ञानादि १२ दोषों से सर्वथा रहित हैं। कई लोग अपने स्वकृत अशुभ कर्मों के कारण दुःख, संकट, विपत्ति में फँस जाते हैं, तब इन दोनों प्रकार के परमात्माओं पर अविश्वास लाकर इन्हें कोसने लगते हैं। कहने लगते हैं, इनमें क्या रखा है ? हम इन्हें मानकर क्यों अपने आपको संकट में डालें ?

कई लोग तीर्थंकरों द्वारा प्ररूपित सम्यग्ज्ञान-दर्शन-चारित्र-तपरूप धर्म के या श्रुत-चारित्ररूप धर्म के उपदेश को असत्य, नरकादि का डर एवं स्वर्ग का प्रलोभन देने वाला, अत्यन्त कठोर, कष्टकर बताते हैं, और कहने लगते हैं –हमें महावीर आदि तीर्थंकरों पर विश्वास नहीं है, कोई समस्त कर्मों को क्षय करके सिद्ध-बुद्ध-मुक्त हो सकता है, यह भी असम्भव जैसी बात है। हमें विश्वास नहीं है क्योंकि अरिहन्त या सिद्ध, कोई भी भगवान् सर्वज्ञ-सर्वदर्शी या अनन्तशक्तिमान होता तो हमें पापकर्मों से छुड़ाने, संकट से बचाने जरूर आता। आज तक हमने या हमारे बाप-दादों ने कोई भी ऐसा भगवान् (अरिहन्त या सिद्ध) देखा नहीं है। अतः हम उन्हें नहीं मानते। इस प्रकार देवाधिदेव तत्त्व पर भी कई लोगों को घोर अविश्वास है।

परन्तु वे यह नहीं सोचते कि सिद्ध भगवान् जो कि संसार के जन्म-मरण के चक्कर से सर्वथा मुक्त हैं, कर्मों और दुःखों से भी सर्वथा रहित हैं, वे वापस संसार के पचड़े में पड़ने क्यों आएँगे ? अब रहे अरिहन्त परमात्मा, वे भी राग-द्वेष से मुक्त हैं, किसी व्यक्ति को वे कष्ट, दुःख या संकट में डालना क्यों चाहेंगे ? क्या उन्हें सांसारिक लोगों के भयंकर, कुकृत्यों, गुनाहों, अपराधों आदि को देखकर उनसे द्वेष या घृणा जैसा कोई भाव आ सकता है ? कदापि नहीं। उन्हें हमें असत्य उपदेश देने या नरकादि का भय बताने से क्या प्रयोजन था ? जो राग, द्वेष, अज्ञान या मोह से ग्रस्त व्यक्ति हो,

वह असत्य कह सकता है, दूसरे को दुःख में डाल सकता है, डरा-धमका सकता है, अपने अनुयायियों की संख्या बढ़ाने के लिए रागवश उनको ठकुर-सुहाती कह सकता है, या उन्हें कोई चमत्कार बताकर अपने वश में कर सकता है। परन्तु तीर्थंकर भगवान् तो लोकोत्तर आप्त होते हैं, वे राग-द्वेष-अज्ञान-मोह आदि विकारों से सर्वथारहित होते हैं। वे वीतराग, सर्वज्ञ, सर्वदर्शी क्यों असत्य कहेंगे? उन्होंने अपने अनन्तज्ञान के प्रकाश में जो वस्तुस्थिति देखी, उसी का वर्णन किया है। उनके द्वारा बताये हुए आत्मा-परमात्मा, इहलोक-परलोक, स्वर्ग-नरक, पुण्य-पाप, कर्म और उनके फल आदि सिद्धान्तों में शका (अविश्वास) को बिल्कुल अवकाश नहीं है। उन्होंने स्वयं अपने कर्मों को क्षय करने के लिए घोर उपसर्ग एवं परीषह सहन किये हैं। त्याग, तप एवं ज्ञान-दर्शन-चारित्र की भव्यतम साधना की है, वही अनुभवसिद्ध मोक्षमार्ग उन्होंने जगत् को बताया। जगत् के जीवों में दिखाई देने वाली असमानता के मूल कारण कर्म को उन्होंने संसार के जीवों के समक्ष बताया। जगत् के समस्त जीवों की आत्मरक्षा और दया से प्रेरित होकर ही उन्होंने धर्म का प्रवचन कहा।[1] ऐसे वीतराग जगत्वत्सल महा-पुरुषों के प्रति अविश्वास करने का कोई कारण नहीं है।

अतीन्द्रिय वस्तुओं का ज्ञान जिन लोगों को नहीं है, उन्हें अनन्तज्ञानी पुरुषों द्वारा अपने केवलज्ञान के प्रकाश में प्रत्यक्ष जानी-देखी हुई अतीन्द्रिय वस्तुओं के यथार्थ स्वरूप का ज्ञान मिलता है, तो उनका महान् उपकार मानना चाहिए और उन पर परम श्रद्धा-भक्ति रखनी चाहिए। जिन्हें अत्यन्त सीमित ज्ञान है, उन्हें अतीन्द्रिय वस्तुओं के ज्ञाता-द्रष्टा आप्त पुरुषों पर अविश्वास लाकर कुतर्क करने का कोई कारण नहीं है? बल्कि उन महान् उपकारकों के प्रति अविश्वास से उनकी घोर आशातना करके व्यक्ति अशुभकर्म बाँध लेता है। कूपमण्डूक जितने सीमित ज्ञान वाला क्या समुद्र जितने विशाल ज्ञान की परीक्षा करने का दुःसाहस कर सकता है? साधारण व्यक्ति अपने मस्तक के पीछे पड़े हुए बड़े घड़े को भी चर्मचक्षुओं

---

१. सव्वजगजीवरक्खण—दयट्ठयाए पावयणं भगवया सुकहियं।

—प्रश्नव्याकरण सूत्र

की सहायता के बिना देख नहीं सकते, वे अगम-अगोचर पदार्थों के विषय में कुतर्क करके अविश्वास पैदा करें यह कितनी मूर्खता है !

जो लोग कहते हैं कि परमात्मा हमारे समक्ष प्रत्यक्ष नहीं आते या हमें प्रत्यक्ष दिखाई नहीं देते, इसलिए हम नहीं मानते, वे भी केवलज्ञानी हुए बिना अपने अधूरे ज्ञान के चश्मे से कैसे परमात्मा को भली-भाँति जान-देख सकते हैं ? कई नास्तिकों ने अपने पितामह-प्रपितामह को आँखों से नहीं देखा, फिर भी वे मानते ही हैं कि हमारे दादा-परदादा थे। अगर वे न मानें तो, परदादे-दादे के बिना वे इस संसार में कैसे आये ? परदादे से दादा हुआ, दादे से उसका पिता हुआ और पिता से वह नास्तिक हुआ। इस प्रकार कई अगम-अगोचर बातें—(आत्मा-परमात्मा, स्वर्ग-नरक, पुण्य-पाप, कर्म-कर्मफल आदि) आप्त वचनों से या अनुमान से माननी ही पड़ती हैं। उन पर अविश्वास का कोई कारण नहीं।

गुरुतत्त्व के विषय में अविश्वास भी अनुचित

निर्ग्रन्थ, महाव्रती गुरु श्रद्धेय एवं विश्वसनीय इसलिए होते है कि वह स्वयं धर्माचरण करके आगे बढ़े हैं, आत्मशान्ति, आत्मविकास एवं आत्मशुद्धि प्राप्त की है, मोक्षमार्ग पर चलकर लक्ष्य के निकटद्वार तक पहुँचे हैं। अतः वे अपनी ओर से कोई मनगढ़न्त बात नहीं कहते, वे वीत-राग सर्वज्ञ आप्त तीर्थंकरों द्वारा उपदिष्ट बातों को स्पष्ट रूप से श्रोताओं के समक्ष प्रस्तुत करते हैं, जिन्हें त्याग, वैराग्य, तप, धर्मध्यान, व्रत पालन करने आदि में रुचि एवं श्रद्धा होती है, उन जिज्ञासु एवं मुमुक्षजनों को वे उस प्रकार का संकल्प कराते हैं। किसी भी व्यक्ति को धर्माचरण व्रतपालन, त्याग, तप आदि के लिए बाध्य नहीं करते, न ही किसी पर बलात् थोपते, क्योंकि उन्हें किसी से कोई स्पृहा या स्वार्थ नहीं होता। वे संघ में ज्ञान-दर्शन-चारित्र की उन्नति के लिए एवं स्वयं रत्नत्रय की साधना के लिए अहर्निश तत्पर रहते हैं। अतः ऐसे गुरुजनों, निःस्वार्थ धर्मोपदेशकों एवं त्यागी, महाव्रती, साधु-साध्वियों के प्रति अविश्वास का भी कोई कारण नहीं। उनके सान्निध्य में किसी भी सांसारिक उलझन, संकट, कष्ट या दुःख को मिटाने के लिए अनुभवसिद्ध कोई न कोई धर्मानुकूल उपाय मिलेगा ही।

इस प्रकार देव, गुरु और धर्म इस श्रद्धेय त्रिपुटी के प्रति प्रत्येक आस्तिक व्यक्ति का विश्वास होना ही चाहिए। इनके प्रति दृढ़ विश्वास होने से वह अपने जीवन में उत्तरोत्तर उच्च भूमिका पर पहुँच सकता है। प्रदेशी राजा जैसा नास्तिक एवं क्रूर मानव केशीश्रमण जैसे महान् धर्मगुरु पर दृढ़-विश्वास करने एवं उनके उपदेशों के अनुसार जीवन को ढालने से देवलोक की सुख-समृद्धि प्राप्त कर सका। हरिकेशबल जैसे असंस्कारी नीच कुलोत्पन्न व्यक्ति भी भगवान् महावीर के उपदेश से महान् उच्चत्यागी, तपस्वी साधु बनकर स्व-पर कल्याण कर सके।

अतः धार्मिक क्षेत्र में इन तीन आराध्य एवं श्रद्धेय तत्त्वों पर दृढ़ विश्वास करने में कल्याण ही कल्याण है। ऐसा व्यक्ति परम सौभाग्यशाली और सुख-सम्पन्न बन सकता है, इसमें कोई संदेह नहीं।

———

३

सद्धा परम दुल्लहा

कुछ शब्द देखने और सुनने में एक समान प्रतीत होते हैं किन्तु उनका अर्थ बिल्कुल ही भिन्न और विपरीत निकलता है। जैसे सबल और शबल। सबल का अर्थ है बलवान और शबल का अर्थ है चितकबरा।

कुछ शब्द देखने और सुनने में भिन्न और विपरीत लगते हैं जैसे—श्रद्धा और प्रज्ञा। श्रद्धा का अर्थ है विश्वास और प्रज्ञा का अर्थ है बुद्धि। पर जब हम शब्दों की गहराई में उतरते हैं तो दोनों ही शब्द एक ही बिन्दु पर मिलते से प्रतीत होते हैं। यह है शब्दों का खेल।

बहुत से व्यक्ति अपने आपको प्रज्ञावादी बताते हैं। तर्कवादी ख्यापित करते हैं। वे गर्व के साथ अपना सिर उन्नत कर कहते हैं कि हम पुराणपंथी या शास्त्रवादी नहीं हैं। अपितु हम बुद्धि और तर्क में विश्वास रखते हैं। हर बात को परीक्षण प्रस्तर पर कस करके ही मानते हैं। जो बात तर्क की कसौटी पर खरी नहीं उतरती वह हमें स्वीकार्य नहीं है।

तो कितने ही श्रद्धा को प्रमुखता देने वाले महानुभावों का अभिमत है, हम तर्क को नहीं मानते और वे समय-समय पर तर्क की धज्जियाँ उड़ाने में गौरव का अनुभव करते हैं। इस प्रकार मैं देख रहा हूँ दोनों ही ओर शब्दों की गेंद फेंकी जा रही है और वे खिलाड़ियों की भाँति शब्दों से खेल रहे हैं।

पर जब हम चिन्तन की गहराई में जाकर देखते हैं तो सहज ही

परिज्ञात होता है कि श्रद्धा और प्रज्ञा ये दोनों शब्द एक ही अर्थ, एक ही भाव को अभिव्यक्त करते हैं।

श्रद्धा को प्राकृत भाषा में सद्धा कहते हैं। इसमें दो शब्द हैं--सद्+धा।

सद्=अर्थात् सम्यक्, सत्य

धा=अर्थात् धारणा, धृति

सत्य में धृति व धैर्य रखना। अथवा सत्य की धारणा करना यह है सद्धा का अर्थ।

अब देखिए, प्रज्ञा का अर्थ—

प्र=अर्थात् प्रकृष्ट या निर्मल, श्रेष्ठ।

ज्ञा=अर्थात् ज्ञान, बुद्धि भावना।

हेय उपादेय का विवेक करने वाली निर्मल श्रेष्ठ बुद्धि को प्रज्ञा कहा जाता है।

हेयोपादेय विवेचिका बुद्धिः प्रज्ञा (उत० ७ वृत्ति)

योगदर्शनकार आचार्य पतंजलि ने शुद्ध प्रज्ञा को ऋतंभरा प्रज्ञा कहा है। ऋतंभरा तत्र **प्रज्ञा**—(१-४८) इस सूत्र की व्याख्या में कहा गया है—"**ऋतं सत्य बिभर्ति, कदाचिदपि न विपर्येणाच्छद्यते सा ऋतंभरा प्रज्ञा**" (भोजवृत्ति)।

अर्थात् जो कभी विपर्यय विपरीत ज्ञान से आच्छादित न हो वह सत्य की धारणा करने वाली बुद्धि ऋतंभरा प्रज्ञा है।

इस प्रकार हम देखते हैं सद्धा और प्रज्ञा का एक ही अर्थ सिद्ध हो गया, वह है सत्य की धारणा। तथापि पता नहीं क्यों हमारे बहुत से महा-मनीषी आधुनिकता का चोगा पहनकर अपने आपको प्रज्ञावाद का पक्षधर होने का स्वर बुलन्द कर रहे हैं। 'पन्ना समिक्खए धम्मं' का नारा उसी तरह लगाया जा रहा है जैसे आज के पूँजीपति समाजवाद का नारा बुलन्द करते हैं। प्रज्ञा के नाम पर श्रद्धा और शास्त्र का उपहास किया जा रहा है और जो सज्जन श्रद्धालु हैं उन्हें पोंगापंथी कहकर उनकी मजाक उड़ाई जा रही है तथा स्वयं को क्रान्तिकारी होने का वज्र आघोष कर रहे हैं; पर वे महामनीषी यह क्यों नहीं सोचते कि जिन शास्त्रों की दुहाई देकर पन्ना समिक्खए धम्मं का डि म-डिमनाद किया जा रहा है वे शास्त्र भी तो उसी श्रद्धा पर आधृत है। यदि श्रद्धा नहीं है तो उन शास्त्रों में और आज के

रचित उपदेश ग्रन्थों में, नीति ग्रन्थों में क्या अन्तर है ? यदि श्रद्धा नहीं है तो किस आधार पर आप आगम को भगवान् महावीर की वाणी या शास्त्र कहते हैं ?

श्रमण भगवान् महावीर ने अपने पावापुरी के अन्तिम प्रवचन में चार दुर्लभ अंग बताये हैं—"**माणुसत्तं सुई सद्धा संजमम्मि य वीरियं**"।

मनुष्यत्व, शास्त्र-श्रवण, श्रद्धा और संयम में पुरुषार्थ।

इसमें शास्त्र श्रवण के पश्चात् श्रद्धा का क्रम प्रतिपादित है। शास्त्र श्रवण से बुद्धि परिष्कृत होती है, वह धर्मानुरागिणी होती है और धर्मानुरागिणी बुद्धि ही स्थिर रूप धारण कर विश्वास में परिवर्तित होकर श्रद्धा बनती है।

जो महामनीषीगण शास्त्र को तो महत्व देते हैं किन्तु श्रद्धा का उपहास करते हैं उनसे मेरा निवेदन है कि वे एकान्त-शान्त क्षणों में शांत मस्तिष्क से सोचें। यदि श्रद्धा नहीं है तो शास्त्र भी शास्त्र नहीं है। देव भी देव नहीं हैं। भगवान् में भगवत्त्व को प्रतिष्ठित करने वाली शक्ति एक मात्र श्रद्धा में ही रही हुई है। कुरुक्षेत्र के मैदान में श्रीकृष्ण ने वीर अर्जुन को कहा—"**श्रद्धामयोऽय पुरुषो यो यच्छ्रद्धः स एव स**।"—गीता १७/३

पुरुष श्रद्धामय है। श्रद्धा में ही पुरुष का पुरुषत्व प्रतिष्ठित है। आत्मा को परमात्मा बनाने वाला तत्व श्रद्धा ही है। वचन को शास्त्र का स्वरूप, शास्त्र को गौरवगरिमा कौन प्रदान करता है ? हमारी श्रद्धा ही न ! वक्ता के प्रति यदि हमारी आस्था नहीं है तो वह प्रवचन भी वचन ही कहलाएगा। वाणी विलास के नाम से पहचाना जायेगा। यदि श्रद्धा का प्राधान्य है तो वह वाणी शास्त्र के नाम से विश्रुत होती है। ब्राह्मण साहित्य में भी इसी सत्य-तथ्य को इस रूप में उजागर किया गया है—

"**श्रद्धया देवो देवत्वमश्नुते**"

—तै० ब्राह्मण ३/१२/३

श्रद्धा से ही देव देवत्व को प्राप्त करता है।

प्रज्ञा पहली भूमिका है। श्रद्धा उसके आगे की भूमिका है। यह एक सत्य-तथ्य है कि बिना बुद्धि या तर्क के जीवन नैया चल नहीं सकती। पर साथ में यह भी सत्य है कि केवल तर्क जीवन नैया को भँवर जाल में उलझा देता है। जो महानुभाव केवल बुद्धि से जीवन व्यवहार चलाने की कमनीय कल्पना करते हैं वे स्वयं उसमें उलझ जायेंगे। केवल तर्क या कोरा प्रज्ञावाद मानव को नीरस और व्यवहारशून्य बना देता है। श्रद्धाहीन ज्ञानी जैन दर्शन की भाषा में ज्ञानी नहीं कहलाता वह भले ही शब्दशास्त्री क्यों न

हो, बाल की खाल निकालने वाला पंडित क्यों न हो। पंडित और ज्ञानी में यही मुख्य अन्तर है। विविध शास्त्रों व ग्रन्थों का तलस्पर्शी अध्ययन करने वाला पंडित बन सकता है और लच्छेदार भाषा में श्रोताओं को मन्त्रमुग्ध करनेवाला प्रोफेसर भी बन सकता है। पर जब तक आगम या शास्त्र के प्रति श्रद्धा नहीं होगी तब तक वह ज्ञानी नहीं हो सकता।

एक महाशय अहिंसा व शाकाहार पर खूब रोचक लच्छेदार भाषण दे रहे थे, भाषण देते-देते इतने प्रचण्ड व उग्र हो गये कि सामने की मेज पर हाथ का जोरदार मुक्का मारा तो मेज चरमरा कर टूट गई। पसीना आने लगा, पसीना पोंछने के लिए जेब से रूमाल निकाला तो उसी के साथ एक अंडा भी जेब से निकलकर बाहर आकर गिरा।

तर्कप्रवीण श्रद्धाहीन विद्वानों की आज यही स्थिति है।

इस विराट् विश्व में जितनी भी आत्माएँ हैं चाहे विकसित हों चाहे अविकसित हों उन सबमें ज्ञान रहा हुआ है। ज्ञान आत्मा का निज गुण है। जो आत्मा हैं, वे ज्ञान हैं, और जो ज्ञान हैं वे आत्मा हैं।

जे आया से विण्णाया, जे विण्णाया से आया।

—आचारांग, ५/५/१६६

पर जब तक श्रद्धा नहीं है, तब तक वह ज्ञान अज्ञान है। श्रद्धा ही अज्ञान को ज्ञान के रूप में परिवर्तित करती है। श्रद्धा वह वरदान है जिससे अज्ञान भी ज्ञान के रूप में बदल जाता है।

जैन मनीषियों ने इसीलिए पहले सम्यक्दर्शन रखा है फिर सम्यक् ज्ञान।

वैदिक ऋषियों ने रूपक की भाषा में यही कहा है—

श्रद्धादेवी प्रथमजा ऋतस्य—तै. ब्रा. ३/१२/१३

ऋत्—सत्यस्वरूप ब्रह्म की पहली बेटी श्रद्धा है।

श्रद्धा हृदय को कोमल बनाती है, मृदु बनाती है, और मृदु हृदय में ज्ञान, तप आदि का अंकुर पल्लवित-पुष्पित होकर कल्पवृक्ष का रूप धारण कर सकता है।

भगवान महावीर को कुछ लोग महान् प्रज्ञावादी बताते हैं। इसके समर्थन में भगवान के अनेक विशेषणों को भी उद्धृत किया जाता है। जैसे—

से भूइपन्ने—वे महान् प्रज्ञावाले थे।

आसुपन्ने—वे आशुप्रज्ञ थे।

से पन्नया अक्खयसागरे वा—वे प्रज्ञा के अक्षय सागर थे आदि। (सूत्रकृतांग ६ वीरस्तुति)

किन्तु इससे यह तथ्य ओझल नहीं किया जा सकता कि वे महान् श्रद्धावादी भी थे। **'सद्धा परम दुल्लहा'** को उच्चारित कर उन्होंने श्रद्धा को परम दुर्लभ स्वीकार किया है। उन्होंने तर्क करने वालों को– प्रत्यक्ष-वादियों को बार-बार चेताया है—

अदक्खु, व दक्खु वाहियं सद्दहं सु।

—सूत्र० २/३/११

नहीं देखने वालो, तुम देखने वालों की बात पर विश्वास करके चलो। यदि विश्वास नहीं है, श्रद्धा नहीं है तो तुम्हें ज्ञान भी प्राप्त नहीं हो सकता।

नादंसणिस्स नाणं —उत्त० ३२

श्रद्धाहीन को ज्ञान प्राप्त नहीं हो सकता। वेदों में भी कहा है—

श्रद्धया सत्यमाप्यते —यजुर्वेद १९/३०

श्रद्धा की पवित्र आँख से ही सत्य के दर्शन हो सकते हैं।

श्रद्धावांल्लभते ज्ञानम् (गीता० ४/३९)

श्रद्धावान ही ज्ञान प्राप्त कर सकता है। श्रद्धाहीन ज्ञानी भ० महावीर की भाषा में अज्ञानी है, मूढ है।

भगवान महावीर ने ज्ञान को महत्व दिया है, प्रज्ञा की प्रधानता मानी है, इससे कोई इन्कार नहीं हैं; किन्तु यह क्यों भूल जाते हैं कि उनकी प्रज्ञा, उनका ज्ञान श्रद्धा से समन्वित है। श्रद्धाहीन ज्ञान नहीं अज्ञान है। श्रद्धाहीन प्रज्ञा दुष्प्रज्ञा है। फिर दूसरी बात—

पन्ना समिक्खए धम्मं—प्रज्ञा से धर्म की समीक्षा करके ही धर्म की पहचान करने की है। किन्तु धर्म की पहचान करने मात्र से तो मुक्ति या वीतरागता नहीं मिल जायेगी। मुक्ति के लिए फिर श्रद्धा की जरूरत होगी, इसलिए कहा है—

सद्धाखमं णे विणइत्तु रागं —उत्त रा० १४/२८

श्रद्धा ही हमें राग से मुक्ति दिलाने में समर्थ है।

श्रद्धा ही वह शक्ति है जो वीतराग बना सकती है। प्राचीन जैन ग्रन्थों में आचार्य आषाढ़भूति का कथानक आता है। आषाढ़भूति संघ के आचार्य थे, विद्वान तो थे ही, किन्तु अचानक एक दिन उनका मन शंकाकुल

हो गया। आत्मा के विषय में उनको संदेह हुआ। अब आत्मा नहीं, तो पुनर्जन्म किसका ? पुनर्जन्म नहीं तो पुण्य-पाप का क्या फल होगा ? पुण्य-पाप का कोई फल नहीं तो फिर शरीर को कष्ट देकर तपस्या, साधना, अहिंसा-पालन आदि सब किसलिए किया जाय ? मतलब यह है कि श्रद्धा लड़खड़ाते ही सम्पूर्ण जीवनक्रम लड़खड़ा उठा, साधना की आधारभूमि हिल उठी। और इसका फल हुआ—आचार्य आषाढ़भूति भौतिक सुखों के लिए धनसंग्रह करने में जुट गये और धन-संग्रह के लिए ६ मासूम बालकों की हत्या करके उनके जेवर लूटकर अपनी झोली में भरने लगे। साधु के प्रति श्रद्धा भाव से दर्शन करने आये निर्दोष बालकों को मारकर उनके शव जंगल में फेंक देना और जेवर से अपनी झोली भर लेना कितना नीच और घृणित कृत्य है यह ? व्यक्ति धर्म से तो गिरता ही है, नैतिकता, मानवता से भी गिरकर दानव बन जाता है। कब ? जब वह श्रद्धाहीन हो जाता है।

श्रद्धाहीन के लिए कोई नैतिक मूल्य नहीं है, कोई मानवता नहीं है। कोई आचार मर्यादा नहीं है। क्योंकि किसी भी मूल्य के प्रति उसकी आस्था एवं श्रद्धा नहीं होती। श्रद्धाहीन क्या नहीं कर सकता यह आषाढ़-भूति के चरित्र से प्रकट होता है।

श्रद्धा व्यक्ति की नैतिकता की प्रहरी है। आचार मर्यादा की रक्षक है। बड़े से बड़े संकट, परीषह और उपसर्ग से जूझने की शक्ति श्रद्धा से प्राप्त होती है। श्रद्धा सम्बल है, पाथेय है, कठिन से कठिन यात्रा पूरी करने के लिए। कष्टों की अंधियारी रात में चलने के लिए श्रद्धा दीपक है।

वर्तमान का एक उदाहरण मेरे सामने है। एक व्यक्ति ने श्रमण-दीक्षा ग्रहण की। जीवन में अनेक कष्ट, परीषह आये, वह हँसते-हँसते सहता गया। प्राणों पर खेलने वाले प्रसंग भी आये पर वह व्यक्ति उनमें पर्वत की भांति अडिग रहकर सब कुछ झेलता गया, उच्च साधु आचार के प्रति समर्पित होकर।

वह श्रमण शास्त्रों का विद्वान था, उत्कृष्ट प्रवक्ता भी था, समाज में उसकी विद्वत्ता की, ज्ञान की, प्रवचन की, लेखन की धाक थी, सर्वत्र सम्मान, प्रतिष्ठा और पूजा मिलती रही।

अचानक उसकी श्रद्धा में एक तूफान उठा। भूगोल-खगोल की सामान्य विज्ञान की बातों को लेकर उसे शास्त्रों की प्रामाणिकता में सन्देह हुआ। शास्त्रों को भगवद् वाणी मानने के प्रति उसने शंका उठाई। धीरे-

धीरे उसकी आस्था की जड़ें हिलने लगीं। जिस विश्वास पर वह आदर्श साधुजीवन की कठोर चर्या का पालन कर रहा था वह विश्वास का आधार हिल उठा। हमने देखा, धीरे-धीरे उसका जीवनक्रम बदलने लगा। आचार, मर्यादा में शिथिलता आने लगी। श्रमण-जीवन की उसकी आस्था बदल गई, उसके नैतिक मूल्य भी बदल गये। जिन कार्यों का उसने जीवन के प्रारम्भ में त्रिकरण-त्रियोग से त्याग किया था। धीरे-धीरे उनका सेवन करने लगा। परिणाम यह हुआ कि बचपन और जवानी में कठोर श्रमण-धर्म की आराधना करने वाला विद्वान संत बुढ़ापे में आते-आते उन मर्यादाओं को तोड़कर गृहस्थों के समान सुख-सुविधाभोगी बन गया।

मैं जब देखता हूँ – यह परिवर्तन क्यों आया ? तो लगता है श्रद्धा-हीनता का ही यह परिणाम है। पहले दिन विज्ञान की आड़ लेकर उसने शास्त्रों की प्रामाणिकता पर तर्क उठाये। दूसरे दिन युग-प्रवाह और धर्म-प्रचार की आड़ लेकर आचार-मर्यादाओं को ताक पर रख दिया और वह श्रमण गृहस्थों से भी अधिक सुविधाभोगी बन गया। क्योंकि उसकी आचार-मर्यादा का आधार टूट गया, उसकी आस्था डगमगा गई। अब उसको श्रमण-आचार व्यर्थ का क्रिया-काण्ड प्रतीत होने लगा।

श्रद्धाहीन व्यक्ति जीवन में कहाँ तक गिरेगा, कुछ कहा नहीं जा सकता। भर्तृहरि के एक श्लोक का अंश है– **भवति विनिपातो शतमुखः** —श्रद्धाहीनों के लिए यही कहा जा सकता है।

मैं यह नहीं कहता कि शास्त्र के प्रति आप तर्क ही न करें। किन्तु तर्क की एक सीमा है। तर्क से आप सत्य को भी खंडित कर सकते हैं। झूठ को सच्चा और सच्चे को झूठा सिद्ध करने वाली वकीलों की दलीलें न्यायालय में चल सकती हैं। यदि धर्म-क्षेत्र में इनका सहारा लिया गया तो फिर सत्य का दीपक सिर्फ काजल उगलेगा, प्रकाश नहीं दे पायेगा।

फिर विज्ञान तो एक प्रयोग है, और प्रयोग कभी भी अन्तिम सत्य नहीं हो सकता। विज्ञान जिसे आज सत्य कह रहा है, कल उसे ही असत्य सिद्ध करने में उसे कोई आपत्ति नहीं होगी। न्यूटन का विश्वमान्य गुरुत्वाकर्षण का सिद्धान्त भी आज वैज्ञानिकों के लिए फिर से विचारणीय बन गया है। वे सोच रहे हैं यह सिद्धान्त भी सृष्टि में सब जगह समान रूप से लागू नहीं हो पा रहा है। विज्ञान का क्षेत्र, विज्ञान की सीमा और विज्ञान की परिभाषाएँ हमेशा बदलती रही हैं। उनको अन्तिम सत्य मानकर परम्परागत शास्त्रों को असत्य सिद्ध करने का प्रयास तो एक मूर्खता है, हठवादिता है। सच्चा वैज्ञानिक कभी हठवादी नहीं होता। विज्ञान का अधूरा जानकर ही उसकी पूँछ पकड़कर घिसटता जाता है।

रही बात तर्क की या प्रत्यक्ष की ! तर्क तो एक पत्थर है, उसे कहीं भी फिट किया जा सकता है। और प्रत्यक्ष....? इन्द्रिय-प्रत्यक्ष कभी पूर्ण सत्य नहीं होता। कभी-कभी जो दीखता है, जो सुना जाता है, वह झूठ होता है, और जो सच है वह अनदेखा, अनसुना ही रह जाता है।

श्रीमद् राजचन्द्र ने एक बार कहा था—"मैं तर्क से, युक्ति से चाहूँ तो सभी शास्त्रों का खण्डन कर सकता हूँ, पर ऐसा करने से लाभ कुछ भी नहीं। मेरा और अनेक प्राणियों का अनन्त संसार ही बढ़ेगा। अनेक भव्य, भद्र प्राणी सत्यमार्ग से भटक जाएँगे। इससे असत्य की पूजा बढ़ेगी। अनाचार की प्रतिष्ठा होगी।" समाज में राष्ट्र में, सदाचार की, नैतिक मूल्यों की, प्राचीन सांस्कृतिक और धार्मिक मर्यादाओं की प्रतिष्ठा तभी तक रहेगी जब तक हम उनके प्रति आस्थावान हैं, श्रद्धाशील हैं।

इसलिए 'श्रद्धा' केवल धार्मिक जगत में ही नहीं किन्तु सामाजिक क्षेत्र में भी महत्वपूर्ण है, आवश्यक है।

कुछ लोग कहते हैं कि श्रद्धा की आँख नहीं होती, पर ऐसी श्रद्धा अंधश्रद्धा है। मैं ऐसी अन्धश्रद्धा का पक्षपाती नहीं हूँ। श्रद्धा में विवेक की, सम्यक्त्व की आँख होनी ही चाहिए। जिस श्रद्धा में सम्यक्त्व की आँख है, वही वास्तव में श्रद्धा है, उसे ही जैन दर्शन में सम्यक् श्रद्धा कहा है, और ऐसी सम्यक्श्रद्धा ही जीवन में परम दुर्लभ है—उसी के लिए भगवान् महावीर ने कहा है—

सद्धा परम दुल्लहा

———

४

आत्मिक प्रगति की जननी : सत्श्रद्धा

आत्मिक प्रगति का सर्वोत्तम साधन : श्रद्धा

जीवन को किसी निर्दिष्ट सांचे में ढाल देने वाली सबसे प्रबल एवं उच्चस्तरीय शक्ति श्रद्धा है। यह अन्तःकरण की भव्य भूमि में उत्पन्न होकर मनुष्य के समग्र जीवन को हरा-भरा एवं सरसब्ज बना देती है। भौतिक समृद्धि स्थूल साधनों से उपलब्ध होती है, जबकि आत्मिक सिद्धि एवं समृद्धि के लिए कुछ अन्य साधन होते हैं। उनमें सर्वोत्तम साधन है– श्रद्धा।

श्रद्धा का अर्थ और व्याख्या

उपनिषद्कारों ने श्रद्धा का निर्वचन करते हुए कहा है—

'श्रत् = सत्यं दधातीति श्रद्धा'

अर्थात्—जो अन्तःकरण से प्रसूत एवं प्रतीत सत्य को धारण करे, वह श्रद्धा है।

अन्तःकरण की उत्कृष्टता को श्रद्धा के नाम से पहचाना जाता है। उसका व्यावहारिक रूप है—भक्ति। बोलचाल में तो दोनों का उपयोग पर्यायवाची शब्दों के रूप में होता है। परन्तु दोनों में कुछ अन्तर तो है ही। श्रेष्ठता के प्रति अटूट आस्था अथवा असीम प्यार के रूप में उसकी व्याख्या की जा सकती है।

चार उत्कृष्ट तत्त्वों के प्रति श्रद्धा

जैनदर्शन में देव, गुरु और धर्म ये तीन उत्कृष्ट श्रद्धेय माने गये हैं। इन्हीं को मांगलिक पाठ में 'उत्तम' शब्द से प्रयुक्त किया गया है—

"चत्तारि लोगुत्तमा—अरिहंता लोगुत्तमा, सिद्धा लोगुत्तमा,
साहू लोगुत्तमा, केवलिपण्णत्तो धम्मो लोगुत्तमो।"

अर्थात्—इस विश्व (लोक) में चार उत्तम हैं—अरिहन्त या अर्हन्त लोक में उत्तम हैं. सिद्ध (मुक्त) लोक में उत्तम हैं, साधु लोक में उत्तम हैं, एवं केवली (वीतराग सर्वज्ञ) द्वारा प्रज्ञप्त धर्म लोक में उत्तम है।"

ये ही चार सत्य हैं, शिव (मंगल) हैं, सुन्दर (उत्तम) हैं और ये ही चार शरण्य हैं। इस प्रकार इन चारों सर्वश्रेष्ठ (लोकोत्तम) तत्त्वों के प्रति अटूट आस्था रखना, असीम भक्ति होना श्रद्धा का फलितार्थ है। देव में अरिहन्तों और सिद्धों का, गुरु में आचार्य, उपाध्याय एवं साधु-साध्वीगण का, तथा धर्म में सम्यग्ज्ञान-दर्शन-चारित्ररूप अथवा श्रुत-चारित्ररूप वीतराग सर्वज्ञ तीर्थंकरों द्वारा प्ररूपित धर्म का समावेश हो जाता है।

श्रद्धा का प्रयोजन

जहाँ भी आत्म साक्षात्कार--परमात्म-साक्षात्कार या लक्ष्य-प्राप्ति की विवेचना हुई, वहाँ श्रद्धा ही प्रमुख मानी गई। श्रद्धातत्त्व के विकास और अतिरेक द्वारा ही परमात्मा या शुद्ध आत्मा की अनुभूति का पाना सम्भव होता है।

यह सत्य है कि इसी श्रद्धा की धुरी पर अध्यात्म-साधना अथवा मोक्षमार्ग (धर्म) की साधना चलती है। आत्म-कल्याण चाहने वाले तथा मोक्ष-प्राप्ति के इच्छुक साधकों के लिए श्रद्धा-शक्ति का उभार एवं आलम्बन अतीव आवश्यक है। इसके बिना उस महान् लक्ष्य को प्राप्त नहीं किया जा सकता। सिद्धान्त (तत्त्वज्ञान) और व्यवहार की दोनों पटरियों पर चलकर जब आस्था की यह गाड़ी आत्मा, परमात्मा, लोक-परलोक, पुण्य-पाप-संवर-निर्जरा, बन्ध-मोक्ष, जीव-अजीव आदि तत्त्वों की सत्यता, तथा जीवन के उत्तम दर्शन एवं देव-गुरु-धर्म की भक्ति के क्षेत्र में प्रविष्ट होती है, तब वह सत्श्रद्धा कहलाती है। अपनी आत्मा में निहित परमात्म तत्त्व को देखने, उसका साक्षात्कार करने एवं उसे प्राप्त करने के उपाय के रूप में मनीषियों ने सर्वप्रथम इसी सत्श्रद्धा का आश्रय लिया है। इसीलिए वैदिक ऋषियों ने कहा है—

'श्रद्धया सत्यमाप्यते'

श्रद्धा से सत्य प्राप्त किया जाता है।

किन पर श्रद्धा, किन पर अश्रद्धा ?

आशय यह है कि श्रद्धा सत् तत्त्व के प्रति ही सघन होती है, असत् के प्रति नहीं। जहाँ भी श्रेष्ठता एवं पूज्यता का समावेश होता है, वहीं श्रद्धा टिकती है, अन्यत्र नहीं। इसलिए श्रद्धा से तात्पर्य उन मंगल भावनाओं या आस्थाओं से है, जो इष्टदेव (देवाधिदेव), धर्मगुरु एवं उत्कृष्ट मंगलमय धर्म के प्रति पूज्यभाव एवं सघन आत्मभाव बनाए रखती है। परम आप्त महापुरुषों के वचनों पर विश्वास करके उनके द्वारा उपदिष्ट मोक्ष पथ पर अबाधगति से चल पाना सत्श्रद्धा से ही सम्भव हो सकता है। जिनके प्रति श्रद्धा के भाव नहीं होते, उनके कथन पर विश्वास कर पाना या उनके द्वारा बताये मार्ग पर चल पाना असम्भव प्रतीत होता है। वास्तव में, वस्तुस्थिति से अवगत होने पर श्रेष्ठता के भ्रम में उसके प्रति पाली-पोसी हुई श्रद्धा अश्रद्धा में बदल जाती है। श्रेष्ठता का पाखण्ड या आडम्बर ज्यों ही ध्वस्त होता है, त्यों ही वह अपने साथ श्रद्धा को भी विनष्ट कर देता है। आत्मा-परमात्मा आदि के प्रति श्रद्धा न डिगने का कारण है—उनके अस्तित्व एवं उनके द्वारा विश्व पर किये हुए महान् उपकार या अनुग्रह के प्रति तनिक भी शंका का न होना।

जिनके मन में सन्देह या अविश्वास रहता है, उनकी श्रद्धा भी परमोपकारी परमात्मा, गुरुदेव या सद्धर्म के प्रति गहन नहीं हो पाती।

प्रगाढ़ सत्श्रद्धा के चमत्कार

प्रगाढ़ श्रद्धा तो मिट्टी में भी, विष में भी और शूली में भी परमात्मा के दर्शन करा देती है। मिट्टी के द्रोणाचार्य के प्रति अटूट श्रद्धा ने एकलव्य को धनुर्विद्या में पारंगत कर दिया। भक्तिरस में निमग्न मीरा ने राणा के द्वारा जहर का प्याला पीने को दिये जाने पर उसे श्रीकृष्ण का चरणामृत होने की अटूट श्रद्धा से पी लिया तो वह विष भी अमृत बन गया। सेठ सुदर्शन की अर्हन्त प्रभु के प्रति परमश्रद्धा के कारण शूली भी सिंहासन बन गई थी। धधकती अग्नि ज्वाला को परमात्मा (नृसिंहरूप) की गोद समझकर उसमें बैठने की प्रह्लाद की परमश्रद्धा के कारण अग्नि भी उसे जला न सकी। परमात्मा के प्रति अटूट श्रद्धायुक्त समर्पण ने द्रौपदी को निर्वस्त्र न होने दिया, अपितु उसका पहना हुआ वस्त्र बढ़ता ही गया। ये सब सत्श्रद्धा के ही चमत्कार कहे जा सकते हैं। ऋग्वेद (१०/१५११) में कहा गया है—

"श्रद्धयाऽग्निः समिध्यते, श्रद्धया हूयते हविः।
श्रद्धया भगस्य मूर्धनि, वचसा वेदयामसि।"

इसका भावार्थ यह है कि श्रद्धा द्वारा आत्मज्ञान की अग्नि प्रदीप्त की जा सकती है। श्रद्धा द्वारा हविष्यान्न का हवन किया जाता है, अर्थात्-आत्मसत्ता को परमात्मसत्ता में व्युसर्ग (अप्पाणं वोसिरामि) किया जाता है। श्रद्धा भग अर्थात्-ऐश्वर्य (ऐश्वर्य, धर्म, यश, श्री, ज्ञान एवं वैराग्य) आदि वालों के मस्तिष्क में निवास करती है। तात्पर्य यह है कि श्रद्धा का इन पर नियंत्रण होता है। श्रेयःसाधक में सर्वप्रथम श्रद्धा ही प्रबल होती है। तत्पश्चात् क्रियाशीलता आती है।

श्रद्धा : आत्मा को उत्कृष्टतादात्री जननी

निष्कर्ष यह है कि मानव-जीवन में सबसे बड़ी, सबसे समर्थ शक्ति श्रद्धा है। इसी को व्यक्ति की मनःस्थिति का सृजन करने वाली बताया गया है। शरीर को जन्म तो माता-पिता के प्रयत्न से मिलता है, परन्तु आत्मा को उत्कृष्टता मिलती है, श्रद्धा और विश्वासरूपी जननी-जनक की अनुकम्पा से। इसीलिए योगदर्शन के व्यासभाष्य में लिखा है—

'सा (श्रद्धा) जननीव कल्याणं योगिनः पाति।'

वह श्रद्धा माता के समान योगी के कल्याण की सुरक्षा करती है।

श्रद्धा के बल पर बलिदान

श्रद्धा के बलबूते पर ही वीतराग-प्ररूपित धर्म के अनुयायी अथवा मोक्षमार्ग के पथिक देव-गुरु-धर्म के लिए हँसते-हँसते प्राणों का बलिदान दे देते हैं। धर्म पर अटूट श्रद्धा के कारण ही कामदेव श्रमणोपासक देवता द्वारा इतने कष्ट और संकट उपस्थित करने पर भी धर्म पर अटल रहा। महाशतक श्रावक अपने व्रत, नियम और धर्म पर डटा रहा। विश्व के इतिहास में ऐसे सैकड़ों उदाहरण हैं। ईसामसीह ईश्वर पर अटल श्रद्धा के कारण प्रसन्नतापूर्वक क्रूस पर लटक गए। सुकरात जैसे सत्यधर्म पर अखण्ड श्रद्धालु श्रद्धा के बल पर ही हँसते-हँसते जहर का प्याला पी गए।

श्रद्धाहीन एवं श्रद्धायुक्त साधना का अन्तर

आध्यात्मिक क्षेत्र की उच्चस्तरीय साधनाओं में श्रद्धा की ही अपरिमेय शक्ति काम करती है। श्रद्धाहीन क्रियाकाण्ड या धर्माचरण, जप-तप, अर्चा-पूजा आदि अंग-संचालन के व्यायाम के समान यत्किंचित् लाभदायक हो सकते हैं, किन्तु वे ही श्रद्धा के आधार पर लक्ष्य सिद्धि में सहायक सिद्ध होते हैं।

श्रद्धा और विश्वास : शक्ति और शिव

श्रद्धा की उपलब्धि एक प्रकार से परमात्मा की उपलब्धि कही जा सकती है। ईश्वरानुभूति के अन्य साधन उतने सफल नहीं होते, जितनी श्रद्धा की प्रगाढ़ता।

गोस्वामी तुलसीदासजी ने 'रामचरितमानस' के प्रारम्भ में मंगलाचरण करते हुए कहा—

'भवानी-शंकरौ वन्दे, श्रद्धा-विश्वासरूपिणौ।
याभ्यां विना न पश्यन्ति, सिद्धाः स्वान्तःस्थमीश्वरम् ॥'

मैं उन श्रद्धा और विश्वास रूपी भवानी और शंकर को वन्दन करता हूँ जिनके (श्रद्धा और विश्वास के) बिना अन्तःकरण में स्थित परमात्मा को सिद्धजन नहीं देख सकते हैं।

वस्तुतः श्रद्धा और विश्वास अन्तःकरण की शक्तियाँ हैं। जिसे वैदिक-दर्शन कारणशरीर और जैनदर्शन कार्मणशरीर कहता है। क्योंकि भावसंवेदनाओं का क्षेत्र, श्रद्धा का स्रोत इसी स्थल में है। व्यक्तित्व को हिला डालने वाली, मनुष्य में अद्भुत सहनशक्ति, विराट् कार्यक्षमता पैदा करने वाली यही है। अन्तःकरण की प्रतिमूर्ति या प्रेरणा ही जीवन दिशा का निर्धारण करती है। इसी को मानव के अन्तःकरण में स्थित साक्षात् परमात्मशक्ति के रूप में माना गया है।

उल्लसित वर्तमान और उज्ज्वल भविष्य का निर्धारण पूर्णतया सत्श्रद्धा के हाथ में है। भूत, भविष्य और वर्तमान की सुखद सम्भावनाओं का निर्माण श्रद्धा के द्वारा ही सम्भव होता है। जो आचरण में, संकल्प के रूप में व्यक्त न हो, प्रखर भावनाओं का जनक न बने, वह सत्श्रद्धा नहीं हो सकती।

जैसी जितनी श्रद्धा, वैसा उतना ही व्यक्तित्व

जैसे बीज ही वृक्ष बनता है, वैसे ही श्रद्धा के जैसे बीज अन्तरात्मा में डाले जाते हैं, वैसा ही मनुष्य का व्यक्तित्व रूपी वृक्ष बनता है। मनुष्य जो कुछ बनता है, जो कुछ पाता है, वह समग्र निर्माण श्रद्धा-शक्ति के चमत्कार के सिवाय और कुछ नहीं है। गीताकार ने इसी तथ्य की ओर इंगित करते हुए कहा है—

'श्रद्धामयोऽयं पुरुषः, यो यच्छ्रद्धः स एव सः'

यह पुरुष श्रद्धामय है। जिसकी जैसी श्रद्धा होती है, वह वैसा ही है।

बुद्धि और क्रिया भी श्रद्धा की अनुगामिनी होती हैं। एक-सी क्रिया और एक-सी बुद्धि अन्तःकरण द्वारा विभिन्न दिशाओं में श्रद्धा का प्रयोग होने पर वह आकाश-पाताल जितना अन्तर उपस्थित कर देती है। वह अन्तर विभिन्न श्रद्धा के परिणामों का होता है। अम्बपाली की बुद्धि जब तक रूप सौन्दर्य की अधिकाधिक प्रशंसा प्राप्त करने में जीवन को सार्थकता समझती थी, तब तक वह नगरवधू थी; वही बुद्धि, वही गतिशीलता और सुन्दरता जब सत्श्रद्धा के साथ जुड़ गई तो उसके जीवन की दिशा ही बदल गई। वह धनवैभव के बदले आत्मवैभव को, रूप-सौन्दर्य के बदले आत्मिक सौन्दर्य को वास्तविक उपादेय मानने लगी। रत्नाकर डाकू की श्रद्धा बदल गई तो वह महाकवि बाल्मीकि बन गया। प्रदेशी राजा एक दिन घोर नास्तिक और क्रूर था, लेकिन जब उसके अन्तःकरण में सत्श्रद्धा उत्पन्न हुई तो महान् धर्मिष्ठ बन गया और सूर्यकान्ता रानी द्वारा भोजन में दिये गये विष को भी सहर्ष पी गया। वस्तुतः श्रद्धा ही आन्तरिक व्यक्तित्व को जन्म देने वाली, उसके स्वरूप को निर्धारित-विकसित करने वाली दिव्य जननी है। तात्पर्य यह है कि किसी का व्यक्तित्व कैसा है, क्या है? इसे जानने-समझने का एक ही उपाय है—उस व्यक्ति की श्रद्धा का स्तर जानना। व्यक्ति की स्थिति या व्यक्तित्व श्रद्धा से जुड़ा हुआ है। अतः श्रद्धा व्यक्तित्व की आदिशक्ति है, और विश्वास परम शिव (महादेव) है। श्रद्धा और विश्वास इन दो बीजों का ही विकसित रूप व्यक्तित्व वृक्ष है।

अध्यात्म मार्ग में उपादेय : सत्श्रद्धा धेनुसम

गीता में श्रद्धा के तीन स्तर बताए गए हैं—सात्विक, राजस और तामस। राजस और तामस श्रद्धा सत्श्रद्धा नहीं है, अध्यात्म मार्ग के लिए उपादेय नहीं है। अतएव 'रामचरितमानस' में सात्विक श्रद्धा को सुन्दर गाय बताया है—**'सात्विक श्रद्धा धेनु सुहाई'**। यह गाय जप, तप, व्रत, यम-नियम आदि चारा ही खाती है जो हरा, ताजा और खाने लायक हो। श्रद्धारूपी गौ का दूध भावरूपी बछड़े को पाकर निर्मल मन रूपी बर्तन में दुहा जाता है। अतः श्रद्धारूपी गाय को दुहने के लिए भावयुक्त यम-नियम, क्रिया आदि की आवश्यकता है। भावविहीन जप-तप, नियम-क्रियाकाण्ड आदि करने वालों के द्वारा श्रद्धारूपी गाय नहीं दुही जा सकती, उसमें धर्मरूपी दूध नहीं मिल सकता।

श्रद्धा शक्ति है। बिना शक्ति के शिवरूपी शुद्ध आत्मा शव है।

इसीलिए जैनशास्त्रों में 'सद्धा परम दुल्लहा' –'श्रद्धा परमदुर्लभ' बताई गई है।

भावों से परमात्मा में आरोपित श्रद्धा का चमत्कार

तीर्थंकर या सिद्ध परमात्मा आज हमारे समक्ष प्रत्यक्ष नहीं हैं। परन्तु उनकी पूजा-अर्चा या उपासना-आराधना करनी हो तो भाव से तीर्थंकर या सिद्ध परमात्मा का अन्तःकरण में ध्यान करके उनमें सत्श्रद्धा आरोपित की जाती है। उनमें आरोपित की गई श्रद्धा प्रतिध्वनित और प्रतिफलित होकर साधक के पास वापस लौट आती है। जैसे गेंद को दीवार या धरती पर मारने से टकरा कर वह वापस उसी स्थान को लौटती है, जहाँ से उसे फेंका गया था। गुम्बज, कूप, या पहाड़ के पास की हुई आवाज गूंजती है, प्रतिध्वनित होकर वापस उच्चरित स्थान पर आती है। इसी प्रकार परमात्मा, गुरु एवं धर्म के प्रति भाव से की गई श्रद्धा प्रतिध्वनित एवं प्रतिफलित होती है। यह श्रद्धा की शक्ति का चमत्कार है। देवता या परमात्मा का निवास काष्ठ या पाषाण आदि में नहीं होता, किन्तु भावों में ही होता है। कहा भी है— **'भावे हि विद्यते देवस्तस्माद् भावो हि कारणम्।'** अतः भावपूर्वक श्रद्धा होने से उसका प्रतिफल अवश्य मिलता है। सत्श्रद्धा को विकसित करने के लिए भाव ही माध्यम है।

———

५

आत्मविश्वास की अजेय शक्ति

आत्मविश्वास का महत्व

आत्मविश्वास मनुष्य की अमूल्य सम्पदा है। इस सम्पत्ति को साथ लेकर जो मनुष्य संसाररूपी बाजार में अपना स्थान बनाने के लिए निकलता है, तो उसे कोई पराभूत नहीं कर सकता, न ही विचलित कर सकता है। उसे सफलता के मन्दिर में प्रवेश करने से कोई रोक नहीं सकता। जीवन के प्रत्येक क्षेत्र में आत्मविश्वास सफलता का महामंत्र है। आधुनिक मनोविज्ञान-विशेषज्ञों का कथन है कि आत्म-विश्वास का अवलम्बन लेकर अद्भुत पराक्रम का परिचय दिया जा सकता है और दुःसाध्य कार्यों को भी साध्य बनाया जा सकता है। आत्मविश्वास के बल पर व्यक्ति प्रत्येक कठिन से कठिन कार्य को हँसते-खेलते कर डालता है। कोई भी कठिनाई उसके मार्ग में बाधक नहीं बन सकती। आत्मविश्वास वह शक्ति है, जो असम्भव को सम्भव बना सकती है। प्रसिद्ध आत्मविश्वासी नेपोलियन बोनापार्ट का कहना था कि "मेरे जीवन के शब्दकोष में असम्भव (Impossible) नाम का कोई शब्द नहीं है।" आत्मविश्वास से ऐसे घाव भी भरे जा सकते हैं, जो किसी भी मरहम से अच्छे नहीं हो सकते।

आत्मविश्वास : पर्वतों को उखाड़ फेंकने वाली शक्ति

आत्मविश्वास ऐसी शक्ति है, जो पर्वतों को उखाड़ फेंक सकती है। पर्वत आत्मविश्वासी को रास्ता देने को बाध्य हो जाता है।

आत्मविश्वास के बल के आगे बड़ी से बड़ी शक्ति हार खा जाती है। आत्मविश्वास में अजेय शक्ति है। आत्मविश्वास वह महामंत्र है, जिसकी

सहायता से अजेय दुर्ग जीते जा सकते हैं; दुर्गम अटवियों, पर्वतों एवं मरु-भूमियों को पार किया जा सकता है।

सुदर्शन के दृढ़ आत्मविश्वास के आगे आसुरी शक्ति परास्त

राजगृह का श्रमणोपासक सुदर्शन आत्मविश्वास से सम्पन्न व्यक्ति था। अपने दृढ़ आत्मविश्वास के कारण ही उसे मानव-हत्यारे अर्जुनमाली के आतंक का, उसके घुमाते हुए भारी भरकम मुद्गर का, कोई डर नहीं हुआ। उसे अपनी अध्यात्म शक्ति पर अटल विश्वास था। यही कारण था कि अर्जुनमाली की आसुरी शक्ति उसके समक्ष परास्त हो गई। अर्जुनमाली के हाथ से मुद्गर गिर पड़ा और वह भी धड़ाम से बेहोश होकर धरती पर गिर पड़ा। यह था आत्मविश्वास का अद्भुत चमत्कार।

आत्मविश्वास : अनन्त शक्तियों का भण्डार

प्रसिद्ध अंग्रेज लेखक स्वेट मार्डन ने लिखा है—"आत्मविश्वास की मात्रा हममें जितनी अधिक होगी, उतना ही हमारा सम्बन्ध अनन्त जीवन और अनन्त शक्ति के साथ गहरा होता जाएगा। नि सन्देह प्रत्येक परिस्थिति में मनुष्य का एकमात्र साथी उसकी आत्मशक्ति है। उसकी शारीरिक, मानसिक और बौद्धिक शक्तियाँ आत्मविश्वास के इशारे पर नाचती हैं। निःसन्देह आत्मविश्वास अपने उद्धार का एक महान् सम्बल है।"

श्रमण भगवान् महावीर जिन दिनों केवलज्ञानी नहीं बने थे, छद्मस्थ अवस्था में थे, उनमें आत्मविश्वास कूट-कूट कर भरा था। उन्होंने एक बार चण्डकौशिक सर्प की भयानकता के बारे में सुना कि वह किसी भी मनुष्य या पशु-पक्षी को जिंदा नहीं छोड़ता, अपनी दृष्टि से देखकर ही उन पर जहर छोड़ देता है। लोग चण्डकौशिक सर्प को अपनी ओर आते देखकर भय के मारे ही मर जाते थे। आत्मविश्वासी भगवान् महावीर ने सोचा—चण्डकौशिक में विष है और मेरे में वात्सल्य का अमृत है। अमृतमयी आत्म-शक्ति के समक्ष चण्डकौशिक की विषमयी शक्ति अवश्य ही प्रभावहीन हो जाएगी। वे दृढ़ निश्चय करके चण्डकौशिक के स्थान की ओर चल पड़े। बहुत-से लोगों ने उन्हें देखकर रोका और टोका—"अरे महात्मन्! इधर मत जाइए, इधर भयानक विषधर चण्डकौशिक रहता है, वह आपको देखते ही विषाक्त करके मार डालेगा। क्यों अपनी मृत्यु को बुला रहे हो, बाबा!"

भगवान् महावीर ने जनता की कायरतापूर्ण एवं भय-जनक बातें सुनीं, किन्तु उनकी बातें उनके आत्मविश्वास को डगमगा न सकीं। बल्कि उनमें आत्मविश्वास, उत्साह और स्फूर्ति का अत्यधिक संचार हुआ। उन्होंने अपनी बिखरी हुई समस्त शक्तियों को आत्मविश्वास के बल पर केन्द्रित और संगठित किया और चण्डकौशिक को अपनी अमृतमयी वात्सल्य दृष्टि से प्रतिबोध करने की दिशा में लगा दिया। वे निर्भय होकर प्रसन्नतापूर्वक चण्डकौशिक विषधर की बांबी पर जाकर खड़े हो गए। सहसा चण्डकौशिक अपनी बांबी से निकला और धृष्टतापूर्वक निर्भीक होकर खड़े वर्द्धमान महावीर के अंगूठे को डस लिया। परन्तु यह क्या, लाल रक्त के बदले अंगूठे से दूध की धारा बह निकली। चण्डकौशिक आश्चर्यमग्न होकर निश्चल और निर्भय वात्सल्यमूर्ति भ० महावीर को देखने लगा। सोचते-सोचते उसे अपने पूर्वजन्म का स्मरण हो आया। जाति-स्मरणज्ञान के प्रकाश में उसने देखा—पूर्वजन्म में मैंने ऐसे महान् त्यागी श्रमण को देखा है। मैं भी इसी प्रकार का साधु था, किन्तु मैंने अपने शिष्य पर भयंकर क्रोध किया, अहिंसा की शक्ति पर विश्वास खो बैठा। बस, उसी समय खंभे से सिर टकराने से मेरी मृत्यु हुई और मैं मरकर सर्प की योनि में आया।

भगवान् महावीर ने उसका आत्मविश्वास बढ़ाते हुए कहा—"चण्डकौशिक! अब भी समझ जाओ। तुम्हारी आत्मा तो वही है, केवल शरीर बदला है। अब भी तुम आत्मविश्वास रखकर अपनी आत्मशक्तियों को हिंसा के बदले अहिंसा की ओर, क्रोध के बदले क्षमा, तथा क्रूरता के बदले वत्सलता की ओर और जहर उगलने के बदले अमृतवृष्टि करने में लगा दो, बस तुम्हारा बेड़ा पार हो जाएगा। अपनी आत्मशक्ति पर विश्वास रखो।"

आत्मविश्वासी का दूसरे पर अचूक प्रभाव

भगवान् महावीर की आत्मविश्वासपूर्वक कही हुई बात का चण्डकौशिक पर अचूक प्रभाव पड़ा। उसी दिन से चण्डकौशिक ने मन ही मन भगवान् के समक्ष संकल्प किया कि "मैं अब किसी को नहीं सताऊंगा, कोई भी मुझ पर कुछ भी प्रहार करे, सताये, या मारे-काटे मैं उसके प्रति रोष-द्वेष नहीं करूँगा, क्षमाभाव धारण करूँगा।" उसी समय उसने अपना मुंह बांबी के अन्दर डाल लिया, सिर्फ पूँछ बाहर रही। आने-जाने वाले पथिक चण्डकौशिक को शान्त देखकर उसके पीने के लिए प्याले में दूध रखने लगे, कोई देव समझकर उसके शरीर पर दूध चढ़ाने लगे। परन्तु चण्डकौशिक ने

दूध नहीं पिया। दूध की गन्ध से चींटियाँ उसके शरीर पर चढ़ गईं, उसके शरीर को नोंच-नोंच कर छलनी-सा बना दिया, मगर चण्डकौशिक ने क्षमा और समता रखी, कोई भी प्रतीकार न किया। उसे अपनी आत्मा पर दृढ़ विश्वास हो गया था कि मुझ में क्षमा, शान्ति, समता और करुणा आदि की शक्ति निहित है, फिर मैं क्रोध, वैरभाव, विषमता और क्रूरता क्यों बरसाऊँ? इसी के फलस्वरूप चण्डकौशिक समाधिपूर्वक मरकर देवलोक में गया।

यह भगवान् महावीर के आत्मविश्वास का ही प्रभाव था कि चण्डकौशिक सर्प की योनि में क्षमाशील साधु-सा बन गया था। वस्तुतः आत्मविश्वासी अपने जीवन को तो ऊँचा उठाता ही है, अपने सम्पर्क में आने वाले अन्य जिज्ञासुओं को भी ऊपर उठने के लिए प्रेरित करता है।

आत्मा स्वयं पूर्ण है, और अपने आप में अनन्त शक्तियों का भण्डार है। आत्मविश्वासी स्वयं को क्षुद्र, पामर, दीन-हीन या अभागा नहीं मानता, वह स्वयं को अनन्तशक्तिमान् परमात्मा का पुत्र या उनका अनुयायी मानता है। उसका यह पक्का विश्वास होता है कि "जो आत्मशक्तियाँ वीतराग परमात्मा में विराजमान हैं, वे ही मेरी आत्मा में हैं, सिर्फ उन शक्तियों को प्रकट करने भर की देर है। मैं भी सच्चे माने में अनन्त परमात्म शक्तियों का पुंज हूँ। मेरे रोम-रोम में परमात्मा के अणु-परमाणु अनुस्यूत हैं। शरीर का नाश भले ही हो जाए, आत्मा का नाश कदापि नहीं होता। आत्मा अजर, अमर, अविनाशी, अच्छेद्य, अभेद्य, अदाह्य, अशोष्य है। ज्ञान, दर्शन, सुख एवं वीर्य ही आत्मा के निजी स्वभाव हैं।"

आत्मविश्वासी संकटों से घबराता नहीं

ऐसा आत्मविश्वास जिसके हृदय में बस जाता है, फिर वह व्यक्ति बड़े से बड़े कष्ट, संकट, यातना या पीड़ा से घबराता नहीं।

गजसुकुमार राजकुमार था, अत्यन्त सुकुमार था, सुख-सुविधाओं में पला हुआ था, परन्तु भगवान् नेमिनाथ की वाणी सुनकर जिस दिन उसमें प्रबल आत्मविश्वास जगा, उसने मन ही मन निश्चय कर लिया कि वीतराग परमात्मा नेमिनाथ जब कहते हैं कि मेरी आत्मा और तुम्हारी आत्मा में कोई अन्तर नहीं। सबमें अनन्त आत्मिक शक्तियाँ विद्यमान हैं, और आत्मा अजर-अमर अविनाशी है तो फिर मैं क्यों नहीं अपनी आत्मशक्तियों को प्रकट करूँ? उसने भगवान् नेमिनाथ से मुनिदीक्षा ग्रहण कर ली और उसी दृढ़ आत्मविश्वास के बल पर वह उसी दिन महाकाल श्मशान में जाकर

बारहवीं भिक्षुप्रतिमा की साधना करने को उद्यत हो गया। भगवान् ने गजसुकुमार मुनि को सावधान कर दिया था कि दिव्य, मानुष या तिर्यंचकृत कोई भी उपसर्ग (उपद्रव) उस पर आ सकता है, किन्तु अगर उस समय समभावपूर्वक आत्मनिष्ठा रखकर सहन कर लिया तो तुम अपने लक्ष्य को सिद्ध कर सकोगे। जन्म-जरा-मरणादि दुःखों से सदा के लिए मुक्त-सिद्ध-बुद्ध बन सकोगे, आत्मा की सम्पूर्ण ज्ञानादि अनन्त शक्तियाँ उपलब्ध कर सकोगे।

गजसुकुमार मुनि का यह पूर्ण आत्मविश्वास ही था, कि जिस समय सोमल ब्राह्मण ने उनके मस्तक पर खैर के धधकते अंगारे उड़ेल दिये, ऐसी तीव्र वेदना के समय भी वे एकमात्र आत्मनिष्ठ, आत्मा के प्रति अचल विश्वस्त, आत्मा में तन्मय हो गए थे। देहाध्यास से ऊपर उठ गए थे। यह उनके आत्मविश्वास का ही चमत्कार था कि वे एक ही दिन में सिद्ध-बुद्ध-मुक्त अनन्त चतुष्टय-सम्पन्न बन गए थे।

आत्मविश्वासी की अजेय शक्ति

वस्तुतः आत्मविश्वास मनुष्य को दृढ़ता और धीरता की प्रतिमूर्ति बना देता है। जिस मनुष्य को अपनी स्थिति एवं विचारों की सत्यता, एवं वस्तुस्वरूप का अटल विश्वास होता है, और जो यह समझता है कि वह कठिनतम कार्य को भी पूरा कर दिखाने की सामर्थ्य रखता है, वह अपने मन्तव्य की सत्यता को सिद्ध करने के लिए बड़े से बड़ा खतरा मोल लेने से नहीं डरता। उसे न तो मिथ्याधारणाओं के प्रेत भयभीत कर सकते हैं, और न ही शंकाओं के भूत डरा सकते हैं। उसके मार्ग में विपत्तियों के पहाड़ खड़े हों, तो भी वह कदम पीछे नहीं हटाता, बल्कि पहाड़ों को भी पथ देने पर बाध्य कर देता है।

वह अर्हन्नक श्रावक के आत्मविश्वास का ही परिणाम था, कि समुद्र-यात्रा के समय उसके पोत पर एक देव ने आकर उसे डराया, धमकाया, आत्मविश्वास से विचलित करने का प्रयत्न किया, उसके साथी व्यापारियों को भड़काया, यही नहीं, उसका जहाज उलटाने और सबको समुद्र में डुबोने तक का संकट उपस्थित कर दिया, किन्तु अर्हन्नक के आत्मविश्वास की अजेय शक्ति के आगे देव को भी झुकना पड़ा। वस्तुतः आत्मा में अलौकिक शक्तियाँ हैं। आत्मविश्वास मात्र से जीवन में शक्ति एवं स्फूर्ति का संचार होता है। आत्मविश्वास के चमत्कार से मनुष्य का व्यक्तित्व चमक उठता है। उसमें विलक्षण क्षमता का प्रादुर्भाव हो जाता है। आत्मविश्वास मनुष्य

के कार्यकलाप, जीवन-व्यवहार बातचीत एवं हावभाव आदि में अद्भुत सामर्थ्य भर देता है। वह मनुष्य की बिखरी हुई शक्तियों को संगठित कर देता है। और उन्हें एक ही दिशा में संलग्न कर देता है।

महात्मा गाँधी का यह दृढ़ विश्वास था कि आत्मविश्वास ही हमारी जीवन नैया को तूफानी सागर में भी खेता है।

आत्मविश्वास का चमत्कार

वर्तमान युग का एक राजनैतिक चमत्कार—भारत को स्वतन्त्रता प्राप्ति भी कुछ दृढ़संकल्पी लोगों के आत्मविश्वास का ही सुपरिणाम है। किसी को विश्वास ही नहीं होता था कि जिस ब्रिटिश सरकार के राज्य में सूर्य अस्त नहीं होता, उससे सत्य, अहिंसा, सत्याग्रह के शान्तिपूर्वक अहिंसक शस्त्रों से लड़कर स्वराज्य प्राप्त किया जा सकेगा और ब्रिटेन जैसी प्रचंड शक्ति को भारत छोड़ने पर बाध्य किया जा सकेगा। परन्तु महात्मा गाँधी के हृदय में अटल आत्मविश्वास भरा था, उनका अपने सिद्धान्तों, अहिंसक सत्याग्रह के प्रयोगों और साध्य-साधन-साधकशुद्धि पर अखण्ड विश्वास था। उसी के बल पर वह अन्य अनेक लोगों को अपना समर्थक और अनुयायी बनाने में सफल हुए। परिणामतः देश के कोने-कोने में स्वातन्त्र्य-संग्राम और राष्ट्रीय जागृति की लहर दौड़ गई है और अन्ततः सन् १९४७ में ब्रिटिश शासन को विवश होकर भारत पर से अपनी प्रभुसत्ता हटानी पड़ी।

आत्मविश्वासी असफलता की कल्पना नहीं करता

आत्मविश्वासी पुरुष जब किसी कार्य को हाथ लगाता है, अथवा किसी अभियान को प्रारम्भ करता है तो वह अपने मन-मस्तिष्क को असफलता सम्बन्धी मिथ्याधारणाओं का शिकार नहीं बनाता। उसकी यह दृढ़ मान्यता होती है कि आत्मविश्वास के बिना सफलता की कल्पना ही नहीं की जा सकती। इस प्रकार आत्मविश्वासी स्वयं को सदैव विजयी ही देखता है। उसका यह दृढ़ निश्चय होता है कि सफलता मेरा जन्मसिद्ध अधिकार है। विश्व की कोई भी शक्ति मुझे उससे वंचित नहीं कर सकती। अतः आत्मविश्वास मनुष्य को निर्भय, लक्ष्य के प्रति अचल एवं कार्य के प्रति कर्मठ बनाता है। वह उसके हृदय में आशादीप को सदा प्रज्वलित रखता है, उसका उत्थान करता है, उसे गति प्रदान करता है।

स्वामी विवेकानन्द में आत्मविश्वास कूट-कूट कर भरा था। उनके

समक्ष शिकागो (अमेरिका) आदि विदेशों में सर्वप्रथम निराशाजनक वातावरण था। वहाँ के क्रिश्चियन चर्चों के पादरीगण इनका सिक्का अपने देश में जमने देना नहीं चाहते थे। इनकी मिथ्या आलोचना एवं निन्दा करके वे इन्हें हतोत्साह करना चाहते थे, किन्तु आत्मविश्वास के धनी स्वामी विवेकानन्द ने अपना उत्साह नहीं छोड़ा। उन्होंने उन्मुक्त हृदय से भारतीय दर्शनों, विशेषतः वेदान्त दर्शन पर इतने सुन्दर ढंग से विवेचन किया कि अमरीका की जनता उन पर मुग्ध हो गई। सभी उनकी भाषण शक्ति का लोहा मानने लगे। स्वामी विवेकानन्द कहा करते थे—"आत्मविश्वास से बढ़कर मनुष्य का कोई मित्र नहीं। आत्मविश्वास ही भावी उन्नति की प्रथम सीढ़ी है।"

आत्मविश्वास के बल पर साधारण निर्धन व्यक्ति भी उच्च पद पर

भारत के भूतपूर्व खाद्यमन्त्री स्व० श्री रफी अहमद किदवई महात्मा गाँधी के परम भक्त थे। उनके जीवनवृत्त के अध्ययन करने से यह स्पष्ट हो जाता है कि आत्मविश्वास ही उनकी पूंजी थी। जिन दिनों अनाज पर भारत में कन्ट्रोल था। किदवई साहब ने अनाज पर कन्ट्रोल के कारण जमाखोरी, संग्रहवृत्ति, कालाबाजारी, भ्रष्टाचार, बेईमानी आदि बढ़ते देखकर अन्न पर नियन्त्रण (कन्ट्रोल) समाप्त कर दिया और गली-गली में जरूरतमन्द लोगों को यथोचित मात्रा में अनाज वितरित करवाया था। पं० नेहरू ने उनके आत्म-विश्वास के महत्व को स्वीकार किया था। इतना ही नहीं, उन्हे महान नेता, कुशल प्रशासक एवं असाधारण व्यक्ति माना था।

आत्मविश्वास के बल पर साधारण से साधारण, निर्धन, साधनहीन एवं अशिक्षित व्यक्ति भी महान् उच्च पद पर पहुँच सकता है। दार्जिलिंग निवासी गरीब नेपाली तेनसिंह गोर्के को हिमालय की सबसे ऊँची अजेय चोटी एवरेस्ट पर चढ़ाई करने में विजय प्राप्त करने का सौभाग्य मिला—केवल आत्मविश्वास के कारण ही। उसने निर्धन और निरक्षर होने के बावजूद बचपन से ही एवरेस्ट की चोटी पर चढ़ने का संकल्प कर लिया था। इसे मूर्तरूप देने के लिए उसने एवरेस्ट विजय के प्रत्येक अभियान में भाग लिया और एक साधारण शेरपा पद से प्रारम्भ करके वह एक महान् पर्वतारोही एवं एवरेस्ट-विजेता बन गया।

आत्मविश्वासी परमुखापेक्षी नहीं होता

जिस मनुष्य को अपनी योग्यता पर तथा अपनी शक्ति, क्षमता और

सामर्थ्य पर भरोसा होता है, वही दृढ़ आत्मविश्वासी होता है। वह दूसरों का मुंह नहीं ताकता, दूसरों के आश्रय से या दूसरों की प्रतीक्षा करके नहीं चलता। वह प्रायः दूसरों के सहयोग की अपेक्षा भी नहीं रखता। वह अकेला ही अपनी शक्ति के भरोसे चल पड़ता है।

डॉ० राममनोहर लोहिया बर्लिन विश्वविद्यालय में भर्ती हुए। वहाँ उन्होंने अर्थशास्त्र विषय चुना। किन्तु कठिनाई यह थी कि उन्हें पढ़ाने वाले प्राध्यापक प्रो० बर्नर जोम्बार्ट केवल जर्मन भाषा में ही पढ़ाते थे, और लोहिया जर्मन भाषा नहीं जानते थे। जब प्रो० जोम्बार्ट ने बताया कि मैं अंग्रेजी नहीं जानता, तब लोहिया ने उनसे तीन महीने का समय माँगा। लोहिया ने अपने दृढ़ संकल्प और आत्मविश्वास के बल पर तीन महीने में जर्मन भाषा का ज्ञान प्राप्त कर लिया। तीन महीने बाद जब वे प्रो० जोम्बार्ट के पास गये और धाराप्रवाह जर्मन भाषा में बातचीत करने लगे तो वह आश्चर्यचकित रह गये। प्रो० जोम्बार्ट ने अपने शिष्य लोहिया को गले लगाते हुए कहा—"राममनोहर! तुमने यह सिद्ध कर दिया कि दृढ़ संकल्प और आत्मविश्वास के बल के आगे कुछ भी असम्भव नहीं।"

आत्मविश्वासी क्षुद्र से महान् बन सकता है

वस्तुतः आत्मविश्वासी मनुष्य चाहे तो सर्वसमर्थ हो सकता है। जैन धर्म का कहना है—'अप्पा सो परमप्पा' मनुष्य आत्मा से परमात्मा, क्षुद्र से महान् और अणु से विभु तथा नर से नारायण बन सकता है, बशर्ते कि उसमें अपनी शक्तियों और क्षमताओं का बोध हो। हरिकेशबल चाण्डाल जाति में उत्पन्न, निर्धन, अपढ़, असंस्कारी और शरीर से बेडौल तथा कालाकलूटा व्यक्ति था, किन्तु वह अपने दृढ़ आत्मविश्वास के बल पर आगे बढ़ा, अपनी आत्मशक्तियों को पहचान कर उसने तप, संयम में लगा दी। फलतः वह स्वयं तो वीतरागता और समता के उच्च शिखर पर पहुँचा ही, अनेक जात्यभिमानी ब्राह्मणों को भी प्रतिबोध देकर सन्मार्ग पर लगाया।

निष्कर्ष यह है कि आत्मविश्वास अपनी शक्तियों, योग्यता और क्षमताओं के बोध पर निर्भर है।

आत्मविश्वास के लिए सर्वप्रथम आत्मपरिचय आवश्यक

उर्दू के प्रसिद्ध कवि डॉ० इकबाल ने ठीक ही कहा है—

अपनी असलियत से हो आगाह, ऐ गाफिल कि तू।
कतरा है, लेकिन मिसाले बहरे बेपायां भी है॥

भावार्थ यह है कि यह मानवरूपी कतरा (बूंद) वास्तव में वहरे बेपायां' (असीम सागर) है।

आशय यह है कि मनुष्य वस्तुतः असीम शक्ति और अपरिमित बल का स्वामी है, किन्तु अधिकांश मानव अपने इस सामर्थ्य से परिचित नहीं होते, अपने आत्मबल पर अपने शरीर में निहित महान् शक्तियों पर इसलिए भरोसा नहीं करते कि वे अपने भीतर के महान् पुरुष (आत्मा) को नहीं पहचानते। वे अपनी बौद्धिक और शारीरिक शक्तियों से काम नहीं लेते, वे चिन्तन-मनन नहीं करते, अपनी योग्यताओं को प्रगट नहीं करते। बहुत-से लोग अपनी निर्माणात्मक क्षमताओं से परिचित नहीं होते, इसलिए वे स्वयं को भाग्यहीन, अयोग्य एवं हीन समझ बैठते हैं, और परम्परा से प्राप्त गुण सम्पदा या संयोग से मिले साधन पर ही संतोष करके बैठ जाते हैं। इस प्रकार विचारों की तुच्छता, दृष्टि की क्षुद्रता, आत्मशक्तियों की अनभिज्ञता एवं हीनभावना आत्मविश्वास के लिए घातक विष के समान है।

निष्कर्ष यह है कि अपनी वास्तविकता से परिचय (आत्मपरिचय) अथवा आत्मज्ञान के बिना वह अपनी योग्यता, क्षमता और सामर्थ्य पर कभी विश्वास नहीं कर सकता, और इस प्रकार के आत्मविश्वास के बिना वह किसी भी कार्य को सम्पन्न करने के लिए सिर-धड़ की बाजी नहीं लगा सकता।

आत्मविश्वासहीन व्यक्ति दयनीय और दुःखद स्थिति में

'थामस ग्रे' अपनी विख्यात कविता में उन मोतियों के भाग्य पर खेद प्रगट करता है, जो अपनी चमक-दमक दिखाये बिना ही समुद्र के गर्भ में पड़े रहते हैं और उन फूलों के नसीब पर आँसू बहाता है, जो बिना खिले ही मुर्झा जाते हैं। इसी प्रकार की, या इससे भी अधिक दयनीय और दुःखद स्थिति उन लोगों की है, जो सब कुछ करने की क्षमता रखते हुए भी अपने पर विश्वास नहीं करते। इसलिए न तो वे अपनी योग्यता से स्वयं लाभ उठाते हैं और न ही मानवजाति की कुछ सेवा ही कर पाते हैं। कारण, वे अपनी वास्तविकता से परिचित नहीं हैं। वे स्वयं को पहचान भी कैसे सकते हैं, जबकि उन्हें अपनी आत्मा पर भरोसा नहीं है, वे अपने बाहुबल एवं मनोबल से काम लेने के लिए तैयार ही नहीं हैं।

आत्मशक्तियों के प्रति अविश्वासी व्यक्ति की शक्तियाँ कुण्ठित

'विलियम जेम्स' का यह कथन गलत नहीं है कि सामान्यतया

मनुष्य अपनी शक्ति के एक तुच्छ अंश से ही काम लेता है और शेष बड़ा अंश उपयोग में ही नहीं लाता। बहुत से लोग अपनी बौद्धिक शक्तियों के केवल पाँचवे अंश का उपयोग आत्मविकास में करते हैं, शेष ९५ अंश का या तो अपव्यय कर देते हैं, या फिर शेष बौद्धिक शक्ति का उपयोग ही नहीं करते। यदि वे लोग आत्मविश्वास के बल पर अधिकतर बौद्धिक शक्ति अपनी दशा को सुधारने, अर्थात्—कुछ सीखने और आगे बढ़ाने में लगाएँ, अपनी बौद्धिक दरिद्रता, साधनहीनता और अल्पज्ञता पर संतोष न करके उनसे मुक्त होने के लिए सचेष्ट हो, अपने बाहुबल एवं मनोबल पर विश्वास करने के अभ्यस्त हो जाएँ, अपनी वास्तविकता से परिचित हो जाएँ तो उन्हें आत्मिक उन्नति के शिखर पर पहुँचने में क्या देर लग सकती है ?

याद रखिए, जो अपनी शक्तियों के प्रति अविश्वासी और अनभिज्ञ बनकर उनसे काम नहीं लेते, उनकी इन्द्रिय, तन, मन, वचन और बुद्धि की उन शक्तियों में उन मशीनों की तरह जंग लग जाता है, जो उपयोग में नहीं लाई जातीं।

आत्मविश्वास में बाधक ये परियाँ

साथ ही यह भी जान लीजिए कि अकर्मण्यता, आलस्य और विलासिता की परियाँ, जो मार्ग में मिलती हैं और रुकने और विश्राम करने का परामर्श देती हैं, अपने यौवन और सौन्दर्य से आपका मन बहलाने का सुझाव देती हैं, ये सुख-सुविधा की नींद में सुलाने वाली परियाँ आपकी हितचिन्तक नहीं हैं, ये आपके आत्मविश्वास में रोड़ा अटकाने वाली शत्रु हैं, इनके मायाजाल में न फँसिये। और ये झूठी शंकाओं और बहमों के दैत्य, जिनके कोई सिर-पैर नहीं है, जिनके आतंक से आपके हाथ-पैर शिथिल हो जाते हैं, तथा जिनकी डरावनी आवाजों से आपके होश उड़ जाते हैं, उनकी कल्पित आवाजों से न डरिये और न आतंकित होइए। इनका अस्तित्व तभी तक है जब तक आप अपने पर–अपनी शक्तियों पर विश्वास नहीं करते, अकारण ही भयभीत होते हैं। प्रश्नव्याकरण सूत्र में स्पष्ट कहा है—

"जो डरता है, उसे भयावने भय के भूत डराते हैं।" इनसे बिलकुल भयभीत न होकर, इन्हें मृत समझकर आत्मविश्वास के साथ आगे कदम बढ़ाते जाइए। ऐसा करने से शीघ्र ही आप पर यह भेद खुल जायेगा कि दुनिया की कोई शक्ति आपका रास्ता नहीं रोक सकती।

आतंक एवं भय : आत्मविश्वास के घोर शत्रु

वस्तुतः भय आत्मविश्वास का शत्रु है। बहुत-से लोग सुशिक्षित होते हैं, उनका अध्ययन भी विस्तृत होता है, वे चिन्तनशील भी होते हैं, उनके विचार भी प्रायः सुलझे हुए और स्वस्थ होते हैं, परन्तु वे अज्ञात भय के बोझ तले दबे रहते हैं, वे अपने विचारों को क्रियान्वित करना तो दूर रहा, उनको अभिव्यक्त करने का साहस भी इसलिए नहीं करते कि कहीं उनका सुझाव, या अभिमत उपहास का विषय न बन जाए, उन्हें भरी सभा में लज्जित और तिरस्कृत न होना पड़े।

कुछ लोगों को वर्षों के चिन्तन-मनन एवं व्यवहार के पश्चात् निश्चित किये हुए जीवन-सम्बन्धी सिद्धान्तों की सत्यता पर विश्वास होता है कि वे अकाट्य हैं और किसी भी सभा आदि में प्रस्तुत करें तो उन्हें कोई ठुकरायेगा भी नहीं, फिर भी भीरुता और हिचकिचाहट उन्हें अपने विचार अभिव्यक्त करने से रोकती है।

भय और आतंक मनुष्य के आत्मविश्वास के घातक ही नहीं, उसके अपने जीवन के भी प्राणान्तक बन जाते हैं। जापान के शियोसोकी निकाशी नामक युवक ने सन् १९५३ में इसलिए आत्महत्या कर ली थी कि उसके मन में अणुबम के प्रति अत्यधिक भय बैठ गया था, उसने निश्चय कर लिया कि ऐसी दुनिया में जीना व्यर्थ है, जिसमें अणुबम के प्रयोग की सम्भावना बनी हुई है।

कई लोग काल्पनिक भय से घबराकर किसी शुभ कार्य में या सदाचरण में प्रवृत्त नहीं होते।

आत्म-विश्वास के स्थायित्व के लिए आशावादी बनिये

कुछ लोग एक बार किसी कार्य में असफल होकर या उस कार्य में विघ्न-बाधाएँ आने पर आत्मविश्वास को छोड़ बैठते हैं, वे हतोत्साह होकर उस कार्य को भी छोड़ बैठते हैं। अपने लक्ष्य की प्राप्ति के लिए निराश होकर अपनी वर्तमान दमघोंटू परिस्थिति में ही बाहर से सन्तुष्ट किन्तु मन में असन्तुष्ट होकर जीते हैं।

एक ग्रेजुएट युवक मध्यमवर्गीय परिवार में पैदा हुआ, बड़ा ही साहसी, महत्वाकांक्षी और आत्मविश्वासी है, विद्या-बुद्धि से सम्पन्न है, पहले से अब ज्यादा अनुभवी और दूरदर्शी है, किन्तु वह वर्तमान परिस्थिति से असन्तुष्ट एवं निराश होकर उत्साहहीन हो गया, उसे जीवन में अब कोई आकर्षण नहीं रहा।

हाँ, तो परिस्थिति देखकर अपने आत्मविश्वास को विचलित करना और हार-थक कर बैठ जाना, अविश्वास और निराशा के चंगुल में फँस जाना, उचित नहीं। आशावादी व्यक्ति ही सदैव सफल रहता है, उसका आत्मविश्वास डगमगाता नहीं। इसलिए सदैव आशान्वित रहने से सफलता मिलती है।

आत्मविश्वास के दृढ़ीकरण के लिए

आत्मविश्वास के दृढ़ीकरण के लिए आवश्यक है कि व्यक्ति निराशा और अविश्वास का परित्याग कर दे। इससे उसकी बिगड़ी हुई बाजी भी सुधर सकती है। दुःख, निराशा, पराजय एवं निरुत्साह के विचारों को मन-मस्तिष्क में स्थान नहीं देना चाहिए, तभी आत्मविश्वास का अखण्ड दीप प्रज्वलित रह सकता है।

आत्मविश्वास की पुन: स्थापना

यदि आप किसी कारणवश जीवन-संघर्ष में निष्फल हो गए हैं, जीवन के प्रत्येक क्षेत्र में टूट चुके हैं, तो भी निराशा और अविश्वास को दिल से निकाल दें। महापुरुषों की जीवनियाँ पढ़ें। आप देखेंगे कि प्रायः सभी महापुरुष जिन्होंने अपने लक्ष्य की प्राप्ति की है, अनेक संघर्षों, विषम और प्रतिकूल परिस्थितियों से उन्हें जूझना पड़ा है, हताशा और अविश्वास को उन्होंने मन में कभी स्थान नहीं दिया। इस प्रकार आप अपने आत्मविश्वास की पुनः स्थापना करें और आगे बढ़ें, आपकी सफलता निश्चित है।

जब व्यक्ति आत्मविश्वास से सशक्त एव स्वस्थ होता है तो शारीरिक-मानसिक रोग भी उससे दूर भागेंगे, और उसकी शक्ति एवं क्षमता में उत्तरोत्तर वृद्धि होती जाएगी।

कुछ लोगों में आत्मविश्वास जगाने के लिए उनके अन्धकारमय अतीत को भुला देने के लिए उन्हें सहानुभूति और आत्मशक्तियों का परिचय मिले। इसके लिए उत्साहवर्द्धक पुस्तकों का स्वाध्याय भी अत्यन्त लाभदायक है।

आत्मविश्वास को बनाए रखने का उपाय

आत्मविश्वास को बनाए रखने का एक उपाय यह भी है कि व्यक्ति अपनी कमजोरियों पर वीरतापूर्वक काबू पाए, अपने मन-मस्तिष्क को निर्बलता, पतन, पराजय के निराशात्मक विचारों से दूर रखे। विरोधात्मक

विचारों के रहते कोई कार्यक्रम या योजना न बनाए। अपनी निर्णयशक्ति में वृद्धि करे, कोई भी निश्चय करने में विलम्ब न करे। जिस कार्य में वह व्यक्ति सफल होना चाहता है, उस कार्य के प्रति अपनी रुचि, योग्यता और भावना को भली भाँति जान ले। अर्थात्–वह उस कार्य के लिए संकल्प ले, या अपना लक्ष्य निर्धारित करे। फिर उसी पर अपना सारा ध्यान केन्द्रित कर ले। ऐसा करने से व्यक्ति को प्रारम्भिक कठिनाइयों या सामयिक असफलताओं का मुँह देखना नहीं पड़ेगा। कदाचित् विफलता होगी तो भी वह हताश नहीं होगा, बल्कि लगन और ईमानदारी के साथ लक्ष्य या संकल्प की दिशा में अग्रसर होगा, और अपने आत्मविश्वास को प्राणवान् बनाएगा। जिस अनुपात में आत्मविश्वास प्राणवान् बनेगा, उसी अनुपात में उसकी विपत्तियाँ और असफलताएँ दूर होतो जाएँगी। और आत्मविश्वास से पद-पद पर आशा, सुरक्षा, निर्माण, सुख-शान्ति, प्रगति, सफलता और अदृश्य सहायता अपने आप मिलती दिखाई देगी।

महात्मा गाँधी ने अहमदाबाद में 'कोचरब' में जब सर्वप्रथम आश्रम खोला तो उस समय दूधाभाई नामक एक हरिजन का परिवार वहाँ रहने के लिए आ गया। गाँधीजी का मतव्य था, मनुष्य मात्र एक है। उसमें कोई फर्क नहीं है। परन्तु जो व्यक्ति आश्रम को आर्थिक सहयोग दे रहे थे, वे गाँधीजी के समता के इस व्यवहार से अप्रसन्न हो गए, उन्होंने अर्थ-सहायता देने से अपना हाथ खींच लिया। परन्तु दृढ़ आत्मविश्वासी गाँधीजी अपने सिद्धान्त और तदनुकूल व्यवहार से एक इंच भी पीछे हटना नहीं चाहते थे। अतः उन्होंने निर्णय कर लिया कि वे मानव-समता के सिद्धान्त एवं व्यवहार को नहीं छोड़ेंगे, भले ही कोई आर्थिक सहायता दे या न दे। इस आत्मविश्वास का फल यह हुआ कि दूसरे दिन प्रातःकाल ही कोई अजनबी व्यक्ति अपना परिचय न देकर गाँधीजी को चुपचाप आश्रम चलाने हेतु तेरह हजार रुपयों के नोट दे गया।

आत्मविश्वास बढ़ाने के कुछ मन्त्र

अतः लक्ष्य निर्धारित करने या कार्य का मनोरथ करने के बाद बार-बार दुविधा, पशोपेश या शंकाशीलता में नहीं पड़ें, न ही पलायन-मार्ग ढूँढ़ें। अपनी क्रियाशक्ति पर विश्वास करके लक्ष्य की दिशा में आगे बढ़िए। अबोध बालक की तरह दूसरों के मत, अभिप्राय या परामर्श को अपेक्षा न रखिए। भावावेश में आकर एक निर्धारित कार्य का परित्याग करके दूसरे

को अपनाने से कोई विशेष लाभ नहीं है। बल्कि एक लक्ष्य या निर्धारित कार्य पर एकाग्र होकर चलने से परिस्थितियाँ अनुकूल हो जायेंगी।

अपने स्वभाव एवं आदतों को बदलें

साथ ही व्यक्ति का आत्मविश्वास तभी प्राणवान् और स्थिर होगा, जब वह अपने स्वभाव, प्रकृति और आदतों को बदले। कई बार मनुष्य का स्वभाव एवं आदतें उन्नति में बाधक हो जाती हैं। कई व्यक्तियों का स्वभाव होता है, आलस्यवश अपने निर्धारित लक्ष्य या कार्य की दिशा में आगे नहीं बढ़ते, वे आज, कल, परसों पर कार्य को ठेलकर उस कार्य में विलम्ब, दीर्घसूत्रता या टालमटूल करते रहते हैं। फिर लम्बा अर्सा हो जाने पर उस कार्य में सफलता नहीं मिलती, तब उनका आत्मविश्वास टूट जाता है। आदतों या स्वभाव को बदलने का फिर रोज-रोज संकल्प करने पर भी वह टूट जाता है। इस प्रकार की हानिकर आदतों में धूम्रपान, मद्यपान, व्यभिचार, द्यूतक्रीड़ा आदि शुमार हैं। इनसे पिण्ड छुड़ाने के लिए उनके स्थान पर लाभदायी आदतें अपनाई जाएँ।

ऐसे व्यक्ति ओटो सजैशन (आत्मपरामर्श) के द्वारा भी अपनी आदतों, स्वभाव, रोग आदि को मिटा सकते हैं। अवचेतन मन को इस प्रकार के ओटो सजेशन बार-बार देने चाहिये। इससे व्यक्ति की कठिनाइयाँ, बाधाएँ एवं समस्याएँ भी दूर होंगी।

आत्मविश्वास : सर्वतोमुखी सफलता का प्राण

इस प्रकार सफलता के मन्दिर में प्रवेश करने के लिए आत्मविश्वास को अपनाइए। यह नवयुवकों एवं साधकों के लिए मशाल की तरह उपयोगी है, वृद्धों के लिए लाठी की तरह है। आत्मविश्वास ऐसा धन है, जिसे कोई छीन नहीं सकता। इसका संग्रह आपके जीवन को प्राणवान् और मस्तिष्क को ज्ञानवान् बनाएगा। इसका बार-बार उपयोग आपकी आत्मशक्तियों को बढ़ाएगा। अतः आत्मविश्वास का उपयोग करें। यही मानव-जीवन की अमूल्य निधि है।

———

६

संकल्पशक्ति के चमत्कार

संकल्पशक्ति की महिमा

संसार में जितने भी महान् कार्य हुए, वे मनुष्य की प्रबल संकल्प-शक्ति का संयोग पाकर ही हुए हैं। संकल्पशक्ति के सहारे ही मनुष्य दुःसाध्य समझे जाने वाले महान् कार्यों को कर सका। संकल्पशक्ति ही मनुष्य को महान् विजेता, महायोद्धा, अजेय, सुदृढ़ ब्रह्मचारी, अडोल संयमी एवं महाबली बनाती है। प्रबल संकल्पशक्तिसम्पन्न व्यक्ति ही महान् कार्यों का संचालन करता है।

मुगल-साम्राज्य की विशाल सेना के समक्ष महाराणा प्रताप की सेना मुट्ठीभर थी, किन्तु महाराणा प्रताप का संकल्पबल दृढ़ था। वह स्वयं अपनी रानी और बच्चों सहित वर्षों तक जंगलों की खोहों में भूखा-प्यासा अभाव-ग्रस्त होकर भटकता रहा। मुगल सेना पीछे लगी रही, फिर भी वह शक्तिशाली अजेय वीर मेवाड़ की स्वतन्त्रता को अक्षुण्ण रखने के लिए झुका नहीं, मुगल सेना को चुनौती देता रहा।

दृढ़ संकल्पशक्ति के धनी

दृढ़ संकल्पशक्ति वाले व्यक्ति को शारीरिक कष्ट भी अस्थिर नहीं कर सकते। वह अपने व्यक्तिगत हानि-लाभ से भी प्रभावित नहीं होता। ऐसा व्यक्ति सदैव प्रसन्न और शान्त रहता है। स्वास्थ्य, सुख, प्रसन्नता और शान्ति ये चारों जिन्दगी के सुख उसके साथ रहते हैं।

महाभारत-संग्राम के अजेय योद्धा भीष्म पितामह अपनी दृढ़ संकल्प-शक्ति के बल पर सारा शरीर बाणों से छिदा रहने पर भी छह महीने तक शरशय्या पर सचेतन पड़े रहे। ऐसे मरणान्त कष्ट के समय भी उनकी चिन्तन की धारा प्रवहमान रही, जिसका ज्वलन्त प्रमाण है—महाभारत का शान्तिपर्व।

अगर कोई सामान्य व्यक्ति होता तो ऐसी संकटापन्न परिस्थिति में भय के मारे बेहोश हो जाता या मर जाता। संकल्पहीन व्यक्ति जरा-सी चोट लगने पर चिल्लाने लगते हैं। कई लोग जीवन की सामान्य-सी विकट परिस्थिति में रो बैठते हैं, हार खाकर निराश हो जाते हैं। जीवन की सम्भावनाओं का अन्त कर डालते हैं।

सत्यव्रती हरिश्चन्द्र अपनी रानी और रोहिताश्व सहित अपना राज्य, महल एवं जीवनयापन की समस्त सुख-सामग्री को त्यागकर परीक्षा की घड़ियों में काशी जैसे अपरिचित क्षेत्र में स्वयं चाण्डाल के यहाँ तथा पत्नी-बालक अन्यत्र बिके, तथा उन्होंने मालिक की कठोर झिड़कियाँ एवं यंत्रणाएँ सहीं। इसके पीछे उनकी दृढ़ संकल्पशक्ति ही थी। दृढ़ संकल्प-शक्ति मानसिक क्षेत्र का वह दुर्ग है, जिस पर किसी भी बाह्य परिस्थिति, भयजनक कल्पना एवं कुविचारों का प्रभाव नहीं हो सकता। दृढ़ संकल्पशक्ति-सम्पन्न व्यक्ति जीवन की भयंकर झंझावातों में भी चट्टान की तरह अटल और अडोल रहता है। उसे कोई भी उलझनें, समस्याएँ या भयानक परि-स्थितियाँ विचलित नहीं कर सकतीं। उसके विचार सुलझे हुए, स्थिर और निश्चित होते हैं, वह उन्हें बार-बार नहीं बदलता। कठिन से कठिन परिस्थि-तियों में भी वह अपना रास्ता निकालकर आगे बढ़ता रहता है।

संकल्प की प्रखरता : सफलता के लिए अनिवार्य

मनुष्य की सबसे बड़ी क्षमता उसकी संकल्पशक्ति है। श्रुति कहती है—**'संकल्पमयोऽयं पुरुषः'** अर्थात्—व्यक्ति संकल्पमय है। उसके पुरुषार्थ की सार्थकता संकल्प की उत्कृष्टता पर निर्भर है। किसी भी कार्य में सफलता के लिए केवल कल्पना करने, इच्छा करने तथा शेखचिल्ली की तरह दिवास्वप्न देखने मात्र से काम नहीं चलता। उसके लिए प्रबल संकल्प होना अनिवार्य है। संकल्प की प्रखरता का लक्षण है—सोच-समझकर लक्ष्य निर्धारित करना, फिर मनोयोगपूर्वक अभीष्ट प्रयोजन के लिए साहसपूर्वक कमर कसना, अपने निर्धारित लक्ष्य तक पहुँच न जाए तब तक बिना रुके,

बिना थके आगे बढ़ते जाना। सफलता उन्हीं का वरण करती है, जो कठिनाइयों और विघ्न-बाधाओं का धैर्य एवं साहसपूर्वक सामना करते रहते हैं। विजयश्री ऐसे ही धैर्यवान, पुरुषार्थी एवं संकल्पशक्ति-सम्पन्न पुरुषों की प्रतीक्षा करती है। मनुष्य की दृढ़संकल्पशक्ति संसार का सबसे बड़ा चमत्कार है। इसके आधार पर निम्न स्तर पर खड़ा हुआ व्यक्ति भी ऊँचे से ऊँचे स्थान पर पहुँच जाता है।

हिमालय की सबसे उत्तुंग एवरेस्ट की चोटी पर विजय पाने वाला तेनसिंह गोर्के साधारण स्तर का व्यक्ति था। परन्तु उसकी संकल्पशक्ति प्रबल थी। उसे इससे पूर्व कई बार चोटी पर चढ़ने में असफलता मिली, लेकिन वह पस्तहिम्मत नहीं हुआ। उत्तरोत्तर धैर्य एवं साहस के साथ आगे बढ़ता रहा, उसने अपना प्रयास जारी रखा। इसी कारण उसे अपने कार्य में सफलता मिली।

वास्तव में सफलताओं के इतिहास में प्रबल संकल्पशक्ति का सबसे बड़ा योगदान है। यही असमर्थों को समर्थ बना सकती है और असफलता की आशंका को सफलता की सम्भावना में परिवर्तित कर सकती है। ऐसी घटनाओं से इतिहास के अगणित पृष्ठ अंकित हैं, जिनमें योग्यता, साधन एवं परिस्थिति अनुकूल न होने पर भी धैर्य, साहस और संकल्पशक्ति का सहारा लेकर किसी महान् प्रयोजन के लिए कदम उठाया और उपहासों तथा विरोधों-अवरोधों के बावजूद जब वे अपने निर्धारित सुमार्ग पर चलते ही रहे तो प्रारम्भ में कठिन ही नहीं, असम्भव लगने वाला लक्ष्य सरल होता चला गया।

आचार्य सम्भूतिविजय के चार शिष्यों में से एक ने सिंह की गुफा में, दूसरे ने सांप की बांबी पर, तीसरे ने कुएँ की ताल पर और चौथे स्थूलभद्र ने अपनी गृहस्थाश्रम की प्रगाढ़ प्रेमिका एवं वासना की पुतली कोशावेश्या की चित्रशाला में चातुर्मास बिताने की अनुमति मांगी। आचार्यश्री ने चारों को उनके मनोनीत स्थल में चातुर्मास बिताने की अनुमति दे दी। चारों शिष्य चातुर्मास पूर्ण करके जब आचार्यश्री की सेवा में सकुशल पहुँचे तो आचार्यश्री ने तीनों शिष्यों की उनकी प्रयोजन-सफलता के लिए एक-एक बार 'दुष्कर' कहा, किन्तु स्थूलभद्रमुनि के लिए तीन बार 'दुष्कर' शब्द का उच्चारण किया जिसका तात्पर्य था, कामवासना के उत्कृष्ट केन्द्र—वेश्यालय में चार-चार मास अपनी भूतपूर्व प्रेमिका के

सन्निकट रहकर भी कामवेग से बिलकुल निर्लिप्त रहना, अत्यन्त दुष्करतर कार्य था। जिसमें मुनि स्थूलभद्र ने पूर्ण सफलता प्राप्त थी। जिस कोशा वेश्या के यहाँ वे दीक्षा से पूर्व १२ वर्ष तक कामासक्त बनकर रहे, उसी वेश्या के यहाँ कामवासना से सर्वथा अलिप्त बनकर उन्होंने चौमासा बिताया, इतना ही नहीं, कामासक्त वेश्या को भी धर्मानुरक्त बना दिया, इसके पीछे मुनि स्थूलभद्र का प्रबल संकल्पबल ही कारण था। दूसरा निर्बल संकल्प वाला या संकल्पहीन व्यक्ति होता तो वेश्या के एक ही कटाक्ष पर स्खलित हो जाता, और ऐसा हुआ भी। स्थूलभद्र मुनि का गुरुभाई भी ईर्ष्यावश उक्त वेश्या के यहाँ चातुर्मास बिताने आया था, लेकिन वह काम-पराजित हो गया था।

उत्कृष्ट संकल्पशक्ति की साधना

क्रियाशक्ति में तन्मयता को प्रतिष्ठित करना ही उत्कृष्ट संकल्प है। जैसे कोई व्यक्ति किसी कार्य को सिद्ध करने के लिए कहता है—'यह मेरा संकल्प है,' उसका अभिप्राय यह हुआ कि मैं अपने प्राण, मन एवं मस्तिष्क की समग्र शक्ति के साथ अब इस कार्य में संलग्न हो रहा हूँ। इस प्रकार की वैचारिक दृढ़ता एवं कार्य में निष्ठा तथा तन्मयता ही प्रखर संकल्पशक्ति बनती है।

जिन निश्चयात्मक विचारों से मन-मस्तिष्क पर स्थायी प्रभाव पड़ता है, अन्तःकरण पर अमिट छाप अंकित हो जाती है, उन्हीं विचारों की मंत्र तरह बार-बार पुनरावृत्ति करने से वे प्रबल शक्तिशाली होकर स्वभाव के अंग बन जाते हैं, रोम-रोम में रम जाते हैं; उसकी नस-नस में उन विचारों के संस्कार जड़ जमा लेते हैं, उसके अन्तर्मन में वे गाढ़रूप से बद्धमूल हो जाते हैं। जैनशास्त्रों में ऐसे श्रमणोपासक या श्रमण के लिए शास्त्रकार ने उद्‌गार प्रकट किये हैं—

'अट्ठि-मिंज-पेमाणुरागरत्ते'

इसका भावार्थ है—उसकी हड्डियाँ और मज्जातन्तु वीतरागदेव, सद्धर्म, सद्‌गुरु के प्रति प्रीति और अनुराग से रंग गए थे।

इस प्रकार का संकल्पतभी प्रखर होता है, जब सारी मानसिक चेष्टाएँ, वाचिक एवं कायिक प्रवृत्तियाँ एक ही लक्ष्य की ओर लग जाती हैं। साथ ही कार्यसिद्धि की भी तीव्र इच्छा होती है, और उस कार्य को पूरा करने की भूख अन्तरात्मा से उठती है, तथा उसके पीछे दशविध बलप्राण लग जाते

हैं। प्रणबद्धता भी साथ में संलग्न होती है कि 'मैं इस सद्वस्तु को प्राप्त करके रहूँगा, चाहे कितनी ही विघ्न-बाधाएँ क्यों न आएँ, प्रयत्न सतत् जारी रखूंगा, चाहे कितने ही निराश करने वाले अवसर क्यों न आएँ।' अगर इस प्रकार के दृढ़ संकल्प की मन में गहरी और सुदृढ़ स्थापना हो जाए तो लक्ष्य तक पहुँचना बहुत ही आसान हो जाता है। ऐसी संकल्पशक्ति के धनी बराबर आगे बढ़ते रहते हैं, और नई शक्ति भी प्राप्त करते जाते हैं। कई बार ऐसे महानुभावों को आने वाली विघ्न-बाधा या कठिनाई का विचार पहले ही आ जाता है, जिससे वे प्रतिकूल परिणामों से बच जाते हैं। वस्तुतः ऐसे व्यक्ति किसी लक्ष्य, ध्येय या सत्कार्य की सिद्धि का संकल्प लेते हैं, तब सजातीय विचारों एवं सुझावों की एक शृंखला दौड़ी हुई चली आती है। और उनके लिए अपने उपयुक्त रास्ता बनाना अत्यन्त सुगम हो जाता है। सफलता के लिए अपेक्षित परिस्थितियाँ ढूँढ़ लाने की शक्ति ऐसे संकल्प में है। बशर्ते कि उसका प्रखर संकल्प उद्देश्य, अटूट साहस, श्रद्धा एवं मनोबल से ओतप्रोत हो। ऐसे संकल्पवान् सत्पुरुष या सन्नारी के मानस में उन्नति का क्रम टूटना, आगे बढ़ने से रुकना या हिचकिचाना नहीं होता।

संकल्प : मर्त्यलोक का कल्पवृक्ष

वैदिक पुराणों में वर्णन आता है कि स्वर्ग में एक कल्पवृक्ष है, जिसके पास जाने से कोई भी मनोकामना अपूर्ण नहीं रहती। हम कहते हैं, ऐसा कल्पवृक्ष इस मर्त्यलोक में भी है, वह है—सकल्प का कल्पवृक्ष।

उन्नति की आकांक्षा रखना मनुष्य का स्वाभाविक गुण है, उसे आगे बढ़ना ही चाहिए। परन्तु यह उन्नति, भौतिक नहीं, आध्यात्मिक होनी वाहिए। सत्कार्य, सद्विचार एवं सुलक्ष्य को प्राप्त करने की दृढ़ इच्छा, तीव्र आकांक्षा या अभिरुचि होगी, तभी संकल्प के कल्पवृक्ष से मनोवांछित सिद्धि प्राप्त होगी। वहाँ अनेक वरदान और उपलब्धियाँ या सिद्धियाँ अनायास ही प्राप्त हो जाते हैं। धन, सहयोग या साधनों का अभाव संकल्प-रूपी कल्पवृक्ष के रहते नहीं खटकता, उनका वातावरण, भाग्य एवं संयोग भी अनायास ही परिवर्तित एवं अनुकूल हो जाता है। ऐसे संकल्पवृक्ष का स्वामी जब भी किसी कार्य को पूर्ण करने हेतु साधनों की तलाश करता है, तभी कोई न कोई उपाय निकल ही आता है। उसे आशातीत सफलता मिलने लगती है। सहयोग भी मिलने लगता है। और सच पूछिये तो, शक्ति का स्रोत साधनों में नहीं, संकल्प में है। यदि उन्नति करने की इच्छा तीव्र

होगी तो साधनों का अभाव खटकेगा भी नहीं। अंग्रेजी में एक कहावत है—

'God helps those, who help themselves'

ईश्वर उनकी मदद करता है, जो अपनी मदद स्वयं करते हैं। इसका तात्पर्य यह है कि जो व्यक्ति दृढ़संकल्प के साथ आगे बढ़ता है, उसे ईश्वरीय सहायता स्वयं मिलने लगती है। उसकी आत्मा में स्वतः परमात्म शक्ति का प्रादुर्भाव होने लगता है। उसका प्रबल संकल्प पहाड़ों एवं नदियों-समुद्रों को भी रास्ता देने के लिए बाध्य कर देता है।

स्वामी रामतीर्थ जब हिमालय की गोद में अपनी आत्मशक्ति को प्रबल संकल्पबल के सहारे विकसित करने के लिए एकाकी घूम रहे थे, तब हिमालय की बर्फीली चट्टानों को आदेश देते थे—"ओ हिमालय की बर्फीली चट्टानो ! शाहंशाह राम तुम्हें आदेश देता है कि उसके मार्ग से हट जाओ। रास्ता दे दो।" और सचमुच ही वे चट्टानें पिघलकर स्वामी रामतीर्थ को रास्ता दे देती थीं। वास्तव में, संकल्प में सूर्यरश्मियों का तेज है, वह जागृत चेतना का शृंगार है, विजय का हेतु और सफलता का जनक है। संकल्पसम्पन्न व्यक्ति स्वल्प साधनों से भी अधिकतम विकास कर सकता है और मस्ती का जीवन जी सकता है।

साधन और सहयोग भी मिल जाते हैं

दृढ़तापूर्वक अभीष्ट पथ पर चलते रहने का अडिग संकल्प जिसमें होगा, वह चाहे अमीर हो या गरीब, छोटा बालक हो या युवक या प्रौढ़ हो, उसके प्रबल प्रयत्न को देखकर उसे अनेक सहयोगी भी मिल जाते हैं और साधनों की पूर्ति भी हो जाती है।

महात्मा गाँधी ने जब स्वतन्त्रता-सग्राम के लिए आन्दोलन किया, तब प्रारम्भ में वे अकेले ही अफ्रीका में थे, किन्तु दृढ़ संकल्प के साथ पुरुषार्थ किया, ब्रिटिश सरकार के द्वारा पहले उन्हें अनेक प्रकार के कष्ट सहन करने पड़े, उनके अपने ही कुछ भारतीय साथी उनके साथ असहमत हो गये, किंतु बाद में उनके संकल्प की सत्यता और तदनुसार सत्प्रयत्न को देखकर सभी भारतीय उनके सहयोगी बन गये। फिर उन्होंने भारत में आकर कांग्रेस के माध्यम से आन्दोलन किया, सत्याग्रह किया, जेल में गये, अनेक बार उनके सत्संकल्प की कसौटी हुई, जिसमें वे खरे उतरे। फलतः अन्त में, उनके माध्यम से भारतवर्ष को स्वतन्त्रता प्राप्त हुई। अंग्रेजों को झुकना पड़ा।

'स्वराज्य हमारा जन्मसिद्ध अधिकार है' इस प्रकार के स्वराज्य-प्रेरक मन्त्र के पीछे लोकमान्य तिलक का प्रबल संकल्पबल था। उनके इस संकल्पबल का प्रभाव महात्मा गाँधी आदि कई तत्कालीन राजनेताओं तथा विचारक लोगों पर पड़ा और भारतीय जनता भी उस कार्य में सहयोगी बनकर जुट पड़ी।

प्रबल संकल्प सर्वत्र व्याप्त हो जाते हैं

प्रबल संकल्प एक प्रकार के प्रबल विचार या भाव हैं। ये उसी व्यक्ति तक सीमित नहीं रहते, इनकी लहरें बनकर समस्त ब्रह्माण्ड में या वायुमण्डल में फैल जाती हैं, और अपने सजातीय विचारों को एकत्र करती रहती हैं। ये संक्रामक होते हैं, जाने-अनजाने, व्यक्त या अव्यक्त रूप से ये सत्संकल्प भी उसी तरह व्यक्ति से समाज, राष्ट्र और विश्व तक फैल जाते हैं, जिस तरह रेडियो स्टेशन के ट्रान्समीटर से छोड़ी हुई ध्वनि तरंगें सर्वत्र फैल जाती हैं। जिस समाज या राष्ट्र में दृढ़ संकल्पवान् व्यक्ति होंगे, वह समाज और राष्ट्र भी शक्तिशाली, प्रभावशाली और दबंग होगा।

शुभ संकल्प के आगे अशुभ संकल्प प्रभावहीन हो जाता है

निःसंदेह यह बात सत्य है कि जो संकल्प अशुभ होगा, दूसरों को मारने, लूटने, सताने या हैरान करने का अथवा हानि पहुँचाने का होगा, उसके साथ बहुत बड़े खतरे भी जुड़े हुए हैं। प्रायः ऐसे दुःसंकल्प वाले व्यक्ति का संकल्प प्रबल सत्संकल्प वाले पर बिलकुल प्रभाव नहीं डाल सकता, उलटे, वह लौटकर उसी पर हावी हो जाता है।

भगवती सूत्र (श० १५) में वर्णन है कि जब गोशालक ने तीव्र दुःसंकल्पपूर्वक भगवान् महावीर पर अपनी तेजोलेश्या छोड़ी तो वह भगवान् के चारों ओर चक्कर काटकर वापस गोशालक के शरीर में प्रविष्ट हो गई। उससे गोशालक के शरीर में तीव्र दाह (जलन) पैदा हो गया, जिसके फलस्वरूप सात दिनों में ही गोशालक को अपनी मिथ्या महत्वाकांक्षाओं के अरमानों को अपने ही समक्ष विफल होते देखकर समेटना पड़ा। अन्तिम समय में उसने अपने विचार बदले, सम्यग्दृष्टि प्राप्त हुई और वह इस लोक से विदा हो गया।

इसलिए अध्यात्म-विज्ञानवादी महामनीषियों एवं त्रिलोकहितैषी तीर्थंकरों का मन्तव्य है कि संकल्प होना चाहिये—धर्म, सत्य एवं परमार्थ के लिए, आत्मशक्तियों के विकास के लिए। जहाँ आर्तध्यान, रौद्रध्यानवश

दूसरों के अहित के लिए संकल्प किया जाता है, वहाँ वह पापसंकल्प–दुष्टसंकल्प है, वह स्वार्थसिद्धि के लिए अधर्माचरणप्रेरित संकल्प है, उस संकल्प का आगे चलकर लोप हो जाता है, उसकी शक्ति मन्द से मन्दतर हो जाती है। जिस प्रकार गोशालक ने तेजोलेश्या का दुरुपयोग किया तो उसकी तैजस्शक्ति लुप्त हो गई, वह स्वयं प्रभावहीन हो गया। अधर्म और पाप पतन की ओर ले जाते हैं, इसलिए संकल्प का प्रयोग अन्याय, अनीति, अधर्म एवं अत्याचार के लिए नहीं होना चाहिए। भारतीय आचार्य शुभ संकल्प की इस उदात्त परम्परा का ध्यान रखते हुए अपने शिष्यों से 'सत्यं वद धर्मं चर' इत्यादि सत्संकल्प ही कराते थे। स्नातक बनकर गुरुकुल से विदा होते समय शिष्यों से दीक्षान्त भाषण में वे यही कहते थे—

"यान्येवास्माकं सुचरितानि, तान्येव त्वयोपास्यानि, नेतराणि"

'जो हमारे सुचरित हैं, उन्ही की तुम्हें उपासना करनी है, अन्य की नहीं।'

निष्कर्ष यह है कि संकल्प के साथ जीवन की शुद्धता भी जुड़ी हुई है। अतः संकल्प के स्वभाव की इस परम्परा में अपनी उज्ज्वल भावनाओं को ही जोड़ा जाए। निकृष्टता, पाप, अत्याचार, तुच्छ स्वार्थ आदि से प्रेरित संकल्प मनुष्य को आसुरी—राक्षसी बना देते हैं। वैसा अशुभसंकल्प सुन्दर भविष्य का निर्माण नहीं कर सकता। इसीलिए भारतीय मनीषियों से परमात्मा से प्रार्थना की है—

'तन्मे मनः शिव-संकल्पमस्तु'

"प्रभो! हमारा मन कल्याणकारी संकल्प वाला हो।"

सांसारिक या भौतिक वस्तुओं की प्राप्ति का या किसी को मारने, उच्चाटन करने, ठगने या हानि पहुँचने के अशुभ या दुष्टसंकल्प प्रायः पूर्ण भी नहीं होते, अथवा वे उलटा प्रभाव उसी व्यक्ति पर डालते हैं। ऐसे दुःसंकल्पों के वशीभूत जीवन को विषादग्रस्त बताते हुए दशवैकालिक सूत्र में कहा है—

कहं नु कुज्जा सामण्णं, जो कामे न निवारए ?
पए-पए विसीयंतो, संकप्पस्स वसं गओ ॥[1]

जो साधक कामनाओं (दुःसंकल्पों) का निवारण नहीं कर सकता,

---

१. दशवैकालिक सूत्र अ० २ गा० १

वह श्रमणत्व को कैसे प्राप्त कर सकता है ? दुःसंकल्प के वशीभूत साधक पद-पद पर विषाद पाता है।

सद्संकल्प के लिए दोषनिवारण आवश्यक

अतः सत्संकल्प के लिए अपने अन्तरात्मा में बरबस प्रविष्ट होने वाले दोषों, दुर्गुणों, कुटेवों आदि को दूर करना अत्यन्त जरूरी है। उसके लिए दोषों पर विजयी बनने का संकल्प ही प्रधान रूप से सहायक होता है। विजयी बनने का संकल्प निश्चयात्मक विश्वास और साहस से बनता है। ऐसा संकल्प मुख्य रूप से साहस की भित्ति पर ही स्थिर रहता है।

सत्संकल्प का मूल : आत्मविश्वास

'अगर मुझे अमुक सुविधाएँ मिलतीं तो मैं ऐसा करता,' इस प्रकार की कपोलकल्पनाएँ करने वाले आत्मविश्वासहीन हैं। ऐसे व्यक्ति दृढ़संकल्प कर ही नहीं सकते। भाग्य कहीं दूसरे के सहारे विकसित नहीं होता। विजययात्रा मनुष्य अपने पैरों से ही करता है, तभी सफल होता है। दूसरे का आलम्बन लेने पर पराधीनता आती है, संकल्पबल शिथिल हो जाता है, समझौता करना पड़ता है। अतः संकल्प का दूसरा रूप ही है—आत्म-विश्वास। वह जागृत हो जायेगा तो मनुष्य अपना विकास तेजी से कर सकेगा। मनुष्य के भीतर जो महान चेतना कार्य कर रही है उसकी शक्ति अनन्त है, उसी का आश्रय ग्रहण कर लें तो उसका प्रत्यक्ष आत्मविश्वास जग जायेगा।

संकल्प की दृढ़ता एवं अडिगता आत्मविश्वास से ही बढ़ती है। उसी से धर्मसंघ, समाज और राष्ट्र की समस्त प्रतिकूलताएँ दूर होती हैं। उसी में संकल्पसम्पन्न व्यक्ति की विजय निश्चित है।

असफलता के कारण : संकल्प की निर्बलतादि

जो लोग अवरोधों की आशंका को बढ़ा-चढ़ाकर देखते हैं, और केवल कठिनाइयों का ही हिसाब रखते हैं, उनकी सारी शक्ति उधेड़बुन में ही नष्ट हो जाती है। निराशात्मक चित्र खींचने में ही उनकी सारी कल्पनाएँ और मनसूबे ठप्प हो जाते हैं। ऐसे व्यक्ति यह जानते ही नहीं, या उन्हें विश्वास ही नहीं कि अदम्य साहस, और उत्कट संकल्प में कितना बल है। कई व्यक्ति संकल्प तो करते हैं, परन्तु उस लक्ष्य तक पहुँचने के लिए संकल्प के साथ जितनी निष्ठा, बहादुरी और हिम्मत की जरूरत थी, वह

पूरी नहीं की गई, साथ ही जितनी तीव्रता, तत्परता और एकाग्रता एवं सतर्कतापूर्वक प्रयत्न किया जाना चाहिए, उतना नहीं किया जा सका। जैसी-तैसी परिस्थिति में पड़े रहना, जितना हुआ है, उतने में ही संतोष मानना, उच्च स्थिति प्राप्त करने और आगे बढ़ने का उत्साह न होना, संकल्पशक्ति की निर्बलता है। संकल्प के साथ जब तक तदनुकूल पुरुषार्थ नहीं किया जाता, तब तक परिस्थितियाँ अनुकूल नहीं बनतीं, समस्याएँ अपने-आप हल नहीं हो पातीं। सफलता तभी मिलती है, या लक्ष्य-प्राप्ति तभी हो सकती है, जब पुरुषार्थ करने में जो कष्ट उठाना पड़ता है, उसे सहन करने के लिए व्यक्ति अपने शरीर और मन को सहज तैयार कर ले, तथा प्रमाद और आलस्य में किसी प्रकार दिन गुजारने वाला ढर्रा बदल ले। इनके लिए सर्वश्रेष्ठ उपाय दृढ़ सत्सकल्प है। सत्संकल्प का चाबुक ही मनुष्य के तन, मन, मस्तिष्क और आदतों को बदल सकता है। जो लोग अपने आपको दीन-हीन, असफल और पराधीन समझते हों, उनके लिए संकल्प अमोघ अस्त्र है। संकल्प यदि सुदृढ़ हो और तदनुसार प्रयत्न हो तो कैसी भी परिस्थिति में मनुष्य प्रगति और सफलता प्राप्त कर सकता है। महामानवों के अगणित जीवन-चरित्र इस बात के साक्षी हैं कि साधनहीन परिवारों में उत्पन्न होना तथा विपरीत परिस्थितियों से घिर जाना, उनकी प्रगति में देर तक बाधक नहीं रह सकता, क्योंकि उनमें आगे बढ़ने का अदम्य संकल्पबल विद्यमान था। मनुष्य में तन, मन और आत्मा की असख्य गुप्त शक्तियों का भण्डार भरा पड़ा है। संकल्पबल, अदम्य साहस और प्रबल पुरुषार्थ द्वारा उन्हें वह प्रकट करे तो महान् आश्चर्यजनक कार्य कर सकता है।

मानसिक दृढ़ संकल्प के चमत्कार

मनुष्य चाहे तो अपने मानसिक दृढ़ संकल्पबल के आधार पर सूक्ष्म दृश्य संस्थानों को विकसित कर दूरदर्शन, कर्णेन्द्रिय को विकसित कर दूर-श्रवण एवं घ्राणेन्द्रिय को विकसित कर सुगन्धानुभव कर सकता है। धृत-राष्ट्र की रानी गान्धारी अपनी संकल्पशक्ति द्वारा नेत्रों को जिस स्थान पर फिरा देती, वह स्थान वज्रमय एवं प्रहारसहनक्षम बन जाता था। अपने पुत्र दुर्योधन के जिन-जिन अंगों पर उसने दृष्टिपात किया, वे अंग वज्रमय बन गये।

एक सशक्त संकल्प वाले व्यक्ति के मन-मस्तिष्क से दूसरे सुदूर बैठे हुए व्यक्ति के मन-मस्तिष्क तक विचार, सन्देश या आदेश पहुँचाया जा सकता

है। जिस प्रकार आजकल टेलीविजन, रेडियो या बेतार के तार या टेलीप्रिंटर द्वारा समाचार, सन्देश भेजा जा सकता है; गीत, प्रवचन या या संवाद सुना जा सकता है, किसी देश, स्थल या व्यक्ति का दृश्य देखा जा सकता है, इसी प्रकार एकाग्र शान्त मन के दृढ़ संकल्प द्वारा दूर-सुदूर तक समाचार प्रेषित किया जा सकता है, उसे आदेश-सन्देश दिया जा सकता है, यहाँ तक कि दृश्य भी दिखाया जा सकता है। भगवती सूत्र में इस तथ्य को शास्त्रीय भाषा में व्यक्त किया गया है कि केवलज्ञानी तथा निर्मल मन वाले भावितात्मा अनगार मनःपर्यायज्ञानी एवं अवधिज्ञानी, दूरस्थ मनुष्यों को विशेषतया देवताओं को बिना बोले समझा सकते हैं, उनके अन्तर्मन में स्फुरणा पैदा कर सकते हैं, उनके मन में स्थित प्रश्नों का उत्तर मन ही मन समझा सकते हैं। वास्तव में, दृढ़ संकल्प सूक्ष्म जगत् पर भी अचूक प्रभाव डाल सकते हैं, दूसरे मनुष्य के मन पर अधिकार जमा कर उसे आकर्षित कर सकते हैं। इसीलिए शिव-संकल्पोपनिषद् में कहा है—

यज्जाग्रतो दूरमुदैति दैव, तदु सुप्तस्य तथैवेति।
दूरंगमं ज्योतिषां ज्योतिरेकं तन्मे मनः शिवसंकल्पमस्तु ॥१॥

जो मन जागता हुआ तथा सोता हुआ भी बहुत दूर तक जाया करता है, तथा इन्द्रियों के मध्य में इसी तरह चमकता है, जैसे आकाश में तारों के मध्य चन्द्र। हे प्रभो! मेरा वह मन शुभ संकल्प वाला हो।"

साधारण लोगों का मन इतना विकसित एवं सशक्त नहीं होता। यदि मन की सुषुप्त शक्तियों को पहचान कर संकल्प द्वारा उनका प्रयोग सत्कार्य में किया जाए तथा धीरे-धीरे उन शक्तियों को विकसित किया जाए तो बहुत आश्चर्यजनक सत्कार्य किये जा सकते हैं। एक साधक अपने सशक्त संकल्पों को स्वेच्छानुसार दूरवर्ती मनुष्यों तक भेजना चाहे तो भेज सकता है। साधक की संकल्प शक्ति जितनी कम या अधिक होगी, उसी के अनुसार उसके विचारों का दूसरे मनुष्य पर न्यूनाधिक प्रभाव पड़ेगा। इसकी सफलता मनुष्य की मानसिक संकल्पशक्ति की दृढ़ता, तीव्रता एवं विश्वास पर निर्भर है।

फ्रांस के अब्वेविले नगर की एक बारह वर्ष की लड़की एन्नेट फ्रेलान ने भारतीय योगियों जैसी अद्भुत संकल्पशक्ति प्राप्त कर ली थी। उसने प्रायः मौन रहने का नियम बनाया था। जब कभी वह बोलती थी तो अत्यन्त सारगर्भित, संक्षिप्त और आवश्यकता से अधिक नहीं। उसका कहना था कि मनुष्य के बोलने से अधिक प्रभाव उसके गहन विचारों का होता है। इस कथ्य को वह प्रत्यक्ष प्रमाणित भी करती थी।

जब कभी कोई व्यक्ति उससे प्रश्न पूछता तो वह एकाग्रचित्त हो जाती, फिर जो कुछ पूछा जाता, उसका उत्तर उसकी बांहों तथा कन्धों पर उभरे लाल बड़े-बड़े अक्षरों में अंकित हो जाता। उसकी संकल्पशक्ति से उत्पन्न यह लेखन कुछ देर तक द्रष्टव्य रहकर धीरे-धीरे बिना कोई छाप छोड़े लुप्त हो जाता। उसमें मानसिक संकल्प की ऐसी अद्भुत क्षमता थी, जिसे देखकर प्रश्नकर्ता को चकित रह जाना पड़ता।

इसी प्रकार फ्रांस के सुप्रसिद्ध फिल्म अभिनेता पियरी मिसी में भी मानसिक संकल्प की चामत्कारिक विशेषता थी कि वह अपनी इच्छानुसार शरीर के किसी भी हिस्से के बालों को हिला सकता था, बालों की नोंक को खड़ा कर सकता था, तथा लिटा भी सकता था, इतना ही नहीं, कोमल सपाट बालों को वह अपनी इच्छानुसार घुंघराले बना सकता था।

भारतीय योगियों ने तो अपने संकल्पबल द्वारा अनेक आश्चर्य-जनक करतब कर दिखाये हैं।

इन घटनाओं से स्पष्ट है कि मनुष्य संकल्पबल से स्वयं को चट्टानसदृश सुदृढ़ बना ले तो उस पर किसी भी अशुभ दुष्ट संकल्प या बुरे विचार का प्रभाव नहीं के बराबर होगा। दूसरे के अशुभ या विरोधी विचारों को ग्रहण न करने से भी वे पुनः भेजने वाले के पास वापिस लौट जाते हैं, उसी को हानि पहुँचाते हैं। इसी प्रकार दृढ़, अटल मानसिक स्थिति पर आंधी, पानी, सर्दी, गर्मी आदि का असर बाहर में भले ही पड़ता हो परन्तु अन्तर् में नहीं पड़ता।

निष्कर्ष यह है कि मनुष्य को अपनी सुषुप्त आत्मिक शक्तियों का सम्यग्ज्ञान हो जाय और वह अपनी संकल्पशक्ति को बढ़ाले तो दुःख, भय, चिन्ता, क्रोध, काम, लोभ, मोह, द्वेष आदि दुष्ट मनोविकार उसका कुछ भी बिगाड़ नहीं सकते। ईश्वरीय या आत्मिक शक्तियों तथा शारीरिक, मानसिक एवं आत्मिक सम्पदाओं का भण्डार सबमें विद्यमान है किन्तु जो व्यक्ति संकल्पशक्ति का सतत् अभ्यास द्वारा विकास कर लेते हैं, उन्हें ही इस सत्प्रवृत्ति में सफलता मिलती है।

———

७

दृष्टि बदलिए, सृष्टि बदलेगी

जीवन की दो प्रमुख धाराएं : दृष्टि और सृष्टि

मानव-जीवन की दो प्रमुख धाराएँ हैं। एक है दृष्टि और दूसरी है सृष्टि। दृष्टि का अर्थ केवल देखना ही नहीं है, किन्तु गहराई से चिन्तन-मनन, विश्वास, दीर्घदर्शिता या भावना है। और सृष्टि का अर्थ यहाँ ससार या जड़चेतनात्मक विश्व नहीं, किन्तु सृजन है। वह सृजन प्रकृति के द्वारा नहीं, मनुष्य के द्वारा किया गया सृजन है। मनुष्य के द्वारा किया गया निर्माण, रहन-सहन, रीति-रिवाज, सभ्यता, संस्कार आदि ही सृष्टि है।

प्राणियों में सर्वश्रेष्ठ विचारशील प्राणी मानव है। मानव के सामने सर्वप्रथम प्रश्न यह है कि वह पहले दृष्टि बदले या सृष्टि ? दोनों में से किसे बदलना आवश्यक है ?

पहले दृष्टि बदलो

कई विचारधाराएँ दृष्टि को पहले बदलने की बात कहती हैं। उनका कहना है कि यदि मनुष्य अपनी दृष्टि को बदल दे तो उसकी सृष्टि स्वतः बदल जाएगी। जब तक दृष्टि नहीं बदलेगी तब तक मनुष्य उचित विकास नहीं कर पाएगा। जैनदर्शन यथार्थवादी दर्शन है। वह वस्तु की तह में पहुँचकर उसके बाह्य और आभ्यन्तर स्वरूप पर विचार करता है। प्रत्येक प्रवृत्ति और वृत्ति के पीछे यदि दृष्टि यथार्थ है तो उससे होने वाली सृष्टि-अर्थात् उस प्रवृत्ति और वृत्ति से होने वाला कार्य भी यथार्थ शुद्ध और

हितकर होगा। अगर मनुष्य की दृष्टि संसारोन्मुखी है तो वह यथार्थ नहीं है, आत्महितैषी नहीं है, कर्मक्षयकारिणी नहीं है, धर्ममयी नहीं है; मोक्षाभिमुखी नहीं है, वह पतनोन्मुखी दृष्टि है। उससे जन्म-मरणरूप संसार की वृद्धि होगी, संसार का ह्रास नहीं होगा। इसके विपरीत यदि मनुष्य की दृष्टि मोक्षाभिमुखी है, तो वह आस्रव और बन्ध के बदले संवर और निर्जरा को महत्व देगा। वह आस्रव को रोकने का प्रयास करेगा, पूर्वकृत पापकर्मों से मुक्त होने, तथा उनसे छुटकारा पाने अथवा उन्हें आते हुए रोकने, घटाने एवं उन्हें क्षय करने का प्रयास करेगा। अर्थात् दृष्टि शुद्ध एवं ऊर्ध्वमुखी होगी तो व्यक्ति की स्वयं की सृष्टि भी शुद्ध एवं ऊर्ध्वमुखी होगी। उसका प्रत्येक कार्य शुद्ध दृष्टिपूर्वक होगा।

पहले सृष्टि बदलने से हानियाँ

कुछ दर्शन ऐसे हैं, जो पहले सृष्टि को बदलने की बात कहते हैं। उनका कहना है कि मनुष्य पहले सृष्टि को बदले। उनका अभिप्राय यह है कि मनुष्य पहले सृजन को बदले। अर्थात्—वह अपने रहन-सहन, स्टैंडर्ड (स्तर) को बदले। वह अपने तथा परिवार, समाज और राष्ट्र के जीवनप्रवाह को नया मोड़ दे। उसमें परिवर्तन करे।

परन्तु देखा यह गया है कि इस विचारधारा पर चलने वाले लोगों ने प्रकृति के लयबद्ध रूप में अबाधगति से चलते हुए नैसर्गिक सृजन को, वास्तविक सहज सौन्दर्य को शुद्ध दृष्टि से विचार किये बिना व्यक्ति, परिवार एवं तथाकथित समाज के जीवन में कृत्रिम सृजन किया है।

इस कृत्रिम सृष्टि का कारण ही है—दृष्टिविहीन सृष्टि। शरीर की कृत्रिम साज-सज्जा, परिवार का कृत्रिम, खर्चीला एवं स्वास्थ्य नियमों के प्रतिकूल रहन-सहन, उद्धत एवं भड़कीला वेष, बाह्य आडम्बर, खान-पान में केवल जीभ को स्वादिष्ट लगने वाले व्यंजन, पक्वान्न एवं खाद्यान्न इंद्रियों को मोहक एवं आकर्षक लगने वाली अश्लील नृत्य-गीत एवं दृश्य को अपनाने की प्रवृत्ति, ये सब वर्तमान युग के दृष्टिविहीन मानव की कृत्रिम सृष्टि के नमूने हैं।

दृष्टिविहीन सृष्टि के दुष्परिणाम

यह कृत्रिम सृष्टि क्यों है ? इस पर गहराई से छानबीन कर लें।

हम सब जानते हैं कि हमारे शरीर में अपार गन्दगी भरी है। इस गंदगी को—मल-मूत्र, रक्त, पित्त, माँस, मज्जा, स्वेद आदि को ढकने के लिए प्रत्येक व्यक्ति को अपने-अपने कर्मानुसार काली, गोरी चमड़ी मिली

है। परन्तु चर्माच्छादित यह शरीर अपने असली स्वरूप में वीभत्स एवं घिनौना प्रतीत होने लगा। अतः इस चमड़ी को आवृत करने के लिए इस पर वस्त्र का आवरण लगाया। दूसरों को केवल चर्माच्छादित नग्न शरीर देखकर विकृति पैदा न हो, सर्दी, गर्मी एवं वर्षा आदि से शरीर की सुरक्षा हो, लज्जानिवारण हो, इस उद्देश्य से वस्त्र निर्माण हुए। इसके लिए सादे वस्त्र ही पर्याप्त थे। इसके बदले दृष्टिविहीन अथवा केवल सृष्टिवाद के पुजारी मानव उस शरीर को कृत्रिम ढंग से सजाने लगे। वस्त्र पहनने का उद्देश्य भूलकर वह शरीर के अंगोपांग दिखाई दें, ऐसे बारीक वस्त्र पहनने में शरीर-सौन्दर्यवृद्धि मानने लगा। इतना ही नहीं, नाईलोन, टेरिलिन आदि के सूक्ष्म वस्त्रों में भी अमुक डिजाइन, अमुक आकृति अथवा अमुक काटछांट के वस्त्रों को पहनने का शौक बढ़ा। अपनी सुन्दरता, मानमर्तबा, आकर्षण, जाति-कुल आदि की झूठी प्रतिष्ठा के मद के पोषण के लिए मनुष्य ने इस कृत्रिम सृजन को अपनाया। साथ ही पाश्चात्य सभ्यता के अनुरूप अपनी वेशभूषा बना ली। कहीं-कहीं तो महिलाओं ने सिनेमा स्टार्स (तारिकाओं) की चटकीली और भड़कीली वेशभूषा का अनुकरण किया। प्राचीनकाल में शरीर को गहनों से लादने का रिवाज था। परन्तु अब उसका स्थान पेन, घड़ी, नेकटाई आदि ने ले लिया। होठों पर कृत्रिम लाली (लिपिस्टिक) लगाई जाने लगी। अधिक खर्चीली और तंग वेशभूषा भी इस कृत्रिम सृष्टि की देन है।

फारस का बादशाह फतहअली शाह उन्नीसवीं सदी के आरम्भ तक जीवित रहा। उसे रत्नजड़ित पोशाक पहनने का बेहद शौक था। वह प्रतिदिन नया वस्त्र पहनता था। उसकी प्रत्येक पोशाक में सोना, चाँदी, हीरे और अनेक रत्न जड़े रहते थे। कहते हैं, राज्याभिषेक के समय उसने जो वस्त्र पहना था, उसमें जड़े हुए हीरे, मोती, लाल, मणि, सोना आदि का वजन उसके शरीर के वजन से भी अधिक था। अत्यधिक भार के कारण उसे खड़ा होना मुश्किल होता था।

विदेशी आततायी गजनी के बादशाह 'मसूद' को अपने खजाने के प्रदर्शन का इतना शौक था कि वह जब कहीं यात्रा करता था, तो अपने सम्पूर्ण खजाने को तीन हजार ऊँटों की पीठ पर लादकर चलता था। कितनी ही बार यात्रा के बीच में डाकुओं ने उसकी धनराशि लूट ली थी, फिर भी विपुल धनराशि लेकर युद्ध के मैदान में भी चलने की उसकी आदत अन्तिम दिनों तक समाप्त नहीं हुई।

मिस्र के एक धनाढ्य अमीर वेसारी को प्रचुर धन विरासत में मिला था। किन्तु वह अपने जीहजूरियों के साथ सदैव शराब में डूबा रहता था। जिन सोने के प्याले में एक बार शराब पी जाती थी, उनका दुबारा उपयोग नहीं किया जाता था। उसे स्वच्छन्द जीवन जीना पसन्द था। इसमें वह किसी भी प्रकार का अवरोध आने देना नहीं चाहता था। कहते हैं, उसने अपनी सारी पैतृक सम्पत्ति शराब में गँवा दी। मरते समय उसके कफन के लिए भी पैसे नहीं बचे थे।

बारहवीं शताब्दी के प्रख्यात यवन सम्राट मलिक अल अजीज की फिजूलखर्ची बेमिसाल थी। उसने नित नये प्रकार के वस्त्र तैयार करने के लिए सैकड़ों कारीगर नियुक्त कर रखे थे, जिन पर लाखों रुपये प्रतिमास खर्च होते थे। अपव्यय की इस आदत के कारण उसकी प्रजा अत्यधिक रुष्ट हो गई और राज्य में बगावत हो जाने से वह मारा गया।

मंगोलिया के शेख शाहरूख ने अपने ४३ जन्म-दिन धन के अपव्यय के रूप में मनाये थे। वह अपने जन्मदिवस के दिन आने वाले व्यक्ति को हीरे, पन्ने और मोतियों से भरा थाल देता था। उसकी सारी सम्पत्ति इस अपव्यय के कारण हाथ से चली गई। किसी अच्छे कल्याणकार्य में खर्च नहीं हो पाई।

स्पेन-अधिकृत गायना (अफ्रीका) में एक सम्राट हुआ था—व्यूविस्त। उसे नित्य नये सिंहासन पर बैठने का शौक था। उसने नई-नई डिजाइन के सिंहासन तैयार करने के लिए देश के नामी कारीगरों को स्थायीरूप से नियुक्त कर दिये थे। एक बार वह उस नवनिर्मित मूल्यवान् रत्नजड़ित सिंहासन पर बैठने के बाद उसे यह कहकर नदी में प्रवाहित करा देता था कि उस सिंहासन पर दूसरा कोई न बैठे, जिससे उसका गौरव सुरक्षित रह सके।

कितना बेहूदापन है, इस फिजूलखर्ची का और मिथ्यागौरव की सृष्टि का!

मिस्र की टकसाल के मालिक खलील घाहेरी ने अपने जीवन काल में कई बार मक्का की यात्रा की। वह आठ सौ मील लम्बी दूर तीर्थयात्रा के दौरान मार्ग में सोने की मुहरें बिछवाता था, ताकि उसका ऊँट प्रत्येक कदम सोने पर रखे। कारवाँ-गुजर जाने के बाद पथिक उन स्वर्णमुद्राओं को उठा लेते थे। उसका समस्त कोश इस प्रकार समाप्त हो गया।

बगदाद के अपार सम्पत्ति के स्वामी एक रईस अबू अली इब्न मोक्लाह ने वजीरे आजम का पद प्राप्त करने के लिए विपुल धनराशि खर्च कर दी। पद-समाप्ति की निर्धारित अवधि पूर्ण होने पर उसने पुनः खलीफा को एक बड़ी धनराशि पेश की। अपनी समस्त सम्पत्ति बर्बाद करके भी वह इस पद पर कायम बना रहना चाहता था। किन्तु धन के समाप्त होते ही खलीफा के आदेश से राजकर्मचारियों ने उसे पदच्युत कर दिया।

अवध का नवाब वाजिद अली शाह अत्यन्त भोगी-विलासी था। उस रंगीन मिजाज के बादशाह ने प्रजा के गाढ़े पसीने की कमाई को पानी की तरह बहाया। वह सनकी था। व्यर्थ का बड़प्पन सिद्ध करने के लिए वह निरर्थक खर्च करना था।

इस प्रकार के भारत के और विदेश के अनेक शासक एवं धनाढ्य भी ऐसे हुए हैं, और हैं, जो केवल अपना बड़प्पन सिद्ध करने के लिए लाखों रुपये फिजूल खर्च कर डालते हैं।

उद्धत प्रदर्शन और अपव्यय की यह प्रवृत्ति कई व्यक्तियों में नहीं, कभी-कभी तो समूचे समाज में देखी जाती है। यह दृष्टिविहीन कृत्रिम सृष्टि है।

कई लोग कुरीतियों, वैवाहिक कुप्रथाओं तथा थोथे आडम्बरों एवं प्रदर्शनों में लाखों रुपये स्वाहा कर डालते हैं। गत वर्ष नागपुर में एक व्यापारी ने अपनी लड़की की शादी में लगभग एक करोड़ रुपया खर्च किया था। लगभग १० हजार व्यक्तियों ने इस विवाह-समारोह में भाग लिया था। स्थानीय साजसज्जा(Decoration) तथा रसोई बनाने, विविध मिठाइयाँ बनाने आदि कार्यों के लिए बम्बई, कलकत्ता और दिल्ली से विशेषज्ञ बुलाये गए थे। धन की इस चकाचौंध से लोगों की दृष्टि इतनी अन्धी हो गई थी कि किसी ने इस प्रकार के उद्धत प्रदर्शन एवं अपव्यय की भर्त्सना नहीं की। केवल धन या विद्वत्ता के बल पर लोकप्रिय बनने एवं प्रतिष्ठा अर्जन करने के ये भौंडे प्रदर्शन एवं अपव्यय गुणरहित सृष्टि की रचना करते हैं, जिसके पीछे आत्मकल्याण की या लोककल्याण की कोई दृष्टि नहीं होती। सामाजिक और नैतिक दोनों दृष्टियों से धन का दुर्व्यय एक अपराध है, ऐसा अपराध, जिसमें दूसरों की सुविधाएँ छिनती हैं और योग्य व्यक्ति के अधिकारों का हनन होता है। जिन्हें अनायास अथवा स्वकीय पुरुषार्थ द्वारा सम्पत्ति एवं समृद्धि हाथ लगी है, उन्हें भी इस शक्ति को सत्कार्यों में नियोजित करने की दृष्टि प्राप्त करनी चाहिए।

यह तो हुई बाह्य दृष्टि में परिवर्तन करने की बात!

अन्तरंग दृष्टि का चमत्कार

सम्यगदृष्टिविहीन व्यक्ति पाँचों इन्द्रियों का उपयोग, ऐसे कार्यों में और इस ढंग से करता है, जिससे उसकी इन्द्रियाँ भी क्षीण होती हैं, वह धर्म एवं पुण्य से भी वंचित रहता है, और उसके आरोग्य को भी हानि पहुँचती है। एक सम्यक्दृष्टिविहीन आँखों से देखने, कानों से सुनने. हाथों से स्पर्श करने, जीभ से बोलने एवं पदार्थों को चखने, नाक से सूंघने आदि विषयों में आसक्त होकर एवं अदूरदर्शिता से पापकर्मबन्धन कर लेता है, दूसरा सम्यक् दृष्टि सम्पन्न व्यक्ति उन्हीं इन्द्रियों से अपने-अपने विषय को ग्रहण करने में राग, द्वेष, मोह आदि से दूर रहता है, इन्द्रियों का अनावश्यक उपयोग नहीं करता। इसलिए वह कर्मबन्धन के बदले कर्मक्षय कर लेता है, आते हुए कर्मों को भी रोक (संवर कर) लेता है। कभी-कभी उन इन्द्रियों से (बाह्य तथा आभ्यन्तर) तपस्या करके वह कर्मों की निर्जरा भी कर लेता है।

अतः अन्तरंग दृष्टि का भी परिवर्तन आवश्यक है। अन्यथा हजारों वर्षों तक तप करने, कष्ट सहने या बहुत ही प्रवृत्ति करने पर भी कर्मक्षय नहीं होता, व्यक्ति मोक्षाभिमुख नहीं होता; वह संसारोन्मुख ही रहता है, उसका संसार घटता नहीं, बढ़ता ही है।

दृष्टि सम्यक् होने पर ही तप या आचार की सृष्टि सम्यक्

आपने सुना है, नरक और तिर्यंचगति में प्राणी घोर कष्ट सहता है, भूख-प्यासा भी रहता है, तीव्र वेदना भी सहन करता है; परन्तु उन सबको हम तपःसाधना नहीं कहते, इसी प्रकार घोर जंगल में रहकर पंचाग्नि तप करने, बहुत काल तक भूखे प्यासे रहने को भी हम मोक्षाभिमुखी साधना नहीं कहते क्योंकि वह घोर कष्ट सहन एवं तीव्र वेदना-सहन सम्यक्दृष्टि से नहीं हुई, इसलिए उससे कर्मक्षय भी नहीं हुआ और न कर्म आते हुए रुके।

इसी प्रकार वह तपस्या भी, या आचार पालन भी कर्मक्षय-कारक नहीं, जिसके पीछे आत्म शुद्धि का या वीतरागता प्राप्ति का लक्ष्य न हो अर्थात् दृष्टि सम्यक् न हो। प्रसिद्धि, लौकिक कामना, प्रशम या लौकिक-पार लौकिक फलाकांक्षा आदि संकीर्ण स्वार्थों से भरी तपस्या या आचार-साधना संसारोन्मुखी है, वह कर्मक्षयकारिणी या मोक्षाभिमुखी नहीं है। रागद्वेषादि की तीव्र परिणति ही संसार है! कहा भी है—

कामानां हृदये वासः संसारः परिकीर्तितः।

कामनाओं का हृदय में रहना ही संसार है। संसार का अर्थ यहाँ दृश्यमान जगत् या परिवार, समाज आदि नहीं है।

संसार का रहस्यार्थ है—कर्मों की शृंखला या परम्परा का चलते रहना। कर्मों को बांधने के बाद मनुष्य उन्हें भोगता है तो कुछ कर्म अलग हो जाते हैं, किन्तु समभाव से न भोगने पर नये कर्म फिर बांध लेता है, फिर भोगता है। इस प्रकार जब तक दृष्टि सम्यक् नहीं होती है, तब तक कर्मबन्धन, फलभोग, पुनः कर्मबन्धन का सिलसिला चलता रहता है। जब तक दृष्टि नहीं बदलती है, तब तक कर्मसृष्टि या जन्म-मरणरूप संसार की परम्परा समाप्त नहीं होती है।

सारांश यह है कि दृष्टि-परिवर्तन प्रत्येक प्रवृत्ति, साधना या तपस्या के पूर्व आवश्यक है। दृष्टि परिवर्तन के बिना एक सम्राट के द्वारा किया गया साम्राज्य-त्याग, कठोर तप, विराट त्याग-प्रत्याख्यान भी व्यक्ति के जीवन में अभिनव ज्योति नहीं जगा सकता, जीवन में उज्ज्वलता नहीं ला सकता। और दृष्टि में परिवर्तन हो गया तो एक छोटा-सा नवकारसी का प्रत्याख्यान भी जीवन को समुन्नत बना सकता है।

दृष्टि के सम्यक्-असम्यक् पर श्रुत की सम्यक् असम्यक्ता

नन्दीसूत्र में इसी विषय की एक चर्चा है कि यदि कोई व्यक्ति विषय-वासनओं, संकीर्ण स्वार्थों या कषायों या मिथ्यादृष्टि के वश होकर आचारांग सूत्र, भगवती आदि सम्यक् कहलाने वाले शास्त्रों को पढ़ता है, उसके लिए वे शास्त्र सम्यक् श्रुत नहीं बनते, क्योंकि उसकी दृष्टि सम्यक् नहीं है, इसलिए उन शास्त्रों को वह सम्यक् रूप से ग्रहण नहीं कर पाती। और यदि व्यक्ति सम्यक्दृष्टिसम्पन्न है और आचारांग, भगवती आदि के अतिरिक्त अन्य धार्मिक या अन्यमतीय शास्त्र भी पढ़ता है तो उसके लिए वे शास्त्र भी सम्यक्श्रुत बन जाते हैं।[1] वस्तुतः देखा जाए तो शास्त्र अपने आप में न तो अमृत है और न ही विष। विष और अमृत मनुष्य की दृष्टि में रहते हैं। शास्त्रों से सत्य तत्व को ग्रहण करने की बुद्धि या दृष्टि है तो वे शास्त्र उसके लिए अमृतमय हैं।

नन्दीसूत्र में जब यह चर्चा चली कि कौन-से शास्त्र सम्यक् हैं, कौन-से मिथ्या? तो उन्होंने यही निर्णय दिया कि शास्त्र-पाठक की सर्वप्रथम दृष्टि सम्यक् होगी तो उसके लिए सारे ही शास्त्र सम्यक् होंगे, भले ही वे किसी भी धर्म, पन्थ या मत के हों, यही नहीं, वे काव्यशास्त्र, कामशास्त्र या

---

१. एयाइं चेव समदिट्ठिस्स समत्त परिग्गहत्तेण सम्मसुयं—नंदीसूत्र

व्याकरणशास्त्र भी उसके लिए सम्यक् होंगे। आशय यह है कि यदि व्यक्ति की दृष्टि निर्मल एवं सत्यग्राही हो गई तो उसके लिए चारों ओर प्रकाश ही प्रकाश है। जैसे धूलशोधक रजकणों में से स्वर्णकण ढूंढ लेता है वैसे ही सम्यक्दृष्टि-सम्पन्न व्यक्ति मिथ्या कहलाने वाले शास्त्रों में से भी सत्यतत्व ग्रहण कर लेगा। और यदि व्यक्ति की दृष्टि मिथ्या है तो उसके लिए भगवान् महावीर जैसे वीतराग सर्वज्ञ आप्त पुरुषों द्वारा प्रतिपादित शास्त्र भी विपरीत रूप से ग्रहण किये जाने के कारण मिथ्याशास्त्र हो जाएँगे।

सम्यक्दृष्टि से युक्त मानव अमंगल एवं अपवित्र कहलाने वाले स्थान में रहकर भी मंगलमयी पवित्रता का ग्रहण कर लेगा। वह आस्रव —पापास्रववर्द्धक स्थान में भी संवर की वृद्धि कर लेगा। और मिथ्यादृष्टि वाला संवरवर्द्धक स्थान में भी आस्रववृद्धि कर लेगा।

दो मित्र थे। उनकी भावना सैर करने की हुई। उनमें से एक ने कहा—मैं तो आज धर्मस्थान में मुनिराज के प्रवचन सुनने जाऊँगा। दूसरे ने कहा—'वहाँ क्या आनन्द आएगा। मैं तो वेश्या की महफिल में जाऊँगा।' दोनों अपने-अपने मनोनीत स्थानों पर पहुँचे। परन्तु धर्मस्थान में जाने वाले, व्यक्ति की दृष्टि धुंधली थी। अतः उसने विचार किया—मेरा मित्र वेश्या की महफिल में बहुत आनन्द करता होगा। यहाँ रूखी-सूखी नीरस बातों में कोई आनन्द नहीं आता।' अतः उस मित्र ने संवरवर्द्धक धर्मस्थान में भी पापास्रववर्द्धक विचार करके आस्रववृद्धि की। जबकि दूसरे मित्र ने विचार किया—ओह! कितने गंदे विचार और कार्य हैं, इस वेश्या के! मैं कहां आ फँसा ऐसे गंदे स्थान में! मेरा मित्र धर्मस्थान में पवित्र विचार और धर्माचरण की बात सुनता होगा, मैं यहाँ इस वेश्या के रागरंग में अपवित्र विचार सुन रहा हूँ। वेश्या की महफिल में गये हुए मित्र ने अपने विचार संवरवर्द्धक बनाए, क्योंकि उसकी दृष्टि सम्यक् एवं स्पष्ट थी।

तात्पर्य यह है कि यदि एक व्यक्ति विषय-वासना और कषायों के प्रवाह में बहकर आचारांग सूत्र पढ़ता है तो वह शास्त्र उसके लिए दृष्टि-परिवर्तन के बिना शस्त्र बन जाता है। इसी प्रकार व्याख्या प्रज्ञप्ति (भगवती) सूत्र जैसा महत्वपूर्ण तत्त्वज्ञान से परिपूर्ण शास्त्र भी दृष्टि-परिवर्तन किये बिना पढ़ता है, तो वह उसके लिए अमृत के बदले विष बन सकता है। इसका मतलब यह हुआ कि यदि पाठक की दृष्टि सत्य को सत्य के रूप में देखने की नहीं है, यदि पाठक की दृष्टि में भगवती सूत्र में उल्लिखित तथ्यों

को सम्यक् रूप में ग्रहण करने की नहीं है तो वह तथ्यरूप अमृत भी उसके लिए विष बन जाएगा।

दूध शारीरिक शक्ति में वृद्धि करने वाला पेय है, क्या बालक, क्या युवक और क्या वृद्ध सभी के लिए सात्त्विकबल-प्रदायक है। परन्तु यदि कोई सन्निपात रोग से ग्रस्त व्यक्ति दूध-मिश्री का सेवन करेगा तो उसका परिणाम होगा—मृत्यु। वस्तुतः दूध अपने आप में अमृत था। परन्तु सन्निपात रोगी के लिए वह विष बन गया। इसी प्रकार जिसकी दृष्टि में त्रिदोष का सन्निपात है, अर्थात्—संशय, विपर्यय और अनध्यवसाय इन तीन दोषों से जिसकी दृष्टि ग्रस्त है, उसे भगवती सूत्र आदि सम्यक्शास्त्रीय तत्त्वज्ञानरूपी दूध भी विष के रूप में परिणत हो जाएगा। घृत शरीर में स्फूर्ति, शक्ति एवं तेजस्विता लाने वाला पदार्थ है, परन्तु किसी यकृत के रोगी को पिला दिया जाए तो वह विष का काम करेगा। इसी प्रकार मिथ्यादृष्टि-रोग से ग्रस्त व्यक्ति को सम्यक्तत्त्वरूपी घृत सेवन कराया जाए तो उसे वह पचेगा नहीं, वह विष के रूप में परिणत होगा।

अभिप्राय यह है कि जब तक मनुष्य की दृष्टि शुद्ध, सापेक्ष, सम्यक् एवं परिमार्जित नहीं है तब तक उसे श्रेष्ठतम तत्त्वज्ञान, या सम्यक्शास्त्रों का अध्ययन भी करा दिया जाए या सर्वोत्तम वीतराग महापुरुष का सत्संग भी करा दिया जाए, तो भी उसका ज्ञान, उसकी आचरण सृष्टि विशुद्ध नहीं होगी; न ही मोक्षदायिनी होगी।

इसी प्रकार जिस समय मनुष्य की दृष्टि शुभ, मंगलमयी एवं सम्यक् हो जाती है, उस समय वह विपत्ति को भी सम्पत्ति में, दुःख को भी सुख में परिणत कर लेता है।

श्रुतिधर की दृष्टि स्पष्ट एवं सम्यक् नहीं बनी थी। वह यात्रा करने निकला। दिन भर चलने के बाद शाम को वह एक मकान में ठहरा। उसने देखा कि उसमें पशुओं का गोबर पड़ा है, मकड़ियों ने जहाँ-तहाँ जाले बुन रखे हैं। "यहाँ सर्वत्र अस्वच्छता है। अमंगल घर है यह! इसमें रहना नरक में रहना है।" यों विचार करके श्रुतिधर बेचैन हो उठा। रातभर बेचैन रहा। सुबह उसने उस घर का त्याग किया और समीपवर्ती एक गाँव में जाकर टिका। उस ग्राम में भी जहाँ-तहाँ गंदगी के ढेर पड़े थे। गाँव के मैले-कुचैले, अशिक्षित एवं निर्धन लोग उसके सत्संग में आए। यह देखकर श्रुतिधर का मन बेचैन हो उठा। सोचा—यह गाँव भी अमंगल है। वह

वहाँ से उठकर चल दिया। एक निर्जन वन में एक वृक्ष के नीचे उसने डेरा जमाया। रात को वहाँ भी जंगली हिंस्र पशुओं के भयंकर शब्द सुने। मन भयाक्रान्त हो उठा। किसी तरह रात काटी। सुबह पक्षियों का कोलाहल, नंगधडंग जंगली लोगों का आवागमन, तथा आसपास मृत पशुओं की हड्डियाँ, रुधिर और खोपड़ियाँ! यह देख श्रुतिधर का अन्तःकरण व्याकुल हो उठा। वह वहाँ से चल पड़ा। एक नदी के तट पर आया। शीतल जल के सान्निध्य में थोड़ी-सी सुखानुभूति हुई ही थी कि उसने एक बड़ी मछली को छोटी मछलियों को निगलते देखा। थोड़ी ही देर में एक मुर्दा भी वहाँ तैरता-तैरता आ गया। यह देखकर श्रुतिधर का मन घृणा से भर गया। नदी को भी अमगल समझ उसने सोचा—अब कहां जाया जाए? ग्राम, नगर, नदी, पर्वत, वन, सर्वत्र अमंगल ही अमंगल है। अतः अमंगल में जीने की अपेक्षा अच्छा है कि इस जीवन का ही अंत कर दिया जाए। वह चिता लगाकर जलने ही जा रहा था कि एक देव ने आकर कहा—यह क्या कर रहे हो? इस प्रकार जल मरने से तुम्हारे शरीर के मल-मूत्र आदि गंदे पदार्थ बाहर निकलेंगे, तुम अमंगल वातावरण पैदा करके जाओगे, इससे क्या लाभ होगा? सृष्टि में अमंगल भी है, मंगल भी। किन्तु तुम्हारी दृष्टि मंगलमयी, सम्यक् एवं शुद्ध होगी तो तुम अमंगल में से भी विरक्ति करुणा, सहानुभूति, क्षमा आदि मंगल तत्त्वों को निकाल सकोगे। विपत्ति एवं कष्ट को भी अमंगलमय न मानकर समभाव से सहन करोगे तो उससे तुम्हारी आत्मा मंगलमय बनेगी, तुम आस्रव के बदले संवर की निष्पत्ति कर लोगे।

श्रुतिधर को सम्यक् बोध हुआ और वह उसी दिन से अपनी दृष्टि मंगलमयी एवं सम्यक् बनाकर विचरण करने लगा।

एक राजा और मन्त्री एक दिन भ्रमण के लिए निकले। अकस्मात् राजा की अंगुली चाकू से कट गई। खून बहने लगा। राजा को पीड़ा हो रही थी। मन्त्री ने आश्वासन दिया। उस पर मरहम पट्टी कर दी और मंगलमय दृष्टि सम्पन्न मन्त्री ने कहा—"महाराज! बुरा न मानें! यह भी किसी न किसी अच्छाई के लिए हुआ है।" राजा यह सुनते ही आगबबूला हो गया और मन्त्री को अपनी सेवा से तथा नगर से बहिष्कृत कर दिया। मन्त्री इसे भी अपने लिए शुभ संकेत मानकर दूसरे गाँव में चला गया।

कुछ दिनों बाद राजा अपने सेवकों के साथ कहीं जा रहा था कि वन में एक जगह जंगली लोग चण्डी की पूजा कर रहे थे। उन्हें चण्डी को नर-बलि देनी थी। राजा को सर्वलक्षण-सम्पन्न एवं बलियोग्य देखकर उन्होंने

बलपूर्वक रोक लिया और रस्सी से बाँधकर बलि देने के स्थान पर लाये। परन्तु ज्यों ही राजा की अंगुली कटी हुई देखी, त्यों ही पुजारी ने उसका बध करने से रोका और कहा—"भग्न अंग वाले व्यक्ति की बलि नहीं दी जा सकती। इसे छोड़ दो।" राजा को छोड़ दिया गया। राजा बहुत प्रसन्न होता हुआ आया। अब उसे मन्त्री की कही हुई बात याद आई। सोचा—आज मेरी अंगुली कटी हुई न होती तो मेरा अवश्य ही वध कर दिया जाता। मंत्री ने ठीक ही कहा था कि यह भी शुभ संकेत है। राजा ने मन्त्री की खोज कराई और उसे सम्मानपूर्वक बुलाकर पुनः मंत्री पद पर नियुक्त कर दिया। राजा ने मन्त्री से पूछा—"मन्त्रिवर! तुम्हारे लिए मेरे द्वारा निष्कासन कैसे शुभ हुआ?" मन्त्री ने सोचकर कहा—"मेरे लिए यह निष्कासन इसलिए शुभ हुआ कि अगर मैं उस दिन आपके साथ होता तो आपके बदले मेरी बलि दे दी जाती।"

संक्षेप में सार यह है कि मनुष्य दुःख और विपत्ति को अमंगलकारी न मानकर उसी में से सम्यग्दृष्टि रखकर यथार्थ बोध ले तो वह उसके लिए मंगलकारी एवं शुभ हो सकती है। दुःख और विपत्ति के समय हाय-तोबा न मचाकर उसे पूर्वकृत कर्मफल समझकर समभाव से सहन करे, धैर्यपूर्वक उसमें से उबरने का उपाय सोचे, तो दुःख और विपत्ति में भी सम्यग्दृष्टि कर्मक्षय करके अपना जीवन मंगलमय बना सकता है।

भगवान् महावीर अनार्यदेश में पधारे। वहाँ के लोगों ने उन्हें तरह-तरह की यातनाएँ दीं, भयंकर कष्ट दिये, परन्तु भगवान् ने उन कष्टों और यातनाओं को अपने लिए कर्मक्षयकारक समझकर समभाव से सहन किया। अनार्य लोगों के प्रति मन में जरा भी द्वेष या घृणा नहीं लाये। न ही उन पर किसी प्रकार का प्रहार या आक्रोश-रोष किया।

यह है दुःख को सुखमय बनाने की कला, विपत्ति को सम्पत्ति में परिणत करने की पद्धति, जो सम्यग्दृष्टि होने पर ही आती है। सम्यक्दृष्टि अमंगलमयी सृष्टि को भी मंगलमयी बना लेता है।

मिथ्यादृष्टि और सम्यग्दृष्टि के भावों में अन्तर

एक मिथ्यादृष्टि व्यक्ति परिवार में रहता है। परिवार पर जरा-सा दुःख आ पड़ने पर वह घबरा जाएगा, कभी भगवान् को कोसेगा, कभी किसी निमित्त को भला-बुरा कहेगा। वह दुःख की भट्टी में जलता-कुढ़ता रहेगा। हाय-हाय करता हुआ दुःख का वेदन करेगा और प्रतिक्षण आर्त्तध्यानवश

अनन्त-अनन्त अशुभकर्मों को बाँधता रहेगा। क्योंकि उसकी दृष्टि में समत्व नहीं आया। उसी के पड़ोस में एक सम्यक्दृष्टि व्यक्ति रहता है। वह दुःख आ पड़ने पर निमित्त को या भगवान् को नहीं कोसता, उसकी दृष्टि में समत्व है, इसलिए वह दुःख को अपना पूर्वकृत कर्मफल मानकर समभाव से सहेगा। फलतः वह प्रतिक्षण अशुभ कर्मों को क्षय करता रहेगा। दुःख के समय भी उसके चेहरे पर प्रसन्नता और शान्ति की झलक होगी। यह है दृष्टि के अनुरूप सृष्टि का चमत्कार!

यों दृष्टि नहीं बदलती

कई लोग ऐसा सोचते हैं कि अमुक महापुरुष के सान्निध्य में रहने पर या अमुक आचार्य से देव-गुरु-धर्म से सम्बन्धित सम्यक्त्व का पाठ सुन लेने अथवा यों कहें कि अमुक धर्मगुरु से सम्यक्त्व का लेबल लगवा लेने पर मनुष्य की दृष्टि बदल जाती है, वह सम्यक्दृष्टि बन जाता है; परन्तु यह बात एकांगी है। तथ्य यह है कि जब तक साधक की अन्तरात्मा नहीं जगती, जब तक सचाई खोजने, वस्तुस्वरूप को समझने की तीव्र उत्कंठा या रुचि व्यक्ति के मन में नहीं पैदा होती, तब तक विश्व का कोई भी महापुरुष या धर्मगुरु उसकी दृष्टि को असम्यक् से सम्यक् नहीं बना सकता। गोशालक महावीर के साथ छह वर्षों तक रहा, वह भगवान् महावीर को अपना गुरु मानता था, भगवान के साथ-साथ छाया की तरह विचरण करता रहा, परन्तु उसकी अन्तरात्मा में सत्य जानने की उत्कण्ठा नहीं जगी, वह दीर्घकाल तक अपनी दृष्टि नहीं बदल सका। बल्कि जब वैश्यायन बालतपस्वी ने बार-बार कटु शब्द कहने पर गोशालक पर क्रुद्ध होकर तेजोलेश्या छोड़ी, तब भगवान् महावीर ने अनुकम्पा करके उसकी रक्षा के लिए शीतलेश्या का प्रयोग किया। शीतलेश्या ही अन्त में विजयी हुई। गोशालक शीतलेश्या की शक्ति की उत्कृष्टता जान-देख चुका था, फिर भी उसके मन में भगवान् से तेजोलेश्या प्रयोग सीखने का ही विचार क्यों आया? तेजोलेश्या से प्रखरतर शीतलेश्या का प्रयोग सीखने का विचार क्यों नहीं जागा? इसका कारण था, गोशालक की दृष्टि बदली नहीं थी। उसके मन में अंहकार, बदला लेने की भावना एवं रोष-द्वेष जागा। उसकी इस मिथ्या-दृष्टि के फलस्वरूप उसके मन में तेजोलेश्या सीखकर अपना अपमान करने वाले को जलाकर भस्म करने की ही दुर्भावना बनी रही। वास्तव में यह दृष्टि न बदलने की मनःस्थिति यह वह दुःस्थिति है, जिसे कोई देव, देवाधिदेव, या धर्मगुरु नहीं बदल सकते। दृष्टि-परिवर्तन की पूर्ण प्रभुसत्ता महापुरुष, देव, या धर्मगुरु के पास नहीं है, वे तो निमित्त मात्र हैं,

अपनी आत्मा ही दृष्टि को बदलने में समर्थ है। इसी प्रकार सम्यग्दृष्टि के प्रदान का सम्बन्ध भी धर्मगुरु के साथ जोड़ना यथार्थ नहीं है, उसका सम्बन्ध तो आत्मा के साथ है। वह अगर पाप और धर्म, संसार-मार्ग और मोक्षमार्ग, जीव (आत्मा) और अजीव, बन्ध और मोक्ष, आस्रव और संवर इन तत्वों को सम्यक् प्रकार से समझ लेता है, इनके स्वरूप को भलीभांति हृदयंगम कर लेता है, हठाग्रह छोड़कर सत्य-तथ्य को जानने की तीव्र उत्सुकता है, तो समझ लीजिए उसकी दृष्टि सम्यक् हो चुकी है। वह सम्यक्त्वी है। गुरु तो उसकी भावना को जगाने में निमित्त मात्र हो सकते हैं। गुरु के दिवंगत हो जाने पर उस व्यक्ति के द्वारा प्राप्त की हुई सम्यक्दृष्टि मर नहीं जाती, वह बदलने की चीज नहीं है।

अतः दृष्टि स्वयं बदलने की चीज है, बाहर से लादने या थोपने की चीज नहीं। न ही वह पैतृक परम्परा से प्राप्त होती है। अमुक व्यक्ति के बाप-दादा सम्यक्दृष्टि थे, इस कारण उसका बेटा-पोता भी सम्यक्-दृष्टि होता है, ऐसा भी जैन दर्शन नहीं मानता।

सम्यक्दृष्टिविहीन परिणामों की सृष्टि

आज हजारों मनुष्य ऐसे मिलेंगे, जो वीतराग प्रभु की स्तुति करते हैं, उनका नाम स्मरण करते हैं, उनके नाम की माला भी फिराते हैं, पूजा-भक्ति भी करते हैं, श्रद्धा भी उनके प्रति रखते हैं, परन्तु यह सब किसलिए? इसलिए कि वे भगवान् से धन-सम्पत्ति, पुत्र, पौत्र, सुख सामग्री, या स्वार्थ-लिप्सा, सुरक्षा, शत्रु पर विजय आदि भौतिक या लौकिक प्राप्ति कर सकें। लेकिन यह दृष्टि यथार्थ नहीं है, भगवान का वास्तविक वीतरागत्वस्वरूप उन्होंने समझा ही नहीं है। यह स्वार्थदृष्टि या लोभदृष्टि जब तक विद्यमान है, तब तक उन्हें महापुरुष या धर्मगुरु की, सेवाभक्ति का वास्तविक लाभ मोक्ष के निकट जाने का, कर्मक्षय करने का लाभ नहीं मिला। यह संसाराभिमुखी दृष्टि है। आचार्य सिद्धसेन ने पार्श्वनाथ भगवान् की स्तुति करते हुए कल्याण मन्दिर स्तोत्र में कहा है—

आकर्णितोऽपि महितोऽपि निरीक्षितोऽपि!
नूनं न चेतसि मया विधृतोऽसि भक्त्या।
जातोऽस्मि तेन जनबान्धव ! दुःखपात्रं,
यस्मात् क्रियाः प्रतिफलन्ति न भावशून्याः॥

अर्थात्– हे जनबान्धव प्रभो ! मैंने आपके वचन भी सुने, आपकी पूजा-भक्ति भी की, आपकी प्रतिकृति का अवलोकन-दर्शन भी किया, किन्तु आपको वास्तविक रूप में हृदय में भक्तिपूर्वक धारण ही नहीं किया, इससे मैं जन्म, जरा, मृत्यु, आधि-व्याधि आदि दुःखों का भाजन बना, क्योंकि भावशून्य– सम्यग्दृष्टि रहित क्रियाएँ यथार्थ रूप में प्रतिफलित नहीं होतीं ।

कई लोग दृष्टिमूढ़तावश बाह्य वैभव, समवसरण में देवों द्वारा रचित सिंहासन पर बैठकर उपदेशप्रदान, देवों का आगमन, छत्र-चामरादि वैभव, दुन्दुभिनाद, देवों द्वारा पुष्पवृष्टि, अथवा उनका वज्रऋषभनाराच संहनन एवं समचतुरस्र संस्थान, तथा इन्द्रों द्वारा सेवा-भक्ति आदि को तीर्थंकर का स्वरूप मानते हैं । क्या इन्हीं बाह्य वैभवों या शरीर के रूप-रंग में ही तीर्थंकरत्व है ? किन्तु तीर्थंकरत्व है वीतरागता में, निर्मोहता में, निष्कषायता में, आत्मा की विशुद्ध स्थिति में, अनन्तज्ञान-अनन्तदर्शन, अनन्तसुख और अनन्तवीर्य की निष्पत्ति में । यह सम्यग्दृष्टि जिसे प्राप्त नहीं होती, वह तीर्थंकरों की बाह्यविभूतियों और चमत्कारों या आडम्बरों में ही उलझकर उनकी भक्ति भी दृष्टिविहित होकर करता है । परन्तु सम्यग्दृष्टिसम्पन्न व्यक्ति की दृष्टि तीर्थंकर देवों के आत्मिक गुणों की ओर जाती है, उसका लक्ष्य आत्मिक गुणों को प्राप्त करने का रहता है ।

सम्यग्दृष्टि की भ्रमरवत् गुणों पर दृष्टि

भ्रमर फूलों के बाह्य रंग रूप या आकृति को नहीं देखता, न ही वह फूलों के साथ कांटों को देखता है । वह सिर्फ फूल की सुगन्ध को देखता है । वह यह भी नहीं देखता कि फूल उद्यान में खिले हैं, या वन में या घर के एक कोने में ? मधुकर की दृष्टि केवल फूलों के मकरन्द एवं सुगन्ध पर रहती है । इसी प्रकार सम्यग्दृष्टि की दृष्टि महापुरुषों एवं धर्मगुरुओं के रूप-रंग, जाति-कौम, क्षेत्र या बाह्य वैभव, आडम्बर आदि पर नहीं रहती, उसकी दृष्टि महापुरुषों में निहित क्षमा, दया, करुणा, ज्ञान-दर्शन-चारित्र आदि आत्म-गुणों पर रहती है । ये चारित्रिक गुण भी व्यक्ति में तभी आते है, जबकि सम्यक्दृष्टि प्राप्त हो ।

श्रीकृष्ण ने सड़ी हुई कुतिया की दुर्गन्ध की ओर ध्यान न देकर उसकी स्वच्छ दंतपंक्ति की ही प्रशंसा की थी । इसीलिए भगवान् महावीर ने चाण्डाल जाति में उत्पन्न हरिकेशबलमुनि के विषय में कहा—

सक्खं खु दीसई तवोविसेसो ।
न दीसई जाइविसेस कोऽवि ॥

इसीलिए जैन-धर्म का यह उद्घोष रहा है कि मनुष्य अहिंसा, संयम, तप, त्याग, नियम आदि धर्माचरण, से पहले अपनी दृष्टि बदले, उस पर जमा हुआ मैल या कल्मष दूर कर ले। दृष्टिरूपी दर्पण स्वच्छ एवं निर्मल होगा, तो उस पर पड़ने वाला आत्मा, परमात्मा, देव, गुरु, धर्म या अन्य तत्वों का प्रतिबिम्ब भी स्पष्ट नजर आएगा। दृष्टिरूपी दर्पण मैला या धुंधला होगा तो इन सब पदार्थों का प्रतिबिम्ब भी स्पष्ट दृष्टिगोचर नहीं होगा। अतः सर्वप्रथम दृष्टि को बदलिए, आपकी सृष्टि स्वतः बदल जाएगी।

८

उत्कृष्ट आस्था के मूलमंत्र

आस्था द्वारा व्यक्तित्व का निर्माण

मानव-जीवन के दो पक्ष हैं - एक है बहिरंग शरीर और दूसरा है—अन्तरंग अन्तरात्मा। आत्मा के परिष्कार या व्यक्तित्व की श्रेष्ठता के लिए इन दोनों को श्रेष्ठ एवं समुन्नत बनाना आवश्यक है।

मनुष्य के उत्थान और पतन का मूल कारण उसकी आस्था होती है। आस्था के अनुरूप ही उसके व्यक्तित्व का निर्माण होता है। व्यक्ति का मूल शासनसूत्र आस्थाओं के हाथ में रहता है। ये ही उसके जीवन की दिशाधारा निर्धारित करती हैं।

मस्तिष्क और शरीर की क्रियाएं तो स्थूल हैं। मनुष्य क्रिया तक ही सीमित नहीं रहता। अधिकांश लोग यह जानते हैं कि इच्छाओं से विचारणाएँ और विचारणाओं से क्रियाएँ होती हैं। किन्तु इच्छाएँ भी मौलिक नहीं, वे चेतना के उस गहरे परत में से उदित होती हैं, जिन्हें आस्थाएँ कहा जाता है। आस्थाएं जहाँ जड़ जमा कर रहती हैं, उसे आस्तिकजन अन्तरात्मा कहते हैं। यहीं से शरीर और मन को प्रभावित करने वाले प्रवाहों को उभरने और कार्य करने की प्रेरणा मिलती है। जिस चिन्तन के द्वारा प्रेरणा मिलती है, उसकी परत इन सबसे गहरी है। इसी परत को आस्था-केन्द्र कहते हैं। जिस प्रकार कुंए में भरा हुआ पानी उसके तल में जल फेंकने वाले स्रोतों से आता है, उसी प्रकार व्यक्तित्व का मूलस्रोत मनुष्य की अन्तरात्मा के गहन अन्तराल में आस्था बनकर रहता है। प्रिय और अप्रिय

के, उचित और अनुचित के, आदतों और स्वभावों के तथा पक्ष और सिद्धान्त से सम्बन्धित अनेकानेक मान्यताएं इसी अन्तरात्मा के केन्द्र में अड्डा जमाए बैठी रहती हैं। व्यक्तित्व का सारा ढांचा यहीं निर्मित होता है। मनुष्य के गुण, कर्म और स्वभाव अपने आप बनते या बिगड़ते नहीं है। आस्थाएं ही मनुष्य के गुण, कर्म और स्वभाव को बनाती या बिगाड़ती हैं। आस्थाएँ ही इन सब की प्रेरक हैं। शरीर तो जड़ है, उसकी या उससे सम्बन्धित इन्द्रियों या अंगोपांगों की न तो अपनी कोई इच्छा होती है और न ही स्वयं की गति। मन-मस्तिष्क में सोचने, समझने, जानने और ग्रहण करने की क्षमता तो है, लेकिन दिशा-निर्धारण करना उनकी सामर्थ्य से बाहर है। शरीर की क्रियापद्धति और मस्तिष्क की विचारणा को न तो दोष दिया जा सकता है और न ही श्रेय। ये दोनों तो स्वामिभक्त सेवक की तरह प्रत्येक आत्मा की भलीभाँति ड्यूटी अदा करते रहते हैं। इन में अन्तरात्मा की अवज्ञा करने की कोई शक्ति नहीं। सारा सूत्र-संचालन तो अन्तरात्मा के गहन अन्तराल में बैठी हुई आस्थाओं द्वारा होता है। आस्थाओं के पट्रोल से जीवनरूपी मोटर गाड़ी के दोनों पहिये—चिन्तन और कर्त्तव्य सरपट दौड़ते हैं। विचारणाओं और कृतियों के लिए उत्तर-दायी एवं अन्तिम निर्णायिका आस्था ही होती है। व्यक्ति जो कुछ सोचता या करता है, रुचि रखता है या इच्छा करता है; वह सब कुछ अन्तरात्मा में स्थित हाईकमान—आस्था के दिशा-निर्देशन या नीति-निर्धारण से होता है। निष्कर्ष यह है कि मानव के व्यक्तित्व या जीवनसत्ता पर आधिपत्य इसी आस्थारूपी शासनाध्यक्ष का रहता है। व्यक्तित्व की गरिमा आंकने की कसौटी उसकी आस्थाएँ ही होती हैं?

उत्कृष्ट आस्था का वास्तविक स्वरूप

जैनदर्शन में आस्था को बहुत बड़ा महत्व दिया गया है। वहाँ सम्यक्-दर्शन के पाँच लक्षणों में अन्तिम लक्षण आस्था या आस्तिक्य है। किसी मनुष्य में सम्यग्दर्शन है या नहीं इसकी पहचान शम, संवेग, निर्वेद, अनु-कम्पा और आस्था (आस्तिक्य) इन पाँच लक्षणों से होती है। उनमें आस्था सम्यग्दर्शन को पहिचान का अनिवार्य अंग है। सम्यग्दर्शन की नींव मजबूत बनाने हेतु उत्कृष्ट आस्था का होना जरूरी है, तभी व्यक्ति में श्रुतधर्म क्रियान्वित हो सकता है। किन्तु यदि आस्था का अर्थ जिनोक्त तत्त्वों के प्रति या देव-गुरु-धर्म के प्रति श्रद्धा रखना; इतना ही किया जाए तो सम्यग्दर्शन और आस्था (आस्तिक्य) में कोई अन्तर नहीं रह जाता तथा इनके प्रति कोरी श्रद्धा आगे चलकर गड़बड़ा सकती है। श्रद्धामात्र से सम्यग्दर्शन परि-

पुष्ट, सुदृढ़ और परियक्व नहीं हो सकता। इसलिए आस्तिक्य या उत्कृष्ट आस्था का अर्थ व्याकरणशास्त्र के अनुसार है—आस्तिकता का भाव या क्रिया। आस्तिक का स्पष्टार्थ किया गया है—आत्मा-परमात्मा, पुनर्जन्म, स्वर्ग-नरकादि परलोक, पुण्य-पाप कर्म, तथा बन्ध-मोक्ष आदि विषयों का अस्तित्व तथा इसके वस्तुत्व (वास्तविक स्वरूप एवं मूल्य निर्णय) को जो जानता-मानता है वह आस्तिक है। आस्तिकता (आस्था) आस्तिक के भाव-विचार या कार्य का नाम है।

आस्थाओं के दो वर्ग : निकृष्ट और उत्कृष्ट

अन्तरात्मा में स्थित आस्थाओं के दो वर्ग दृष्टिगोचर होते हैं। इनमें से एक निकृष्ट है, दूसरा उत्कृष्ट है। उत्कृष्ट आस्थाएँ नैतिकता, धार्मिकता एवं आध्यात्मिकता से ओतप्रोत रहती हैं, जबकि निकृष्ट आस्थाएँ पाशविक आसुरी या तामसिक होती हैं। ये अनैतिकता, अमानुषिकता, स्वार्थान्धता, पशु प्रवृत्ति, पैशाचिकता, हिंसा, झूठ-फरेब, बेईमानी, पापाचार आदि से ओतप्रोत रहती हैं। छल, अहंकार, शोषण, उत्पीड़न, अपहरण, ईर्ष्या, द्वेष, जैसे भयंकर दुर्गुणों की असुरता निकृष्ट आस्थावान् के स्वभाव का अंग बन जाती है। उसके मस्तिष्क तथा तन-मन का रुझान भी उसी दिशा में गतिशील रहता है। लोभ, मोह, तृष्णा, वासना और अहंता की पूर्ति के लिए उसमें सतत लिप्सा उठती रहती है। जिसके प्रति राग होता है, उसके प्रति अतिपक्षपात करने तथा जिसके प्रति द्वेष होता है, उसे समूल नाश करने जैसी विनाशलीला रचने की ही वह उधेड़ बुन करता रहता है। उसमें न्याय, औचित्य एवं विवेक की छाया भी दिखाई नही पड़ती। ऐसे लोगों को दुर्जन, दैत्य या नरपिशाच कहा जाता है। इसके विपरीत उत्कृष्ट आस्थावान व्यक्ति आदर्शवादी, सत्श्रद्धाशील, पवित्र, उदार, तपत्यागनिष्ठ, सज्जन या सन्त होता है, उसमें न्याय-नीतिपरायणता, परमार्थवृत्ति एवं पर-दुःख-भंजनता कूट-कूट कर भरी होती है। सरलता, सत्यता, निर्भयता, समता, कष्टसहिष्णुता, क्षमा, दया आदि सद्गुणों का निवास तो होता ही है। उनका तन-मन-मस्तिष्क और अंगोपांग उसी दिशा में गति-प्रगति करते हैं।

अन्तरात्मा में निहित अच्छी-बुरी आस्थाएँ ही मनुष्य को ऊपर उठने या नीचे गिरने की प्रेरणा देती है। उसी की प्रतिक्रिया व्यक्तित्व को समुन्नत या पतित बना देती है। इसी आस्था स्रोत से उत्पन्न आन्तरिक उत्थान—पतन के आधार पर मनुष्य का स्वर्गीय, नारकीय या मोक्षमार्गीय दृष्टिकोण

बनता है। जैन-पारिभाषिक शब्दों में कहें तो शुभ, अशुभ या शुद्ध परिणति का निर्माण होता है।

अनास्था के अनिष्ट परिणाम

उत्कृष्ट आदर्शों के प्रति अगर आस्थाएँ डगमगाने लगें तो प्रत्येक व्यक्ति स्वार्थ-परायण होने की दिशा में अधिकाधिक तेजी के साथ बढ़ता जाएगा। फलतः पारस्परिक स्नेह, सद्भाव, सहयोग और उदारता की उन सभी सत्प्रवृत्तियों का अन्त हो जाएगा, जिनमें मनुष्य को कुछ त्याग करना एवं कष्ट सहना पड़ता है।

आस्थाएँ बहुत ही मुश्किल से बनती और जमती हैं। उन्हें उखाड़ देना आसान है, परन्तु दुबारा लगाना-जमाना बहुत ही कठिन है, बल्कि कभी-कभी असम्भव हो जाता है। विश्वासी को अविश्वासी बनाने के पश्चात् उसे पुनः उसी स्थान पर ले आना प्रायः कठिन है। वृक्ष को छायादार होने में लम्बी साधना करनी पड़ती है किन्तु यदि उसे उखाड़ना हो तो कुछ घन्टे की काट-छाँट ही पर्याप्त है। आस्था का कल्याणकारी वृक्ष बोने, उगाने और पल्लवित करने में हजारों वर्ष लगते हैं, लेकिन अनास्था का प्रतिपादन करके उसे उखाड़ देना बहुत कठिन नहीं है।

मस्तिष्क बिना पेंदे का लोटा है। उसे तर्क युक्ति के सहारे जिधर घुमाया जाय, घूम जाता है। वह प्रायः रुचि और आदत के पीछे चलता है। जो बात प्रसंद हो उसके पक्ष में बहुत कुछ कहा जाता है, दलील दी जाती है, प्रमाण और उदाहरणों द्वारा यथार्थ सिद्ध किया जाता है। देव, गुरु, धर्म, अध्यात्म आदि के विरुद्ध अनास्था उत्पन्न की जा सकती है। तीव्र मस्तिष्क के लिए यह बांये हाथ का खेल है। पर देखना यह है कि क्या इस प्रकार की अनास्था उत्पन्न करने से व्यक्ति, परिवार, समाज और राष्ट्र को कुछ लाभ भी है या हानि ही है ?

इस पर दीर्घदृष्टि से चिन्तन करने पर स्पष्ट होता जाएगा कि अनास्था बढ़ाने से लाभ के बदले हानि ही अधिक है। जैसे-जैसे अनास्था व्यापक और प्रबल होती जाएगी वैसे-वैसे समाज में उच्छृंखल आचरण अपराध वृत्ति, स्थार्थपरायणता संकीर्णवृत्ति आदि बढ़ती जाएगी।

आज अनास्था का जितना विस्तार हो रहा है, उसी अनुपात में आदर्शवादिता का सारा ढांचा लड़खड़ाने लगा है। आस्था की जड़ें केवल पूजा-पाठ तक ही सीमित नहीं, उसकी जड़ें सर्वभूतात्मवाद तक फैली हुई

हैं। उसके शाखा, पत्र सदाचार, कर्तव्य-धर्म का पालन, पापभीरुता, कर्म-बन्ध से मुक्ति आदि हैं। जड़ के उखाड़ने से सभी उखड़ जाएँगे। मनुष्य आस्थाहीन होकर स्वार्थ प्रधान बन जाता है, दूसरों की सुख-सुविधा, न्याय नीति-कर्तव्य एवं परमार्थ की बात नहीं सोचता। अतः अनास्था मनुष्य को प्रेत-पिशाच के समान क्रूर बना दे, इसमें कोई सन्देह नहीं।

आस्थाएँ विकृत होने पर

आस्थाएँ जब विकृत हो जाती हैं, तो मनुष्य न तो आत्मा-परमात्मा को मानता है, न ही धर्म, नीति, अध्यात्म, कर्त्तव्य, आदर्श एवं धर्मगुरु की परवाह करता है। उसकी गतिविधियाँ अवांछनीय होती चली जाती हैं। उसे न तो समाज का, न ही दुर्गति या दण्ड का भय रहता है। उसमें उच्छृंखलता, स्वच्छन्दता, स्वेच्छाचारिता एवं उद्दण्डता प्रविष्ट हो जाती हैं। इस प्रकार की विकृत आस्थाएँ एक प्रकार से अनास्था ही हैं, जो श्रेयस्करी आस्थाओं को अन्तरात्मा से दूर धकेल देती हैं। जिससे व्यक्ति असंयमी एवं उद्धत आचरण वाला बन जाता है। उद्धत आचरण एवं असंयम का फल ही शारीरिक एवं मानसिक रोगों के रूप में सामने आता है। ऐसे लोग ऐसी विषम परिस्थितियों से घिर जाते हैं, जिनमें वे पद-पद पर स्वयं को असफल, उपेक्षित, उद्विग्न, तिरस्कृत, दुर्भाग्यग्रस्त, खिन्न, नीरस, एवं भारभूत अनुभव करने लगते हैं। यहाँ तक कि कई लोग तो आत्महत्या तक कर बैठते हैं, जीते भी रहते हैं तो किसी तरह सांसों का बोझ वहन करते हैं। जीवन के अन्यान्य क्षेत्रों में भी विकृत आस्थाओं को ढोने वाले व्यक्तियों को सामाजिक, आर्थिक, पारिवारिक एवं आन्तरिक नाना कठिनइयाँ एवं हानियाँ उठानी पड़ती हैं।

रोगों के भी दो वर्ग हैं— शारीरिक और मानसिक। जिन्हें क्रमशः व्याधि और आधि कहते हैं। ज्वर, खाँसी, दमा, अपच, मधुमेह, रक्तचाप आदि शारीरिक रोगों में और उन्माद, सनक, मूर्खता, विस्मृति, तनाव, उलझन, पागलपन आदि की मानसिक रोगों में गणना होती है। आस्थाओं के उद्गम केन्द्र को व्यवस्थित और परिष्कृत न करने से न तो शारीरिक रोगों से छुटकारा मिल सकता है और न ही मानसिक उद्विग्नता एवं असंतुलन से। ऐसे अनास्थावान् व्यक्तियों को आन्तरिक निराशा हर घड़ी सताती रहती है। वे आन्तरिक उद्वेगों की आग में जलते रहते हैं। बाहरी ठाट बाट और मौज शौक के ऊपरी मन बहलाव से आन्तरिक समाधि प्राप्त नहीं होती। नशीली चीजें खा-पीकर वे अपने गम को गलत करते रहते

हैं। हिप्पीवाद इसी नीरस, निरर्थक और निराश, निरंकुश जीवन का ज्वलन्त उदाहरण है । अभी तो इसका प्रारम्भ है। यह अनास्था (विकृत आस्था) जितनी तीव्र होगी जिन्दगी उतनी ही अधिक निरर्थक, निरुद्देश्य एवं नीरस प्रतीत होती जाएगी। पश्चिमी देशों के डाक्टरी पत्र ब्रिटिश मेडिकल जर्नल में ऐसे अनास्थाशील व्यक्तियों में पागलपन, अर्धविक्षिप्तता, सनक एवं अनिद्रा, मानसिक तनाव आदि रोग अधिक पाये जाने का उलेख है। ऐसे लोग को भीतरी उद्वेग को दबाने हेतु शराब पीये बिना चैन नहीं पड़ता। यह है आस्था-विकार का कच्चा चिट्ठा।

अच्छा-बुरा व्यक्तित्व आस्था क्षेत्र की निकृष्टता और उत्कृष्टता पर निर्भर

मनुष्य जीवन उसकी आस्थाओं से प्रेरित होकर बढ़ता है। यदि आस्थाएँ निकृष्ट हुईं तो व्यक्ति अधोगामी प्रवृत्तियों में जकड़ा रहेगा। स्पष्ट है कि आस्थाओं के अनुरूप ही जीवन क्रम निश्चित होता है। मनुष्य भला-बुरा जो कुछ भी करता है, उसकी मूल प्रेरणा उसे अपनी आस्थाओं से मिलती है। उदाहरण के तौर पर, यदि आस्था कामुकता को सरस और सुखप्रद स्वीकार कर चुकती है तो मन और बुद्धि उसी दिशा में अवसरों का अन्वेषण करने लगेंगे, मस्तिष्क में उसकी प्राप्ति के लिए उधेड़-बुन चलती रहेगी। पैर भी उधर ही गति करने लगेंगे जिधर उसकी प्राप्ति की आशा और सम्भावना प्रतीत होगी। आँखें और अन्य इन्द्रियों या शरीर के अवयव उसी दिशा में दौड़ लगायेंगे। अर्थात् समग्र शरीर तंत्र और अन्तःकरण का संस्थान अपनी क्षमता को उसी प्रयोजन में लगाने लगेगा। इसके विपरीत यदि आस्था क्षेत्र (अन्तरात्मा) में कामुकता को अहितकर एवं दुःख-दायक होना मान्य कर लिया होगा और उस पर अरुचि एवं घृणा की मनः स्थिति बन गई होगी तो समग्र शरीर तंत्र और अन्तःकरण संस्थान का प्रवाह उसी दिशा में बहने लगेगा। बुद्धि उधर के अवसरों को तलाश नहीं करेगी। मन उधर चलेगा भी नहीं। इन्द्रियों से वैसी चेष्टाएं करने की आशंका भी नहीं रहेगी। हाथ-पैर, आँख-कान आदि उस दिशा में गति नहीं करेंगे। यही बात अन्यान्य प्रवृत्तियों के सम्बन्ध में भी है। एक वाक्य में कहें तो आस्था ही व्यक्तित्व का दूसरा नाम है। आस्थाएँ ही आदतें बन कर परिपक्व हो जाती हैं तो उन्हें ही स्वभाव कहा जाता है। व्यक्तित्व की उत्कृष्टता और निकृष्टता का स्तर आस्था की निकृष्टता और उत्कृष्टता पर निर्भर है।

महान आत्माओं का निर्माण : उत्कृष्ट आस्था से

प्रायः लोग आदर्शवादिता की डींग हाँकते हैं। परन्तु अवसर मिलते

ही ठीक उसके विपरीत आचरण करते देखे जाते हैं। यह निकृष्ट स्तरीय एवं शिथिल आस्था या अनास्था का परिणाम है। किन्तु जिनकी आस्था अन्तःक्षेत्र में दृढ़ता से जमी हुई और उच्चस्तरीय है, वे भय और प्रलोभनों के बड़े से बड़े अवसर आने पर कथमपि विचलित नहीं किये जा सके हैं। उनमें उत्कृष्ट आस्था ही थी, जिसके बल पर उन्होंने सिद्धान्तों और आदर्शों की रक्षा के लिए बड़े से बड़े कष्ट सहे और त्याग किये हैं। संसार के इतिहास में ऐसे भी व्यक्ति हुए हैं, जिन्होंने निकृष्ट आस्थाओं से प्रभावित होकर भी अपने दुष्ट मनोरथ पूर्ण किये हैं। इसके विपरीत उत्कृष्ट आस्थाओं से प्रभावित व्यक्तियों ने अपने आदर्शों और सिद्धान्तों की रक्षा के लिये सिर धड़ की बजी लगा दी है। परीक्षा की हर कसौटी पर वे खरे सोने की तरह सही उतरे हैं। आस्था क्षेत्र की निकृष्टता बनी रहने पर तथाकथित आदर्शवादी उपदेशकों या वक्ताओं ने अपने जीवन में अनैतिक एवं अमानवीय आचरण किये हैं। कथा-प्रवचनों में रुचि रखने वाले लोग प्रायः अहिंसादि सद्धर्म की चर्चा सुनते रहते हैं। वैचारिक दृष्टि से वे उन सद्विचारों से सहमत भी होते हैं। कभी-कभी तो वे उन तथ्यों का दूसरों को उपदेश भी देते हैं। इतने पर भी उनके आचरण नीति और सद्धर्म के विपरीत देखे जाते है। धर्मचर्चा और सद्धर्माचरण की इस विसंगति का कारण यही प्रतीत होता है कि सद्धर्म के प्रति उनकी सुदृढ़ आस्था का निर्माण अन्तःकरण की गहराई तक नहीं पहुँच सका है। कई लोगों की अपने धर्म-सम्प्रदाय के प्रति गहरी आस्था होती है, उन्हें युक्तियों और तर्कों द्वारा उनके धर्म में प्रचलित गलत मान्यताओं के विरुद्ध कितना ही समझाया जाय, निरुत्तर हो जाने पर भी वे अपने पूर्वाग्रह को छोड़ने के लिए तैयार नहीं होते। तर्क, तथ्य, प्रमाण एवं उदाहरण द्वारा स्वल्प समय के लिए उन्हें प्रभावित एवं सहमत किया जा सकता है, परन्तु उनका हृदय परिवर्तन तभी हो पाता है, जबकि सद्धर्म के प्रति उनकी अन्तरात्मा में स्थित आस्था गहरी और उत्कृष्ट हो। अपरिपक्व आस्था के लोगों के मन-मस्तिष्क की उपरी सतह तक वे आदर्शवादी तथ्य तैरते भी रहते हैं, परन्तु जिनकी उत्कृष्ट आस्थाएं परिपक्व होती हैं, वे अनपढ़ अनगढ़ होने पर भी आदर्श के लिए सर्वस्व न्योछावर करने को तैयार रहते हैं। भगवान् महावीर, तथागत बुद्ध, ध्रुव, प्रह्लाद, हरिश्चन्द्र, स्कन्धक, मैतार्यमुनि, दधीचि, ईसा-मसीह, सुकरात, महात्मा गाँधी, आदि महान् आत्माओं का निर्माण आस्थाओं की उत्कृष्टता के आधार हुआ है। उनकी शिक्षा, सम्पन्नता एवं परिस्थिति चाहे पर्याप्त अनुकूल न रही हो, फिर भी उत्कृष्ट आस्था की

आन्तरिक गरिमा के कारण वे जनमानस पर असाधारण छाप छोड़ गये हैं। भले ही उनके पास स्वल्प साधन रहे हों, उनके गुणानुवाद लोग प्रभातियों की तरह गाते हैं। उनके जीवन संस्मरण और संक्षिप्त वचनों को जनता उत्साहपूर्वक सुनती, पढ़ती या कहती है। उत्कृष्ट आस्था के कारण उनका व्यक्तित्व इतना महान् होता है कि कुबेर का वैभव और इन्द्र का ऐश्वर्य उन पर न्यौछावर किया जा सकता है। निष्कर्ष यह है कि मानव-जीवन का परम श्रेयस्कर और शान्तिदायक उत्कर्ष चिन्तन के निखार और गतिविधियों के सुधार के साथ आस्थाओं के परिष्कार पर निर्भर है। अन्तःशक्ति का स्रोत एवं अद्भुत उपलब्धियों का आधार उत्कृष्ट आस्था है। इसी से जीवन का अभिनव निर्माण और व्यक्तित्व का कायाकल्प हो सकता है।

उत्कृष्ट आस्था के दो पक्ष : सिद्धान्त और अभ्यास

अध्यात्म के मौलिक सिद्धान्त पर दृष्टिपात करें तो उत्कृष्ट आस्था व्यक्ति के व्यक्तित्व में से अनगढ़ तत्वों को बाहर निकाल कर उसके स्थान में उस प्रकाश को प्रतिष्ठापित करती है, जिसके आलोक में जीवन को सच्चे माने में विकसित और परिष्कृत किया जा सकता है। इसी से मान्यता और क्रिया क्षेत्र में क्रान्तिकारी परिवर्तन प्रस्तुत किया जा सकता है।

उत्कृष्ट आस्था का निर्माण होता तो अन्तरात्मा में ही है, किन्तु इसका प्रशिक्षण, थ्योरी (सिद्धान्त) और प्रेक्टिस (अभ्यास) दोनों माध्यमों से होता है। थ्योरी एक प्रकार से उत्कृष्ट आस्था का सद् ज्ञान है, जो जीवन को उच्चस्तरीय लक्ष्य की ओर बढ़ने के लिए प्रेरणा देती है। इसे ही आत्मज्ञान, ब्रह्मज्ञान, तत्त्वज्ञान या सम्यग्ज्ञान के नामों से जाना-माना जाता है। ब्रह्मविद्या का तत्व ज्ञान उत्कृष्ट आस्था की थ्योरी में निहित है। प्रेक्टिस से तात्पर्य है—उत्कृष्ट आस्था को गतिशीलता या क्रियाशीलता प्रदान करना, जिससे सूर्य के उजाले की तरह पता लग सके कि दोष विवर्जित, पवित्र, तप-त्यागमय जीवन यापन की रीति नीति क्या होती चाहिए? अथवा मुक्ति के पथ पर अग्रसर होने के लिए किस क्रम से गतिविधि निर्धारित की जानी चाहिए? उत्कृष्ट आस्था के दो पक्ष हैं—एक है चिन्तन-पक्ष और दूसरा है—कर्तृत्व-पक्ष। चिन्तन-पक्ष के प्रयोजन की पूर्ति के लिए आगम, शास्त्र, दर्शनशास्त्र, धर्मशास्त्र या आध्यात्मिक ग्रन्थ हैं।

स्वाध्याय, पाठ, सत्संग, चिन्तन, मनन, प्रवचन-भाषण आदि आस्था के चिन्तन पक्ष को स्पष्ट, सुलझा हुआ, उपादेय एवं प्रबल करने के लिए हैं। कर्तृत्व पक्ष की पूर्ति के लिए अभ्यास, त्याग, तप, वैराग्य, अहिंसादि धर्म का आचरण, क्षमा आदि गुणों का जीवन में अवतरण बताए गए हैं। अध्यात्म विज्ञान के क्रियापरक पक्ष के दो चरण हैं—एक है—आत्मनिर्माण और दूसरा है—लोक-कल्याण। इन दोनों के लिए जो प्रयत्न करने पड़ते हैं, उनसे संकीर्ण स्वार्थपरता, अहंकारिता, विलासिता और अनुदारता जैसी पाशविक दुष्प्रवृत्तियों को चोट पहुँचती है, स्वार्थ साधनों में कमी आती है। परमार्थ प्रयोजनों की साधना करते हुए कई कठिनाइयों का सामना करना पड़ता है, परीषहों और उपसर्गों को समभावपूर्वक सहना पड़ता है। अध्यात्मयोगी इन्हीं प्रयत्नों में तल्लीन रहते हैं। वे अपने संग्रहीत कुसंस्कारों को, खराब आदतों एवं दुर्वृत्तियों को उच्चस्तरीय आस्थाओं में परिणत करने के लिए भावनात्मक एवं क्रियात्मक दोनों प्रकार के पुरुषार्थ करते रहते हैं। निकृष्टता जितने अंशों में उत्कृष्टता में परिणत हो जाती है, समझा जाना चाहिए उतने ही अंशों में आत्मा शुद्ध, परिष्कृत एवं पवित्र हुई है, उतने ही अंशों में आत्मा को परमात्मत्व की प्राप्ति चुकी है।

उत्कृष्ट आस्थाओं की उपलब्धियाँ

उत्कृष्ट आस्थाओं का मूल्य इतना अधिक है उसके समक्ष जम्बूद्वीप के असंख्य द्वीपों और समुद्रों की सम्पदा भी तुच्छ जान पड़ती है। यह अन्तरात्मा के स्तर को समुन्नत बनाने के उपरान्त व्यक्तित्व को प्रखर बनाकर आत्मशक्ति और लोकनिर्माण को उच्चस्तरीय लाभ प्राप्त कराता है। चतुर और समर्थ कहलाने वाले तार्किक या दिग्गज विद्वान् जहाँ उत्कृष्ट आस्था-सम्पदा के लिए तरसते रहते हैं, वहाँ आत्मसंयमी, सर्वभूतात्मभूत, तपत्याग के धनी सरलात्मा सज्जन उत्कृष्ट आस्था-सम्पदा को अनायास ही प्राप्त कर लेता है। अन्तरात्मा में उत्कृष्ट आस्थाओं की स्थापना कर लेना मोक्ष के द्वार खोलना है। प्राचीन पारिभाषिक शब्दों में जिन्हें आत्म-साक्षात्कार, बन्धन-मुक्ति की कुँजी की उपलब्धि, सिद्धि के शिखर की दिशा में प्रयाण कहते हैं, वे सब उत्कृष्ट आस्थाओं के परिणाम हैं। न्यायनिष्ठा के प्रति अडिग रहने तथा सत्य एवं सिद्धान्त के आग्रह में चट्टान की तरह अडोल रहने की शक्ति उत्कृष्ट आस्था से ही प्राप्त होती है। नैतिक साहस एवं प्रण के प्रति पूर्ण वफादार रहने की हिम्मत भी इसी से प्राप्त होती है।

निष्कर्ष यह है कि उत्कृष्ट आस्थाओं से प्राप्त होने वाली उपलब्धियाँ

और परमात्मशक्ति की कृपा भी असाधारण होती हैं। हजारों लाखों देवी-देव, इन्द्र-नरेन्द्र आदि भी करबद्ध होकर उसकी सेवा में तत्पर रहते हैं। दशवैकालिक सूत्र में इसी तथ्य का संकेत है—

[1]'देवावि तं नमंसंति, जस्स धम्मे सया मणो'

'जिसका मन (अन्तःकरण) सदैव धर्म में लीन रहता है उसे देवता (तथा चक्रवर्ती, सुरासुरेन्द्र एव नरेन्द्र आदि) भी नमस्कार करते हैं।'

सामान्य नरपशुओं या बुद्धिजीवियों की तुलना में उत्कृष्ट आस्थावान् की गरिमा-महिमा हजारों लाखों गुनी बढ़ जाती है।

उत्कृष्ट आस्थाएँ दृढ़ होने पर

जिसकी अन्तरात्मा में उत्कृष्ट आस्थाएँ जड़ जमा लेती हैं, उसके हर श्वास में परमात्मतत्व झांकता हुआ देखा जा सकता है। शुद्ध आत्मा का साक्षात्कार होते रहने से उसकी महान् आत्मा सन्मार्ग पर चलने से प्रसन्नता एवं सन्तुष्टि तथा कुमार्ग पर चलने से खिन्नता और उद्विग्नता का अनुभव करती है। उसके जीवन में अनायास ही समता, सर्वभूतात्म-भूतदृष्टि, क्षमा, मृदुता, सरलता, सिद्धान्तनिष्ठा, निर्भयता आदि उच्च-स्तरीय तत्वों की अभिवृद्धि हो जाती है। संकीर्ण एवं निजी स्वार्थपरता, क्षुद्र आकांक्षाओं, एषणाओं, स्पृहा, आदि पर झंकुश लग जाता है। सार्व-जनिक हित और कल्याण के लिए वह अपना सर्वस्व त्यागने के लिए तत्पर रहता है। देशभक्ति, संघभक्ति, साधर्मिवत्सलता, देव-गुरु-धर्म भक्ति, समाज-हितैषिता, आध्यात्मिकता आदि उत्कृष्ट आस्था के ही अंग हैं।

सामाजिक सुव्यवस्था, संघभक्ति, आदि के लिए अर्थ आदि साधनों की उतनी आवश्यकता नहीं रहती जितनी कि उत्कृष्ट एवं सुदृढ़ आस्थाओं की। जिसमें बौद्धिकता अधिक और आध्यात्मिकता स्वल्प होती है। रटीरटाई बातें या सिद्धान्तों की चर्चा ही जिसके दिमाग में भरी रहती है, जीवन में पूर्वसंचित कुसंस्कार या स्वार्थपरता के कीटाणु भरे रहते हैं, उसमें सुदृढ़ उत्कृष्ट आस्था नहीं होती, फलतः वह निम्नवृत्ति-प्रवृत्तियों के प्रवाह में बह जाता है। उसके जीवन में मानवीय आदर्श और सार्वजनिक हित बद्धमूल नहीं हो पाते। प्रगतिशील जीवन का सर्वोत्कृष्ट आधार उत्कृष्ट आस्था है।

---

१ दशवैकालिक सूत्र अ.१, गा १

एक विचारक ने कहा है—उत्कृष्ट आस्था का दूसरा नाम ही परमात्मा है। परमात्मा को मानने का फलितार्थ है—आदर्शों के प्रति अविचल आस्था बनाए रखना। जिसने आदर्शों के प्रति अपनी आस्था खो दी, उसके दृष्टिकोण में निकृष्टता और व्यवहार में दुर्व्यवहार की मात्रा बढ़ती चली जाती है। नाव में जैसे पानी भरने से वह भारी होते-होते डूबने लगती है, वैसे ही उत्कृष्ट आस्थाविहीन मानव अपनी आन्तरिक गरिमा खोता चला जाता है, तब उसके पास आत्मवंचना ही बची रहती है, जो वाणी में तो उक्त सिद्धान्तों और आदर्शों की डींग हांकता है, मस्तिक में भी देव, गुरु, धर्म और शास्त्र के विचारों को जमा कर लेता है, किन्तु व्यवहार और आचरण में उत्कृष्ट आस्था के दर्शन नहीं होते। ऐसी निकृष्टता आगे चलकर मनुष्य को सम्मान, विश्वास और मैत्री से वंचित कर देती है।

उत्कृष्ट आत्मा का फलितार्थ : संकल्प पूर्ति

जिसे अपने आप पर, परमात्मा पर और अपने साहस एवं पौरुष पर आस्था है, उसके संकल्प प्रायः पूर्ण होकर रहते हैं। अनिश्चित और शंकाशील प्रकृति के लोग देर तक किसी काम में लगे नहीं रह सकते। एक के बाद दूसरा मनोरथ बदलना और बार-बार बदलना और बार-बार उन्हें छोड़ना अनास्था का प्रतीक है। ऐसे विचलित मनुष्य किसी लम्बे मार्ग पर अधिक समय तक नहीं चल सकते। जरा-सी असफलता मिलने या सोचे हुए समय से कुछ अधिक समय लग जाने पर वे हायतोबा मचाने लगते हैं। जरा-सी असफलता उन्हें अत्यन्त कष्टप्रद एवं विक्षोभकारक लगती है। ऐसे लोगों को सदैव दुर्भाग्य का रोना रोते देखा गया है। महत्वपूर्ण सफलता उन्हें मिली है, जो उत्कृष्ट आस्था की पतवार पकड़ कर दुगुने उत्साह से जीवन नैया को अनवरत खेता रहता है। ऐसे उत्कृष्ट आस्थावान व्यक्ति धैर्य और साहस की तलवार पकड़कर जीवन-संग्राम में विजयी होते हैं। उनकी प्रखर आस्था ही उनके व्यक्तित्व को प्रखर और प्रतिभाशाली बनाती है।

उत्कृष्ट आस्था से अन्तःकरण की सुन्दरता में वृद्धि

शरीर और वस्त्र आदि की सुन्दरता पवित्रता और चरित्रशीलता की पर्याय नहीं है। अन्तःकरण की सुन्दरता की पर्याय है—जीवन की पवित्रता और चरित्रशीलता तथा सुव्यवस्था। अन्तःकरण की सुन्दरता की रक्षा और वृद्धि होती है—उत्कृष्ट आस्थाओं से। जो लोग शरीर आदि की बाह्य सुन्दरता ही देखते हैं, उनकी दृष्टि में उथलापन है, विवेक शक्ति का दौर्बल्य है। बाह्य स्थिति में, वेश-भूषा में या रहन-सहन में फेरफार से कोई

बड़ा परिवर्तन नहीं होता, थोड़े दिन हल्की-सी चर्चा या जनोत्सुकता होकर रह जाती है। परन्तु अन्तःकरण की रुचि, वृत्ति एवं प्रवृत्ति में उत्सुकता आते ही पूरे जीवन का स्वरूप असाधारण तौर पर बदलने लगता है। वाल्मीकि, अर्जुनमाली, हरिकेशबल आदि के शरीर, अंगोपांग, इन्द्रियाँ और मस्तिष्क वे ही थे, परन्तु अन्तःकरण की रुचि, वृत्ति, प्रवृत्ति में उत्कृष्ट आस्था प्रविष्ट हो गई। उनको डाकू, हत्यारे, और असंस्कारी का क्षुद्र जीवन अनुचित और साधुजीवन उचित लगने लगा। वे तप, त्याग, और संयम की त्रिवेणी में स्नान करने लगे। उत्कृष्ट आस्थावान व्यक्तियों में आत्मविश्वास की उच्च स्तरीय विभूति होती है, जिसके बल पर आदर्शों के प्रति वे अडिग रहते हैं। भय और प्रलोभन उन्हें विचलित नहीं कर सकते। ऐसी स्थिति में व्यक्तित्व के विकास में आने वाले अन्य सभी अवरोध घटते या मिटते रहते हैं। यही आन्तरिक सौन्दर्य में वृद्धि का प्रमाण है, जो उत्कृष्ट आस्थाओं से होती है। वे ही शरीर के आरोग्य, मानसिक आनन्द और आन्तरिक सन्तोष से परिपूर्ण जीवन निर्माण करने में सहायक होती हैं।

अतः उत्कृष्ट एवं अविकृत आस्था मुमुक्षु मानव की आध्यात्मिकता का मेरुदण्ड है। उसे हर मूल्य पर सुरक्षित और सुदृढ़ रखना चाहिए। उसे न तो विकृत होने देना चाहिए और न ही लुप्त।

उत्कृष्ट आस्था की जड़ें मजबूत होने पर ही मनुष्य आध्यात्मिक साधना में प्रगति कर सकता है। और अपनी आत्मा को सुखी, सन्तुष्ट एवं उल्लासमय बना सकता है।

उत्कृष्ट आस्था की दो कसौटियाँ

उत्कृष्ट आस्था की दो कसौटियाँ हैं– (१) सघन आशावादिता और संकट में भी मुस्कान भरी प्रसन्नता। इन दोनों मानसिक उपलब्धियों के कारण मानव जीवन इतना सरस और सरल रहता है कि सामान्य मनुष्यों को कष्ट देने वाले शोक-सन्ताप, उद्विग्नता, दैन्य आदि उसके पास नहीं फटकते। उत्कृष्ट आस्था के फलस्वरूप सदा अनुकूल स्थिति ही बनी रहेगी, अथवा प्रचुर सुख सामग्री उपलब्ध रहेगी, ऐसी बात नहीं है, अभाव हानि, दुष्टवियोग-अनिष्ट संयोग की परिस्थितियाँ भी आ सकती हैं; किन्तु उत्कृष्ट आस्थावान् व्यक्ति स्वयं को बदली हुई परिस्थिति के अनुरूप ढाल लेता है, वह सांसारिक लोगों की तरह सभी परिस्थितियों में अडिग रहता है, हार नहीं खाता। वह प्रतिकूल संयोग में रोता-खीजता नहीं। उत्कृष्ट

आस्था उसे उज्ज्वल भविष्य की व्यवस्था बनाये रखने का सुनिश्चित आश्वासन देती रहती है। निराशा की अन्धियारी उसे छू भी नहीं सकती।

आस्थाओं में परिवर्तन का महत्त्व

आस्थाओं का इतना अधिक प्रभाव जीवन पर रहता है कि आर्थिक नियम, राजकीय कानून, सामाजिक विधान, प्रवचन, भाषण, तर्क, या प्रशिक्षण आदि कोई भी इतना अधिक प्रभावित नहीं कर पाते। किन्तु यदि मानवीय आस्था मोड़ी जा सके तो व्यक्ति वाल्मीकि, अंगुलिमाल, दृढ़प्रहारी, रोहिणेयचोर, प्रभवदस्यु, गणिका, अजामिल, कालसौकरिक की तरह परिवर्तित होकर दुष्ट से महान् एवं सन्त बन सकता है। आस्थाकेन्द्र-अन्तरात्मा को पविवर्तित किया जा सके तो सामान्य जीवन के क्रियकलाप स्वतः ही बदल जाते हैं।

आस्थाओं के पुनर्निर्माण का अन्यतम उपाय है—तपस्या, तितिक्षा, सहिष्णुता, संयम भावना या आत्मभावना। इसमें तन-मन को अनेक प्रतिकूल परिस्थितियों से गुजरना पड़ता है। पर इससे मनुष्य का दृष्टिकोण उदार एवं विशाल बनता है। शोषण, उत्पीड़न और भ्रष्टाचार से वह स्वयं ही दूर भागता है। राम, कृष्ण, बुद्ध, महावीर, ईसामसीह आदि महापुरुषों की कार्यपद्धतियाँ भले ही भिन्न रही हों; उनका दर्शन आस्थाओं में मोड़, मान्यताओं में आदर्शवाद का समावेश, दृष्टि-परिवर्तन का ही रहा है। जनमानस को अन्तर्मुखी बनाना ही उनका उद्देश्य था।

ये और ऐसे ही कुछ और उत्कृष्ट आस्थाओं के मूल मंत्र हैं, जिन्हें जीवन में अपनाकर साधारण व्यक्ति भी महान् एवं दीर्घद्रष्टा बन सकता है।

८

यथार्थ जीवन दृष्टि का मूल्यांकन

मानव जीवन की सार्थकता : यथार्थ दृष्टिकोण अपनाने पर

विश्व के सभी प्राणियों की अपेक्षा मनुष्य को जो जीवन मिला है, वह अनुपम है। सचमुच मानव जीवन दुर्लभ और बहुमूल्य है। सारे जगत् के चर-अचर पदार्थों का ज्ञान-विज्ञान एवं उन पदार्थों के प्रति यथार्थ दृष्टि-कोण अपनाने पर ही सच्चा आनन्द, स्वानुभव का सुख एवं हर परिस्थिति में आल्हाद प्राप्त हो सकता है। आनन्द, सुख एवं आल्हाद की प्राप्ति के लिए जीवन के यथार्थ बोध अथवा जीने के यथार्थ दृष्टिकोण को अपनाना भी आवश्यक है। महापुरुषों ने मनुष्य जीवन की गरिमा और महिमा को समझकर अलभ्य उपदेश भी दिया है कि ऐसा जीवन जीने का उपक्रम करो, जो हर्षोल्लास से, शान्ति और सन्तोष से, प्रसन्नता और प्रफुल्लता से, आध्यात्मिक समृद्धि और प्रगति से भरा-पूरा हो।

जीवन का लक्ष्य क्या हो, क्या नहीं ?

डॉ. फैक्ल के अनुसार आज के अधिकांश मनुष्यों को जीवन के अर्थ का बोध नहीं है। वे यह नहीं जानते कि मैं कौन हूँ ? क्यों जी रहा हूँ ? मेरा जीना जीना भी है या नहीं ? मेरे जीवन का लक्ष्य क्या है ? सही ढंग से जीने के लिए जीवन दृष्टि क्या होनी चाहिये ? वर्तमान में अधिकांश मानव अपने जीवन को ढो रहे हैं। जीवन उनके लिए आनन्द नहीं, मजबूरी है। भोगतृप्ति, शक्ति संचय अथवा संघर्षों से मानव अपने जीवन के वास्तविक लक्ष्य से भटक रहा है। अपूर्णता से पूर्णता तक पहुँचना उसका जीवन लक्ष्य है। इसी आध्यात्मिक विकास की पूर्णता को प्राप्त करने के लिए मनुष्य

अनेक गतियों और योनियों में भटकता-भटकता इस विकासशील अवस्था तक पहुँच सका है। जहाँ से लम्बी आध्यात्मिक छलांग लगाकर वह पूर्ण विकास की मंजिल तक पहुँच सकता है।

पेट और प्रजनन तक की नाना गतिविधियों में सीमाबद्ध जीवनक्रम कितना सरस, कितना नीरस, कितना मृदु, कितना कटु, कितना सारगर्भित, और कितना निःस्सार होता है, उसे मानव पिछड़ी पूर्व योनियों में अनुभव कर चुका है। अब उसी अनुभव को मानवभव में दुहराने की आवश्यकता नहीं। न ही देव दुर्लभ मनुष्यभव प्राप्त होने के अवसर को इन्द्रियविषय-लिप्सा, तृष्णा, अहंता-ममता एवं मोह-माया की निम्नस्तरीय पूर्ति में नष्ट करने की आवश्यकता है। क्योंकि, मनुष्य-जीवन का लक्ष्य वैषयिकसुख-सम्पादन नहीं, सच्चिदानन्दत्व प्राप्त करना है। चपला की चकाचौंध की तरह इन्द्रियसुखलिप्सा, धनलोलुपता, सन्तानैषणा, लोकैषणा, प्रतिष्ठा प्राप्ति आदि क्षणिक हैं, इनकी प्राप्ति जीवन का लक्ष्य नहीं है। इन सबकी पूर्ति में सुख मानने वाला व्यक्ति इन नाशवान् पदार्थों के मोहान्धकार से आवृत होकर एक दिन मरकर उसी अन्धतमस् वाले क्षेत्रों में जाकर उत्पन्न होता है। वह अपने पीछे भी गहरा अन्धेरा छोड़कर चला जाता है।

शरीर को गलाते चलने वाली वासना और मन को जलाते रहने वाली तृष्णा की पूर्ति करना ही जीवन का लक्ष्य हो तो मानवजन्म सबसे निरर्थक है। मनुष्य का जीवन मरण, जरा-जीर्णता, रुग्णता और विपन्नता की रस्सियों से बंधा हुआ है। मनुष्य की जिन्दगी क्षणभंगुर है, नाशवान है। कब जिंदगी के नाटक का पटाक्षेप हो जाए, कुछ पता नहीं। ऐसी अनिश्चित परिस्थितियों में रहते हुए धूप-छाँह जैसी नगण्य उपलब्धियों पर इतराना और तृष्णा अहंता की तनिक-सी पूर्ति पर गर्वोन्मत्त होना बालबुद्धि का चिह्न है। तृष्णा और इच्छा की जरा-सी पूर्ति हो भी गई तो आग में घी डालने की तरह लालसा की आग पहले से भी अधिक तीव्र रूप से भभकती है। अतः सम्यग्दृष्टिसम्पन्नता की आवश्यकता है, जिससे मनुष्य अपनी लम्बी जीवनयात्रा में अपने लक्ष्य से इधर-उधर न भटके। मनुष्य जीवन ही अपनी जीवन यात्रा के लक्ष्य तक पहुँचने में अत्यधिक सहायक हो सकता है। अगर वह वासना, तृष्णा और अहंता आदि के बीहड़ों में ही भटक-अटक कर लक्ष्य तक पहुँचने में अधिक विलम्ब करता हो तो सम्यग्दृष्टिसम्पन्न मानव को चाहिए कि वहाँ से ही उसे मोड़कर लक्ष्य पथ पर तीव्र गति से दौड़ते हुए यथासमय लक्ष्य तक पहुँचे।

मनुष्य की दृष्टि जीवन यात्रा के गन्तव्य स्थल (लक्ष्य) पर रहनी चाहिए। यह भूल नहीं जाना चाहिए कि हम ऐसे लम्बे मार्ग के पथिक हैं, जिसे लगातार द्रुतगति से और सतर्कतापूर्वक चलते रहना ही उचित है। उत्कृष्ट चिन्तन, और सम्यक् दृष्टिकोण की दो टाँगों के द्वारा की गई यात्रा ही गन्तव्य स्थान तक पहुँचा सकती है। मार्ग में वस्तुओं का लोभ और व्यक्तियों का मोह मनुष्य की लक्ष्यमुखी यात्रा को ठप्प कर देते हैं। औचित्य की सीमा को लांघकर जब लोभ और मोह की प्रवृत्तियों को प्रश्रय दिया जाता है, तब वे जीवन को निन्दनीय और हानिकारक बना डालती हैं। उपलब्ध वस्तुओं के प्रति लोभ लालसा और तृष्णा का रूप ले लेता है अथवा अनुपलब्ध वस्तुओं को पाने की तथा अधिक संग्रह करने की ललक उठती है, अथवा प्राप्त वस्तुओं और व्यक्तियों के मोह में मनुष्य अन्धा हो जाता है तो समझना चाहिए, वह अपने लक्ष्य से भटककर अनीति और अधर्म की, पाप और अन्याय की राह पर चल पड़ा है।

जीवन यात्रा का लक्ष्य स्थान मनुष्य जीवन की दहलीज के साथ जुड़ा हुआ है। यदि जागरूकता बरती जा सके और दूरदर्शिता का प्रयोग हो सके तो गृहस्थजीवन में भी ऐसी सन्तुलित एवं सदुपयोगी नीति-रीति अपनाई जा सकती है, जिसमें शरीर निर्वाह, परिवार का पालन-पोषण एवं उचित आवश्यकताओं की पूर्ति करते हुए लक्ष्य की ओर बढ़ा जा सकता है। उपलब्ध वस्तुओं का श्रेष्ठतम सदुपयोग और सम्बद्ध व्यक्तियों के प्रति आदर्श कर्तव्य-पालन को ध्यान में रखा जाए तो न तो विलासी उपयोग होगा और न ही अत्यधिक धन-संग्रह होगा। इसी कारण अनीति, अन्याय और शोषण से उपार्जन की इच्छा न होगी और लक्ष्य के प्रति सदा जागृति भी रहेगी। आत्मदृष्टि से सम्पन्न, उत्साह एवं आनन्द से भरा अन्तःकरण ही उच्चस्तरीय चिन्तन एवं श्रेष्ठ कर्त्तव्य अपना सकता है। इन दो साधनों के सहारे अपूर्णता को पूर्णता में परिणत कर जीवन लक्ष्य तक पहुँचना हो सकता है।

जीवन यात्रा को सफलतापूर्वक सम्पन्न करने की दृष्टि से मनुष्य जीवन की विशिष्ट स्थिति को ध्यान में रखना होगा। और उसके सदुपयोग और यथायोग्य कर्तव्य-पालन के लिए तत्परतापूर्वक कटिबद्ध रहना होगा। इसमें प्रमाद करने से उस सौभाग्य से वंचित हो जाना पड़ेगा, जो थोड़ी-सी सतर्कता रखने से सहज ही उपलब्ध किया जा सकता है।

बुद्धिमान सुदृष्टि सम्पन्न यात्री जीवन यात्रा के रास्ते में आने वाले

मनोहर दृश्यों, मनमोहक पदार्थों या आकर्षक व्यक्तियों में मोहित नहीं होते। मोहित होने पर तो उन्हीं में रमने और उन्हीं खेल तमाशों में उलझ जाने का मन करेगा। फिर गन्तव्य स्थान तक पहुँचना कठिन हो जाएगा। वह यात्री वहीं अटक-भटक जाएगा। जीवन यात्रा के पथ में कई घनिष्ठ भी बन जाते हैं। सौजन्य की दृष्टि से तो उनके साथ सहानुभूति और सद्-भावना रखने में कोई हानि नहीं बल्कि नैतिक-धार्मिक दृष्टि से सहयोग और सद्भाव रखने वालों को अपने दल के सहयात्री के रूप में साथ लिया जा सकता है। परन्तु उन सहयात्रियों के साथ इतनी घनिष्ठ आसक्ति, ममता-मूर्च्छा न जोड़ी जाए कि उनके साथ चलने पर अपना गन्तव्य स्थल (लक्ष्य) ही याद न रहे।

जीवन यात्रा के दीर्घपथ में कहीं कटु, कहीं मधुर पदार्थ और परि-स्थितियाँ मिलती रहती हैं। उनको देखने, समझने और उनका मूल्यांकन करने की दृष्टि हो तो वह लक्ष्य से कदापि भ्रष्ट नहीं होता। सुखद स्थिति को देखकर उसी में रम जाने की और प्रिय व्यक्तियों को देखकर बिना परखे उन्हीं के हो जाने की बालबुद्धि नहीं की जानी चाहिए, अन्यथा लक्ष्य तक पहुँचना कठिन हो जाएगा। व्यामोह के जंगल में फँस जाने पर गन्तव्य स्थल की प्राप्ति भी खटाई में पड़ जाएगी।

मोह और लोभ की परिणति ऐसी लोह की बेड़ी होती है, जिससे बँधा हुआ मानव न तो मानवोचित कर्तव्यों और दायित्वों का पालन कर पाता है और न ही लक्ष्य की ओर बढ़ने में सफल हो पाता है।

मोह की अति का परिणाम तो और भी अधिक भयंकर होता है। जिन व्यक्तियों को अपनी सम्पत्ति मान लिया जाता है, उनके प्रति असंतुलित व्यवहार होने लगता है। या तो अपने स्त्री-पुत्रों को इन्द्र जैसे सुख साधनों से लाद देने की ललक रहती है; या फिर उनके अवज्ञाकारी निकलने पर उन्हें जैसे-तैसे मार डालने का क्रोध आता है। यह न बन पड़े तो फिर अपना ही सिर फोड़ने को जी करता है। दोनों ही प्रकार की मनःस्थिति अतिवादी है। इससे मोहपात्रों की दुहरी हानि होती है। उन्हें भोग-विलास की सुख-सामग्री का अमर्यादित उपभोग करने का अवसर मिलते रहने से उनकी सुकुमारता, प्रमादवृत्ति, आलस्यवृत्ति और अहंवृत्ति बढ़ती है, आदतें बिग-ड़ती हैं और जीवन संग्राम में संघर्षों और प्रतिकूलताओं से जूझकर लक्ष्य पथ पर आगे बढ़ने की प्रतिभा नष्ट होती है। यदि पहले स्वच्छन्दतापूर्वक रहने देकर खुली छूट दे दी जाती है, और फिर कठोर अनुशासन और

नियन्त्रण में रखा जाता है तो उनका व्यक्तित्व और मस्तिष्क दैन्य, दासता और हीनता की वृत्ति से बुरी तरह जकड़ और कुचल जाता है। उनमें मौलिकता, प्रतिभा और व्युत्पन्नमति का विकास नहीं हो पाता। वे फिर स्वतन्त्र चिन्तन और स्वतन्त्र पुरुषार्थ नहीं कर पाते।

मोहग्रस्त व्यक्ति अपने प्रियजनों के स्वस्थ विकास में बाधक बनता है, उनके प्रति अन्याय करता है। कुछेक व्यक्तियों के लिए सब कुछ करने और सोचने की उसकी मनःस्थिति, इस परिधि से बाहर के लोगों के लिए कर्तव्य-पालन करने में अत्यन्त बाधक बनती है। वास्तव में मोहग्रस्त व्यक्ति की दुनिया चंद व्यक्तियों तक सीमित होकर रह जाती है। उन्हीं के लिए वह इतना मरता-खपता है कि अन्य किसी के सम्बन्ध में कुछ सोच सकने या कर सकने की वृत्ति ही उसमें पैदा नहीं होती। आसक्ति के साथ जुड़ा हुआ पक्षपात एक परिवार, सम्प्रदाय या वर्ग में सिमटा हुआ रहता है। वह इतना विकट होता है कि सारे जीवन रस को निचोड़ कर वह अपने कुटुम्ब, सम्प्रदाय या वर्ग के लिए ही खपा देने के सिवाय अन्य किसी कार्य के लिए कुछ उपयोगी अनुदान देने के लिए तत्पर नहीं होता।

जैसा दृष्टिकोण, वैसा ही संसार का दर्शन

मनुष्य का जैसा दृष्टिकोण रहता है, उसी के अनुसार उसे संसार दिखाई देता है। अगर अच्छाई का दृष्टिकोण है तो वह बुरे से बुरे तत्त्वों में भी अच्छाई ढूंढ़ लेता है, किसी न किसी गुण को पकड़ लेता है। और यदि बुराई देखने—दुर्गुण ढूंढ़ने का दृष्टिकोण है तो वह अच्छी वस्तु या भले सद्गुणी व्यक्तियों में भी दुर्गुण एवं बुराई ढूंढ़ लेता है। अच्छाई उसे नजर ही नहीं आती, क्योंकि उसने प्रतिगामी दृष्टिकोण का चश्मा पहना है। जिस रंग का चश्मा चढ़ा होता है, उसे दुनिया का दृश्य उसी रंग का दिखाई देता है। एक ही वृक्ष को विभिन्न व्यक्ति विभिन्न दृष्टिकोण से देखते हैं। एक बढ़ई उसे इमारती लकड़ी के रूप में, एक पशुपालक उसके पत्ते आदि को पशु-भोजन के रूप में, साधारण व्यक्ति केवल लकड़ी के रूप में और एक दार्शनिक या आध्यात्मिक पुरुष उसके परोपकारी, कष्टसहिष्णु, प्राकृतिक सौन्दर्यवर्द्धक एवं वैराग्यप्रेरक के रूप में देखता है। पुरोगामी दृष्टिवाला संसार में अच्छाई देखकर कहता है—

मित्रस्य चक्षुषा सर्वाणि भूतानि पश्यामहे

हम सारे संसार को मित्र की दृष्टि से देखें।

उस युग में भगवान् महावीर का विरोध करने वाले अनेक लोग थे। उनके अकाट्य सिद्धान्तों का खण्डन करने वाले और उनके प्रति घोर शत्रुता रखने वाले भी कई लोग थे। किन्तु भगवान् महावीर से जब पूछा गया कि 'आपका कोई शत्रु भी है ?' तब उन्होंने कहा—

'मित्ती मे सव्व भूएसु, वेरं मज्झ न केणई।'

मेरी समस्त प्राणियों के साथ मैत्री है, किसी के साथ मेरा वैर-विरोध या शत्रुता नहीं है। फलितार्थ है—मेरा कोई शत्रु नहीं है। यद्यपि गौतम उनके आज्ञाकारी प्रिय शिष्य थे, और गौशालक उनका कट्टर विरोधी शत्रु-सा था, परन्तु भ० महावीर का दोनों पर समभाव रहा। तथ्य यह है कि अन्तर् में निहित दृष्टिकोण विचार का प्रतिबिम्ब ही बाहर झलकता है। यदि अन्तर् में शुद्ध विश्व मैत्री की, निर्मल आत्मोपम्य की अथवा निःस्वार्थ बन्धुत्व की दृष्टि या भावना है तो बाहर में किसी के प्रति द्वेष या मोह की शत्रुता, घृणा या राग की भावना नहीं रहेगी। सामान्यतया मनुष्य जिस दृष्टि से जिस वस्तु को देखता है, उसी के अनुसार उसे सोचता है, उसी के अनुकूल वातावरण उसे मिल जाता है। बुराई देखने वाला अच्छी वस्तु को भी बुरी और अच्छाई देखने वाला बुरी वस्तु में भी अच्छाई के दर्शन कर लेता है।

कर्मयोगी श्रीकृष्ण वासुदेव की सवारी नगरी में होकर जा रही थी। एक जगह एक मरी हुई कुतिया सड़ रही थी। उसके शव में से भयंकर दुर्गन्ध आ रही थी। सभी उस बदबू से दूर रहकर नाक-भौं सिकोड़ते हुए झट पट आगे बढ़ रहे थे, किन्तु तत्वज्ञ एवं सम्यग्दृष्टि श्रीकृष्ण वस्तु स्वरूप का निश्चय करके स्थूलदृष्टि वाले लोगों से कहने लगे, देखो, कुतिया के दांत कितने सुन्दर एवं चमकीले हैं। एक चाकू को हत्यारा या डाकू पराक्रम में सहयोगी शस्त्र, चाकू का शिकार उसे प्राणघातक और एक गृहस्थ सन्नारी उसे सागभाजी सुधारने का उपकरण समझती है।

दृष्टि व्यक्ति की अन्तरंग भावना का प्रतिबिम्ब

दूसरों के प्रति अच्छी या बुरी दृष्टि ही व्यक्ति की आन्तरिक भावना को प्रकट करती है। वह पूर्ण रूप से परिचय करा देती है कि कौन व्यक्ति किस तरह का है ? बाह्य जीवन या दृष्टिकोण ही आन्तरिक भावों की छाया है।

दोषग्राही छिद्रान्वेषी व्यक्ति अपनी दृष्टि में सारे संसार को अपना

विरोधी समझता है, इस कारण वह अपने मन में संक्लेश दुःख, असंतोष, मनस्ताप, आपत्ति आदि प्राप्त कर लेता है। यह अमृतमय संसार उसे नीरस एवं बीभत्स प्रतीत होता है। इसी परेशानी एवं मानसिक व्यथा में उसका जीवन नरक-तुल्य बन जाता है। गुणग्राही सम्यग्दृष्टि को वही संसार अमृतमय, मित्र, सहायक या बन्धु दिखाई देता है। कठिनाइयों को वह शिक्षक, मार्गदर्शक, साथी और सद्गुणवर्धन की कसौटी मानता है। कठिनाइयों को वह सहर्ष सहकर उनसे गुण, शिक्षण और निर्देशन प्राप्त करता है।

जो प्रतिगामी होते हैं, वे दूसरों के साथ लड़ने-भिड़ने तथा उन्हें पीड़ित करने के आदी हो जाते हैं। जब उन्हें अपने विरोधी नहीं मिल पाते या स्वयं को असमर्थ पाते हैं तो स्वयं को ही परेशान कर आत्महत्या तक कर बैठते हैं। ऐसे दोषदृष्टि वाले लोग अपना तन, मन, साधन और धन दूसरों की बुराई के लिए नष्ट कर देते हैं। वे प्रतिरोधी के प्रति नुक्ताचीनी, निन्दा एवं बदनामी का अवसर खोजते रहते हैं। साम्प्रदायिक दृष्टि वाले लोग प्रायः इसी दोषदृष्टि की बीमारी के शिकार होते हैं। वे इसी में अपने धन, समय और शक्ति का अपव्यय करते रहते हैं। अपने चारों और बुराई, निन्दा, ईर्ष्या, द्वेषभाव और विरोध का कीचड़ उछालते रहते हैं। किन्तु शुभ दृष्टिकोण वाला मनुष्य अपना तन, मन, धन, साधन, समय और सहयोग देकर अपने चारों ओर भलाई की सौरभ बिखेरते रहते हैं।

यह स्थूल संसार अपने आप में न बुरा, गन्दा और अपवित्र है और न अच्छा, रुचिर और पवित्र है। जैसे जिसकी इसे देखने की दृष्टि हो, वैसा ही यह संसार उसे प्रतीत होगा। जिस मनुष्य का देखने का तरीका बुरा और गन्दा हो, वह चारों ओर संसार और संसार के जीव-अजीवमय पदार्थों को गन्दा और बुरा देखकर बेचैन होता रहता है। परन्तु जो सम्यक्दृष्टि होगा, वह संसार का जैसा स्वरूप है, उसे उस रूप में देखकर समभाव रखेगा। उसकी दृष्टि में संसार अच्छा या बुरा कुछ नहीं है। वह न तो संसार को देखकर बेचैन होगा और न ही संसार को देखकर उसमें आसक्त या लिप्त होगा। वह तटस्थ रहेगा। ज्ञाता-द्रष्टा बनकर संसार में रहेगा।

विकृत दृष्टि वाला व्यक्ति स्वयं को हर समय दुःखी, अभागा, परेशान एवं संकटग्रस्त ही देखता है। अन्तर्वेदना सुनाते समय विश्व का सारा दुःख सन्ताप, अभाव और पीड़ा अपने ऊपर ही लदी हुई पाता है। इसके लिए वह निमित्त को कोसता है, सभी को गालियाँ देता है, सारा दोष दूसरों पर मढ़ता है।

विवेकी और अविवेकी की दृष्टि

जो विवेकवान् और विचारक होते हैं, वे प्राप्त सुविधाओं में सन्तुष्ट रहते हैं, अल्पसाधनों और अल्प आवश्यकताओं में वे सुखानुभूति करते हैं। उन्हें अभाव और असुविधा कष्ट नहीं पहुँचा सकते, क्योंकि वे अभाव और असुविधा को कष्टकारक नहीं मानते, वे मन को ही तदनुसार मोड़ दे देते हैं, ताकि अभाव और असुविधा में भी वे प्रसन्न रहें। वे दूसरों को सम्पन्न और सुविधाभोगी देख कर ईर्ष्या नहीं करते। अगर किसी सत्कार्य में कोई कठिनाई या विघ्न-बाधा है तो विवेकवान् उसे सात्विक उपायों से दूर करने प्रयत्न करता है।

इसके विपरीत जो विकृत दृष्टि वाले अविवेकी होते हैं, वे अनेक सुविधाएँ प्राप्त होने पर भी दूसरों को अपने से अधिक सुविधाओं से युक्त देख कर ईर्ष्या वश दुःखी होते हैं, वे उन अनेक सुविधाओं को भी कम मानते हैं और कुछ अभावों को ही समग्र कष्ट का कारण मानकर दुःखी होते हैं। इस असन्तोष की धारा में वे अपने समय और शक्ति का अपव्यय करके सुरदुर्लभ मानव जीवन को पशुतुल्य बना कर गँवा देते हैं। मकान में आग लगने पर अविवेकी विकृत दृष्टि सम्पन्न मानव आग बुझाने का प्रयत्न न करके अपने भाग्य को, निमित्त को कोसता है, रोता-चिल्लाता है, इस प्रकार रो-धोकर दुःख का पहाड़ सिर पर लाद लेता है, किन्तु अपने धन-जन की कुछ भी रक्षा नहीं कर पाता। जबकि विवेकी एवं दृष्टि सम्पन्न व्यक्ति आग लगने पर रोने-धोने में समय का दुर्व्यय न करके आग बुझाने के साधन जुटा कर उससे अपने धन-जन की रक्षा कर लेता है। अगर कुछ नष्ट भी हो गया है तो वह उसकी चिन्ता न करके संसार के समस्त पदार्थों की अनित्यता, नश्वरता और पर-भाव से सम्बन्धित चिन्तन करता है और नष्ट होने की चिन्ता में घुल-घुल कर आर्तध्यानवश अशुभ-कर्मबन्ध नहीं करता।

एक बेसमझ अविवेकी छात्र परीक्षा में फेल होने पर दुःखी होता है। आत्महत्या तक कर लेता है या निमित्तों को कोसता है, अपनी स्थिति और पुरुषार्थ की कमी को नहीं देखता, जबकि, विवेकी एवं समझदार छात्र फेल होने पर अपनी स्थिति और पुरुषार्थ में कमी को देखकर सन्तोष कर लेता है, और भविष्य में अध्ययन में अधिकाधिक पुरुषार्थ करता है।

यह दृष्टिकोण का ही अन्तर है कि विवेकी और समझदार व्यक्ति आर्थिक तंगी होने पर आय के अन्य सात्विक और नैतिक स्रोत ढूंढकर अपनी

आयवृद्धि कर लेता है, अथवा अपनी आवश्यकताओं तथा खर्च में कटौती करता है। इन तरीकों से भी आर्थिक पूर्ति न हो तो वह अभावग्रस्तों की की तुलना में स्वयं को सुखी मानकर सन्तोष करता है, किन्तु अविवेकी और बेसमझ अथवा विकृतदृष्टि वाले लोग अपनी तुलना साधन सम्पन्न से करके ईर्ष्या और असन्तोष की आग में जलते रहते हैं। अथवा मनःसमाधान न कर पाने के कारण वे दुःखी होते रहते हैं।

वस्तुतः मनुष्य का दृष्टिकोण ही सुख-दुःख, सन्तोष-असन्तोष, आनन्द-सन्ताप, मित्र-शत्रु आदि का कारण है।

परिष्कृत और विकृत दृष्टि का प्रतिफल

जो व्यक्ति दूसरों के अवगुण और अपने ही गुण देखता है, ईर्ष्यावश दूसरों के गुणों का अभिनन्दनसमर्थन न करके उनकी नुक्ताचीनी या बदनामी करता है। उसे सारा विश्व शत्रु दिखाई देता है और धीरे-धीरे वह भी अनेक दुर्गुणों का शिकार बन जाता है। विवेकी और दृष्टि सम्पन्न व्यक्ति दुर्गुणी या घृणित व्यक्ति या वस्तु में से भी गुणों का पौधा पल्लवित करता है और दुर्गुणों का कचरा उखाड़ फेंकता है। वह दूसरों के गुण और अपने अवगुण देखता है। इस कारण वह विश्व को अपना मित्र और सहयोगी बना लेता है। मनुष्य की आन्तरिक पवित्रता, उदात्त भावना, और गुणग्राही दृष्टि जीवन के बाह्य व्यवहार में परिलक्षित होती है। स्पष्ट है कि निकृष्ट और विकृत दृष्टि या विचारधारा कलह और कटुता के बीज बोती है, वह उस व्यक्ति को अनादर, असहयोग, अविश्वास और मुसीबत का पात्र बना देती है; जबकि गुणग्राही एवं सुलझी हुई दृष्टि से सहानुभूति, दया, कोमलता और सरलता के कारण व्यक्ति सबका आदर, विश्वास, सहयोग और सहानुभूति पाता है। उसके जीवन में आनन्दमयी रसानुभूति होने लगती है।

यथार्थ दृष्टिप्राप्त और विकृत दृष्टियुक्त मनुष्य की वृत्ति

यदि मनुष्य दृष्टि सम्पन्न हो तो जीवन में पग-पग पर उसे प्रसन्नता, सफलता, शुभाशा और तृप्ति मिल सकती है, किन्तु इसके विपरीत विकृत दृष्टि सम्पन्न मानव अपनी आन्तरिक उलझनों, महत्त्वाकांक्षाओं, प्रतिकूल परिस्थितियों और मानसिक विकृतियों के कारण इतना उद्विग्न, अशान्त और निराश हो जाता है कि एक-एक दिन गुजारना मुश्किल हो जाता है। कहना होगा कि यदि जीवन में प्रसन्नता शुभाशा, सफलता और तृप्ति के बदले उद्विग्नता, खिन्नता, निराशा, असफलता और अतृप्ति होती है तो

समझना चाहिए कि उसकी दृष्टि, भावना या विचारधारा गलत है। जिन्दगी को नीरस और निरर्थक बना देने वाली यह भयंकर भूल है। जिन्दगी को सही दृष्टि से न जीने की यह भूल है। इस भूल का शिकार मानव जीवन की गतिविधि, हानि-लाभ, विकास-अविकास का सही निर्णय नहीं कर पाता। वह यह विचार नहीं कर पाता कि कौन-से तत्त्व जीव को बन्धन में डालते हैं, कौन से तत्त्वों से बन्धन पड़ता है कौन-से तत्त्वों से उस बन्धन को रोका और तोड़ा जा सकता है। जीवन का अन्तिम लक्ष्य क्या है ? फलतः उलझन भरी पगडंडियों में भटकता हुआ दृष्टिभ्रान्त मानव दुःख को या सुखाभास को सुख समझ बैठता है, जो वस्तु बन्धन में डालने और कष्ट पहुँचाने वाली है उसी को गले से लगाता रहता है, फिर ऐसे मोहजाल में फँस जाता है जिसमें कुढ़न और जलन के अतिरिक्त और कुछ हाथ नहीं लगता। यदि इस भूल को सुधार कर मानव यथार्थ दृष्टि और भावना से सोचे तो वह हर परिस्थिति में प्रफुल्लित रह सकता है और प्रतिपल प्रतिक्षण सावधान रहकर आध्यात्मिक विकास कर सकता है। बाह्य प्रतिकूलताएँ उसके मार्ग में बहुत अधिक बाधा नहीं उत्पन्न कर सकतीं। अभाव और अवरोध यत्किंचित् झकझोरते तो हैं, पर उनमें इतनी सामर्थ्य कि वे परिष्कृत दृष्टि वाले मनुष्य के जीवन लक्ष्य की पूर्ति के मार्ग को अवरुद्ध कर सकें। परिष्कृत दृष्टि वाला मनुष्य हानि-लाभ, सुख-दुःख, लाभ-अलाभ, निन्दा-प्रशंसा आदि की इन परिस्थितियों में प्रसन्न रह सकता है और अपने लक्ष्य से विचलित हुए बिना एकनिष्ठा बनाए रख सकता है। उदाहरणार्थ परिष्कृत दृष्टि सम्पन्न मानव कदाचित् दुर्घटनाग्रस्त हो जाएगा तब भी वह अपना अहोभाग्य समझेगा कि उसकी जिन्दगी बच गई केवल थोड़ी-सी चोट आई। इसके विपरीत निराशावादी विकृत दृष्टि सम्पन्न थोड़ी सी चोट के लिए अपने भाग्य को, निमित्तों को, भगवान को कोसता रहेगा।

यह दृष्टिकोण का ही अन्तर है कि कामुकता से प्रेरित भोगी युवक एक युवती को वासनात्मक दृष्टि से देखता है, एक योगी महात्मा उसी युवती को पूर्व पुण्य के फलस्वरूप प्राप्त हुई आत्मा की सुरम्य आभा के रूप में देखता है अथवा उसे वात्सल्यपूर्ण मातृत्व सम्पन्न महिला के रूप में देखता है। अपने-अपने दृष्टिकोण के फलस्वरूप ये दोनों तदनुरूप फल प्राप्त करते हैं। एक अशुभ कर्मबन्धन करता है और दूसरा पुण्यबन्धन करता है या आत्मभावों में रमण की दृष्टि से निर्जरा (कर्म क्षय) कर लेता है।

सम्यग्दृष्टि के लिए प्रतिकूल भी अनुकूल

संसार के किसी भी भौतिक पदार्थ या व्यक्ति में सुख नहीं है या वे सुख

नहीं दे देते। वास्तविक एवं स्वाधीन आत्मिक सुख भावना में है। भावनाओं को परिष्कृत करने, ऊर्ध्वगामी एवं उदात्त बनाने से तथा विचारधारा में तात्विक एवं आदर्शवादी पुट दे देने से अध्यात्मिक विकास तो होता ही है, प्रत्येक वस्तु का यथार्थ स्वरूप दृष्टिगोचर हो जाता है। अमृत की सुदृढ़ भावना होने पर विष भी अमृत रूप में परिणत हो जाता है, इसी प्रकार प्रतिकूल परिस्थिति भी अनुकूल प्रतीत होने लगती है।

सम्यग्दृष्टि परिस्थिति का गुलाम नहीं

यह आवश्यक नहीं है कि मनुष्य ने जिस प्रकार की आशा और आकांक्षा कर रखी है, घटना क्रम उसी प्रकार से घटित होता चले। मनुष्य जो चाहे, वही होना चाहिए, इसके लिए प्रकृति के नियम बंधे हुए नहीं हैं, कर्म के कानून भी ऐसे हैं कि वे कोई छूट-छाट नहीं देते, जिस रूप में जैसे, जिस भाव से कर्म बांधे हुए हैं, उसी रूप में, वैसे ही प्रतिफल के रूप में वे मनुष्य के सामने आते हैं। परिस्थितियों में आश्चर्यजनक उतार-चढ़ाव आते हैं, घटना क्रम भी बहुत शीघ्र बदल जाता है। पहले दिन मर्यादा पुरुषोत्तम श्रीराम को अयोध्या का राज्य मिलते वाला था, किन्तु दूसरे ही दिन वनगमन की परिस्थिति आगई। किन्तु श्रीराम के मन में न तो राज्य मिलने की प्रसन्नता थी और न ही वनगमन का दुःख था। दोनों ही परिस्थितियों में वे सम थे।[1]

परिस्थिति के उतार-चढ़ाव में दृष्टिसम्पन्न व्यक्ति फूलता या घबराता नहीं, वह कटुता और मधुरता दोनों को मन की उपज मानता है, अतः दोनों प्रकार के स्वाद में मन को समझाकर सन्तुष्ट कर लेता है। उसके लिए दिन की भी उपयोगिता है, रात्रि की भी। प्रिय और अप्रिय दोनों प्रकार के संयोगों या प्रसंगों में वह स्वस्थ और संतुलित रहता है। अप्रिय प्रसंग आए ही नहीं, सदा प्रिय प्रसंग या संयोग ही सामने आएँ, ऐसा सोचना बाल बुद्धि का काम है। जो संसार का या जीवन का वास्तविक स्वरूप समझते नहीं, वे ही ऐसा एकांगी और एक पक्षीय चिन्तन करते हैं और दुःखी होते हैं।

जीवन की सफलता साधनों पर नहीं, दृष्टि पर निर्भर

मानव-जीवन का सही और पर्याप्त लाभ लेने के लिए मनुष्य को

---

१ प्रसन्नतायां न गताभिषेकस्तथा न मम्लौ वनवासदुःखतः।
मुखाम्बुज श्री रघुनन्दनस्य सदाऽस्तु मे मंजुल-मंगलप्रदा॥
—गोस्वामी तुलसीदास

अपना दृष्टिकोण व्यापक उदार एवं उत्कृष्ट रखना चाहिए। जो साधन प्राप्त हैं, उन्हीं का अधिकाधिक बुद्धिमता एवं विवेक से सदुपयोग करना चाहिए। अधिकांश मनुष्यों के पास प्रस्तुत साधन भी इतने अधिक होते हैं कि उनका सही ढंग से उपयोग किया जाय तो उज्ज्वल भविष्य की सम्भावनाएँ एक-एक करके निकट आती जाती हैं। दृष्टि की स्वच्छता, विचारों की पवित्रता और भावना की उदात्तता ये तीनों विभूतियाँ जिसके स्वभाव में सम्मिलित हैं, वे स्वल्प साधनों से भी अपने व्यक्तित्व को प्रखर और प्रतिभावान् बना सकते हैं।

प्रचुर अच्छे साधन मिलने पर हम अधिक सन्तुष्ट, प्रसन्न एवं अच्छी तरह रह सकेंगे, यह भ्रान्त विचार है। जिन्हें जीने की कला आती है, जिनकी दृष्टि जीवन और जगत् के प्रति यथार्थ है, गुणग्राही है, वे प्राप्त स्वल्प साधनों का ही श्रेष्ठतम उपयोग करने की बात सोचते हैं, और यथार्थतावादी दृष्टिकोण से सोचकर जीवन जीते हैं। वे वर्तमान परिस्थिति में जितना जो कुछ किया जाना सम्भव है, उसी में संतुष्ट रहकर करते हैं। फलतः वे क्षुब्ध, रुष्ट, खिन्न, असन्तुष्ट, उद्विग्न एवं व्यग्र दिखाई नहीं देते। सम्पन्न किन्तु फूहड़ या विकृत दृष्टि सम्पन्न व्यक्तियों की तुलना में वे कहीं अधिक समुन्नत एवं सुसंस्कृत दृष्टिगोचर होते हैं। वे सोचते हैं—जो कुछ साधन मिले हैं, उन्हें ही सौभाग्य मान कर प्रसन्नता का रसास्वादन किया जाए और जो नहीं है, किन्तु प्राप्त हो सकता है, उसके लिए उत्साहपूर्वक परिश्रम किया जाए। जो इस प्रकार सोचते हैं, वे कम या अधिक साधन प्राप्त होने पर भी समान रूप से हँसते-हँसाते हुए जीवन-यापन करते रहते हैं।

परिष्कृत दृष्टि सम्पन्न खिलाड़ी या अभिनेता की भावना लेकर चलता है

परिष्कृत दृष्टि वाले व्यक्ति जीवन को बेतुकेपन या बेढंगेपन से न जी कर सज्जनोचित शालीनता के साथ सुव्यवस्थित क्रम से जीते हैं। हर कार्य को वे पूरी दिलचस्पी और जिम्मेदारी के साथ पूरा करते हैं। इष्ट वियोग और अनिष्ट संयोग हो, अथवा अनिष्टवियोग और इष्टसंयोग हों, वे खिलाड़ी की भावना लेकर चलते हैं। खेल में हार भी होती हैं, जीत भी। सच्चा खिलाड़ी उसे महत्व नहीं देता। खेल में जीत पर न तो वे हर्षातिरेक से उन्मत्त होते हैं और न हार पर रोते-कलपते या सिर धुनते हैं। वे उसे केवल खट्टा-मीठा रसास्वादन मात्र मानते हैं। यही बात अभिनेताओं के सम्बन्ध में समझनी चाहिए। वे रंगमंच पर हर्ष-शोकप्रदायक ऐसा क्रिया-कलाप

प्रस्तुत करते हैं, मानो पूरा घटना क्रम उन्हीं के व्यक्तिगत जीवन का और वास्तविक हो। इतने पर भी अभिनय में जो हर्ष-शोक के अवसर आते हैं, उनका उनके मानस पर कोई गहरा प्रभाव नहीं पड़ता। उनसे वे अलिप्त रहते हैं। अभिनय समाप्त होते ही वे अपने सामान्य जीवन क्रम में जुट जाते हैं।

अतः जो व्यक्ति खिलाड़ी या अभिनेता की भावना से संसार में जी सकता है, उसे ही परिष्कृत दृष्टि सम्पन्न जीवन का कलाकार कहना चाहिए। वह स्वयं प्रसन्न रहता है और दूसरों को भी प्रसन्न रहने की प्रेरणा देता है। भाव-अभाव, जय-पराजय, हर्ष-शोक, हानि-लाभ उसके लिए जगत् की नाट्यशाला में रंगमंच पर आते-जाते रहने वाले उतार-चढ़ावमात्र हैं। इस प्रकार की भावना रखकर चलने से जिंदगी बहुत हलकी-फुलकी हो जाती है, और हर हाल में प्रसन्नतापूर्वक जीया जा सकता है।

उत्कृष्ट जीवन और निकृष्ट जीवन का लक्षण

जिन की दृष्टि स्पष्ट और सम्यक् नहीं है, वे लोग छोटी-सी घटना को, मामूली प्रतिकूल परिस्थिति को बहुत ही महत्त्व दे देते हैं, और जरा जरा-सी बात पर दूसरों से झगड़ा कर बैठते हैं, किसी ने जरा-सी सच्ची किन्तु चुभने वाली बात कह दी तो वे झल्ला उठते हैं, भावावेश में आकर उफन पड़ते हैं। किसी ने कड़वी बात कह दी तो उसे गांठ बाँधे रहते हैंऔर अवसर पर बदला लेने की ताक में रहते हैं। इस प्रकार वे सुरदुर्लभ मानव जीवन को सफलतापूर्वक जीने के बजाय असफल, असन्तुष्ट और पराजित बना डालते हैं।

उत्कृष्ट जीवन जीने वाले लोग छिद्रान्वेषण, निन्दा, चुगली, ईर्ष्या द्वेष और घृणा से दूर रहकर दूसरों के दुःख हटाने और वास्तविक सुख-वृद्धि में सहायक होने की बात सोचते हैं। वे तोड़फोड़, दंगा, आगजनी, डकैती, चोरी, ठगी आदि असामाजिक लोगों जैसी प्रवृत्तियों तथा द्यूतकर्म, मांसाहार, मद्यपान, व्यभिचार, शिकार आदि कुव्यसनों को तो पास ही नहीं फटकने देते। वे सतत सावधान रहते हैं कि ये दुष्कर्म जीवन में आगए तो जीवन सच्चे आनन्द से वंचित हो जाएगा।

जिंदगी की प्रसन्नता और सफलता का रहस्य यही है। इस प्रकार उत्कृष्ट जीवन जीने की दृष्टि, भावना रखी जाए और तदनुरूप चेष्टा की जाए तो जीवन स्वयमेव परम लक्ष्य की ओर प्रगति करने लगता है।

———

१०

उपासना का राजमार्ग

मानव-जीवन की सार्थकता : उपासना से

मनुष्य-जीवन की सार्थकता तभी है, जब उसका स्वरूप एवं स्तर भी उसी के अनुरूप ऊँचा उठ सके। नीची योनियों के प्राणी तो अज्ञानवश पेट और प्रजनन के लिए ही जीते हैं। आहार, निद्रा, भय, मैथुन और परिग्रह के रूप में स्वार्थ-सिद्धि ही उनके जीवन में मुख्य स्थान ले लेती है। शारीरिक लाभ ही उनके मुख्य प्रेरणास्रोत हैं। विचार शक्ति, विवेक-क्षमता, परमार्थ परायणता या परमात्म भक्ति आदि श्रेष्ठ अर्हताएँ उनके जीवन में प्रायः नहीं होती। मानना होगा कि उनका कायिक विकास ही अधिक हुआ है। मानसिक एवं बौद्धिक नहीं, चेतनात्मक विकास तो उनमें नहीं के बराबर होता है।

मनुष्य सर्वजीवों में शिरोमणि है, उसका मानसिक, बौद्धिक और चेतनात्मक विकास दूसरे प्राणियों की अपेक्षा अधिक है। अतः मनुष्य को अपने स्तर के अनुरूप मानसिक, बौद्धिक, चेतनात्मक विकास करना चाहिए। अन्यथा वे स्वार्थ-कीट नर-पशु ही कहलाएँगे, जो शरीर संरचना भर से मनुष्य हैं। उनके दृष्टिकोण में पिछड़ी योनियों जैसी निकृष्ट स्वार्थपरता ही भरी पड़ी है। जिस प्रकार मनुष्येतर प्राणी दूसरे प्राणियों के साथ अपना स्वभाव नहीं मिला पाते, उनमें परमार्थ-परायणता के अंश बहुत ही नगण्य रूप में पाए जाते हैं। आयु की दृष्टि से ऐसे मनुष्य प्रौढ़ हो जाते हैं, फिर भी अपना सारा आचार-व्यवहार बच्चों जैसा ही रखते हैं, तो उस अविकसित अन्तःस्थिति पर चिन्ता व्यक्त की जाती है, ठीक यही स्थिति उन

मनुष्यों की है, जो इस सुरदुर्लभ मानवकाया को तो पा गए, परन्तु उन्होंने अपने क्रिया कलाप, व्यवहार और दृष्टिकोण में वही पिछड़ा हुआ बचकाना रूप बनाये रखा। माना कि शरीर की हलचलों तथा चिन्तन मनन के रूप में उनमें भी वही चेतना काम कर रही है, जो महान् आत्माओं में होती है, किन्तु उनकी आत्मा में निकृष्टता का आसुरीतत्व भरा पड़ा है, उनकी आस्थाएँ और आकांक्षाएँ मनुष्यता के अनुरूप नहीं हैं। वे शुद्ध आत्मतत्व-परमात्मतत्व से बहुत दूर हैं। न ही उनमें परमात्मा शुद्ध आत्मा के निकट पहुँचने की कोई दृष्टि, वृत्ति, रुचि या जिज्ञासा है।

इस दयनीय स्थिति तथा निकृष्ट या अविकसित मनःस्थिति से पिण्ड छुड़ाने के लिए परमात्मा की—देव-गुरु-धर्म की उपासना ही सर्वोपरि उपाय है।

उपासना का अर्थ

कोई कह सकता है कि उपासना का अर्थ समीपता है और मानव परमात्मा के निकट ही है, ईश्वर और मानव में सर्वाधिक सामीप्य है। तब वह दूर कैसे? जो दूर नहीं है, उसकी समीपता का क्या अर्थ है? इसका समाधान यह है कि यह समीपता उथली है, गहरी नहीं। उप+आसना इन दो शब्दों से उपासना शब्द बना है। उसका शब्दशः अर्थ होता है—उपास्य के समीप स्थित होना=बैठना। परन्तु अधिकांश मनुष्य उपास्य-परमात्मा या देव-गुरु-धर्म के समीप स्थित कहाँ होते हैं? उनका मन कहीं और भागता है। उनका वचन कुछ और बोलता है, तथा उनकी काया से उपास्य के गुणों से विपरीत दिशा में चेष्टा होती है। उसके साधन (इन्द्रियाँ, सम्पत्ति आदि) भी गलत कार्यों में प्रायः लगते हैं। अतः उपासना की दृष्टि से—उपास्य की स्थिति से अपनी स्थिति जितनी अधिक समीप करली जाएगी या उसके जितना अधिक अनुकूल या समतुल्य बना जाएगा, उसकी क्षमताएँ, शक्तियाँ, योग्यताएँ उसी अनुपात में अपने अन्दर आएँगी और अपने आत्मिक गुणों से लाभान्वित करती चली जाएँगी।

उपास्य के सामीप्य का प्रभाव

उपास्य की समीपता का प्रभाव सर्वविदित है। दुष्टों के सामीप्य से दुर्गति और सज्जनों के सान्निध्य से प्रगति और उन्नति की संभावना भी प्रसिद्ध है। परमात्मा, महात्मा और धर्मात्मा में आध्यात्मिक उत्कृष्टता होती है। इनकी समीपता=उपासना से वैसी ही विशेषताएँ बढ़ती हैं, जिस

प्रकार चन्दन के वृक्ष के समीप उगे हुए सभी झाड़-झंखाड़ सुगन्धित हो जाते हैं। भ्रमर और कीट (इयल=इल्ली) का उदाहरण भी प्रसिद्ध है। टिड्डे हरी घास में रहते हैं, तब उनका शरीर हरा रहता है। परन्तु जब वे सूखी घास में रहते हैं तो पीले पड़ जाते हैं। गन्धी की दुकान के पास से गुजरने वाले व्यक्ति को सुगन्ध की प्राप्ति होती है। तितलियाँ फूलों के अनुरूप अपने रंग बदलती रहती हैं। शरीर ठंड से कांप रहा हो तो आग की गर्मी से आवश्यक गर्मी प्राप्त की जाती है। इसी प्रकार आत्मा में शीतलता हो तो परमात्मा या महात्मा रूपी अग्नि से उसमें उष्मा आ जाती है।

परमात्मा और साधारण आत्मा का सामीप्य

परमात्मा शुद्ध आत्मा के रूप में प्रत्येक मानव में विराजमान है। जिस प्रकार मछली के भीतर और बाहर पानी ही पानी भरा रहता है, इसी प्रकार मानव के अन्दर और बाहर परमात्म-चेतना का व्यापक समुद्र लहरा रहा है। वह मानव के रोम-रोम में समाया हुआ है, चारों ओर घिरा हुआ है। जो इतना समीप हो, इतना व्याप्त हो, उसे प्राप्त करने में क्या कठिनाई हो सकती है? आत्मा और परमात्मा के बीच पिता-पुत्र, माता-शिशु, भाई-भाई और पति-पत्नी के लौकिक रिश्तों-नातों की अपेक्षा भी अधिक सघन, स्वच्छ और प्रशस्त सम्बन्ध हैं। पिता और पुत्र की समीपता कैसे दुरूह हो सकती है। भाई-भाई से बिछुड़ा रहे, यह भी अशक्य है, माता और शिशु का सान्निध्य न रहे, यह कैसे सम्भव है? इसी प्रकार परमात्मा और साधारण आत्मा का सान्निध्य तो बहुत ही सहज है। सांसारिक रिश्तों में दो भिन्न स्वतंत्र व्यक्तियों की बात रहने से कदाचित कुछ पृथकता और भिन्नता भी रह सकती है, मगर परमात्मा और साधारण आत्मा में तो एक तरह से अत्यन्त घनिष्ठता है, दोनों में तात्विक दृष्टि से अभिन्नता है। भिन्नता तो कर्म या अविद्या ने उत्पन्न की है, जो उपासना के द्वारा हटानी या भगानी आवश्यक है। लाला रणजीतसिंह जी श्रावक ने बृहदालोयणा में यही बात कही है—

"सिद्धा जैसो जीव है, जीव सोई सिद्ध होय।
कर्ममैल को आन्तरो, बूझे विरला कोय॥"

अप्पा सो परमप्पा (आत्मा ही परमात्मा है) कथन के पीछे भी यही रहस्य है। वस्तुतः आत्मा और परमात्मा के बीच ऐसा कोई व्यवधान नहीं है, जो हटाया न जा सके, अथवा जिसे हटाने या दूर करने के लिए चिन्तित,

व्यथित, हताश या निराश होना पड़े। यह मिलन प्रक्रिया उपासना के माध्यम से अतीव सरल हो जाती।

उपास्य के प्रवेश के लिए अन्तःकरण के कपाट खोल दो

उपासना का उपक्रम भी इसीलिए है कि परमात्मा अन्तःकरण में विराजमान हो भीतर प्रवेश करें। परन्तु अधिकांश व्यक्तियों ने अन्तःकरण के कपाट बन्द कर रखे हैं। कितनी कामनाओं तृष्णाओं, एवं लालसाओं, द्वेष दम्भ, अहंकर ईर्ष्या, छल, मद-मत्सर जैसे दुष्ट विकारों ने अन्तःकरण की सारी जगह घेर रखी है उसमें तिलभर भी शुद्ध आत्मगुणों को प्रवेश कराने की जगह नहीं है!

उपास्य को आत्ममन्दिर में प्रवेश कराना ही सच्ची उपासना है

परमात्मा की निराकार उपासना का मार्ग भी यही है कि अपनी आत्मा को हम उत्कृष्ट कोटि का प्रभु मन्दिर समझें और उसमें निकृष्ट दुर्भावनाओं तथा दुर्विचारों को प्रवेश करने से तुरत रोकें। जहाँ जब भी विकारों की गंदगी दिखाई पड़े, उसे शीघ्र बाहर निकाल दें। मस्तिष्क को उच्च-विचार, हृदय को उत्कृष्ट क्षमादि गुणों तथा शरीर को उत्तम आचार से ओतप्रोत रखें। यही परमात्मा की भाव-पूजा है, उनके समीप जाने तथा उन्हें निकट बुलाने का उपाय है। निराकार प्रभु की उपासना अपनी विचारणाओं और भावनाओं को परिष्कृत बनाने से ही सम्भव हो सकती है। इस प्रकार सोचने की पद्धति को निकृष्टता के गर्त से निकाल कर उत्कृष्ट सम्यग्दृष्टि, सम्यग्ज्ञान तथा सम्यक् आदर्श में औत-प्रोत कर ली जाए तो आत्म-मन्दिर में परमात्मा की छवि या प्रतिमा की स्थापना हो गई। यह निरन्तर प्रभुदर्शन का सौभाग्यशाली सुयोग है। इस प्रकार अन्तः करण से परमात्म-मिलन आनन्द की अनुभूति होती है।

उपासना से पापनाश : कब और कैसे ?

उपासना से पाप नष्ट होने की बात **एसो पंच णमोक्कारो, सव्व-पाव-प्पणासणो** (ये पाँच परमेष्ठियों को नमस्कार समस्त पापों का नाश करने वाला है) पाठ में कही गई है, उसका रहस्यार्थ यही है कि व्यक्ति आत्म-साधना के प्रथम चरण का परिपालन करते हुए दुर्भावना और दुष्प्रवृत्तियों के दुष्परिणाम ज्ञपरिज्ञा से जानकर प्रत्याख्यान परिज्ञा से सतर्कतापूर्वक उनका त्याग करे। पाप नष्ट होने का अर्थ है—पाप कर्म

करने की वृत्ति-प्रवृत्ति का नाश। परन्तु आज उलटा अर्थ करके अज्ञ लोग स्वयं गुमराह हुए हैं और दूसरों को भी गुमराह करते हैं। पापनाश का मतलब कर लिया—पापकर्मों के प्रतिफल का नाश। यदि ऐसा होता तो लोग पाप को ही पुण्य और कर्त्तव्य मान लेते। कोई भी पाप से न डरता। इस प्रकार का उलटा अर्थ समझा देने के फलस्वरूप आज अनेक धर्मसम्प्रदायों में यह मूढ़ मान्यता घर कर गई है कि चाहे जितने पाप कर्म करो, दुर्विचारों और दुष्प्रवृत्तियों में पड़े रहो, केवल प्रतिदिन अल्लाह या गॉड अथवा ईश्वर की द्रव्य पूजा कर लो, बस खुदा तुम्हारे पाप माफ कर देगा। परन्तु आत्मिक-साधना के साथ की गई साधना से ही पाप नष्ट या माफ हो सकते हैं।

उपासना से उच्चस्तरीय वातावरण का लाभ

वातावरण की प्रभावशाली शक्ति कौन नहीं जानता ? मनुष्य का गुण, कर्म, स्वभाव उसी ढाँचे में ढला होता है, जैसा वातावरण उसे मिलता है। यदि आध्यात्मिक जीवन का महत्व समझा गया है तो उसे उत्कृष्ट बनाने के लिए उच्चस्तरीय वातावरण में रहना आवश्यक है। सच पूछें तो अच्छे-बुरे व्यक्तित्व के निर्माण में वातावरण असाधारण भूमिका अदा करता है। देव, गुरु एवं धर्म (धार्मिक क्रिया, जप, ध्यान आदि) की उपासना से उच्च-स्तरीय वातावरण मिलता है, जिससे मनुष्य का व्यक्तित्व चमक जाता है।

आत्मा और परमात्मा की एकता के लिए उपासना आवश्यक

साधारण आत्मा और परमात्मा में तात्त्विक दृष्टि से कोई अन्तर नहीं है। किन्तु परमात्मा शुद्ध, निष्कलंक, कर्ममलरहित आत्मा है और साधारण आत्मा के साथ वर्तमान में कर्ममल लगा हुआ है, वह रागद्वेषादि विकारों से ग्रस्त है। यदि आत्मा को परमात्मा के साथ मिलना हो तो उपासना उत्तम उपाय है। उपासकदशांग सूत्र आदि आगमों में जहाँ कहीं श्रमणोपासकों के जीवन का वर्णन आता है, वहां **'पज्जुवासई' 'पज्जुवासामि'** कहा गया है—अमुक श्रमणोपासक वीतराग परमात्मा की पर्युपासना करता है, अथवा वह कहता है—मैं 'पर्युपासना करता हूँ।" इसका रहस्य यही है कि पर्युपासना करने से वीतराग परमात्मा का सान्निध्य प्राप्त होता है, उनके तन-मन के उत्कृष्ट परमाणुओं का लाभ मिलता है जिससे मन पर आई हुई विकारों की कालिमा और अशुद्ध विचारों की कलुषता दूर होती है, शरीर में से भी खराब परमाणु निकलकर अच्छे परमाणुओं का ऑक्सीजन मिलता है जिससे शरीर स्वस्थ एवं मन प्रसन्न रहता है। महापुरुष जीवित

हों तब तो उनके सान्निध्य में अथवा शुद्ध धर्म तत्त्व (अहिंसा सत्यादि) के सान्निध्य में रहने से व्यक्ति में निर्मलता, शुद्धता एवं विचार-आचार की पवित्रता बढ़ती जाती है।

मिट्टी में हर धातु के कण मिले रहते हैं। वे धातु-कण सूक्ष्म आकर्षण शक्ति से अपनी-अपनी जाति के धातुओं की ओर धीरे-धीरे स्वतः सरकते चले जाते हैं। धातु की जहाँ बड़ी खान होती है, उसमें अपने सजातीय धातु कणों को खींचने की एक चुम्बकीय विद्युत्धारा चलती रहती है। उन धातु-कणों के खानों में पहुँचकर एकत्रित एवं पिण्डित होते रहने से उन धातुओं की मात्रा एवं महत्ता बढ़ती रहती है। यही बात परमात्मा एवं महात्मा की उपासना के विषय में कही जा सकती है। जिस प्रकार गंगा के पानी को एक नहर काटकर अन्यत्र ले जाया जाता है तो उस जल के सभी गुण वहाँ तक खिचे चले जाते हैं, जहाँ तक नहर जाती है। इसी तरह देवाधिदेवों और गुरुओं के गुणों के स्मरण-मनन से, ध्यान उपासना के माध्यम से उनका सान्निध्य प्राप्त करने से उनके गुणों का व्यक्ति के तन, मन और वचन में तेजी से विकास होता जाएगा।

उपासना का चमत्कार

आत्मा को मिट्टी में मिला हुआ धातुकण और परमात्मा को धातु की विशाल खान कहा जा सकता है। आत्मारूपी धातुकण उपासना के माध्यम से परमात्मारूपी खान की ओर आकर्षित होकर प्रतिदिन निकट से निकटतर सरकता रहता है, और एक दिन परमात्मारूपी खान में सम्मिलित हो जाता है। छोटा धातुकण जब तक रेत में मिला रहता है, तब तक उसका कोई मूल्य या महत्त्व नहीं रहता परन्तु जब वह घिसटते-घिसटते खान में मिल जाता है तो उसका अस्तित्व और महत्व सभी की दृष्टि में आता है। उस एकत्रित एवं पिण्डित धातु का उपयोग भी बहुत भारी होता है। इसी प्रकार आत्मा जब परमात्मा के निकट पहुँचता है, तब उसमें परमात्मतत्व की मात्रा इतनी बढ़ जाती है कि वह परमात्म-तेज से युक्त दिखने लगता है। ऋषि-मुनियों और गौतम गणधर आदि महापुरुषों को तीर्थंकर परमात्मा के समीप रहने से इसी प्रकार की भागवती विशेषता प्राप्त हुई थी। इसीलिए प्रत्येक साधक के लिए शास्त्र में कहा गया है—'**वसे गुरुकुले निच्चं**' साधक गुरुकुल में निवास करे। परमात्मा की समीपता बढ़ते-बढ़ते जीव अन्ततः जीवन्मुक्त (चार घाती कर्मों से मुक्त) हो जाता है। यही उपासना का वास्तविक चमत्कार है।

चिन्तन-स्मरण से भी उपास्य के निकट

इस तथ्य से कोई इन्कार नहीं कर सकता कि मनुष्य जिस वस्तु का चिन्तन, स्मरण और निदिध्यासन बार-बार करता है, वैसा ही बन जाता है। लट और भौंरी का दृष्टान्त प्रसिद्ध है। भौंरी लट को गुंजारव करके धीरे-धीरे अपने जैसा बना लेती है। अर्थात्—लट अपना शरीर त्याग कर भ्रमरी बन जाती है। इसी प्रकार देव, गुरु और धर्म (उपास्य) का स्मरण-चिन्तन करते-करते मनुष्य भी तद्रूप बन सकता है। तन्मयता एवं प्रगाढ़ एकाग्रता से जिस वस्तु का ध्यान मानव करता है, उस वस्तु का हूबहू चित्र उसकी आँखों के समक्ष तैरने लगता है। अमेरिकन नागरिक टेड सेरियस जिस वस्तु का ध्यान करके केमरे के लैंस में दृष्टि कर देता था, उसी का फोटो केमरे पर आ जाता। उपास्य का ध्यान करने से उपासक का तादाम्य बढ़ जाने का यह ज्वलन्त प्रमाण है। उपासना में देव और गुरु प्रत्यक्ष सामने हों तब तो सामीप्य से ही मनुष्य भागवती विशेषता प्राप्त कर लेता है, किन्तु यदि देव और गुरु परोक्ष हों तो उनका स्मरण-चिन्तन करने से मनुष्य उनके साथ तादात्म्य कर लेता है।

कहावत है—**यद् ध्यायति, तद् भवति**—मनुष्य जिसका ध्यान करता है, वही बन जाता है।

उपासना से आनन्द प्राप्ति

परमात्मा का सान्निध्य प्रत्यक्ष हो या परोक्ष दोनों ही दशा में आनन्दानुभूति कराता है। जब सांसारिक प्रियजनों के साथ उठने-बैठने में व्यक्ति को आनन्द आता है, तब परमात्मा और महात्मा (गुरुदेव) के सान्निध्य में आनन्द क्यों नहीं आएगा? जो सच्चे मन से इनकी पर्युपासना करता है, उसे तो असीम आनन्द आता ही है किन्तु जिसका मन उपासना में नहीं लगता या जिसे आनन्द नहीं आता, समझना चाहिए कि उसने उपासना के तत्वज्ञान, आदर्श और विधि विधान को भलीभांति जाना ही नहीं है। सचमुच आत्मा और परमात्मा की एकता से जिस परमानन्द की प्राप्ति होती है, उसे पाकर जीव धन्य बन जाता है।

उपासना से परमात्म-मिलन का आनन्द

लोक व्यवहार में यह देखा गया है कि आत्मीयजन बिछुड़ने के बाद जब पुनः मिलते हैं तो उस मिलन वेला से आनन्द का अनुभव होता है।

माता-पिता और पुत्र अथवा पति-पत्नी दूर-दूर रहते हों और बहुत दिनों बाद जब मिलते हैं तो उनके आनन्द की सीमा नहीं रहती; इसी प्रकार साधारण आत्मा परमात्मा को विस्मृत कर देता है, या उनकी उपासना नहीं करता तो उनसे काफी दूर होकर बिछुड़ जाता है, परन्तु जब उस पर विपत्ति, संकट और कष्ट आते हैं, तो वह पुनः परमात्मा को याद करता है, उनसे मिलने को आतुर होता है, तब उसके मन में कितने आनन्द की अनुभूति होती है।

उपासना से आत्मा-परमात्मा की एकता

एक बात स्पष्ट है कि मनुष्य और परमात्मा—महात्मा की एकता से आनन्द का अनुभव तभी हो सकता है, जब, व्यक्ति पृथक्तावादी, संकीर्ण और स्वार्थपरायण न हो। जब 'अप्पसमं मन्निश्र छप्पिकाए' अर्थात् 'षट्-कायिक जीवों को आत्मतुल्य मानें' इस सुवाक्य के अनुसार सब जीवों में अपना आत्मा दिखाई दे, दूसरे लोग भी आत्मीय, स्वजन सम्बन्धी एवं परमात्मा के पुत्र-पुत्री, अपने भाई-बहन के समान अथवा प्रभु के प्रतिनिधि प्रतीत हों, तब समझना चाहिए कि वह परमात्मा का सच्चा उपासक है और वह कोई दुष्कर्म नहीं कर सकता। सच्चा उपासक मांसाहार, ठगी, हत्या, बेईमानी, धोखेबाजी, व्यभिचार, संकीर्ण स्वार्थपरता आदि पापकर्मों से दूर ही रहेगा। आनन्द, कामदेव आदि गृहस्थ जब श्रमणोपासक बने तो उन्होंने सर्वप्रथम सम्यग्दृष्टि प्राप्त की, तत्पश्चात् अहिंसा-सत्य आदि अणुव्रतों को अंगीकार किया।

आत्मा और परमात्मा – महात्मा की एकता के लिए जहाँ पूर्वोक्त साधना और भावना के साथ उपासना का अवलम्बन करना आवश्यक है, वहाँ यह भी आवश्यक है कि उसके जीवन की गतिविधियाँ पृथक्तावादी न हों ? वे कंजूस और लोभी की तरह केवल अपनी ही बात सोचने वाले न हों, कई तथाकथित आत्मार्थी (स्वार्थी) सज्जन भी इसी श्रेणी में जा बैठते हैं। वे लोग आहार-वस्त्रादि साधन, आवासस्थान तथा अन्य सुविधाएँ समाज, विश्व एवं राष्ट्र से लेते हैं, परन्तु बदले में समाज, राष्ट्र एवं विश्व को नैतिक, धार्मिक एवं आध्यात्मिक प्रेरणा, उद्देश्य या सन्देश देने के लिए साफ इन्कार कर जाते हैं; संसार समाज या राष्ट्र से हमें क्या लेना-देना ? इस प्रकार की भाषा अपना लेते हैं। ऐसे लोग न तो समाज और राष्ट्र से निर्लिप्त निरपेक्ष और निःस्पृह बनकर जी सकते हैं, और न ही स्थानांगसूत्र में वर्णित पाँच स्थानों के उपकार से भी उऋण हो सकते हैं। भगवान्

महावीर के द्वारा स्थापित चतुर्विध श्रमणसंघ के प्रति भी वे वफादार नहीं रह सकते; क्योंकि संघधर्म के पालन से वे किनाराकशी करते हैं।

उपासना का फलितार्थ

उपासना का फलितार्थ केवल इतना ही नहीं है कि वीतराग तीर्थंकर परमात्मा, निर्ग्रन्थ-महात्मा के प्रति अन्तर् से निकटता रखे, अपितु उनके द्वारा प्ररूपित-स्थापित धर्मसंघ (तीर्थ) के प्रति भी आत्मीयता रखे। उनके द्वारा स्थापित धर्मसंघ को, उन्हीं के रूप में देखे। उनकी जो आज्ञाएँ हैं, उनको शिरोधार्य करके उनका वफादारीपूर्वक पालन करे; क्योंकि शास्त्र-वचन है—**आणाए धम्मो, आणाए तवो**, आणाए **मामगं धम्मं**—आज्ञा-पालन में धर्म है, आज्ञाराधना में तपस्या है, आज्ञा-पालन में मेरा धर्म है। आचार्य हेमचन्द्र ने तो स्पष्ट शब्दों में कहा है—

'तव सपर्यास्तवाज्ञा—परिपालनम्'

'भगवन्! आपकी सेवा—पर्युपासना आपकी आज्ञाओं का परिपालन है।'

उपासना का प्रयोजन

तीर्थंकर परमात्मा, सिद्ध प्रभु, निर्ग्रन्थ गुरु आदि महान् आत्माओं की उपासना इसीलिए की जाती है कि परमात्मा और महात्मा हमें याद आएँ। मानसिक चिन्तन और शारीरिक कर्तव्य में परमात्मा एवं महात्मा की महत्ता को ओतप्रोत करने, उनसे तादात्म्य स्थापित करने, प्रत्येक शारीरिक-मानसिक एवं आध्यात्मिक प्रवृत्ति में परमात्मा एवं महात्मा को दृष्टिसमक्ष रखने की आवश्यकता महसूस हो ताकि कोई प्रवृत्ति पापकर्म या कषायादि विकारों से दूषित न हो। साथ ही इस बात का भी भान रहे कि परमात्मा—महात्मा और साधारण आत्मा मिलजुल कर—एक होकर रहें तो उससे जीवन में आनन्द एवं हर्ष विस्तृत होगा।

उपासना की आवश्यकता क्या और क्यों?

साम्यवाद या नास्तिकवाद के कट्टर समर्थक उपासना को महज समय की बरबादी एवं रूढ़िभक्त बुर्जुआ संस्कार बताकर जन-जीवन में उपासना के प्रति अश्रद्धा पैदा करते हैं। उनका तर्क यह है कि उतने समय का उपयोग उपार्जन में पुरुषार्थ करके किया जाए तो औद्योगिक विकास एवं राष्ट्रीय धन बढ़ता है, प्रकारान्तर से उसका लाभ समग्र राष्ट्र और समाज को ही मिलेगा।

उपर्युक्त मान्यता में एक पक्षीय चिन्तन की संकीर्णता न होता तो किसी हद तक ठीक हो सकता था परन्तु भौतिक आवश्यकताएँ पूर्ण होने या श्रम द्वारा अपार धन और साधन उपलब्ध होने पर भी यदि उसके साथ आध्यात्मिकता, आत्मगुण (क्षमा, दया, सहिष्णुता, नैतिकता, ईमानदारी, व्यवहारकुशलता, निरालस्यता आदि) न हों तो भौतिक साधनों एवं सम्पत्ति का महल भी एक दिन वाक्कलह, ईर्ष्या, द्वेष, कषाय, आलस्य, (प्रमाद) आदि दुर्गुणों के कारण धराशायी हो सकता है, या व्यक्ति निर्धन एवं साधनहीन हो सकता है। उपासना के बिना समाज, राष्ट्र, या विश्व की आत्माओं के साथ आत्मीयता अथवा तादात्म्यता न होने से मनुष्य समाज, राष्ट्र एवं विश्व के साथ आत्मीयता से अलग-थलग पड़ जाएगा, अपनी मानसिक शान्ति भी खो बैठेगा। अमेरिका आदि पाश्चात्य देशों में प्रायः यही हो रहा है। वहाँ बाप-बेटे के साथ, पड़ौसी के साथ, पति-पत्नी में आत्मीयता का आनन्द नहीं आता, क्योंकि वहाँ प्रायः सभी भौतिक स्वार्थ में सने हुए होते हैं। स्पष्ट है कि मनुष्य की आध्यात्मिक-भौतिक सभी आवश्यकताएँ आत्मविकास पर आधारित हैं। इसलिए आत्मा के साथ शरीर और शरीर से सम्बन्धित संकीर्ण सान्निध्य से शुद्ध आत्मा का विकास नहीं हो सकता। अमेरिकावासी लोग आत्मविकास नहीं कर पाते। इसमें कारण यही है कि उपासना की पगडंडी पर वे चलना नहीं चाहते।

इसके अतिरिक्त साम्यवाद के, अध्यात्मवादी दिशा का उपेक्षापूर्ण एकांगी चिन्तन, के घोर दुष्परिणाम भौतिक जीवन को भी प्रभावित किये बिना नहीं रहते। अध्यात्मदिशाविहीन केवल श्रम व्यक्तियों को उबाने, थकाने और मानसिक अशान्ति पैदा करने वाला बन जाता है। रेलगाड़ी चौबीस घंटे चलती ही रहे, उसे कुछ स्टेशनों के पश्चात् रोककर पानी और ईंधन की पूर्ति न की जाए तो क्या वह चलती रह सकेगी? मशीन चलती ही रहे उसे सतत चलाने हेतु शिफ्टें बदलकर मजदूर लगाते रहा जाए तो वह कितने दिन चल सकती है? विश्राम के क्षणों में भी मनोविनोद या मनोरंजन की सुविधा न हो तो व्यक्ति ऊब जाएगा, उसका आयुष्य आधा रह जायगा। अतः जीवन की शुष्कता किसी भी क्षेत्र में घातक प्रतिफल उत्पन्न करती है। यही कारण है कि साम्यवादी देशों में केवल शारीरिक श्रम की कल्पना ने लोगों के मन पर ऐसा बोझ डाल दिया है कि वे स्वयं को दबे, पीसे और दमघुटे हुए महसूस करते हैं।

अतः आध्यात्मिक, मानसिक एवं शारीरिक स्फूर्ति, क्षमता एवं आनन्द

पाने के लिए प्रतिदिन उतना समय उपासना में लगाने में समय की बर्बादी नहीं, सार्थकता ही है।

आत्मोत्कर्ष के लिए नित्य उपासना अनिवार्य

आत्मोत्कर्ष में दिलचस्पी रखने वाले प्रत्येक व्यक्ति को प्रतिदिन उपासना करना अनिवार्य है। यह नहीं सोचना चाहिए कि हम परमात्मा के आदेशों का पालन करते हैं, फिर हमें उसकी उपासना की क्या आवश्यकता है ? सुथार, लुहार, सुनार, मूर्तिकार, नाई आदि शिल्पी जीविका के लिए अपने मनोनीत कार्य में लगे रहते हैं। फिर भी वे अपने-अपने औजारों को जल्दी-जल्दी धार कराते रहते हैं। इसी प्रकार आत्मार्थी साधक के लिए भी उचित है कि उपासना के माध्यम से मनरूपी औजार को स्वच्छ एवं प्रखर बनाता रहे, ताकि मन कर्तव्यों और दायित्वों को भलीभाँति करता रह सके। मन यदि स्वच्छ और तेज तर्रार नहीं होगा, तो वह भोंथरा हो जाएगा, उसके कर्तृत्व का स्तर गिरने लगेगा। इसलिए अन्य अनेक रुचिकर कार्यों में समय लगाया जाता है, उसी प्रकार मन को मांज कर स्वच्छ एवं प्रखर बनाने के प्रयास को भी दैनिक कर्त्तव्यों में शुमार किया जाए। पेट की भूख मिटाने के लिए बार-बार भोजन किया जाता है, उसी प्रकार आत्मा की भूख मिटाने के लिए उपासना का बार-बार नित्य आहार करना आवश्यक है।

व्यक्ति शरीर शुद्धि के लिए स्नान करता है, वस्त्रों को धोता है, अपने मकान को रोज झाड़ू से साफ करता है, बर्तन भी प्रतिदिन माँजता है, ताकि मलिनता बढ़े नहीं। एक बार की सफाई सदा के लिए काम नहीं देती। इसी प्रकार एक बार के स्वाध्याय, मनन, चिन्तन, प्रतिक्रमण, सत्संग, चर्चा-विचारणा से मन की सदा के लिए शुद्धि नहीं हो जाती। एक बार की ध्यान-कायोत्सर्ग, प्रायश्चित्त, उपवास आदि तपश्चर्या से आत्मशुद्धि भी नहीं हो जाती। मन और आत्मा सदा निर्मल स्थिति में बने रहेंगे, इसका कोई भरोसा नहीं; इसलिए अन्य बाह्य मलिनताओं की तरह मन और आत्मा पर छाने वाली मलिनता का भी नित्य परिष्कार आवश्यक एवं अनिवार्य है। उपासना का प्रयोजन यही है कि उस परिशुद्धि को दैनिक धर्मक्रियाओं में स्थान दिया जाए।

उपासना को कामनापूर्ति का साधन न समझो

यह समझना भ्रान्ति है कि परमात्मा या देवी देवों की बाह्य पूजा और भक्ति द्वारा उन्हें प्रसन्न करके सब मनोकामनाएँ पूर्ण की जा सकती हैं, फिर इतने सस्ते और सरल मार्ग को छोड़कर क्यों कोई उपासना की

कष्टसाध्य त्याग-तप मूलक विधियाँ अपनाने को तैयार होगा ? यदि यह तथ्य यथार्थ होता तो मन्दिरों के पुजारी, पंडे या पण्डित लोग सर्वमनोरथ-सम्पन्न हो जाते, फिर उन्हें किसी प्रकार की कमी या अशान्ति नहीं रहती। किन्तु प्रत्यक्ष अनुभव ऐसा है कि ये वर्ग और भी दयनीय स्थिति में हैं। भले ही कुछ मन्दिरों के पुजारी धन से सम्पन्न हो गए हों, परन्तु आत्मिक समृद्धि से बहुत पिछड़े और गये-बीते, असन्तुष्ट एवं अशान्त प्रतीत होते हैं। जिन्होंने उपासना के बाह्य अंगों (पूजापत्री आदि) को सांसारिक कामना-पूर्ति का साधन मानकर आन्तरिक शुद्धि के कर्त्तव्यों एवं धर्मक्रियाओं से मुँह मोड़ लिया, उनका आत्मिक उत्कर्ष अत्यन्त घटा है।

उपासना का नित्य अभ्यास ही लाभदायक

मशीनों की नित्य सफाई न की जाए तो उनमें लगा हुआ कीट-कीचड़ उनका भली भांति काम देना ही बन्द कर देगा। इसी प्रकार मन के ऊपर सतत चढ़ते रहने वाली अस्वच्छता, कषायों और विषय वासनाओं की मलिनता की उपेक्षा की जायेगी तो व्यक्ति का अन्तरंग ही नहीं, बहिरंग जीवन भी अव्यवस्थाओं, अवांछनीयताओं और नीतिधर्म-विरुद्ध क्रियाकलापों से भर जाएगा। इसलिए उपासना के माध्यम से आन्तरिक स्वच्छता का क्रम बिना व्यवधान के निर्बाध गति से चलता रहना चाहिए।

उपासना का नित्य अभ्यास ही मन और आत्मा की शुद्धि एवं प्रखरता को स्थिर रख सकता है। यदि सैनिक लोग नित्य कवायद न करें, पहलवान रोजाना व्यायाम न करें, विद्यार्थी अपने पढ़े हुए पाठ की बार-बार आवृत्ति न करे तो इन सबकी प्रवीणता एवं कुशलता थोड़े ही दिनों में अस्त-व्यस्त एवं समाप्त हो सकती है। यही हालत मन की है। मन को यदि नित्य उपासना के माध्यम से उत्कृष्टता की ओर नहीं लगाया जाए तो वह निकृष्टता की ओर स्वयं ही लुढ़कता जाएगा। एक दो दिन के अभ्यास से वह निम्नगामी प्रवाह से हट नहीं सकेगा।

अतः नित्य उपासना के द्वारा मन को उच्चस्तर पर बनाये और चढ़ाये रखा जाए, उसे भलीभांति साधा और संभाला जाए तो वह कल्प-वृक्ष से कम नहीं, अधिक ही उपयोगी सिद्ध होता है। उपासना मन रूपी कल्पवृक्ष को सुविकसित बनाती है।

उपासना के द्वारा समय का श्रेष्ठतम सदुपयोग

अपना इहलौकिक जीवन सुधारने और पारलौकिक जीवन में उच्च

अवस्था प्राप्त करने के लिए अपने समय का एक अंश उपासना में अवश्य लगाना चाहिए। धोबी धुले हुए कपड़े पर जैसे टिनोपाल लगाकर अधिक सुन्दरता ला देता है, वैसे ही निर्मल और उज्ज्वल जीवन क्रम रहते हुए भी यदि उपासना का आश्रय लिया जाए तो उसमें समय की सुन्दर व्यवस्था दैनिक चर्या में विकसित होगी। प्रातःकालीन उपासना का प्रभाव दिन की समग्र चर्या पर पड़ेगा, तथा सायंकालीन उपासना का प्रभाव रात्रिचर्या पर पड़ेगा। शर्त यही है कि उपासना सिर्फ क्रिया काण्ड होकर न रह जाए, उसमें अनुप्रेक्षा और भावना से समन्वित प्राणप्रतिष्ठा भी अनिवार्य रूप से जुड़ी रहे। इससे प्रत्येक विचारशील व्यक्ति समझ सकता है कि उपासना समय की बर्बादी नहीं, किन्तु उसके श्रेष्ठतम सदुपयोग की महत्त्वपूर्ण चर्या है।

उपासना का व्यावहारिक और आध्यात्मिक पहलू

उपासना का उद्देश्य परमात्मा-महात्मा के सामने गिड़गिड़ाना, झोली पसारना, या दीनतापूर्वक याचना करना नहीं है। दीनता न तो अनन्त सुषुप्त शक्तियों वाले मानव के लिए शोभनीय है और न ही परमात्मा ,महात्मा को प्रिय है। परमात्मा न तो खुशामद का भूखा है, न ही प्रशंसा की उसे आवश्यकता है। वह अपने आप में वीतराग है, उसकी महानता ही अपने आप में उसकी प्रशंसा है। खुशामद, चापलूसी प्रशंसा करके किसी से कुछ पाना ओछे स्तर का निकृष्ट कृत्य माना जाता है। वीतराग देव, निर्ग्रन्थ गुरु और सद्धर्म ये तीनों उपास्य हैं। वीतराग परमात्मा, निर्ग्रन्थ गुरु और उपासक के बीच यदि यही खुशामद, चापलूसी और दीनतापूर्वक याचना करने का ही गोरखधंधा चले तो दोनों की महिमा-गरिमा गिरगई, समझना चाहिए। और सद्धर्म तो आचरण मांगता है, वह थोथे क्रियाकाण्डों या कोरी प्रशंसा कर देने से वरदान रूप सिद्ध नहीं होता।

उपासना-सूत्र

जैन धर्म में 'लोगस्स' पाठ (चतुर्विंशतिस्तव) नमोत्थुणं (शक्रस्तव) पाठ तथा नवकारमंत्र (पंचपरमेष्ठी नमस्कार मंत्र) अरिहंतो मम देवो आदि ऐसे उपासना-सूत्र हैं, जिनके माध्यम से देव, गुरु और धर्म के जप, ध्यान, कीर्तन, भजन स्तवन आदि द्वारा, वीतराग परमात्मा (अरिहन्त और सिद्ध) तथा निर्ग्रन्थ महात्मा एवं सद्धर्म की स्तुति गुणानुवाद एवं श्रद्धाभक्ति की जाती है उसमें खुशामद एवं चापलूसी नहीं है। न ही कोई निकृष्ट लौकिक याचना है। पूर्वोक्त माध्यमों से जप, ध्यान, स्तवनादि द्वारा उपासना इसलिए की

जाती है कि पूर्वोक्त देवाधिदेव परमात्मा, निर्ग्रन्थ महात्मा तथा सद्धर्म व्यक्ति के स्मृतिपटल पर हरदम बने रहें तथा उनके गुणोत्कीर्त्तन से अवचेतन मन में उनके उत्कृष्ट गुणों के संस्कार संचित हों, तथा उन गुणों को प्राप्त करने का यत्किंचित अभ्यास चलता रहे। इसके अतिरिक्त उनकी स्तुतिस्तोत्र के माध्यम से उन पर इतनी उत्कट भक्ति-श्रद्धा हो कि सांसारिक प्रलोभनों, भयों और कुसंस्कारों तथा दुर्गुणों से दूर रहा जा सके, विपत्ति या संकट आने पर भी मनुष्य धर्म से विचलित न हो, वीतराग देव और निर्ग्रन्थ गुरु की भक्ति-श्रद्धा से च्युत न हो। क्योंकि उनके प्रति श्रद्धा-भक्ति से, उनके जीवन चरित्र का स्मरण करने से मन को बहुत बड़ा आश्वासन मिलता है, धैर्य एवं समतापूर्वक संकट और कष्ट सहने की शक्ति प्राप्त होती है। साथ ही मानसिक अनुप्रेक्षण, शारीरिक कर्तृत्व एवं वाचिक प्रयोग में उपास्य की महत्ता को ओतप्रोत करने की आवश्यकता अनुभव होती रहती है।

उपासना : उपास्य के नित्य स्मरण के लिए सर्वश्रेष्ठ उपाय

प्रायः देखा जाता है कि अधिकांश मानव परमात्मा, महात्मा और सद्धर्म को भूले हुए रहते हैं, धन कमाने, ऐश-आराम करने और भोग-विलास में ही अपना जीवन यापन करने में ही उनका चिन्तन-मनन-स्मरण चलता है। बहुत-से लोग कुछ समय के लिए कभी-कभी या प्रतिदिन पंच-परमेष्ठी मंत्र का ५-७ बार या अधिक से अधिक १०८ बार स्मरण करके उपासना की इतिश्री मान लेते हैं, फिर सारे दिन वे परमात्मा, महात्मा और सद्धर्म को भूल जाते हैं। दिन भर अनैतिक और अधार्मिक आचरण करते रहते हैं, साम्प्रदायिक एवं जातीय उन्माद के वश मारपीट, दंगे, हत्याकाण्ड, धोखाधड़ी, बेईमानी आदि परमात्मा विरोधी कृत्य करते रहते हैं। यह उपासना नहीं, उपासना का दिखावा है। यही देव, गुरु और धर्म को विस्मृत करना है। थोड़ा-सा पूजा पाठ करके या केवल प्रतिमा के दर्शन करने मात्र से भगवान् को रिझाने की प्रवृत्ति उपासना नहीं है। परमात्मा अपनी पूजा-अर्चा या स्मृति-भक्ति कराने का भूखा नहीं।

उपासना की प्रथम भूमिका—आत्मसाधना

इसलिए उपासना की सफलता इसमें है कि आत्मिक प्रगति की पहली मंजिल साधना हो और उसके बाद उपासना हो। साधना का अर्थ ही है—आत्मपरिष्कार, आत्मसुधार, आत्मबोध, आत्मचिन्तन, आत्मविकास या आत्मनिर्माण। परमात्मा के सामने गंदा मन, निकृष्ट बुद्धि एवं भ्रष्ट तन

लेकर उस पवित्रता के देवता-परमात्मा की उपासना कैसे कर सकता है? यही उपासना की सफलता है। अतः उपासना की पूर्वभूमिका साधना से प्रारम्भ होती है। बाह्य और आभ्यन्तरतप आत्मा पर छाये हुए कुसंस्कारों कुविचारों और दुष्प्रवृत्तियों का निराकरण है। किसान को बीज बोने से पहले भूमि को जोतने, उसे मुलायम बनाने तथा उसमें से झाड़-झंखाड, कांटे-कंकर निकालने की तपस्या (साधना) करनी पड़ती है। अन्यथा बहुमूल्य बीज बोने का उसका श्रम व्यर्थ चला जाएगा। उसी प्रकार उपासक को उपास्य की पूजा-भक्ति करने के लिए तथा उनके गुणों को अपने जीवन में उतारने के लिए सर्वप्रथम पूर्वोक्त साधना करनी आवश्यक है। इस दृष्टि से उपासना बीज है तो साधना उपजाऊ भूमि है। उपासना पौधा है तो साधना सिंचाई है। रंगरेज कपड़े की रंगाई करने से पहले उसकी धुलाई करता है। मैला वस्त्र रंग को भी बर्बाद करता है और रंगरेज को बदनाम। इस दृष्टि से साधना द्वारा व्यक्ति का जीवन-वस्त्र धुला हुआ हो, तभी उस पर उपासना का रंग चढ़ाना सार्थक हो सकता है। कपड़े को सर्फ में धोकर निर्मल कर देने पर ही उस पर टिनोपाल की झलक चमक एवं शोभा देती है। साधना सर्फ पाउडर के समान आत्मा को मलरहित बनाती है, और उपासना टिनोपाल की तरह उसे चमकाती है, तेजस्वी बनाती है।

उपासना सफल क्यों नहीं होती

उपासना की एक सरीखी प्रक्रिया का अवलम्बन लेने पर भी एक व्यक्ति को वह सिद्ध हो जाती है, दूसरे को निराशा ही मिलती है। इसी प्रकार वही पंच-परमेष्ठी देव, वही मंत्र और वही विधि एक की फलित और दूसरे की निष्फल हो जाती है। इसके पीछे वीतराग-परमात्मा या पंच-परमेष्ठी देवों में किसी के प्रति पक्षपात या उपेक्षा नहीं है। पंचपरमेष्ठी देवों, मंत्रों या विधि की उत्कृष्टता एवं अलौकिकता में कमी नहीं, किन्तु उनसे लाभान्वित हो सकने की पात्रता उपासक में होनी अत्यन्त आवश्यक है।

उपासना के नाम पर केवल उपास्य के दर्शन-श्रवण आदि उपासनात्मक क्रियाकाण्ड झटपट कर लेना ही पर्याप्त नहीं। तलवार भले ही तेज-तर्रार हो, किन्तु उसे चलाने वाले का भुजबल, साहस एवं कौशल न हो तो उससे वह लाभ नहीं उठा सकता। बिजली की शक्ति में कमी न होने पर भी उससे लाभान्वित होने के लिए उसी प्रकार के यंत्र चाहिए। घृतसेवन का लाभ वही उठा सकता है, जिसकी पाचन क्रिया ठीक हो।

यही बात उपासना के सम्बन्ध में कही जा सकती है। पंच परमेष्ठी देवों और यंत्रों का लाभ वे ही उठा सकते हैं जिन्होंने अपने व्यक्तित्व (आत्मा) को बाहर और भीतर से—विचार और आचार से परिष्कृत करने की साधना कर ली है। औषधसेवन का लाभ उसे ही मिलता है, जो बताए हुए अनुपान, पथ्य का ठीक तरह से उपयोग करते हैं। इसलिए पहले आत्म-उपासना, फिर परमात्म-उपासना या पंचपरमेष्ठी-उपासना यह क्रम उपासना की पूर्ण सफलता के लिए आवश्यक है। जिस उपासक का अन्तःकरण—व्यक्तित्व जितना निर्मल होगा, उतनी ही उसकी उपासना सफल होगी। अतःउपास्य की उपासना से लाभान्वित होने के लिए पात्रता चाहिए।

दूसरी बात—व्यक्ति की उपास्य के प्रति निष्ठा, श्रद्धा, एवं भक्ति-भावना जितनी गहरी एवं सुदृढ़ होगी, उतना ही वह उपास्य से लाभ उठा सकेगा। साधक की निष्ठा और व्यक्तित्व की प्रखरता होगी तो उसका उपास्य भी परिपुष्ट एवं समर्थ दृष्टिगोचर होगा, आत्मपरिष्कार में उससे उतनी ही अधिक सहायता मिलेगी। इसके विपरीत जिस व्यक्ति में आत्मिक विशेष-ताएँ भी हों, तथा उपास्य के प्रति निष्ठा, श्रद्धाभक्ति भी न हो, वह भले ही बाह्य तप, जप, आदि उपासनात्मक क्रियाकाण्ड कर ले, वह उपास्य से समुचित लाभ नहीं उठा सकेगा।

तीसरी बात—कुसंस्कारी मन को उपासना में लगाना बहुत कठिन है। प्रारम्भ में आसन पर बैठते ही मन लग जाने की बात सोचना वैसी ही मूर्खता है, जैसी बीज बोते ही पेड़ खड़ा हो जाने की कल्पना। यथार्थ उपासना के लिए मन की एकाग्रता अनिवार्य है। वह एकाग्रता प्रारम्भ में नहीं, सफलता की स्थिति आने तक मिलती है। उपासना का तीन चौथाई परिश्रम तो मन की एकाग्रता साधने में ही लग जाता है तदुपरान्त एक चौथाई प्रयास में ही उपास्य के सान्निध्य का आनन्द मिलने लगता है। अतः शुद्ध उपासना द्वारा अपनी आत्मिक प्रगति के द्वार खोलिये।

———

११

आत्म-समर्पण का मूल्य

स्थायी आनन्द : आत्मसमर्पण में

विश्वकवि रवीन्द्रनाथ टैगोर ने एक बार कहा था—"मनुष्य का स्थायी आनन्द इच्छित वस्तु की प्राप्ति में नहीं, अपितु अपने से महान् के लिए आत्मार्पण करने में है। वह महानता उच्चस्तरीय आदर्शों में, महान् व्यक्तियों में, राष्ट्र में, संघ में, समाज में, अथवा परमात्मा में हो सकती है। जब तक अपना सर्वस्व किसी महान् उद्देश्य के लिए समर्पित नहीं कर दिया जाता, या जब तक क्षुद्रता के बन्धनों से छुटकारा नहीं पा लिया जाता, तब तक मनुष्य सतत अशान्त एवं उद्विग्न बना रहेगा।"

उच्चस्तरीय आत्मिक आनन्द की प्राप्ति मनुष्य की सहज स्वाभाविक आवश्यकता है, साथ ही मनुष्य के लिए उस आध्यात्मिक आनन्द की प्राप्ति असम्भव भी नहीं है। परन्तु इस साधना के मार्ग में मुख्य बाधा है—अहंता की। अहंता जहाँ आ जाती है, वहाँ मनुष्य आत्मकेन्द्रित, स्वार्थी और महत्त्वाकांक्षी हो जाता है। वासना, तृष्णा, महत्त्वाकांक्षा, त्रिविध एषणाएँ (संतानैषणा, वित्तैषणा एवं लोकैषणा) इसी अहंता के इर्द-गिर्द घेरा डाले रहती हैं। मानव की महत्त्वाकांक्षाएँ प्रतिपल प्रतिक्षण बढ़ती-बढ़ती असीम तक हो जाती हैं। वे न तो औचित्य देखती हैं, और न उपयोग। नीति और मर्यादाओं की ओर भी महत्त्वाकांक्षी व्यक्ति प्रायः ध्यान नहीं देता। तथाकथित व्यक्ति बड़प्पन के अहंकार में असीम भोगने, असीम जमा करने और असीम बर्बाद करने को तैसार रहते हैं। वे अपनी क्षमताएँ और साधन-सम्पदाएं येन केन प्रकारेण कमाते हैं और उड़ाते हैं। उन्हें मिलने वाला

सम्मान और सहयोग निकृष्ट स्तर का होता है। लोगों की घृणा और विषमता ही उसके पीछे होती है।

महान् के लिए समर्पित न होने वाला व्यक्ति संकीर्ण-स्वार्थपरता अहंकारपरायणता एवं निरर्थक महत्त्वाकांक्षा से घिरा रहता है। वह स्वयं के लिए भी और दूसरों के लिए भी पतन, विनाश और संताप का कारण बनता है। दियासलाई स्वयं तो जलती ही है, अपने सम्पर्क क्षेत्र में आने वाली दूसरी वस्तुओं को भी जलाती है, अग्निकाण्ड खड़ा कर देती है। इसी तरह संकीर्ण स्वार्थपरायण व्यक्ति भले ही अपनी प्रतिभा से अनेकों को चमत्कृत कर दे, परन्तु अन्तिम परिणाम उसके अपने लिए तथा सम्पर्क में आने वालों या समग्र समाज के लिए भयंकर ही साबित होता है। वह उद्धत आचरण न भी करे, तो भी संघ, समाज, राष्ट्र या विश्व के लिए अपना यत्किंचित् भी समर्पण किये बिना अपनी ही सुख-सुविधा और अहंता का परिपोषण करने वाला व्यक्ति दूसरों से सहानुभूति, सहायता एवं सहयोग के लाभ से वंचित रहता है, साथ ही उसकी सामर्थ्य, साधन-सामग्री एवं सम्पदा का लाभ भी समाज एवं राष्ट्र को नहीं मिल पाता। संकीर्ण स्वार्थपरायण व्यक्ति बाहर से तो निर्दोष मालूम होता है, परन्तु समाज से लेकर बदले में उसे कुछ भी न लौटाना एक प्रकार का नैतिक अपराध है। विचारवान् एवं विवेकी व्यक्ति संघ, समाज, राष्ट्र एवं विश्व के प्रति अन्तर्मन से समर्पित होता है, इसलिए उसके सोचने-विचारने की पद्धति यही होती है कि संघ, समाज या राष्ट्र व्यक्ति से महान् है। और महान् के प्रति विसर्जित कर देना ही समर्पण-साधना है। इस तथ्य को और अधिक स्पष्ट करना हो तो यों कह सकते हैं—स्वार्थ का परमार्थ में, व्यक्तिवाद का समूहवाद में, संकीर्णता का उदारता में, निकृष्टता का उत्कृष्टता में विसर्जन करना ही समर्पण का रहस्य है।

समर्पण साधना के विविध पहलू

जिस प्रकार अपने से महान् के लिए आत्म-समर्पण करना समर्पण-योग है इसी प्रकार आदर्शवादिता, चरित्रनिष्ठा, समाजनिष्ठा, एवं उत्कृष्ट के प्रति समर्पित जीवन भी इसी का अंग है। इसे श्रेयःसमर्पित जीवन भी कह सकते हैं। महान् कार्य, महान् उद्देश्य समर्पित सेवाओं के बिना नहीं हो सकते। श्रेष्ठता के प्रति समर्पण आत्मा की क्षमताओं और सम्भावनाओं को उजागर करके व्यक्ति, समाज एवं समष्टि को प्रगति का पथ नव्य ज्योति

और मोक्षरूप चरमलक्ष्य को सफलता प्राप्त करा सकता है। महाव्रत, समत्वयोग, कायोत्सर्ग, ध्यान, तप, परीषहजय, कषायविजय आदि जितनी भी आध्यात्मिक साधनाएँ हैं, या पारमार्थिक सेवाएँ हैं, वे समर्पण के अभाव में पनप ही नहीं सकतीं। इस समर्पित जीवन में इन्द्रियों को विषयभोगों से संतुष्ट करने, या तृष्णा, वित्तैषणा, लोकैषणा, पुत्रैषणादि एषणाएँ, वासना, अहंता, राग-द्वेषवृत्ति या कषायों की उत्तेजना आदि हेय प्रवृत्तियाँ बिलकुल त्याज्य होती हैं। ऐसा समर्पित जीवन मानवीय तथा दैवी विभूतियों एवं क्षमताओं से विभूषित होता चला जाता है। और उत्कृष्टताओं और अनन्तचतुष्टयी आत्मिक शक्तियों को क्रमशः विकसित करता हुआ जीवन के चरमलक्ष्य—मुक्ति या परमात्मतत्त्व तक पहुँचा देता है।

समर्पण से महालाभ

उत्कृष्टता के प्रति श्रद्धासिक्त समर्पण अनन्यनिष्ठा का आध्यात्मिक संस्कार है, जो किसी भी क्षेत्र के लिए अनवरत शक्ति-संचार का प्रेरणास्रोत बन जाता है। बीज की सत्ता अत्यन्त क्षुद्र और नगण्य समझी जाती है। वह यदि अपने आप में अलग-थलग होकर सीमित-संकीर्ण दायरे में पड़ा रहे तो कभी फलित-पुष्पित या विकसित नहीं हो सकता। वह भले ही किसी कीट को सन्तुष्ट कर दे, परन्तु इससे अधिक क्षमता उसमें नहीं होती। किन्तु वह बीज जो कल तक अत्यन्त तुच्छ एवं संकीर्ण घेरे में घिरा हुआ था, यदि स्वयं बिना झिझक और असन्तोष के पृथ्वी माता की गोद में समर्पित हो जाता है तो उसमें से विकास के नन्हे-नन्हे अंकुर फूट पड़ते हैं। सूर्य की किरणें भी उसे शक्ति देती हैं। हवा उसे दुलराती और थपथपाती है। मेघ से उत्पन्न जलकण उसका अभिसिंचन करते हैं। सारी प्रकृति उसको पनपाने और विकसित करने में जुट जाती है। बीज जमीन के अन्दर नीचे-नीचे बढ़ता जाता है, और अपनी जड़ें एवं अपनी आधारभूमि सुदृढ़ कर लेता है। तथा ऊपर उठता-उठता एक विशाल वृक्ष के रूप में परिणत होता चला जाता है। वही बीज एक दिन ऐसा वृक्ष बनता है, जिसके आश्रय में सैकड़ों जीव-जन्तुओं को पोषण, पक्षियों को विश्राम एवं सैकड़ों प्राणियों को फल, फूल आदि के रूप में उपयोगी उपहार मिलता है। अपने समग्र जीवन में वह एक बीज करोड़ों बीजों का जनक एवं सहस्रों प्राणियों का आधार बनने का गौरव पाता है। परन्तु बीज यह सब गौरव पाता है आत्म-समर्पण करने से। आत्म-समर्पण से उसकी महिमा एवं गरिमा अनन्तगुनी बढ़ जाती है। अणु से विभु, लघु से विराट बनने की प्रक्रिया आत्म-समर्पण के साँचे और

ढाँचे में ही परिपूर्ण होती है। यही आत्मार्थी एवं मुमुक्षु साधक के लिए सर्वोत्कृष्ट सुलभ मार्ग है।

विवशतापूर्वक समर्पण और स्वेच्छा स्वीकृत समर्पण

एक होता है विवशतावश समर्पण, और दूसरा होता है—स्वेच्छा से स्वीकृत समर्पण ! युद्ध में जब शत्रुपक्ष की हार होने लगती है, उसके अधिकतम सैनिक हताहत हो जाते हैं, तब वह विवश होकर अपने विपक्षी के समक्ष अपने आपको समर्पण (Surrender) कर देता है, हथियार डाल देता है। अथवा मुकदमेबाजी में हार जाने की नौबत आ जाती है, अथवा विपक्ष का पलड़ा भारी होता मालूम होता है तो पराजय की संभावना वाला पक्ष लाचार होकर परस्पर समझौता करने लगता है। वह एक प्रकार से स्वयं विपक्ष के समक्ष विवशतावश समर्पित हो जाता है। इसी प्रकार आध्यात्मिक जागत् में भी जब कोई व्यक्ति क्रोधादि कषायों, विषय-वासनाओं एवं अपने दुर्व्यसनों से पराजित हो जाता है, वे उस पर हावी हो जाते हैं, अथवा उन विकारों के समक्ष साधक टिक नहीं पाता, तब लाचार होकर वह स्वयं को उन्हें समर्पण कर देता है। परन्तु यह समर्पण विवशतापूर्वक समर्पण है, स्वेच्छाकृत नहीं। आध्यात्मिक जगत् में स्वेच्छापूर्वक समर्पण तभी कहलाता है, जब व्यक्ति मन में दृढ़ता एवं वीरता धारण करके साहसपूर्वक अपनी बुराइयों-विकारों एवं कषायों आदि को स्वतः प्रेरणा से या अन्तःस्फुरणा से वीतराग परमात्मा, अथवा महान् के प्रति, या उत्कृष्टता के प्रति विसर्जित कर देता है। जैनधर्म की प्रत्येक आध्यात्मिक साधना के साथ इसी भाव को अभिव्यक्त करने वाला वाच्य आता है—

'अप्पाणं वोसिरामि'[1]

'प्रभो ! मैं अपने आपका व्युत्सर्ग करता हूँ।'

इसका भावार्थ है—आत्मा की पापकर्मकारी—पापविकारों—पाप कर्मों से दूषित अतीत अवस्था का त्याग करता हूँ। अर्थात्—आत्मा पर पूर्व में लगी हुई कषाय, रागद्वेष, कामवासना आदि विकृतियाँ हैं, उन्हें प्रभु चरणों में—अथवा उत्कृष्टता—महानता के प्रति विसर्जन-त्याग करता हूँ।

समर्पण-साधना : ध्येय के प्रति एकनिष्ठा

समर्पण साधना में जब अपने अहंत्व-ममत्व का विसर्जन प्रभु के

---

१ आवश्यक सूत्र : सामायिक ग्रहण पाठ

चरणों में कर दिया जाता है तो फिर सच्चे माने में साधक की अपनी आशाओं—आकांक्षाओं, वासनाओं—तृष्णाओं या स्वार्थपरक महत्वकांक्षाओं के लिए कोई स्थान नहीं रहता। परमात्म-दर्शन, परमगति-मोक्ष की प्राप्ति या आत्मोपलब्धि आदि किसी भी अन्तिम ध्येय के लिए समर्पित साधक को अपनी कामनाएँ तथा काम-वासनाएँ सर्वप्रथम त्याग देनी पड़ती हैं।

समर्पित जीवन का रहस्य

परमात्मा या चरम ध्येय—मोक्ष अथवा उत्कृष्टता के प्रति समर्पित व्यक्ति में अहंकर्तृत्व की भी कोई गुंजाइस नहीं रहती। जिस प्रकार गणधर गौतम श्रमण भगवान् महावीर के प्रति पूर्णतः समर्पित हो गए थे, तब उनमें अहंकार-ममकार भी नहीं रहा। भगवान् महावीर के संघ के चौदह हजार साधुओं का आधिपत्य सँभालने पर भी, तथा स्वयं चार ज्ञान के एवं अनेक लब्धियों के धारक होते हुए भी वे प्रत्येक अवसर पर अपने परम आराध्य भगवान् महावीर को आगे रखते थे, उन्हें ही प्रत्येक सत्कार्य का श्रेय देते थे। उनके जीवन में—रोम-रोम में प्रभु महावीर रम गए थे। वे महावीर और उनके जीवन दर्शन में ओतप्रोत हो गए थे। वे अपनी प्रसिद्धि, अपनी मान्यता, अपनी धारणा या आग्रही वृत्ति का प्रचार-प्रसार न करके, प्रभु-महावीर के सिद्धान्तों और मान्यताओं या धारणाओं का प्रचार करते थे। इतने उच्च पद पर अधिष्ठित होते हुए भी वे अपने आपको प्रभु के चरण-सेवक एवं विनम्र साधक समझते थे। अपनी भूल या गलती को स्वीकारने में गणधर गौतम को जरा भी हिचक नहीं होती थी। उपासक आनन्द को जब उत्कृष्ट साधना के फलस्वरूप अवधिज्ञान प्राप्त हो गया था, तब गौतम स्वामी ने सहज भाव से कह दिया था कि गृहस्थ को ऐसा अवधिज्ञान नहीं हो सकता, किन्तु जब भगवान महावीर ने गणधर गौतम को उनकी भूल बताई तो तुरन्त स्वीकार करके तत्काल आनन्द श्रमणोपासक से क्षमा-याचना करने और अपनी भूल के लिए पश्चात्ताप प्रकट करने के लिए चल पड़े।

यह है—समर्पित जीवन का ज्वलन्त उदाहरण!

दूसरी ओर—मंखलीपुत्र गोशालक भी भगवान महावीर का शिष्य बना था, किन्तु उसका जीवन प्रभु-चरणों में समर्पित नहीं था। वह आत्म-समर्पण की साधना से काफी दूर था। यही कारण था कि वह महत्वाकांक्षी अहंत्व-ममत्व से प्रेरित होकर स्वयं तीर्थंकर बनने की लालसा एवं प्रसिद्धि-

प्रतिष्ठा पाने की ललक को लेकर प्रभु महावीर से बहुत दूर जा पड़ा। उसके अन्तःकरण में कषाय, राग-द्वेष, छल-छद्म भर गया। आत्म-समर्पण की वृत्ति न होने से गोशालक कठोर क्रियाकाण्डी, घोर तपस्वी एवं बाह्य आचारपरायण होते हुए भी परमात्मत्व प्राप्ति, मोक्ष-प्राप्ति या आत्म-स्वरूपोपलब्धि आदि ध्येय को प्राप्त न कर सका, बल्कि इनसे दूर से दूर होता चला गया।

निष्कर्ष यह है कि आत्म-समर्पण अथवा आत्म-व्युत्सर्ग की सच्ची साधना में व्यक्ति को अपनी व्यक्तिगत मान्यताएँ धारणाएँ, बौद्धिक उछल-कूद, यश-प्रतिष्ठा, प्रसिद्धि, महत्वाकांक्षा एवं अहंता-ममता आदि सब बातें अपने चरम ध्येय—मोक्ष या परमात्मा के प्रति बिना छल-छद्म के अर्पित कर देनी पड़ती हैं। उसके अन्तःकरण में किसी प्रकार की छल-कपट, ईर्ष्या, द्वेष, क्रोधादि कषाय की गांठ नहीं होनी चाहिए।

लोकनायक जयप्रकाश नारायण ने 'आत्म दानियों से' नामक पुस्तक में समर्पण की व्याख्या करते हुए लिखा है—"समर्पण का अर्थ है—मन अपना, विचार इष्ट के (अर्थात्—जिसे आत्म-समर्पण किया गया है); हृदय अपना, भावनाएँ इष्टि की; आपा अपना, किन्तु कर्तृत्व समग्र रूप से इष्ट का।" समर्पण के इस अर्थ के परिप्रेक्ष्य में अहंता से पूर्णतया अवकाश पा लेना ही साधक के लिए अभीष्ट है। इस दृष्टि से समर्पण आत्म-कल्याण की सर्वोपरि साधना है। समर्पण में साधक का जीवन सतत प्रभु-समर्पित या ध्येय-समर्पित होता है। उसका प्रत्येक चिन्तन, मनन, ध्यान, चर्चा, कर्तृत्व एवं वाचन-अध्ययन, एक मात्र एक ही (प्रभु की या ध्येय की) दिशा में नियोजित रहता है। आचारांग सूत्र में भगवान महावीर ने समर्पण-साधना का निष्कर्ष बताया है—

"तद्दिट्ठीए तम्मुत्तिए तप्पुरक्कारे तस्सण्णी, तन्निवेसणे"[1]

साधक उस वीतराग प्रभु, ध्येय, दर्शन सिद्धान्त या गुरु के प्रति ही एकमात्र दृष्टि रखे, उसी की आज्ञा में तन्मय हो जाए या उसी के द्वारा प्ररूपित विषय-कषायों के प्रति आसक्ति से मुक्ति में ही मुक्ति माने; उसी को आगे (दृष्टिपथ में) रखकर विचरण करे, या शिरोधार्य करे, उसी का संज्ञान (स्मृति) सब कार्यों में रखे, या उसी द्वारा उपदिष्ट विचारों की

---

१ आचारांग श्रु.१, अ० ५, उ० ४, सू० १६२ (आगम प्रकाशन समिति ब्यावर)

स्मृति में एकरस हो जाए; और उसी के सान्निध्य में तल्लीन होकर रहे, अथवा उसके ही चिन्तन में स्वयं को निविष्ट—दत्तचित्त कर दे।

यह है- समर्पण-साधना का रहस्य !

समर्पणयोग का महत्त्व अध्यात्म-प्रतिपादनों में अनेक स्थानों पर अनेक ढंग से किया गया है। आचारांग सूत्र में समर्पणयोग की साधना का जो प्रतिपादन किया है, उसका सर्वश्रेष्ठ नमूना ज्ञातासूत्र में आये महामुनि मेघकुमार हैं। मेघकुमार ने जिस दिन भागवती दीक्षा ग्रहण की उस दिन उनका शयनासन सबसे अन्त में था। रात्रि को जो भी साधु लघुनीति के लिए जाता, अंधेरे में प्रायः उसके पैर की ठोकर लग जाती। इससे मेघमुनि क्षुब्ध हो उठे और प्रातःकाल होते ही मुनिवेष एवं उपकरण भगवान् को सौंप कर चले जाने का विचार किया। प्रातः ब्राह्ममुहूर्त में उठकर वे भगवान् के पास आए। अन्तर्यामी प्रभु ने उनकी मनःस्थिति पहचान कर उन्हें पदाघात के इस कष्ट से भी भयंकर कष्ट पूर्वजन्म में सहने की कथा कही तो उनके अन्तर्हृदय के तार झनझना उठे। उहोंने अपने सब विकार-विकल्पों का एक झटके में प्रभुचरणों में विसर्जन कर दिया और प्रायश्चित्त लेकर शुद्ध हुए। स्वरूप में स्थित होकर सर्वात्मना प्रभुचरणों में समर्पित हो गए। उहोंने तत्क्षण प्रतिज्ञा की—प्रभो ! मैं आज से केवल आँखों के सिवाय समस्त अंग आपके चरणों में समर्पित करता हूँ। भगवद्गीता में भी इसी प्रकार की समर्पण-साधना का प्रतिपादन किया गया है—

मय्येव मन आधत्स्व, मयि बुद्धिं निवेशय।
निवसिष्यसि मय्येव अत ऊर्ध्वं न संशयः॥

"हे अर्जुन ! तू अपना मन मुझ में लगा, मेरे में ही बुद्धि को रख (मुझे बुद्धि सौंप) इसमें पश्चात् तू मेरे में निवास करेगा, अर्थात्—तेरे हृदय में परमात्मत्व बस जाएगा। अथवा तू मुझे (शुद्ध आत्मस्वरूप को) ही प्राप्त करेगा। इसमें कोई संशय नहीं है।"

इस प्रकार सर्वात्मना एवं सर्वांगीणरूप से समर्पण करने से समर्पित आत्मा को परमात्म-सान्निध्य का ऐसा दिव्य लाभ मिल जाता है, जिसके लिए वर्षों तक योगाभ्यास और जन्म-जन्मान्तरों के दोष-परिमार्जन की एक कठिन और लम्बी साधना करनी पड़ती। यही नहीं, समर्पित जीवन में पवित्रता की एक ऐसी भावना सन्निहित रहती है, जो साधक को भौतिक प्रवंचनाओं, प्रलोभनों एवं भयों से पतित होने से बचाती है।

सत्प्रवृत्तियों, उच्च आदर्शों, अन्तिम ध्येय या उत्कृष्टता के प्रति समर्पित जीवन का अर्थ है—परमात्मा के प्रति समर्पित जीवन।

भारतीय स्वाधीनता संग्राम बिना किसी युद्ध के जीता गया। जननेताओं की समर्पित साधना को ही उसका श्रेय है। उस समय प्रायः सभी में न तो कोई महत्त्वाकांक्षा थी, न ही पूर्वाग्रह या हठाग्रह था, और न सेवा के फल की नामना या कामना थी। एकमात्र सरफरोशी की तमन्ना थी। ऐसे सच्चे समर्पण की भावना जहाँ भी उत्पन्न होगी, वहाँ सफलता के दर्शन शीघ्र ही होंगे।

भक्तियोग में भी शरणागतिरूप समर्पण की प्रधानता है। गोपियों का कृष्ण के साथ रास रचाने का तात्पर्य यह है कि सभी प्रवृत्तियाँ (गोपियाँ) आत्मा (कृष्ण) की पुकार (वेणुवादन) का अनुसरण करें। वेदान्त में इसे अद्वैत-एकत्व कहते हैं।

इसका तात्पर्य यह है कि वीतराग परमात्मा पर विश्वास करके, उनके सिद्धान्तों, आदर्शों या आज्ञाओं को शिरोधार्य करने तथा उनकी प्रेरणा को जीवन नीति के साथ एकाकार कर देने से समर्पित आत्मा के लिए परमात्मा या मोक्ष का प्राप्त कर सकना आसान हो जाता है।

गुरुचरणों में समर्पण का फल

जिन साधकों ने गुरु के प्रति स्वयं को समर्पण कर दिया, उन्होंने भी यथेष्ट फल प्राप्त किया है। स्वामी विवेकानन्द ने स्वयं को रामकृष्ण परमहंस के चरणों में समर्पित न किया होता और उस समर्पण के प्रति वफादार न रहे होते तो रामकृष्ण परमहंस के दूसरे शिष्यों की तरह वे भी कोई उल्लेखनीय कार्य नहीं कर सके होते। समर्थ गुरु रामदास को समर्पित होने के बाद शिवाजी का जीवन अनासक्त और उच्चस्तरीय हो गया। शंकराचार्य को आत्म-समर्पण करके मान्धाता जातीय जीवन के गौरव बने। महर्षि दयानन्द अपने गुरु स्वामी विरजानन्दजी के प्रति पूर्ण समर्पित होने से आर्यसमाज के संस्थापक एवं वैदिक संस्कृति के उद्धारक बने।

वस्तुतः समर्पण व्यक्ति की निष्ठा की परख है। उस पर खरा उतरने पर ही समर्पण सार्थक होता है।

आत्मसमर्पण : देवाधिदेव, गुरु और धर्म के प्रति

जिस प्रकार वीतराग देवाधिदेव के प्रति समर्पण की साधना में पूर्णतया सावधान रहना पड़ता है कि साधक कहीं उनकी आज्ञाओं, आदर्शों या

सिद्धान्तों से विचलित न हो जाए, इसी प्रकार गुरु-निर्ग्रन्थ अनगार के एवं शुद्ध सम्यग्ज्ञान-दर्शन-चारित्ररूप सद्धर्म के प्रति पूर्ण वफादारी—निष्ठा रखना भी समर्पण-साधना है। ऐसे समर्पित साधक को व्यक्तिगत स्वार्थ, अहंता-ममता, क्षुद्रता एवं संकीर्णता के बन्धनों से ऊपर उठना आवश्यक है। महान् आदर्शों के प्रति आत्मसमर्पण करने और अनन्य श्रद्धा-भक्तिपूर्वक निष्ठा रखने से ही समर्पण का सच्चा आनन्द मिल सकता है।

सच्ची आस्तिकता : परमात्मा के प्रति आत्म-समर्पण

परमात्मा के प्रति आत्मसमर्पण करना ही वस्तुतः सच्ची आस्तिकता है। समर्पित साधक तब परमात्मा के ढाँचे में ही अपने गुण, कर्म और स्वभाव को ढालता है। वह सज्जनोचित सदाशयता से स्वयं को ओतप्रोत कर लेता है। उसके जीवन में आध्यात्मिकता आत्मावलम्बन के रूप में रहेगी, और व्यवहार में धार्मिकता, नैतिकता एवं कर्त्तव्यपरायणता होगी। परमात्मा को आत्मसमर्पण करने वाला साधक उनके अनुशासन में चलता है। वह अपनी रीति-नीति ऐसी बनाता है, जो परमात्म-भक्त को शोभा देती है। जैसे नाला अपने आपको जब नदी में मिलाता है तो उसी के प्रवाह में उसी के अनुरूप बहता है। ईन्धन जब अग्नि को समर्पित होता है तो अपने में आग के सारे गुण समाविष्ट कर लेता है। इसी प्रकार भक्त का भगवान् के प्रति समर्पण है। उसके दृष्टिकोण में ऐसा परिवर्तन आ जाता है कि उसमें किसी प्रकार की कामना, स्पृहा, तृष्णा या महत्वाकांक्षा नहीं रहती। भगवान् की आज्ञा को ही वह अपनी इच्छा बना लेना है। उसके चिन्तन में, चरित्र में एवं व्यवहार में आदर्शवादी उत्कृष्टता का समावेश हो जाता है। यही है—आत्म-व्युत्सर्गयुक्त समर्पणयोग की साधना का रहस्य!

———

१२

सम्यक्श्रद्धा के आधारभूत लक्षणों के सन्दर्भ में—

'शम' और उसका स्वरूप

शम का प्रथम रूप—श्रम : श्रमण संस्कृति का मूलाधार

विश्व में अनेक संस्कृतियाँ पनपी हैं और अनेक लोगों ने उनका अनुसरण और अनुगमन किया है। भारतवर्ष में मुख्यतया दो संस्कृतियों का विकास हुआ है। वे हैं—श्रमण-संस्कृति और ब्राह्मण-संस्कृति।

संस्कृति का कार्य

यह ध्यान रखना चाहिए कि सभ्यता और संस्कृति में बहुत बड़ा अन्तर है। सभ्यता एक-एक वर्ग के बाह्य व्यवहार और रहन-सहन से सम्बन्धित है। वह मुख्यतया शरीर और इन्द्रियों से सम्बन्धित चेष्टाओं, नैतिक नियमों तथा एक वर्ग, एक समूह या एक जाति का दूसरे वर्ग, समूह या जाति के साथ किये जाने वाले व्यवहार से सम्बद्ध है। जबकि संस्कृति मानव जीवन के प्रत्येक व्यवहार में मन और आत्मा से सम्बन्धित हित-अहित, कर्तव्य-अकर्तव्य, दायित्व-अदायित्व, कल्याण-अकल्याण आदि का विवेक कराने वाली एक विचार-आचारधारा होती है। संस्कृति जीवन का आत्मकल्याण, आत्मज्ञान, आत्मसाधना, आत्मतृप्ति, आत्मध्यान एवं आत्मविकास की उच्च श्रेणी पर आरोहण करने का दिशानिर्देश करती है। संस्कृति मानव जीवन को आध्यात्मिक दृष्टि से संस्कारित करती है। वह जीवन जीने के मूल्यों और मानदण्डों का निर्धारण करती है।

भारतीय संस्कृति श्रमण और ब्राह्मण धारा में

भारत की प्राचीन संस्कृति 'श्रमण' और 'ब्राह्मण' इन दो धाराओं में विभक्त रही है। ब्राह्मण संस्कृति अतिसमृद्ध भौतिक जीवन का प्रतिनिधित्व करती आई है, जबकि श्रमण-संस्कृति उच्चतम आध्यात्मिक जीवन का। यही कारण है कि ब्राह्मण संस्कृति ऐहिक सुख समृद्धि तथा विषयसुख-भोग की अभिलाषा से स्वर्गीय सुखों की कल्पनाओं तक अटक जाती है, जबकि श्रमण-संस्कृति वैषयिक सुखों, तथा ऐहिक एवं पारलौकिक सुखों की आकांक्षा का त्याग करके शुभकर्मों के फलस्वरूप प्राप्त होने वाली स्वर्गसुखों की कामना, प्रसिद्धि, आदि से दूर रहकर मानव को मोक्षलक्ष्यी तप, त्याग एवं संयम के मार्ग पर चलने का संदेश देती है। निष्कर्ष यह है कि श्रमण संस्कृति सम्यक् तप, त्याग एवं कर्मक्षयकारक रत्नत्रयरूप धर्म के मार्ग पर चलना सिखाती है।

श्रमण संस्कृति : स्वयं श्रम करना सिखाती है

श्रमण संस्कृति जीवन में स्वश्रम (स्वावलम्बन) को उज्जीवित करने वाली संस्कृति है। जीवन में अपने पर आने वाले संकट, विघ्न, कष्ट आदि के लिए स्वयं को उत्तरदायी बताकर उसे स्वयं ही उनको निवारण करने की प्रेरणा देती है।

श्रमण संस्कृति के परम उन्नायक श्रमण शिरोमणि भगवान महावीर पर जब बहुत संकट (उपसर्ग) आने वाले थे, तब इन्द्र ने उनकी सेवा में उपस्थित होकर नम्र-निवेदन किया—"प्रभो! आप पर बहुत संकट आने वाले हैं। अतः आप आज्ञा दें तो मैं आपकी सेवा में रहकर आपको संकटों से बचाऊं।" प्रभु ने कहा—"इन्द्र न तो ऐसा कभी हुआ है, न होगा और न है कि जिनेन्द्र दूसरों के सहारे से कभी विकास करें। वे सदा ही अपने बल-वीर्य और पराक्रम से अपनी आत्मा का विकास करते हैं और परमपद प्राप्त करते हैं—

स्ववीर्येणैव गच्छन्ति जिनेन्द्राः परमं-पदम्"

श्रमण संस्कृति का स्वर है कि व्यक्ति अपने सुख-दुःख, उत्थान-पतन, विकास-ह्रास एवं हित-अहित के लिए स्वयं उत्तरदायी है। अपने उत्थान, विकास, शुद्धि एवं कल्याण के लिए व्यक्ति को परमुखापेक्षी न बनकर स्वयं श्रम करना चाहिए।

जो व्यक्ति परावलम्बी, पराश्रयी और परमुखापेक्षी होते हैं; वे आत्म-हीनता के शिकार होकर स्वयं को दुर्बल, अशक्त और पराधीन (ईश्वराधीन)

मानने लगते हैं। वे परिस्थितियों का रोना रोकर अपनी कार्य करने की असमर्थता बताने लगते हैं। परावलम्बी व्यक्ति को अपने पुरुषार्थ (श्रम) एवं अपने पराक्रम पर विश्वास ही नहीं होता। अतः श्रमण संस्कृति स्वयं तप, त्याग, संयम में पुरुषार्थ (श्रम) द्वारा व्यक्ति को आत्मनिर्भर, स्वावलम्बी एवं आत्मविश्वासी बनना सिखाती है। वह परिस्थितियों से स्वयं जूझकर आगे बढ़ने की प्रेरणा देती है। यदि परिस्थितियाँ, परीषह या उपसर्ग (संकट) किसी को रोक पाते तो जगत् में जितने भी श्रेष्ठ कार्य हुए हैं, या जिन महापुरुषों ने सम्यग्दर्शन, ज्ञान, चारित्र या तप-त्याग का पुरुषार्थ करके अपने चरम लक्ष्य—मोक्ष को प्राप्त किया है, उसे वे कभी प्राप्त नहीं कर सकते थे। अर्जुन मुनि, गज सुकुमाल मुनि आदि महान् साधकों पर जब विपत्ति (उपसर्ग) आई तो उन्होंने किसी भी देव-देवी या तीर्थंकर, परमात्मा अथवा ईश्वर से सहायता की याचना नहीं की। यदि भगवान् या ईश्वर अथवा कोई देवी-देव उन्हें उनकी पुकार पर सहायता करने आते तो उनके अपने पूर्वकृत कर्म कैसे क्षय होते, अथवा वे अपना आत्म-विकास कैसे करते ? इसीलिए सम्यग्दर्शन या सम्यक्त्व का प्रथम लक्षण है—श्रम-शम-सम पर पूर्ण निष्ठा एवं उन पर सर्वतोभावेन विश्वास। जिसे अपनी आत्मशक्तियों पर विश्वास नहीं, वह श्रमण संस्कृति का पुजारी कैसे हो सकता है ? अपनी आत्म-साधना के लिए दूसरों पर विश्वास रखने वाला एवं पराश्रय को ताकने वाला व्यक्ति तप, त्याग, संयम, तथा अहिंसा, सत्य आदि की साधना-आराधना करने की अपनी शक्तियों को छिपाता है।

श्रमण संस्कृति के अमर गायक आचार्य कहते हैं—

संते वीरिए ण णिगूहियव्वं।
संते वीरिए अण्णो ण आणाइयव्वो।"

"शक्ति होने पर उसे छिपाना नहीं चाहिए। शक्ति होते हुए (उस सत्कार्य के लिए) दूसरे को आज्ञा नहीं देनी चाहिए।"

अतः श्रमण संस्कृति अपनी आत्मशक्ति पर विश्वास रखकर अपने मन-वचन-काय आदि साधनों का यथार्थ दिशा में उपयोग करना सिखाती है। जिसे अपनी आत्मशक्ति पर अटल विश्वास होता है, उसे परिस्थितियाँ, उपसर्ग, संकट या परीषह कभी परास्त नहीं कर सकते। श्रमण संस्कृति का सम्यग्दृष्टिसम्पन्न पुजारी आत्मशक्ति पर दृढ़ विश्वास रखकर परिस्थितियों का सामना करता है। अपनी मनःस्थिति को वह परिस्थितियों के अनुरूप ढाल लेता है। उत्तराध्ययनसूत्र में स्पष्ट कहा गया है—

खवित्ता पुव्वकम्माइं संजमेण तवेण य।
सव्व दुक्खपहीणट्ठा पक्कमंति महेसिणो॥[1]

अर्थात्--महर्षिगण समस्त दुःखों का नाश करने के लिए संयम और तप द्वारा पूर्वकृतकर्मों का क्षय करके मोक्ष प्राप्ति के लिए पराक्रम (श्रम = पुरुषार्थ) करते हैं। कहना होगा कि श्रमण संस्कृति विपरीत वातावरण, प्रतिकूल परिस्थिति और आत्मबाधक माहौल में भी व्यक्ति को अपनी आत्मशक्ति प्रकट करना, तप-संयम में पुरुषार्थ करना, तथा धर्म-पालन में आलस्य या प्रमाद को दूर करके पराक्रम करना सिखाती है। यदि दूसरों की कृपा; सहायता या आश्वासन पर निर्भर रहते तो अर्जुन मुनि, गज-सुकुमाल मुनि आदि अपने पूर्वकृत प्रचुर कर्मों को कभी क्षय नहीं कर पाते, न ही आत्म-शुद्धि करके मुक्ति या पूर्णता की मंजिल तक पहुँच सकते थे। आध्यात्मिक विकास में सफलता भी मनुष्य अपने सहारे से ही पा सकता है। अतः श्रमण संस्कृति के मूलमंत्रों पर आत्मार्थी व्यक्ति को गहराई से विचार कर लेना आवश्यक है।

श्रमण संस्कृति के तीन मूलमंत्र --श्रम, शम और सम

श्रमण संस्कृति का प्राकृत भाषा में मूल शब्द 'समण' है। जो आगमों, ग्रन्थों एवं पुस्तकों में यत्र-तत्र मिलता है। जैन और बौद्ध धर्म के आचार्यों और विद्वानों ने 'समण' शब्द के तीन संस्कृत रूप माने हैं--(१) श्रमण, (२) शमन और (३) समन। इन्हीं तीनों में से इस संस्कृति के तीन मूल मंत्र फलित होते हैं--श्रम, शम और सम। ये ही इस संस्कृति के मूलाधार हैं। ये तीनों श्रमण संस्कृति की विचार-आचार धारा के प्राण हैं। इन्हें छोड़ देने या इनकी उपेक्षा कर देने से व्यक्ति, समाज और समष्टि तीनों का अहित, पतन एवं ह्रास होता है; क्योंकि इन तीनों मूल मंत्रों का संदेश या निर्देश व्यक्ति के आत्महित, स्व-परकल्याण, एवं आध्यात्मिक विकास को लक्ष्य में रखकर ही हुआ है, और है। इनके संदेशों-निर्देशों का लक्ष्य शरीर और शरीर से सम्बद्ध सजीव-निर्जीव इष्ट पदार्थों की प्राप्ति या सांसारिक--वैषयिक सुखों की अभिलाषापूर्ति कभी नहीं रहा। यह बात दूसरी है कि इस संस्कृति के अनुगामियों ने भी परस्पर साम्प्रदायिक एवं जातीय संघर्षों या सत्ताकीय स्वार्थों में उलझकर इसके मूलभूत मंत्रों का मूल्य गिराया है, अथवा अपना आत्मिक पतन किया है।

---

१. उत्तराध्ययन सूत्र अ. २८, गा. ३६

'श्रमण' शब्द की व्युत्पत्ति

श्रमण संस्कृति के इन तीनों मूल तत्त्वों पर हम यथास्थान विवेचन करेंगे ही। सर्वप्रथम हम 'श्रमण' शब्द का निर्वचन करना चाहते हैं, जिसमें से मूलमंत्र 'श्रम' फलित हुआ है। श्रमण शब्द श्रम् धातु से निष्पन्न हुआ है। संस्कृत व्याकरण के अनुसार श्रम् धातु तप और खेद (परिश्रम) के अर्थ में है। आचार्य हरिभद्रसूरि ने 'श्रमण' शब्द की व्युत्पत्ति इस प्रकार की है—

'श्राम्यति तपस्यतीति श्रमणः

'जो श्रम करता है, तप करता है, वह श्रमण है।'

श्रम् धातु के तप और खेद अर्थ को ध्यान में रखकर 'अभिधान राजेन्द्र कोष' में श्रमण शब्द की व्युत्पत्ति इस प्रकार की है—

"श्राम्यति संसारविषयेषु खिन्नो भवति, तपस्यति वा स श्रमणः श्रममानयति पंचेन्द्रियाणि मनश्चेति वा श्रमणः।"

अर्थात्—संसार के विषयों से जो खिन्न या उदासीन होता है, अथवा आत्मशुद्धि के लिए तप करता है, वह श्रमण है। अथवा तप, त्याग, संयम या रत्नत्रयरूप मोक्ष मार्ग के श्रम (पराक्रम) में अपनी पाँचों इन्द्रियों और मन को लगाता है, वह श्रमण है।

'श्रमण' शब्द पर से श्रमण संस्कृति के मूल तत्त्व के रूप में 'श्रम' शब्द फलित होता है। सम्यग्दृष्टि को सम्यक्श्रद्धा की पहचान सर्वप्रथम इसी तत्त्व के द्वारा होती है।

श्रमण संस्कृति-मान्य श्रम

कोई यह तर्क कर सकता है कि श्रमण संस्कृति में जब श्रम का संदेश दिया है तो शारीरिक, मानसिक, वाचिक, बौद्धिक, आध्यात्मिक आदि सभी प्रकार का 'श्रम' करना चाहिए; परन्तु हम पहले ही स्पष्ट कर चुके हैं, ऐसा श्रम श्रमण संस्कृति को मान्य नहीं है, जो स्व-पर-अहितकर हो, जिससे अपना और दूसरों का पतन हो, अथवा आध्यात्मिक दृष्टि से जो श्रम मिथ्यात्व, अविद्या या अज्ञान से युक्त हो। सूत्रकृतांग सूत्र में इसका स्पष्टीकरण करते हुए कहा गया है—

जे याऽबुद्धा महाभागा वीराऽसमत्तदंसिणो ।
असुद्धं तेसिं परक्कंतं अफलं होइ सव्वसो ॥

जो बोधि प्राप्त (प्रबुद्ध) नहीं हैं, भले ही वे महाभाग्यशाली हों, वीर हों, परन्तु वे मिथ्यादृष्टिसम्पन्न (असम्यक्दर्शी) हैं, उनका पराक्रम अशुद्ध है, और सर्वथा मोक्षफल से रहित होता है।

वस्तुतः ऐसा श्रम (पराक्रम) जो मिथ्यात्व या अज्ञान से युक्त हो, वह अशुद्ध है। श्रमण-संस्कृति ऐसे श्रम को मोक्षलक्ष्य के प्रतिकूल मानती है।

भौतिक विकासलक्ष्यी श्रम भी मोक्षलक्ष्यी नहीं

यद्यपि संसार के अद्यावधि विकास पर दृष्टिपात किया जाए तो स्पष्ट प्रतीत होगा कि मानव ने अपने श्रम के बल पर ही वैज्ञानिक, सामाजिक, आर्थिक, राजनैतिक एवं जागतिक विकास किया है। परन्तु यह सारा विकास भौतिक है। यह श्रम हुआ तो बुद्धि तथा तन-मन-वचन के माध्यम से ही है, परन्तु इसके साथ आत्मा के हितों, अथवा आध्यात्मिक मूल्यों की प्रायः उपेक्षा की गई है, बल्कि यों कहना चाहिए कि प्रायः विश्व के प्राणियों के हितों की रक्षा को इसमें नजर अन्दाज किया गया है। अनेक वैज्ञानिकों और आविष्कारों ने अनेक खतरे उठाकर, अपना खून-पसीना सींचकर जगत् के विकास में अपना श्रम भी किया है, परन्तु उस श्रम के पीछे दृष्टिकोण भौतिक विकास का ही रहा, आध्यात्मिक विकास को कोई स्थान उसमें नहीं दिया गया। यही कारण है कि जगत् के उस भौतिक विकास से लोगों में वैषयिक सुखों की लालसा एवं आरामतलबी बढ़ी, स्वार्थभावना, प्रतिस्पर्द्धा, संघर्ष, ईर्ष्या, द्वेष, परस्पर-विजिगीषा, कलह, क्लेश, युद्ध आदि बढ़े; हिंसा, असत्य, मक्कारी, चोरी, भ्रष्टाचार, अनीति, अन्याय एवं तस्करी बढ़ी। लोगों में प्रायः येन-केन-प्रकारेण धन कमाने, सत्ता प्राप्त करने, सुख-साधन बढ़ाने, ऐश-आराम करने और इन्द्रिय-सुखों का उपभोग करने की वृत्ति प्रबल हो गई। आत्महित, आध्यात्मिक विकास या आत्मकल्याण के लिए श्रम का लक्ष्य भूलकर अधिकांश जन समूह भौतिकतालक्ष्यी अथवा शरीरसुख-मुखी श्रम करने लगा। उस भौतिक श्रम में भी लोग मानवहित या प्राणिहित को भूल गए। कई अपने बौद्धिक श्रम के बल पर सत्ता और धन अर्जित करके अपने और अपनों के ऐश आराम एवं सुख-भोग के चक्कर में पड़ गए। उन्होंने स्वयं भी शारीरिक श्रम छोड़ दिया

और अपनी वंश परम्परा को भी शारीरिक श्रम के संस्कारों से विहीन कर दिया। शारीरिक श्रम छोड़ दिया और थोप दिया—केवल श्रमजीवियों या श्रमिकों पर। जिनके पास न तो प्रचुर धन था, और न ही सत्ता थी। कुछ बुद्धिजीवी अपने बुद्धिबल से उन श्रमजीवियों के शारीरिक श्रम के आधार पर प्रचुर धन कमाने लगे। कुछ सत्ताधीश उनके श्रम का शोषण करके उन्हें कम से कम धन देकर अपने सुख और ऐश्वर्य में वृद्धि करने लगे। इस प्रकार दो वर्गों में आध्यात्मिक लक्ष्यविहीन श्रम विभाजित हो गया—

(१) अपने पेट और परिवार के पोषण के लिए नीति और धर्म को छोड़कर मात्र शारीरिक श्रम करने वाले।

(२) शारीरिक श्रम से दूर रहकर केवल बौद्धिक श्रम करके जीने वाले आरामतलबी या सुखभोगी मानव।

इन दोनों प्रकार के वर्गों के श्रम से न तो किसी प्रकार का सम्यक् तप होता है, और न ही किसी प्रकार का संयम। मानवहित या प्राणिहित का लक्ष्य तो ऐसे श्रम के पीछे प्रायः नहीं होता।

ये दोनों प्रकार के श्रम यद्यपि स्वपर-अहितकर हैं, तथापि आरामखोरी एवं शोषणयुक्त हरामखोरी तो उस शारीरिक श्रम से भी बहुत बुरी है, भले ही उस शारीरिक श्रम के पीछे नीति और धर्म का लक्ष्य न हो। आरामखोरी और हरामखोरी तो मनुष्य को परवश, आलसी, अकर्मण्य एवं परमुखापेक्षी बनाती है। शारीरिक श्रम में जुटने वाले व्यक्ति को नीति, धर्म एवं अध्यात्म का चिन्तन मिले और वह उस प्रकार से श्रम करने में जुट जाए तो उसका 'श्रम' लक्ष्य की दिशा में मुड़ सकता है।

भगवान् महावीर का परम उपासक, श्रमणसंस्कृति का पुजारी पूणिया श्रावक भी श्रम करता था। वह अपने समत्वलक्ष्य से अनुप्राणित होकर रूई की पूनियाँ बना कर अपने कुटुम्ब का पोषण करता था, शेष समय आध्यात्मिक श्रम में लगाता था। वह अपना समय आर्त्तरौद्रध्यान, आलस्य, निन्दा-विकथा, दूसरों के शोषण और स्वपर-अहितकर कार्यों में नहीं बिताता था। उसकी दिनचर्या शारीरिक, बौद्धिक, मानसिक और आध्यात्मिक श्रम से परिपूर्ण रहती थी, परन्तु उसका सारा श्रम होता था लक्ष्य की दिशा में ही।

जबकि वर्तमान युग के अधिकांश व्यक्ति किसी न किसी प्रकार का

श्रम तो करते ही हैं, परन्तु उनके श्रम के पीछे प्रायः हिताहित, पुण्य-पाप, धर्म-अधर्म या कर्तव्य-अकर्तव्य का कोई विवेक नहीं होता। इसीलिए भगवान् महावीर ने सम्यग्दृष्टिसम्पन्न व्यक्तियों के लिए श्रमणसंस्कृतिमूलक 'श्रम' का जोर-शोर से प्रतिपादन किया है।

श्रम तो हो, पर सम्यक् और सही दिशा में हो

एक पहलवान भी शारीरिक श्रम करता है और एक मजदूर भी। दोनों ही पसीना बहाते हैं और दोनों के ही शरीर में थकान होती है। परन्तु उनमें से एक हृष्टपुष्ट हो जाता है और दूसरा क्षीणकाय, ऐसा क्यों ? शारीरिक श्रम तथा पसीना बहाने के पीछे पहलवान की भावना स्वास्थ्यलाभ की होती है। स्वास्थ्यलाभ की भावना अहर्निश करने से पहलवान हृष्टपुष्ट एवं बलिष्ठ हो जाता है। मजदूर की श्रम के पीछे भावना इस प्रकार की होती है कि मैं पेट भरने के लिए परिश्रम कर रहा हूँ, पैसे के लिए मुझे श्रम करना पड़ता है। वस्तुतः वह जीविका की मजबूरी से श्रम करता है। श्रम के पीछे विवशता और लाचारी की भावना मजदूर के शरीर को क्षीण कर देती है, बलिष्ठ नहीं होने देती। अपने शरीर की शक्तियाँ क्षीण होते देख मजदूर दुःखी होता है। उसका श्रम उसे आनन्ददायक नहीं लगता।

यही अन्तर मिथ्यादृष्टि या अज्ञानी के श्रम और सम्यग्दृष्टि के अध्यात्मलक्ष्यी या संवर-निर्जरालक्ष्यी अथवा कर्मक्षयलक्ष्यी श्रम में है। मिथ्यादृष्टि भी पुरुषार्थ तो बहुत करता है, शरीर को कष्ट देने वाले विविध तप करता है, घंटों मल-मल कर नहाता है, पंचाग्नि तप तपता है, ऊँची भुजाएँ करके खड़ा रहता है, रातदिन भगवान के नाम की ही रट लगाता है, पर कार्य भगवान् का नहीं करता, प्रभु के आदेश-सन्देश से विपरीत चलता है, नामना-कामना एवं प्रसिद्धि के लिए बड़े-बड़े अनुष्ठान कराता है, अपने सम्प्रदाय की प्रतिष्ठा और जाहोजलाली के लिए उलटे-सीधे तर्कों, विपरीत चर्चाओं, तथा दूसरे सम्प्रदाय या उसके अनुयायियों को बदनाम या मिथ्यादोषारोपण करने के लिए आकाश पाताल एक करता है। द्वेषबुद्धिवश दूसरों को पराजित करने, वितण्डावाद करके झगड़ा करने में अतीव पुरुषार्थ करता है। बहुत से लोगों का पुरुषार्थ धर्मिष्ठ कहलाने, पद-प्रतिष्ठा पाने, यश बटोरने, वाहवाही लूटने तथा स्वार्थ सिद्ध करने के लिए होता है। अथवा अध्यात्म का वाचिक पुरुषार्थ भी होता है, केवल पाण्डित्य या विद्वत्ता प्रदर्शित करने के लिए। अथवा समतायोग की लम्बी-चौड़ी लच्छेदार भाषणबाजी

करके लोगों को अपने साम्प्रदायिक जाल में फँसाने या सम्प्रदाय में बाँधे रखने के लिए होता है। कई अज्ञानीजन क्रियाकाण्डों या कष्ट-सहिष्णुता का प्रदर्शन खूब करते हैं, पर उसके पीछे या तो अहंकारवृत्ति रहती है या लोभवृत्ति। हिंसा, असत्य, चोरी, जारी, बेईमानी, डाकेजनी, आगजनी, हत्याकाण्ड, ठगी आदि का भयंकर साहस करने वाले साहसीजन पाप कर्म बन्ध का पुरुषार्थ करते हैं, यह तो प्रत्यक्ष है। कई व्रत, नियम, त्याग, प्रत्याख्यान, एवं अन्य धार्मिक क्रियाओं में पुरुषार्थ करते हैं, पर उनके पीछे उनकी वृत्ति इहलौकिक या पारलौकिक लाभ की, या सुखभोग की वाञ्छा या किसी भी प्रकार की निदान (नियाणा) पूर्ति सम्बन्धी आकांक्षा रहती है। ऐसा पुरुषार्थ भी सम्यक् नहीं है। कई व्यक्ति वर्षों तक श्रम धार्मिक क्रियाओं में करते हैं, परन्तु वे किसी न किसी सांसारिक फलाकांक्षा को लेकर करते हैं। जब उन्हें वर्षों तक इस प्रकार के श्रम करने पर भी मनोऽनुकूल फल नहीं मिलता तो वे अपने अशुभकर्मपूर्ण उपादान को न देखकर, या तो निमित्तों को, या भगवान् को कोसते रहते हैं, अपनी असफलता का रोना रोते रहते हैं। उलटा परिणाम आने पर हायतोबा मचाते हैं। इस प्रकार श्रम सम्यक् और सही दिशा में न होने के कारण उनका किया-कराया सब श्रम आध्यात्मिक दृष्टि से सफल नहीं हो पाता। मिथ्यात्वी अज्ञानी मानव अधिक श्रम करता हुआ भी अधिक कष्ट में रहता है। आगे चलकर वह उलटी दिशा में हुए श्रम को एक अभिशाप मानने लगता है। दिशाहीन मिथ्यादृष्टिपरायण व्यक्ति चाहे श्रमरत हो, चाहे निष्क्रिय, वह संसार के जन्म-मरण के चक्र में वृद्धि करता है। उसके श्रम की दिशा सम्यक् न होने के कारण वह वांछनीय उपलब्धि नहीं प्राप्त कर पाता।

सम्यग्दृष्टि का श्रमणसंस्कृतिमूलक श्रम

बहुत-से प्राणी अनादि काल से मिथ्यात्व एवं अज्ञान के वश राग-द्वेष-मोह एवं क्रोधादि कषायों के जाल में फँसे रहकर संसार में परिभ्रमण कर रहे हैं। विषय-कषायों की बातों को ग्रहण करने का अहर्निश श्रम करते रहते हैं। उन्हें विषय-कषायों को रोक रखने, काबू में रखने, उनसे अनासक्त रहने अथवा सर्वथा छोड़ने की बात बिल्कुल नहीं सुहाती। राग-द्वेष-मोह के निमित्तों से बचते रहने तथा उन्हें अपने पास न आने देने के पुरुषार्थ से दूर रहते हैं। कर्मशत्रुओं को क्षय करने का आध्यात्मिक श्रम न करके, वे प्रायः कर्मबन्धन का ही पुरुषार्थ करते हैं।

यद्यपि आत्मा का वास्तविक स्वरूप अनन्तज्ञानमय, अनन्तदर्शनमय, अनन्तशक्तिमय एवं अनन्त आत्मिक सुखमय है। इस आत्मस्वरूप को पूर्णरूपेण प्राप्त करना ही परमात्ममय होना है। सम्यग्दृष्टि आत्मा यह भलीभाँति समझ लेता है कि इस समय मेरी आत्मा ज्ञानावरणीय आदि कर्मों के आवरण के कारण ज्ञान, दर्शन, शक्ति और सुख ये आत्मिक गुण बहुत ही दबे हुए हैं। मैं अपने आध्यात्मिक श्रम के बल पर अशुभ कर्मों को शुभ में बदल सकता हूँ, पापकर्म को बदलकर पुण्यकर्म के रूप में परिणत कर सकता हूँ,[1] अथवा अणुव्रतादि श्रावकव्रतों, अथवा महाव्रतों समिति-गुप्ति, परीषह-विजय, तप, कषायविजय आदि में पुरुषार्थ करके कर्मक्षय कर सकता हूँ। इसी प्रकार के आस्रवनिरोध के पुरुषार्थ द्वारा कर्मों का आगमन रोक सकता हूँ। मिथ्यात्व-आस्रव के दूर होते ही, आठ कर्मों की १४८ प्रकृतियों में से १९ प्रकृतियों का बन्ध रुक जाता है फिर अनन्तानुबन्धी कषाय दूर होकर सम्यग्दृष्टि होते ही दूसरी २७ प्रकृतियों का बन्ध भी रुक जाता है। अर्थात्– चतुर्थ गुणस्थानवर्ती अविरतसम्यग्दृष्टि के ४६ कर्म प्रकृतियों का बन्ध नहीं होता।[2] साधारण से सम्यक् पुरुषार्थ से इतना भारी लाभ होने लगता है। अणुव्रती श्रावक होने पर तो अन्य १० कर्म प्रकृतियों का बन्ध होना भी रुक जाता है। इससे आगे बढ़कर तप, परीषहजय,

---

1 कर्मों के इस प्रकार से बदलने को संक्रमण कहते हैं।

2 कुल १४८ प्रकृतियों में से १२० प्रकृतियों का बन्ध होता है, उनमें से मिथ्यात्व आश्रव दूर होते ही प्रथम गुणस्थान की ३ और दूसरे गुणस्थान की १६, यों कुल १९ प्रकृतियों का बन्ध रुक जाता है। वे इस पकार हैं—१. आहारक शरीर २. आहारक अंगोपांग, और ३. जिननामकर्म, तथा ४. मिथ्यात्व मोहनीय, ५. हुंडक संस्थान, ६. नपुंसक वेद, ७. नरकगति, ८. नरकानुपूर्वी, ९. नरकायु, १०. छेवट्ट संघयण, ११. एकेन्द्रिय जाति, १२–१४ तीन विकलेन्द्रिय, १५–१८ चार स्थावरनाम १९. आतपनाम।

तीसरे गुणस्थान में २७ प्रकृतियों का वन्ध रुक जाता है—४ अनन्तानुबन्धी क्रोध, मान, माया लोग, ५ स्त्यानगृद्धि ६ निद्रानिद्रा, ७ प्रचला-प्रचला, ८ दुर्भगनाम, ९ दुःस्वरनाम, १० अनादेय नाम, ११ न्यग्रोध संस्थान, १२ सादि संस्थान, १३. कुब्जक संस्थान, १४. वामन संस्थान, १५. ऋषभ नाराच संघयण १६. नाराच संघयण, १७. अर्धनाराच, १८, कीलक संघयण, १९. अशुभ विहायोगति, २०. स्त्रीवेद, २१. नीचगोत्र, २२. तिर्यंचगति, २३. तिर्यञ्चानुपूर्वी, २४. तिर्यञ्चायु, २५. देवायु, २६. मनुष्यायु और, २७. उद्योतनामकर्म। सं०

उपसर्गसहन, दुःख-कष्ट आदि में समभाव, महाव्रत, क्षमादि धर्मों के आचरण में पुरुषार्थ कर एवं राग-द्वेष, विषय-कषाय से मुख मोड़कर घाति कर्मों का क्षय कर केवलज्ञान केवलदर्शन प्राप्त कर लेते हैं। फिर शेष चार अघाती कर्मों का भी नाश करके सिद्ध-बुद्ध-मुक्त हो जाते हैं। इस प्रकार सम्यक् दिशा में आध्यात्मिक पुरुषार्थ करने वाले मानव सभी रीतियों से कर्मों के साथ युद्ध करके आत्म का पूर्ण विकास कर लेते हैं।

संसार में जितने भी वीतराग महापुरुष हुए हैं, चाहे उनका नाम राम हो, महावीर हो, महादेव हो, या अन्य कोई हो ; वे अपने ही आध्यात्मिक विकासमूलक श्रम द्वारा परमपद को प्राप्त हुए हैं। उन्होंने कर्मक्षय करने के लिए स्वयं सम्यक् पुरुषार्थ किया। किसी देवी, देव, ईश्वर, भगवान् या अवतार ने हाथ पकड़कर उन्हें संसार-सागर से तार नहीं दिया, वे स्वयं के आध्यात्मिक श्रम से तिरे हैं।

शास्त्रों में उत्थान, कर्म, बल, वीर्य, पौरुष-पराक्रम का उल्लेख साधु-साध्वियों के संलेखना-संथारा के प्रसंग में आता है। जो भी साधु या साध्वी अपने अन्तिम समय में भगवान् महावीर जैसे जगत्-गुरु या अपने महान् गुरु के समक्ष सविनय प्रार्थना करता है कि मेरा शरीर अब एकदम जीर्ण हो गया है, उसमें अब धर्माचरण की विशिष्ट शक्ति नहीं रह गई है। अतः मेरी इच्छा है कि आपकी आज्ञा (अनुमति) हो तो जब तक मेरे शरीर में उत्थान, कर्म, बल, वीर्य, पौरुष-पुरुषार्थ है, तब तक मैं संलेखना-संथारा करके समाधिपूर्वक इस शरीर का व्युत्सर्ग करूँ। इसका फलितार्थ यह है कि साधक, फिर वह श्रावक हो या साधु, अपनी जिन्दगी की अन्तिम सांस तक आध्यात्मिक श्रम करे, धर्माचरण में अपने बल वीर्य (शक्ति), पुरुषार्थ, एवं पराक्रम को लगाए।

अज्ञानी एवं मिथ्यादृष्टि लोग कायर एवं अकर्मण्य बनकर कर्मों के नचाये नाचते रहते हैं। न तो वे कर्मक्षय करने का कोई उपाय जानते हैं या जानने का प्रयत्न ही करते हैं, तदनुरूप पुरुषार्थ करना तो दूर की बात है। कर्मों के उदय आने पर वे समभाव से शान्तिपूर्वक उन्हें भोग नहीं सकते। न ही समभावपूर्वक कष्ट सहने का पुरुषार्थ करते हैं। राग-द्वेष-मोहवश नानाकर्मबन्धन करते रहते हैं। कर्मक्षय करने का वे पुरुषार्थ ही नहीं करते। लकड़ी, पत्थर आदि निर्जीव पदार्थों की तरह कर्मों के प्रवाह में बहकर संसार में विविध गतियों और योनियों में ठोकरें खाते फिरते हैं मगर हिम्मत करके कर्मों को क्षय करने का सम्यक् श्रम नहीं कर पाते।

आसक्ति, फलाकांक्षा, प्रसिद्धि आदि विकारों से दूर रहकर सच्चा श्रमण व श्रमणोपासक बाह्य–आभ्यन्तर तप, संयम एवं क्षमादि धर्म में पुरुषार्थ करता है। वह अपनी आत्मशुद्धि करके कर्मक्षय कर लेता है। किसी कवि ने ठीक ही कहा है—

नर नारायण बन जाएगा
जब निज पुरुषार्थ जगाएगा ॥ ध्रुव ॥
पापों के बन्धन टूटेंगे,
विषयों से नाते छूटेंगे
जब आतम-शक्ति जगाएगा ॥ नर० ॥ १ ॥
बादल के पीछे दिनकर है,
कर्मों के पीछे ईश्वर है।
जब अपनी ज्योति जगाएगा ॥ नर० ॥ २ ॥

सतत श्रम करे वही श्रमण

श्रमण जीवन में सर्वत्र श्रम का स्वर गूंजता है। श्रमण शारीरिक श्रम भी करता है, खाता, पीता, सोता, उठता, बैठता एवं चलता है। वह भाषण, उपदेश, प्रेरणा करता है, मंगलपाठ सुनाता है, त्याग-प्रत्याख्यान, व्रत-नियम आदि प्रदान करता है, सप्तव्यसनों तथा हिंसा आदि आस्रवों का त्याग कराता है, इस रूप में वह वाचिक श्रम भी करता है। संघ, समाज, परिवार, राष्ट्र, व्यक्ति एवं स्वयं के शुभ, मंगल, कल्याण एवं हित के लिए चिन्तन करता है, मन से संसार की गतिविधि पर चिन्तन करता है, तथा स्वाध्याय, लेखन आदि मानसिक एवं बौद्धिक श्रम भी करता है। वह ग्रामानुग्राम विहार करता है, भिक्षाटन करता है, शरीर की अन्य क्रियाएँ भी करता है। प्रति-लेखन-प्रतिक्रमणादि धर्मक्रियाएँ भी करता है। परन्तु इन श्रमों के पीछे उसकी दृष्टि यतना एवं विवेक की रहती है।[1] वह अपने महाव्रत, एवं सम्यक्त्व की हानि इन सब क्रियाओं के करते समय नहीं होने देता। उसकी दृष्टि में स्वपरकल्याण, आत्महित, एवं आत्मा के निजगुणों का विकास मुख्य है।[2] वह फूंक-फूंक कर कदम रखता है।[3] इसी प्रकार श्रावक को

---

१. जयं चरे जयं चिट्ठे जयमासे जयं सए।
जयं भुंजंतो भासंतो पावकम्मं न बंधई। —दशवै० अ० ४

२. सर्वएव हि जैनानां प्रमाणं लौकिको विधि।
यत्र सम्यक्त्व हानिर्न न स्यात् व्रतदूषणम् ॥ —नीतिवाक्यामृत

३. चरे पयाइं परिसंकमाणो, जं किंचि पासं इह मन्नमाणो ॥ —उत्तरा.

दैनिक कार्यों में श्रम करना पड़ता है, उसके लिए भी यही आदेश-सन्देश वीतराग तीर्थंकरों का है कि वह अपने व्रतों की मर्यादा में रहकर श्रम करे। यद्यपि गृहस्थ श्रावक अहिंसादि का पूर्णरूपेण पालन नहीं कर पाता, तथापि उसके जीवन में भी यतना और विवेक रहता है।

जो साधक श्रमयोगी बनकर श्रम करता है, वह श्रम के साथ मनोयोग को लगा देता है। वह जो भी श्रम करता है, उसे पहले देख-परख कर करता है। जैसे—भोजन का श्रम करना है तो वह सोचता है—यह भोजन मेरे लिए हितकर है या नहीं ? मुझे कौन-सा और कितनी मात्रा में भोजन करना चाहिए ? फिर वह भोजन भी यतनापूर्वक न्यायप्राप्त ही करता है। श्रम के साथ वह आसक्ति, फलाकांक्षा से दूर रहता है।

जैन साधु के लिए पुरानी कहावत है—

क्षण निकम्मो रहणो नहीं,
भणनो गुणनो आतम-राम।

उत्तराध्ययनसूत्र में साधु जीवन की दिवस और रात्रि का चर्या का सम्यक् दिग्दर्शन है, इससे भी स्पष्ट है कि साधु को आत्म-साधना में सतत श्रमरत रहना चाहिए।

यह तो सर्वविदित है कि इस प्रकार की सम्यक् श्रमशीलता (पुरुषार्थ –पराक्रम) से तन, मन और मस्तिष्क के कल पुर्जे सदैव क्रियाशील, अप्रमत्त एवं प्रखर रहते हैं। उनकी तीक्ष्णता बढ़ती जाती है। निकम्मे एवं आलसी बनकर खा-पीकर सुख से शयनशील साधु को 'पापश्रमण' कहा गया है। निकम्मा पड़ा रहने वाला औजार जंग खा जाता है, जबकि निरन्तर काम में आने वाला तेज तर्रार रहता है, चमकता है। इसी प्रकार निरन्तर सम्यक् श्रम करने वाला साधक तेजस्वी बनता है। शास्त्र पुकार-पुकार कर कहते हैं—अधर्माचरण में समय को नष्ट न करने वाला साधक[1] अथवा उचित अवसर पर सम्यक् पराक्रम करने वाला साधक पीछे पछताता नहीं।[2]

शास्त्रों में जहाँ-जहाँ साधुओं की किसी धर्मक्रिया की बात चलती

---

१. जा जा वच्चइ रयणी, न सा पडिनियत्तइ।
अहम्मं कुणमाणस्स अफला जंति राईओ॥ —उत्तराध्ययन सूत्र

२. जेहिं काले परक्कंतं, न पच्छा परितावए।

है, वहाँ विचरण या विहरण शब्द आता है। इसका रहस्य है साधु को मन, वचन, काया से संयम साधना या स्व-परकल्याण-साधना में विचरण करते रहना चाहिए। वैदिक ऋषि ने भी कहा है—

"चरैवेति चरैवेति, चरन्वै मधु विन्दति।"

चलते रहो, चलते रहो। जो चलता है, वह मधु का माधुर्य प्राप्त करता है।

आध्यात्मिक सम्पत्ति या आत्मगुणों का धन उसे ही प्राप्त होता है, जो अहर्निश साधना में श्रम करता है। उसी का भाग्य चमकता है जो तप, संयम में पुरुषार्थ करता है। वस्तुतः श्रमण संस्कृतिमूलक श्रम ही साधक के लिए प्राणवायु है। बिना बोये कुछ नहीं उगता, इसी प्रकार बिना श्रम किये सद्गुणों की फसल प्राप्त नहीं होती।

भाग्यवाद और पुरुषार्थ में कौन सा उपादेय

भारतवर्ष में भाग्यवाद ने श्रमण संस्कृति के श्रमवाद—पुरुषार्थवाद को बहुत धक्का पहुँचाया है। जो भाग्य में लिखा है—वही होगा, इस अन्ध-विश्वास ने लोगों को मूढ़ बनाया। लोग हाथ पर हाथ धरे बैठे रहे। जहाँ कहीं भी, किसी निर्बल पर कोई राजा, धनाढ्य, सत्ताधीश या अधिकारी अन्याय, अन्याचार या जुल्म करता, तब पुरोहित और पण्डित यह कहकर सामान्य लोगों को आश्वासन देने लगे कि उसका भाग्य ही ऐसा था। भाग्यवाद की इस नशीली गोली ने मनुष्यों में अकर्मण्यता, निष्क्रियता और आलस्यपरायणता पैदा की। सम्यग्दृष्टि साधक केवल भाग्य को नहीं कोसता, या केवल भाग्य के भरोसे रहकर पुरुषार्थहीन बनकर नहीं बैठ जाता है। वह सोचता है कि भाग्य पूर्व-पुरुषार्थ है, जो पहले किया जा चुका है, जिसका फल जीव भोग रहा है या भोगेगा। और जो श्रम अभी किया जा रहा है, वह वर्तमान पुरुषार्थ है। भाग्य में क्या है? इसे तो ज्ञानी के सिवाय कोई नहीं जानता, अतः मनुष्य को सत्पुरुषार्थ करते रहना चाहिए। प्रारब्ध, दैव या भाग्य प्रकट नहीं है, पुरुषार्थ ही अधिक प्रकट है। वस्तुतः भाग्य पुरुषार्थ की ही छाया है। हरिकेशबलमुनि यदि भाग्य भरोसे बैठे रहते तो चाण्डाल जाति में उत्पन्न होने के कारण जीवन भर हीनभावनाग्रस्त, दलित, शोषित, पीड़ित रहते या नीचकर्मों में प्रवृत्त रहते, परन्तु उन्हें श्रमण संस्कृति का मंत्र मिला, उन्होंने तप-संयम की साधना में पुरुषार्थ किया तो

उनका भाग्य चमक उठा। भाग्य के निर्माता वे स्वयं बने अपने पुरुषार्थ के बल पर।

इसी प्रकार एकान्त नियतिवाद भवितव्यता या होनहारवाद को भी सम्यग्दृष्टि नहीं मानता। वह नियतिवाद के चक्कर में पड़कर सत्पुरुषार्थ (श्रम) को नहीं छोड़ता। वह पुरुषार्थ का ही प्राबल्य मानता है।

सम्यग्दृष्टि की वास्तविक पहचान यही है कि वह भाग्यवाद या एकान्त नियतिवाद के चक्कर में नहीं पड़ता। वह श्रमणसंस्कृतिमूलक श्रम को प्रधानता देता है। अपने आध्यात्मिक श्रम के द्वारा आत्मा के निजी गुणों की सम्पत्ति प्राप्त कर लेता है। इसीलिए श्रम को सम्यग्दृष्टि का प्रथम चिह्न और श्रमण संस्कृति का प्रथम मूलमंत्र माना है।

१३

सम्यग्श्रद्धा के आधारभूत लक्षणों के सन्दर्भ में—

'शम' का द्वितीय रूप–शम

'शम' का द्वितीय रूप—शम

सम्यग्दर्शन या सम्यक्त्व मोक्ष का मुख्य द्वार है। सम्यग्दर्शन होने पर ही ज्ञान और चारित्र सम्यक् होते हैं। अगर किसी व्यक्ति में सम्यग्दर्शन न हो तो वह चाहे जितना पढ़ा-लिखा हो, चाहे वह शब्दशास्त्र में पारंगत हो, छहों दर्शनों का प्रकाण्ड विद्वान हो, अनेक भाषाओं का ज्ञाता हो, अच्छा से अच्छा लच्छेदार प्रवचन और भाषण कर सकता हो, संभाषण कला एवं लेखन कला में प्रवीण हो, अथवा शास्त्रों की व्याख्या करने में सिद्धहस्त हो, विज्ञान की विविध शाखाओं का स्नातक हो, अगर उसमें सम्यग्दर्शन नहीं है तो उसका ज्ञान सम्यग्ज्ञान नहीं हो सकता। ऐसी स्थिति में उसकी दृष्टि किसी न किसी स्वार्थ या लोभ से प्रेरित होगी, उसके मन में अपने ज्ञान विज्ञान का अहंकार, प्रसिद्धि और प्रशंसा का लोभ, सत्य और यथार्थ बात कहने में भय, संकोच एवं दबाव होगा, वह माया-कपटपूर्वक ठकुरसुहाती बात कहेगा, किसी न किसी आशा और आकांक्षा के वशीभूत होकर वह शास्त्रों की व्याख्या भी तदनुकूल करेगा। उसकी दृष्टि संसारलक्ष्यी होगी, मोक्षलक्ष्यी नहीं। वह लम्बी-लम्बी तपस्याएँ भी करेगा, व्रत, नियम एवं क्रियाओं का पालन भी करेगा। परन्तु उसकी दृष्टि सम्यक् न होने से या तो वह किसी प्रलोभन, स्वार्थ, लाभ, पद, प्रतिष्ठा, प्रसिद्धि, वाहवाही आदि से या फिर स्वर्गादि सुखों की लिप्सा, अथवा अन्य किसी भी भोगेच्छा से प्रेरित होकर ज्ञान प्राप्त करेगा, या चारित्र का पालन करेगा। ऐसी स्थिति में सम्यग्दर्शन के अभाव में उसका वह ज्ञान सम्यग्ज्ञान नहीं होगा, और न

ही उसका चारित्र सम्यक्चारित्र होगा। प्रश्नोत्तर श्रावकाचार में इसी तथ्य को स्पष्ट किया गया है—

"दर्शनेन बिना ज्ञानमज्ञानं कथ्यते बुधैः।
चारित्रं च कुचारित्रं, व्रतं पुंसां निरर्थकम्॥"[1]

तत्त्वज्ञ पुरुष सम्यग्दर्शन के बिना ज्ञान को कुज्ञान और चारित्र को कुचारित्र कहते हैं. ऐसे व्यक्तियों का व्रत पालन भी निरर्थक है, अर्थात्—मोक्षमार्ग की दिशा में निष्फल-निष्प्रयोजन है।

निष्कर्ष यह है कि सम्यग्दर्शन ही ज्ञान, चारित्र, व्रत, तपश्चरण, आदि सबका मूलाधार है।

सम्यग्दर्शन की पहचान कैसे हो ?

प्रश्न होता है कि किसी विद्वान, तपस्वी, शास्त्रज्ञ, पण्डित, क्रियाकाण्डी, व्रतपालक, या अन्य किसी भी विषय में पारंगत तत्त्वज्ञ, दानी, ध्यानी, मौनी, प्रवक्ता आदि में सम्यग्दर्शन है या नहीं ? उसकी दृष्टि सम्यक् है या असम्यक् ? उसे सम्यक्त्व प्राप्त है या नहीं ? इसकी परख और पहचान कैसे हो ? क्या सम्यग्दृष्टि या सम्यक्त्वी के ललाट पर कोई विशेष तिलक होता है या उसके किसी अंग पर कोई चिन्ह होता है ? अथवा उसके कान में कुण्डल या भुजाओं पर छापा एवं गले में यज्ञोपवीत (जनेऊ) पड़ा होता है, जिससे उसे सम्यक्त्वी या सम्यग्दृष्टि के रूप में जाना-पहचाना जा सके ?

शास्त्रकारों ने सम्यग्दृष्टि या सम्यक्त्वी को पहचान या परख के लिए पांच चिन्ह बताए हैं—

सप (शम एवं श्रम) संवेग, निर्वेद, अनुकम्पा और आस्था

इन पाँचों लक्षणों से किसी व्यक्ति में सम्यग्दर्शन या सम्यक्त्व है या नहीं ? इसकी परख या पहचान की जा सकती है। यदि उक्त व्यक्ति में सम, संवेग आदि पाँचों लक्षण हों तो समझना चाहिए कि वह सम्यग्दृष्टि है। उसकी दृष्टि मोक्षलक्ष्यी है, उसका दर्शन आत्मलक्ष्यी है, उसे सच्चे देव, गुरु और धर्म पर श्रद्धा है, उसे वीतराग-प्ररूपित तत्त्वों पर रुचि है। फिर चाहे

१. प्रश्नोत्तर श्रावकाचार, परिच्छेद ११, श्लोक ४४

वह थोड़ा ही पढ़ा-लिखा हो, बी. ए. एम. ए. की डिग्री उसे प्राप्त न हो, चाहे वह सर्वचारित्री हो या देशचारित्री, चाहे वह दीर्घ तपस्वी या क्रियाकाण्डी न हो। अथवा शास्त्रों में पारंगत न हो, प्रवक्ता या व्याख्याता न हो। परन्तु यदि उसमें ये पाँचों लक्षण विद्यमान हैं तो कहा जा सकता है कि उसके जीवन में सम्यग्दर्शन या सम्यक्त्व है। उसकी दृष्टि संसारलक्ष्यी नहीं, मोक्ष-लक्ष्यी है, तथा भौतिकलक्ष्यी या पुद्गललक्ष्यी नहीं, आत्मलक्ष्यी है।

इन पांचों लक्षणों पर हम क्रमशः विश्लेषण करेंगे।

इन पाँचों में से सर्वप्रथम हमें 'सम' पर विचार करना है।

यह श्रमण संस्कृति का मूलभूत तत्त्व है। प्राकृत भाषा में इसे 'समण' कहा गया है। समण शब्द में से 'सम' तत्त्व प्रादुर्भूत हुआ है। प्राकृत भाषा के 'सम' शब्द के संस्कृत में तीन रूपान्तर होते हैं—शम, श्रम और सम। इन तीनों के अनेक अर्थ होते हैं। सम्यग्दृष्टि की पहचान के लिए ये तीनों आवश्यक हैं। सर्वप्रथम 'शम' गुण का विश्लेषण करते हैं।

सम्यक्त्व की पहली पहचान : शम गुण से

सांसारिक प्राणी आदिकाल से जन्म-मरणरूप संसार में भटक रहा है। देव, मनुष्य, तिर्यञ्च और नरक गतियों और विविध योनियों में भटकते-भटकते उसे अनन्तकाल हो गया। कषायों और विषय वासनाओं के जाल में, राग-द्वेष और मोह के प्रपंचों में फँसे रहने के कारण जीव को यह भान भी नहीं होता कि मेरे इस संसार-परिभ्रमण का क्या कारण है? यह संसार-परिभ्रमण यों ही चलता रहेगा या इसे घटाया या इसका अन्त किया जा सकता है? अगर इसे कम किया या इसका अन्त किया जा सकता है, तो कैसे? किन उपायों से संसार-परिभ्रमण के मूलभूत कारणों को दूर किया जा सकता है? इन वस्तुओं का यथार्थ भान तथा जिनोक्त तत्त्वों पर यथार्थ श्रद्धान जिसे हो जाता है, वह व्यक्ति सम्यक्त्वी या सम्यग्दृष्टि कहलाता है। जन्म-मरण के चक्र की वृद्धि करने वाले कषायादि पदार्थों को शान्त करने का वह प्रयत्न करता है। अपने प्रबल पुरुषार्थ से वह कषायों और विषय-वासनाओं को शान्त करने में सफल हो जाता है। उसकी विकारी वृत्तियाँ उपशान्त हो जाती हैं। उसकी चेष्टाओं, हाव-भावों, मनोभावों, वचनों, बौद्धिक क्षमता कार्यों आदि में 'शम' गुण की झलक दिखने लगती है। उसी पर से यह जाना जाता है कि इस व्यक्ति में सम्यग्दर्शन या सम्यक्त्व का प्रादुर्भाव हो गया है।

श्रमण संस्कृति के मूल में श्रम, सम और शम; ये तीन गुण गर्भित हैं। किसी व्यक्ति में सम्यग्दर्शन है या नहीं ? इसको प्रथम परख के लिए शास्त्रकारों ने ये तीन गुण होने आवश्यक बताएँ हैं।

कहीं-कहीं केवल 'शम' या 'प्रशम' गुण को ही सम्यक्त्व का पहला चिन्ह बताया है। इसे 'उपशम' भी कहा गया है।

शम का स्वरूप

जिसमें सम्यग्दृष्टि होती है, वह जानता है कि राग, द्वेष, मोह, क्रोधादि चार कषाय, एवं इन्द्रिय विषय-वासना, ये मोक्ष प्राप्ति में बाधक हैं, आत्मा को जन्म-मरणरूप संसार में, चारों गतियों में भटकाने वाले हैं, ये जन्म-जन्म में अशान्ति, यातना, दुःख और संकट पैदा करने वाले हैं, तथा इन सब के कारण अशुभकर्मों का बन्ध होता है, जिनके कारण प्राणी को कष्ट एवं दुःखदायक फल भोगना पड़ता है। अतः मोक्ष प्राप्ति में बाधक इन कारणों को दूर करना मेरे लिए अनिवार्य है। इन्हें दूर करने के लिए सम्यग्दृष्टि में सर्वप्रथम 'शम' गुण का होना अनिवार्य है।

शम, प्रशम, उपशम, शमन या शान्ति, ये सब प्रायः एकार्थक हैं।

सम्यग्दृष्टि की मुख्य पहचान यह है कि वह परम शान्त हो, सरल हो, सदैव प्रसन्न रहता हो, प्रत्येक परिस्थिति में वह सहसा उत्तेजित न होता हो, स्वभाव से तीव्र कषाय (क्रोध, मान, माया और लोभ), तीव्र राग-द्वेष, मोह तथा तीव्र विषय-वासनादि विकारों से मुक्त हो। शम के इसी लक्षण का समर्थन गुणभूषण श्रावकाचार[1] में किया है—

"यद् रागादि-दोषेषु चित्तवृत्तेर्निबर्हणम्।
शम इत्युच्यते तज्ज्ञैः समस्तव्रतभूषणम्॥"

'रागादि (क्रोध, मान, माया, लोभ, राग, द्वेष, मोह आदि) विकार भावों का चित्तवृत्ति (आत्मपरिणामों) में उपशमन होना, शान्त होना, शम प्रशम, या उपशमन गुण कहलाता है। जो समस्त व्रतों का आभूषण है।'

शम गुण का सामान्यतया अर्थ होता है मन में तीव्र राग-द्वेष, तीव्र मोह, तीव्र कषाय अथवा अहंता-ममतावश तीव्र हठाग्रह, कदाग्रह या

---

१. गुणभूषण श्रावकाचार, उद्देश १/४८

पूर्वाग्रह, वैर-विरोध, अथवा कलह-क्लेश आदि विकारों का शान्त होना। ये विकार शान्त होने पर ही मन-मस्तिष्क में शान्ति हो सकती है, तनावों से मुक्ति मिल सकती है, विविध चिन्ताओं से छुटकारा मिल सकता है। वैर-विरोध, लड़ाई-झगड़े, संघर्ष, कलह, ईर्ष्या, द्वेष, मात्सर्य, एवं क्रोधादि कषायों से आत्मा की आन्तरिक वृत्ति मलिन और कुटिल हो जाती है। आत्म-परिणामों की सरलता और आत्मकल्याण की भावना मलिन हो जाती है, आत्मशुद्धि एवं आत्म-विकास का उत्साह मन्द पड़ जाता है। मोक्ष के लक्ष्य से ऐसा व्यक्ति कोसों दूर हो जाता है। कषाय या रागद्वेषादि जिसमें तीव्रतम होते हैं, वह व्यक्ति आत्म-स्वरूप को नहीं पहचान सकता। अतएव उसकी दृष्टि आत्मलक्ष्यी न होकर संसारलक्ष्यी बन जाती है। तत्त्वों के यथार्थ स्वरूप को जानने में उसकी रुचि एवं श्रद्धा नहीं होती। इसीलिए अमितगति श्रावकाचार में कहा गया है—

"राग-द्वेष-क्रोध-लोभ-प्रपंचा, सर्वानर्थावासभूता दुरंताः।
यस्य स्वान्ते कुर्वते न स्थिरत्वं, शान्तात्माऽसौशस्यते भव्यसिंहः॥"

समस्त अनर्थों के घर के समान, कठिनता से अन्त किये जाने वाले राग, द्वेष, क्रोध, लोभ आदि प्रपंच जिसके चित्त में स्थिरता नहीं पाते, ऐसा भव्यसिंह शान्तात्मा प्रशंसनीय है। क्योंकि शम गुण उसके जीवन में बस गया है।

वास्तव में राग, द्वेष, क्रोधादि, कषाय, एवं मोहादि विकार उपशान्त होने पर ही सम्यग्दृष्टि में यह गुण प्रकट होता है। कषाय की आग शान्त होने पर ही व्यक्ति में सम्यग्दर्शन का प्रादुर्भाव होता है।

जो व्यक्ति बात-बात में भड़क उठता है, जरा-सी मन के प्रतिकूल बात सुनते ही उत्तेजित हो जाता है, जरा-सा किसी ने कुछ कह दिया, या अपमान कर दिया तो एकदम आगबबूला हो उठता है, किसी ने बात नहीं मानी तो एकदम लड़ने-झगड़ने और मरने-मारने को तैयार हो जाता है, स्वार्थसिद्धि न होने पर दूसरों का अहित कर बैठता है, जरा-सी प्रतिकूल परिस्थिति होते ही आत्महत्या करने को उतारू हो जाता है, अथवा दूसरे का घर जलाने, फसल जलाने, पत्थर बरसाने, या लूटपाट करने पर आमादा हो जाता है, अहंकार इतना प्रचण्ड है कि अपनी गलती या अपराध होने पर भी किसी से क्षमा मांगने, उसकी क्षतिपूर्ति करने या नम्रतापूर्वक उससे समझौता करने को तैयार नहीं होता। क्षमा, धैर्य, शान्ति,

और सहिष्णुता का जिसमें नामोनिशान नहीं है, ऐसे व्यक्ति में शम गुण नहीं होने से उसे सम्यग्दृष्टि नहीं माना जा सकता।

जिसके जीवन में शमगुण प्रगट होता है, वह किसी को कटु वचन बोले जाने पर या किसी बात पर तकरार होने पर तुरंत उस व्यक्ति से क्षमा मांगता है। कल्पसूत्र में स्पष्ट बताया है—किसी बात पर किसी से परस्पर विवाद खड़ा हो जाय, दूसरे को चुभने वाले वचन बोले जायँ या कलह हो जाए तो जो क्षमा माँग लेता है, वही आराधक होता है। जो क्षमा नहीं मांग कर वैर-विरोध या कलह को दीर्घकाल तक रखता है, क्षमा-याचना नहीं करता, वह विराधक है। क्योंकि कहा है—

उवसमसारं खु सामण्णं

श्रमणसंस्कृति का सार उपशम है।

वैर-विरोध और कदाग्रह जिस व्यक्ति के मन में टिकते नहीं, क्रोध का उदय होते ही, उदीयमान क्रोध को जो वापस मोड़ लेता है। वर्तमान में प्रवर्तमान कषाय की परिणति को वापस खींच लेता है, वही शमगुण का —शान्ति का आराधक है। जहाँ वैर-विरोध नहीं होगा, क्रोध, कदाग्रह, ईर्ष्या, दुष्टवृत्ति, मात्सर्य आदि गाँठ खुल जाती है, अपना बुरा करने वाले के प्रति भी मन में प्रेमभाव हो, वहाँ अहर्निश शान्ति अठखेलियाँ करती है। उपाध्याय यशोविजयजी उपशम का अर्थ करते हुए कहते हैं—

'अपराधीयु पण नवि चित्त थकी, चिन्तविए प्रतिकूल'

भावार्थ यह है कि जिसे सम्यग्दर्शन की प्राप्ति हो गई हो, उस व्यक्ति के अन्तर् में किसी भी प्राणी के प्रति वैरविरोध की भावना उत्पन्न नहीं होती। कदाचित कभी किसी अपराधी को दण्ड भी देना पड़े तो भी वह उसके प्रति कोई राग-द्वेषपूर्ण पक्षपात या शत्रुत्व की भावना नहीं रखेगा। इस जगत् में कषाय के असंख्य स्थान हैं, तथा इन्द्रियविषय-भोगों के भी असंख्य स्थान हैं। सम्यग्दृष्टि के मन में विषय-कषायों के असंख्य स्थानों के प्रति मन्दता आ जाना, अर्थात्-उपशान्ति हो जाना शम है, इस प्रकार की परिभाषा भी एक आचार्य ने की है।

शम या शान्ति के प्रमुख बाधक कारण

तीव्र क्रोध—कषायों में सबसे पहले क्रोध आता है। क्रोध कषाय शान्ति या शम का प्रत्यक्ष शत्रु है। जब तीव्र क्रोध आता है तो आँखें लाल

हो जाती हैं, चेहरा भी तमतमा जाता है। क्रोधी मनुष्य अपना भान भूल जाता है। उसकी बुद्धि उस समय विवेक-विचार से रहित हो जाती है। क्रोध आने पर आदमी यह नहीं देख पाता कि सामने कौन खड़ा है? मैं किसके साथ बकवास कर रहा हूँ? वह अपने बुजुर्गों एवं पूज्य व्यक्तियों के प्रति सम्मान एवं विनय को ताक में रख देता है। हजारों वर्षों का तप आचरण किया हुआ संयम, क्रोधी व्यक्ति एक बार के क्रोध में भस्म कर देता है। क्रोधी व्यक्ति की व्रत-नियमों की सब साधना व्यर्थ जाती है। क्रोधी व्यक्ति से कोई मित्रता, प्रेम नहीं करता, कोई उसके प्रति स्नेह-सहानुभूति नहीं बताता। क्रोधी व्यक्ति में क्रोध के साथ ईर्ष्या, मात्सर्य, द्वेष, घृणा, वैर, आदि दुर्गुण भी शीघ्र प्रविष्ट हो जाते हैं। वह हिताहित का विचार भी नहीं कर पाता। क्रोधी व्यक्ति के साथ भाई बन्धुओं एवं स्नेही जनों की मित्रता टूट जाती है। बल्कि कई बार मित्रता शत्रुता में परिणत हो जाती है। क्रोधावेश में आकर व्यक्ति वैरपरम्परा को बढ़ा लेता है। क्योंकि उस समय क्रोधी व्यक्ति आपे से बाहर होकर गालियाँ बकने लगता है, अपशब्द कह देता है, कई बार मर्मस्पर्शी और चुभने वाले कटु शब्द कह बैठता है, जिनका घाव शीघ्र भरता नहीं है। क्रोधावेश में व्यक्ति कई बार दूसरों पर मिथ्यादोषारोपण कर देता है। इसी कारण क्रोध शमगुण का प्रत्यक्ष विरोधी है। कोध करने से घोर पाप कर्मों का बन्ध होता है जिनका फल बहुत ही कटु होता है। अतः तीव्र क्रोध जब तक शान्त नहीं हो, तब तक शमगुण की प्राप्ति नहीं हो सकती और शमगुण के अभाव में किसी व्यक्ति को सम्यग्दृष्टि नहीं कहा जा सकता, चाहे वह कितना ही शिक्षित, शास्त्रज्ञ, प्रवचनपटु, व्याख्याता या दार्शनिक आदि हो।

अहंकार-ममकार की तीव्रता—ये दोनों मान कषाय एवं राग के भाई-बन्धु हैं। प्राणी की भौतिक और आध्यात्मिक दोनों प्रकार की उन्नति में अहंकार और ममकार सर्वाधिक बाधक हैं।

'पापमूल अभिमान' यह कहावत अक्षरशः सत्य है। अहंकार अनेक पापों और दुर्गुणों का मूल है, जनक है। अहंकारी व्यक्ति दूसरों का उत्कर्ष देख नहीं सकता। अहंकार एक प्रकार का मद्य है, जो मनुष्य को उन्मत्त जैसा बना देता है। मद्य पीने के बाद नशा चढ़ता है, जो कुछ घंटों बाद उतर जाता है किन्तु अहंकार रूपी मद्य का नशा तो काफी अर्से तक रहता है। अहंकार से मनुष्य की सद्बुद्धि लुप्त हो जाती है, वह अच्छे-बुरे या हिताहित का विचार नहीं कर पाता। अहंकार के आवेश में वह कई बार

उससे होने वाले दुष्परिणामों पर विचार नहीं करता। अहंकार के नशे में वह बहुधा युद्ध का निर्णय कर बैठता है, अथवा मुकदमेबाजी में लाखों रुपये स्वाहा कर देता है। वह सौदा बहुत ही महँगा पड़ता है। कई बार अहंकार के नशे में मनुष्य प्राणों की बाजी लगा देता है; गलत काम कर बैठता है। जिसके लिए बाद में उसे पछताना पड़ता है। अहंकार स्वयं के लिए ही घातक है, अशान्तिदायक है, आध्यात्मिक विकास का अवरोधक है, सम्यग्ज्ञानप्राप्ति में बाधक है। विनय और नम्रता के गुणों को आग लगाने वाला है। अहंकार अशान्ति का कारण इसलिए है कि अहंकारी व्यक्ति दूसरों का उत्कर्ष, अभ्युदय या विकास देख-देखकर मन ही मन जलता रहता है, वह सदा दूसरों को नीचा दिखाने और झूठ-मूठ बदनाम करने की ताक में रहता है, दूसरों पर रौब जमाता है, इससे लोग उससे नफरत करने लगते हैं, कई तो उससे लड़ने-झगड़ने और बदला लेने की ताक में रहते हैं। इसलिए अहंकारी व्यक्ति प्रायः हरदम आर्तध्यान और रौद्रध्यान की उधेड़बुन में रहता है। अहंकारी हर क्षण चिन्तित, शंकित, भयभ्रान्त एव व्यथित रहता है कि कहीं लोग मेरा अपमान न कर दें, अथवा आर्थिक हानि में न डाल दें, उसे अपनी जान का बहुत खतरा रहता है। अहंकारी व्यक्ति सभी को अप्रिय लगता है, उसके मित्र भी उससे किनाराकशी कर लेते हैं, भीतर ही भीतर लोग उससे घृणा करने लगते हैं।

अहकारी व्यक्ति के अहं को ठेस पहुँचती है, तब वह तिलमिला उठता है। रोष में आकर दूसरों को अपशब्द कहने और धमकी देने लगता अपनी बुद्धि का अभिमान करने वाला व्यक्ति दूसरों को मूर्ख समझता है। वह प्रायः यही सोचा करता है कि मैं बड़ा आदमी हूँ, लोग मेरी जी हजूरी करें, चापलूसी करें या मैं कहूँ वैसा करें। मैं बुद्धिमान् हूँ, दूसरे निरेमूर्ख हैं, मैं जो कुछ सोचता हूँ, कहता हूँ, या करता हूँ, वही ठीक है। अहंकारी व्यक्ति दूसरों को जबरन भंय और प्रलोभन देकर या फिर तलवार के बल पर दूसरों को जबरन अपने मत-पंथ का, अपने सम्प्रदाय का अनुयायी बनाता है। अहंकारी मनुष्य का प्रायः ऐसा स्वभाव होता है कि वह प्रत्येक कार्य में दूसरे की त्रुटियाँ निकालता रहता है, हर अच्छे कार्य करने वाले की नुक्ताचीनी और आलोचना किया करता है, इससे उसके अहंकार को दाना-पानी मिलता रहता है। कुछ अहंकारी लोग छोटी-छोटी-सी बातों को अपनी प्रतिष्ठा का प्रश्न बनाकर अड़ जाते हैं और वातावरण को अशान्त बना कर स्वयं तनावग्रस्त हो जाते हैं। कुछ लोग अहंकार के वश दूसरों के विरोध में ऐसे अकड़ जाते हैं कि वे टूट जाएँगे, पर झुकेंगे नहीं। कूप-

भण्डूकवृत्ति के लोग अहंकारवश अपने आपको बहुत बड़ा मानते हैं, अपनी प्रशंसा के पुल बांधते रहते हैं। अहंकार जब उग्ररूप धारण करता है, तब वह क्रोध के रूप में प्रकट होता है, उसके फलस्वरूप कभी-कभी दंगा-फसाद लड़ाई-झगड़ा और बड़ा से बड़ा युद्ध तक हो जाता है।

अहंकारी मनुष्य की पहचान प्रायः उसकी आँखों से, चेहरे से, चाल-ढाल से, बोली से और पोशाक आदि से हो जाती है। उसकी खासियत यह होती है कि वह सभा आदि में प्रायः सबसे आगे या सबसे ऊँचे आसन पर बैठता है। भीड़ में वह सबके बीच मुखिया बनता है। उसके वाक्यों में मैं, मैंने, मुझे, मेरे द्वारा आदि शब्द निकलते रहते हैं।

निष्कर्ष यह है कि अहंकार-कषाय भी मोक्षमर्ग में अतीव बाधक है, अतः उसकी तीव्रता सम्यक्त्व को प्रकट करने वाली कैसे हो सकती है?

मोह, ममत्व, आसक्ति या रागभाव की तीव्रता - मोह, ममत्व, आसक्ति, अथवा रागभाव जब तीव्र हो जाते हैं, तो व्यक्ति अपने शुद्ध स्वरूप का—आत्मभाव का यथार्थ चिन्तन नहीं कर सकता। मोह-ममत्व भी एक ऐसा मद्य है, जिसके नशे में व्यक्ति स्वार्थान्ध, पक्षपाती, एवं दुराग्रही हो जाता है। ममत्व या मोह केवल धन, मकान, बाग, बंगला, कार, कोठी, तथा अन्य सुखोपभोग सामग्री का ही नहीं होता, अपने पद, प्रतिष्ठा, परिवार, सम्प्रदाय, मत-पंथ आदि का भी होता है। इतना ही नहीं, अपने माने हुए एकान्त विचारों का भी होता है। इतना जरूर है कि इन सब पर जब मोह ममत्व तीव्र हो जाता है, तब मोहान्ध, या ममत्वपरायण व्यक्ति मोह के नशे में हिंसा, असत्य, चोरी, अब्रह्मचर्य आदि पापकर्मों को करने पर भी उतारू हो जाता है। मोह-ममत्व के तीव्र नशे में पागल बना हुआ मनुष्य समाज विरोधी, सद्धर्म-विरुद्ध, राष्ट्रीयता के खिलाफ भयंकर कुकृत्य भी कर बैठता है। कभी-कभी मोहान्ध मनुष्य जिस वस्तु या व्यक्ति पर मूढ़, मुग्ध या आसक्त होता है, उसके न मिलने पर आत्महत्या भी कर बैठता है, अथवा उसकी प्राप्ति में विघ्न डालने या विरोध करने वालों का जानी दुश्मन भी बन जाता है। लोभ भी इन्हीं का भाई बन्धु है। तीव्र लोभवश मनुष्य सैकड़ों अनर्थ कर डालता है। अपने मार्ग में बाधक व्यक्ति का भयंकर नुकसान भी कर बैठता है। छल-कपट, माया, ठगी, धोखाधड़ी, लूटपाट, डकैती, चोरी, बेईमानी, अनीति, अत्याचार, अन्याय, बलात्कार, जोर जबर्दस्ती आदि भयंकर बुराइयाँ तीव्र लोभ, तीव्र मोह-ममत्व के कारण ही

पनपती हैं। इसीलिए कहा गया है, जब तक तीव्र लोभ, तीव्र माया का शमन नहीं होता, तब तक व्यक्ति में सम्यग्दर्शन प्रकट नहीं होता। सम्यग्दर्शन की परख के लिए तीव्र मोह, ममत्व, लोभ, माया, तीव्र राग आदि कषाय की उपशान्तता अवश्य देखी जाती है। तीव्र राग, लोभ, तीव्र मोह, ममत्व आदि जिसमें हों, उस व्यक्ति की दृष्टि संसारलक्ष्यी होती है आत्मलक्ष्यी नहीं, वह उनके रहते सम्यक्त्व प्राप्त नहीं कर पाता, अतः अशुभ कर्मबन्ध के कारण चिरकाल तक संसार परिभ्रमण करता है। माया कषाय के कारण बार-बार उसे विविध तिर्यञ्च योनियों में जन्म लेना पड़ता है। इसीलिए लोभ, कषाय के इस परिवार की तीव्रता सम्यक्त्व प्राप्ति में बाधक है।

द्वेष, घृणा, वैर-विरोध आदि की तीव्रता—जब व्यक्ति में दूसरे के प्रति तीव्र द्वेष, घृणा, वैर-विरोध आदि हो जाता है, तो वह ईर्ष्या, हिंसा, झूठ आदि अनेक दुर्गुणों का घर बन जाता है। द्वेष के कारण वह बार-बार बदला लेने की ठानता है, इससे वैर परम्परा दीर्घकाल तक चलती है, जन्म-मरण का चक्र चलता रहता है, वह आत्मभान भूल जाता है। विश्वयुद्ध, नरसंहार, हत्याकाण्ड, रक्तपात आदि भयानक कुकृत्य तीव्र द्वेष के ही परिणाम हैं। जिस व्यक्ति में द्वेष आदि दुर्गुणों की तीव्रता होती है, वह अनन्त काल तक संसार परिभ्रमण करता है, बार-बार दुर्गति में जाता है, वहाँ नाना यातनाएँ, दुःख एवं कष्ट भोगता है, उसे बोधिलाभ प्राप्त होना बहुत दुर्लभ है। इसीलिए कहा गया है कि जिसमें तीव्र द्वेष आदि हों, जानना चाहिए कि अभी तक उसे सम्यक्त्व प्राप्त नहीं हुआ है। तीव्र द्वेष आदि का शमन जिसमें हो गया हो, समझना चाहिए उसमें सम्यग्दर्शन है। जिसमें तीव्र द्वेष आदि शान्त हो गए होंगे, वह व्यक्ति किसी से वैर-विरोध करेगा नहीं, कदाचित् किसी कारणवश उसे किसी के धर्मविरुद्ध, न्याय-नीतिविरुद्ध गलत कार्यों का विरोध भी करना पड़े, न्याय या दण्ड भी देना पड़े तो वह पक्षपात, मोह, ममत्व नहीं करेगा। वह केवल कर्त्तव्य पालन करेगा। उसके चेहरे पर शान्ति, गम्भीरता, प्रसन्नता, तेजस्विता एवं विरोधी के प्रति भी आत्मीयता होगी।

विषय-भोगों की तीव्रता—यह भी सम्यग्दर्शन प्राप्ति में बाधक है। जिसमें विषय वासना तीव्र होगी, वह व्यक्ति आत्महित की उपेक्षा करके अहर्निश अपने मनोज्ञ विषयों को प्राप्त करने के प्लान रचता रहेगा। वह आर्तध्यान और रौद्रध्यान के चक्कर में पड़ा रहेगा। ऐसी स्थिति में वह शरीर और शरीर से सम्बन्धित सजीव-निर्जीव इष्ट विषयों के प्रति तीव्र

राग और अनिष्ट विषयों के प्रति तीव्र द्वेष करता रहेगा, जो शमगुण के नाशक हैं। अतः जिनमें विषय भोगों की तीव्रता होगी, उनका उपशमन नहीं होगा, वह सम्यग्दर्शन से कोसों दूर है, यह समझ लेना चाहिए। इस प्रकार क्रोध से लेकर विषयभोगों की तीव्रता तक के दुर्गुण शम या शान्ति के बाधक कारण हैं।

इस प्रकार शम गुण सम्यक्त्व या सम्यग्दर्शन का परिचायक है। इस पर से व्यक्ति को परखा जा सकता है कि वह श्रमण संस्कृति के एवं सम्यक्त्व के प्रथम चिन्ह—'शम' से सम्पन्न है तो सम्यग्दृष्टि है, अथवा इस गुण से रहित है तो वह सम्यगदृष्टि नहीं है।

———

१४

सम्यग्दृष्टि की परख के प्रथम चिह्न के सन्दर्भ में—

श्रमण संस्कृति का तृतीय मूलमन्त्र : सम

सम : तीसरा मूलमंत्र

श्रमण संस्कृति का तीसरा मूलमंत्र 'सम' है, जो 'समण' के संस्कृत रूपान्तर 'समन' से प्रतिफलित हुआ है। 'सम' भी व्यावहारिक सम्यग्दर्शन (सम्यक्त्व) का एक लक्षण है। किसी व्यक्ति में सम्यग्दर्शन है या नहीं? इसकी पहचान के लिए उसमें 'समत्व' का विचार और आचार देखना आवश्यक है।

'सम' को तीसरा मूलमंत्र और सम्यग्दर्शन का प्रथम लक्षण इसलिए माना गया है कि 'सम' के बिना सम्यग्दृष्टि का जीवन अनेक विषमताओं से घिरा रहेगा। मानसिक संताप, और संक्लेश में उसका मन घुटता रहेगा अतः सम्यग्दृष्टि के जीवन में समत्व का ओतप्रोत रहना अनिवार्य है।

समभाव के बिना सर्वत्र अशान्ति और व्याकुलता

समभाव के बिना व्यक्ति न तो आध्यात्मिक शान्ति प्राप्त कर सकता है और न ही मानसिक शान्ति। इसी प्रकार सामाजिक, पारिवारिक, राजनैतिक, धार्मिक, साम्प्रदायिक, दार्शनिक एवं राष्ट्रीय आदि क्षेत्रों में भी वैषम्य होने पर मनुष्य का समत्व में स्थिर रह पाना अशक्य हो जाता है। ऐसे समय में सम्यग्दृष्टि साधक समत्वयोग का अवलम्बन लेकर इन सभी क्षेत्रों में शान्ति और समता का प्रचार-प्रसार कर सकता है। और अपने जीवन में भी कर्मक्षय करता हुआ मोक्षमार्ग की ओर तीव्रगति से गमन कर

सकता है। जब तक स्वयं के जीवन में विविध विषमताएँ रहेंगी, तब तक स्वयं का जीवन भी अशान्त, विषम और व्याकुल—व्यग्र रहेगा; तथा मोक्ष मार्ग के बदले वह जन्म-मरणरूप संसार के मार्ग की ओर ही द्रुतगति से बढ़ता जाएगा। इसीलिए कहा गया है—

'समभाव-भाविअप्पा लाहइ मुक्खं न सन्देहो।

"समभाव से भावित—ओतप्रोत आत्मा निःसंदेह मोक्ष प्राप्त करता है।"

विषमताओं से भरा संसार

अतः सर्वप्रथम हमें यह देखना है कि विषमताएँ कहाँ-कहाँ और कैसी होती हैं तथा सम्यग्दृष्टि उनसे कैसे दूर रहकर अपने जीवन में समत्व को प्रतिष्ठित करता है ?

यह जगत् समसूत्र पर स्थिर नहीं है। इसमें अनेक प्रकार की विषमताएँ हैं। कहीं परिवार में विषमता है, कहीं समाज में उच्च-नीच, हरिजन-परिजन, छुत-अछुत, आदि विषमताएँ हैं, कहीं परिस्थितिजन्य विषमताएँ हैं, कहीं क्षेत्रीय विषमता है तो कहीं बौद्धिक और आत्मिक विषमता है, कहीं धर्मसम्प्रदायगत विषमता है तो कहीं अन्य विषमताएँ हैं। सम्यग्दृष्टि मानव इन सब विषमताओं से भरे संसार के बीच रहता हुआ, विषमता के कारणों को जानकर समभाव में स्थिर रहता है, इन विषमताओं के प्रवाह में नहीं बहता।

आध्यात्मिक वैषम्य में समत्वरक्षा

सर्वप्रथम हम आध्यात्मिक वैषम्य को लें। मनुष्य केवल शरीर ही नहीं है। वह शरीर और आत्मा दोनों के संयोग को लेकर जीता है। मिथ्यादृष्टि जीव आत्मा और आत्मभाव को भूलकर शरीर और शरीर से सम्बन्धित सजीव-निर्जीव पदार्थों के प्रति मोह, ममत्व, राग तथा घृणा द्वेष, वैर, विरोध, ईर्ष्या आदि से ग्रस्त होकर नाना प्रकार से अशुभ कर्मों को बाँध लेता है। इस प्रकार जहाँ उसे कर्मों के वश न होकर आत्मा से युक्त मानव शरीर के प्रति भेद-विज्ञानपूर्वक आध्यात्मिक वैषम्य को मिटाना था, शरीर और शरीर से सम्बद्ध पदार्थों के प्रति राग-द्वेष करके वहाँ वह ससार मार्ग का परिपोषण करता है। कहा भी है—

येनैव देहेन विवेकभाजः संसारमार्गं परिशोषयन्ति ।
तेनैव देहेन विवेकहीनाः संसारमार्गं परिपोषयन्ति ॥

जिस शरीर से विवेकवान् सम्यग्दृष्टि संसार का परिशोषण करता है, उसी शरीर से विवेक-विकल मानव संसारमार्ग को परिपुष्ट करता है।

जब तक आत्मा और शरीर को पृथक्-पृथक् नहीं समझा जाता, तब तक जीव के अत्यन्त निकट और प्रत्यक्ष होने के कारण शरीर और शरीर से सम्बद्ध सजीव वस्तुओं के प्रति मोह-ममत्व जागेगा, आसक्ति और मूर्च्छा उत्पन्न होगी। उन्हीं को लेकर हिंसा, असत्य, चोरी, ठगी, बेईमानी, अन्याय, अनीति, अब्रह्मचर्य-व्यभिचार, दुराचार, संग्रहवृत्ति, परिग्रहबुद्धि आदि पाप दोषों की वृद्धि होती रहेगी। यह आध्यात्मिक विषमता है। राग-द्वेष आदि उक्त विषमता के अवसर प्रमादी व्यक्ति को भयंकर कर्मबन्ध में डाल देते हैं। सम्यग्दृष्टि विवेकी साधक ऐसे विषमता के अवसरों पर इष्ट का वियोग हो जाने पर मोहजनित विलाप, शोक, चिन्ता, आर्तध्यान आदि से तथा इष्ट के संयोग के प्रति राग, हर्षावेश, आसक्ति या मोह आदि से दूर रहने का और अनिष्ट संयोग के प्रति द्वेष, घृणा, ईर्ष्या, दुःखजनित तड़फन वैर-विरोध आदि से तथा अनिष्ट के वियोग में हर्षावेश आदि से अपने आपको बचाने का अभ्यास करता है। अर्थात् वह ऐसे समय में आत्मा को इन सब परभावों से पृथक् समझता है, आत्मा के स्वभाव—निजीगुणों का चिन्तन करता है, यही आध्यात्मिक साम्य है, जिसमें स्थिर रहने का वह अभ्यास करता है। शरीर से आत्मा को सम्यग्दृष्टि आत्मा पृथक् समझता है। वह शरीर और शरीर से सम्बन्धित अंगोपांग, इन्द्रियाँ, मन, बुद्धि आदि तथा अपने माने हुए परिवार, समाज, सम्प्रदाय, जाति, कौम आदि सजीव एवं धन-सम्पत्ति, जमीन, जायदाद, बाग-बगीचा, कार, कोठी, आदि समस्त निर्जीव वस्तुओं के प्रति लगाव, आसक्ति, मोह-ममता, तृष्णा, लालसा आदि को परभाव समझ कर उनसे निर्लिप्त रहने का अभ्यास करता है। शरीर और शरीर से सम्बद्ध सजीव पदार्थों की अनुचित इच्छाओं, आकांक्षाओं तथा अनुचित आवश्यकताओं की पूर्ति करने में समय, शक्ति और धन आदि साधनों का जो अपव्यय किया जाता है, समभावनिष्ठ व्यक्ति उसे छोड़ने का अभ्यास करता है। वह भली भांति जानता है कि शरीर को नष्ट कर देना या उसके अंगोपांगों को तोड़-फोड़ देना शरीर से आत्मा का भेदविज्ञान नहीं है, अपितु शरीर और शरीर से सम्बन्धित सजीव-निर्जीव वस्तुओं को

आत्मा से पृथक समझ कर उनके प्रति मोह-आसक्ति आदि से दूर रहना है। सामायिक पाठ में इसी आशय को अभिव्यक्त किया गया है—

शरीरतः कर्तुमनन्तशक्तिम्,
विभिन्नमात्मानमपास्तदोषम् ।
जिनेन्द्र ! कोषादिव खड्गयष्टिम्,
तव प्रसादेन ममाऽस्तु शक्तिः ॥[1]

समगुणसम्पन्न साधक जिनेन्द्र भगवान् से प्रार्थना करता है कि हे वीतराग प्रभो ! आपकी कृपा से मेरे में ऐसी शक्ति हो जाए कि जिस प्रकार प्रकार तलवार से म्यान अलग हो जाता है, उसी प्रकार दोष रहित अनन्त शक्तिमान शुद्ध आत्मा को शरीर से पृथक् कर सकूं।

निष्कर्ष यह है कि शरीर और शरीर से सम्बन्धित वस्तुओं के प्रति 'मैं' और 'मेरे' की भावना को छोड़ना ही शरीर से आत्मा को पृथक् करने का भेदविज्ञान है।

आध्यात्मिक वैषम्य वहीं होता है, जहाँ शरीर और उसके अंगोपांगों मन, बुद्धि, इन्द्रियाँ, हाथ-पैर आदि को ही आत्मा समझ लिया जाता है, उन्हीं पर मोह, ममत्व करके अशुभ कर्मबन्ध किया जाता है। सम्यग्दृष्टि भी शरीर तथा अपने कुटुम्ब, परिवार, समाज, सम्प्रदाय, जाति आदि के साथ रहता है, वह उनसे सम्बन्धित सभी आवश्यक कर्त्तव्यों और दायित्वों का पालन करता है, शरीर को टिकाने और जीवन की रक्षा के लिए अन्न, वस्त्र, मकान, धन आदि सभी आवश्यक वस्तुओं का उपार्जन करता है, किन्तु वह इन सबके प्रति निर्लिप्त, अनासक्त, तथा अन्धस्वार्थ और अतिमोह से दूर रहता है। बृहदालोयणा में एक रूपक द्वारा इसे समझाया गया है—

जे जे समदृष्टि जीवड़ा करे कुटुम्ब-प्रतिपाल।
अन्तरथी न्यारो रहे ज्यों धाय खिलावे बाल ॥

भावार्थ स्पष्ट है। जिस प्रकार धायमाता दूसरे के बालकों को खिलाती-पिलाती है, लाड़-प्यार करती है, पालती-पोसती भी है, किन्तु अन्तर् से वह यही समझती है कि यह बालक मेरा नहीं है, इसी प्रकार समदृष्टि

---

१ सामायिक पाठ, श्लोक २

जीव अपने कुटुम्ब शरीर आदि का परिपालन करता हुआ भी उनसे अपने आपको पृथक् समझता है।

अब दूसरी दृष्टि से आध्यात्मिक वैषम्य का विचार कर लें जो बहिरात्म है, शरीर और उससे सम्बन्धित वस्तुओं और व्यक्तियों आदि पर 'मैं' और 'मेरेपन' की छाप लगाता है। शरीर को 'मैं' समझने वाले व्यक्ति प्रायः अपना अधिकांश समय, श्रम, धन, साधन, मनोयोग और शरीर और उसके साथ जुड़े हुए परिकर के निमित्त खपाते हैं। वे पेट की भूख, इन्द्रियों की विविध लिप्साओं और मन-बुद्धि की विविध आकांक्षाओं एवं फरमाइशों की पूर्ति करने और उनके निमित्त दौड़धूप करने में ही लगे रहते हैं। शरीरादि के निमित्त से हुए इस आध्यात्मिक वैषम्य के साथ-साथ मन के निमित्त से हुए आध्यात्मिक वैषम्य में उलझा हुआ व्यक्ति आध्यात्मिक समत्व के मगल द्वार तक पहुँच ही नहीं पाता।

मन की अनुचित माँगें और आदतें भी आध्यात्मिक विषमता उत्पन्न करती हैं। मन में बड़प्पन का अहंकार रूपी विषधर फन फैलाए रहता है। अहंकार के कारण दूसरों के प्रति ईर्ष्या, द्वेष, छल, मोह, अभिमान, क्रोध, वैर-विरोध तथा वैभव तथा अमीरी का प्रदर्शन, फिजूलखर्च, विषयसुख-लिप्सा, आमोद-प्रमोद, रागरंग आदि चेष्टाएँ भी आध्यात्मिक वैषम्य को बढ़ावा देती हैं। मन में महत्त्वाकांक्षाएँ उठती हैं, उनकी पूर्ति के लिए शरीर सज्जा से लेकर अमीरी के खर्चीले ठाठ-बाट बनाने के लिए दौड़-धूप करनी पड़ती है। किसी समय मन में कामवासना और विषय भोगों में सुख लिप्सा और विषय सुखानुभूति की लालसा बढ़ती है। बहिरात्मा का मन रात-दिन प्रायः यही सोचता रहता है कि किसी तरह यह शरीर पाँचों इन्द्रियों के विषयभोगों का आनन्द ले ले। इसप्रकार शरीर को 'मैं' ही समझने वाला जितना इन्द्रिय विषयसुख खरीदता है, उतना ही बल्कि, उससे भी अधिक दुःख मोल ले लेता है। वासना, कामना, तृष्णा और मोह-ममता की इन विकट घाटियों से पार उतरने में ही दिन भर का ही नहीं जिन्दगी का लम्बा समय खप जाता है। ऐसे शरीरमोही शरीरासक्त एवं देहाध्यास या शरीर भाव से ग्रस्त लोग अपनी सारी कमाई प्रायः शरीर के लिए खर्च कर डालते हैं। वे शरीर के लिए ही जीवित रहते हैं। इस आध्यात्मिक विषमता के भँवर में फंस कर वे आत्मचिन्तन, आत्महित, आत्मशुद्धि अथवा आत्मविकास की बात सोच ही नहीं सकते।

फिर शरीर से सम्बन्धित वस्तुओं, भावों या व्यक्तियों का क्षेत्र काफी विस्तृत है। अपने माने हुए परिवार, धर्मसम्प्रदाय, जाति, प्रान्त, राष्ट्र, भाषा

आदि के परिकर भी शरीर से सम्बन्धित हैं; जो शरीर यात्रा की परिधि में आते हैं। शरीरासक्त मानव आध्यात्मिक वैषम्य के जाल में फंस कर अपने माने हुए परिवार, सम्प्रदाय, कौम, जाति-प्रान्त आदि के लिए लड़ता-मरता है, अपने प्राण होमने को तैयार हो जाता है। न्यायसंगत बात के लिए नहीं, किन्तु अन्याय-अनीति-युक्त या मिथ्या परम्परागत बात के लिए भी, अपने अहंत्व-ममत्व के पोषण के लिए भी तथा अपनी झूठी शान-शौकत, कुरूढ़ि एवं कुरीति एवं मिथ्या प्रतिष्ठा आदि के लिए अथवा अपनी मूंछें ऊँची रखने के लिए भी। इसके अतिरिक्त धन, धाम, घर-बार, जमीन-जायदाद, मकान-दुकान, वस्त्राभूषण आदि भी शरीर से ही सम्बन्धित हैं, जिनके लिए शरीरवादी मानव आजीवन दौड़-धूप, करता रहता है। निष्कर्ष यह है कि शरीर को आत्मा से अभिन्न मानने वाले लोग शरीर और शरीर-सम्बद्ध वस्तुओं की ही सेवा शुश्रूषा में अपना समग्र जीवन लगा देता है। शरीर और शरीर से सम्बन्धित वस्तुओं, व्यक्तियों तथा तन, मन, वचन आदि के साथ जो तादात्म्य-सम्बन्ध है, उसी को वैषम्य का, रागद्वेष-मोह आदि का कारण समझ कर सम्यग्दृष्टि भेदविज्ञानी बन जाता है, और उस तादात्म्य सम्बन्ध को शिथिल करने तथा उससे मुक्त होने का प्रयास करता है। वह समत्व में स्थिर होकर आत्मिक सुख-शान्ति प्राप्त कर लेता है।

समभाव निष्णात सम्यग्दृष्टि शरीर और शरीर से संलग्न इन्द्रिय, मन, वाणी आदि को अपने (आत्मा के) सेवक मानता है। वह शरीरादि के साथ व्यवहार में स्वामी-सेवक का या शिल्पी-उपकरण का-सा सम्बन्ध मान-कर इन्हें समत्व-साधना में लगाता है, इन्हें आत्मा की सेवा में, आत्मगुणों की वृद्धि में, आत्मशुद्धि, आत्मचिन्तन और आत्म-विकास की साधना में लगाता है। वह शरीरादि उपकरणों को सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र की साधना में जुटाता है। सम्यग्दृष्टि का लक्ष्य शरीर और आत्मा का सन्तुलन बनाए रखना है। वह आत्मा की शक्ति बढ़ाकर शरीरादि को अपने अनुकूल बनाता है। वह पूर्वोक्त आध्यात्मिक वैषम्यों को जरा भी फटकने नहीं देता। अनुयोगद्वार सूत्र में स्पष्ट कहा है—

जस्स सामाणिओ अप्पा, संजमे नियमे तवे।
तस्स सामाइयं होइ, इइ केवली भासियं॥

अर्थात्—जिसकी आत्मा समभाव में रहती है, अर्थात् संयम-नियम और तप में प्रवृत्त होती है, वीतराग प्रभु ने उसी के समत्व योग (सामायिक) को श्रेष्ठ कहा है।

सुख और दुःख में समत्व

सम्यग्दृष्टि भेदविज्ञान द्वारा शरीर और आत्मा की भिन्नता को समझ कर शरीर से सम्बन्धित सुख और दुःख आदि द्वन्द्वों के समय समभाव रखता है। सांसारिक अज्ञजन अनुकूल विषय-सुखों के प्राप्त होने पर हर्ष से फूल उठते हैं, अपने मन को अभीष्ट लगने वाली वस्तु या अनुकूल परिस्थिति को सुखरूप मान कर अहंकार से गर्वित हो उठते हैं। वहाँ सम्यग्दृष्टि समभावी होकर वैषयिक सुखों को दुःख बीज मानकर उनके फंदे में नहीं फंसता, अनुकूल परिस्थितिजन्य तथा वस्तुनिष्ठ सुखों को भी क्षणिक, राग-द्वेषवर्द्धक एवं वियोगादि में दुःखोत्पादक मान कर उनमें आसक्त नहीं होता। कदाचित् पूर्वकृत पुण्यफल के कारण उसे स्वस्थ शरीर, तेजस्वी बुद्धि, सशक्त मन, अपार वैभव, दीर्घायुष्य, अनुकूल परिवार आदि सुख के साधन प्राप्त हो जाएँ तो भी वह उनमें आसक्त या मोहग्रस्त नहीं होता, अहंकार नहीं करता। वह उन साधनों को राग-द्वेष, काम क्रोधादि विकारों को बढ़ाने में नहीं लगाता। सम्यक्दृष्टि भी सुख चाहता है, पर उसकी दृष्टि असली, स्थायी और शाश्वत सुख पर रहती है, वह वैषयिक सुखों या परिस्थितिजन्य या वस्तुनिष्ठ सुखों की लालसा नहीं करता। इनका गुलाम नहीं बनता।

संयोग और वियोग में समत्व

इष्ट का वियोग हो चाहे अनिष्ट का संयोग, समभावी सम्यग्दृष्टि दोनों ही परिस्थितियों में सम रहते हैं। वे न तो इष्ट वस्तु या व्यक्ति के वियोग होने पर घबराते हैं, और न ही अनिष्ट वस्तु या व्यक्ति का संयोग होने पर चिन्तित होते हैं। इसी प्रकार इष्ट वस्तु या व्यक्ति के संयोग अथवा अनिष्ट के वियोग के समय भी वे हर्षित होकर उछलते नहीं, न ही उनमें गाढ़ आसक्त, मूच्छित या लालायित होते हैं।

एक व्यक्ति धनवान् है, परन्तु उसका शरीर दुर्बल है, रोगाक्रान्त है, काला कलूट है। उसको अंगोपांग भी सुडौल नहीं मिले। उसके मन और बुद्धि भी विकसित नहीं हैं। पाँचों इन्द्रियाँ तो मिलीं, पर वे बहुत ही चंचल हैं, अनुकूल विषयों पर राग-मोह या आसक्ति से ग्रस्त हो जाती हैं, और प्रतिकूल विषय मिलने पर उसका मन उन्हीं इन्द्रियों को कोसता रहता है, वह शोक एवं चिन्ता में डूब जाता है। अथवा समभाव के महत्व से अनभिज्ञ व्यक्ति या तो इन्द्रियों का दुरुपयोग करता है। अथवा इन्द्रियों का

अति-उपयोग करके जीवन को बर्बाद कर देता है। इस प्रकार इष्ट या अनिष्ट शब्दादि विषयों के संयोग अथवा वियोग के समय वह मन को सन्तुलित नहीं रख सकता। समभाव में रहने का कौशल उसे प्राप्त नहीं हुआ।

कई समभाव की कला से अनभिज्ञ व्यक्ति शब्दादि विषयों का उपभोग अपनी इन्द्रियों से न कर सकने या आँख, कान, हाथ, पैर, वाणी आदि बाह्य इन्द्रियाँ न मिलने पर बहुत चिन्तित रहते हैं और सोचते रहते हैं कि हमें आँखें मिलतीं तो हम अच्छा ही अच्छा देखते अथवा हमें पर मिलते तो हम दौड़ दौड़ कर असहायों एवं रुग्णों की सहायता करते, सेवा करते। अथवा हम शारीरिक दृष्टि से निर्बल न होते अपितु सबल होते तो दुर्बलों एवं पीड़ितों पर कभी अत्याचार या अन्याय न होने देते। परन्तु जब उन्हें वे इन्द्रियाँ अच्छे रूप में प्राप्त हो गईं तो वे उनके सदुपयोग से अथवा अपने मन में संजोई हुई सेवा की कल्पना से विमुख हो गए और उन-उन अंगों या इन्द्रियों का दुष्प्रयोग करने लगे। वे अपने सुसंकल्प को भूल गए।

विविध द्वन्द्वों में समत्व

इसी प्रकार लाभ और अलाभ, निन्दा और प्रशंसा, जीवन या मरण अथवा अनुकूल और प्रतिकूल परिस्थितियों अथवा सम्मान और अपमान के प्रसंगों पर साधारण अज्ञजन संतुलित, स्वस्थ या समत्व में स्थिर नहीं रह सकते, जबकि सम्यग्दृष्टि ऐसे द्वन्द्वों के अवसर पर सम रहता है। उत्तराध्ययन सूत्र में समभावी की इसी दृष्टि का स्वरूप बताते हुए कहा गया है—

लाभालाभे सुहे दुक्खे जीविए मरणे तहा।
समो णिंदा-पसंसासु तहा माणावमाणओ॥[1]

सम्यग्दृष्टि समभावी पुरुष लाभ और अलाभ में, सुख और दुःख में जीवित या मरण में, तथा निन्दा और प्रशंसा के अवसरों पर एवं सम्मान या अपमान की स्थिति में सम रहता है।

ऐसे समभावी को जीने के लिए आवश्यक और उपयुक्त साधन मिलें या न मिलें, अथवा प्रतिकूल साधन मिलें वह सन्तुलित और स्वस्थ रहता

---

१ उत्तराध्ययन अ. १९, गा. ९०

है। अनुकूल साधन न मिलने पर तिलमिलाता नहीं, और प्रतिकूल साधन मिलने पर तड़फता नहीं। इसी प्रकार अच्छे या बुरे, अनुकूल या प्रतिकूल पदार्थों या व्यक्तियों का संयोग मिलने पर वे समभाव से विचलित नहीं होते।

प्रायः प्रतिकूल संयोगों में मनुष्य का मन समभाव को खो देता है। अतः सम्यग्दृष्टि बार-बार जागरूक और सावधान रहकर प्रभु से प्रार्थना करता है—"प्रभो! मेरा मन संयोग और वियोग में सम रहे।" अथवा अपने मन को वह बार-बार सम्बोधित करता रहता है—

"अरे मन! तू क्यों इष्टवस्तुओं या व्यक्तियों के संयोग से हर्षावेश में उछलता और क्यों अनिष्ट वस्तुओं या व्यक्तियों के संयोग से दुःखित-चिन्तित होता है? दोनों ही परिस्थितियों में सम रह, राग और द्वेष से, मोह और घृणा से दूर रह।"

इस प्रकार सम्यग्दृष्टि सुख-दुःख, मान-अपमान, निन्दा-प्रशंसा, संयोग-वियोग, भवन-वन, शत्रु-मित्र, शीत-उष्ण आदि द्वन्द्वों के समय मन में राग या द्वेष या मोह और घृणा को अपना कर विषमता नहीं लाता। वह इन द्वन्द्वों के समय समभाव रखता है। इसका अर्थ यह नहीं है कि समता रखने वाला व्यक्ति इन द्वन्द्वों के उपस्थित होने पर प्रवृत्तिशून्य हो जाए। समत्व आत्मिक या आन्तरिक पुरुषार्थ का नाम है। अतः साधक फलाकांक्षा से रहित होकर सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र-तपरूप धर्म या मोक्षमार्ग में सतत पुरुषार्थ करता है। इस प्रकार के आन्तरिक पुरुषार्थ द्वारा कर्मक्षय करके आत्मशुद्धि करते समय कदाचित् वह बाह्य प्रवृत्तियों से कुछ समय के लिए निवृत्त होता है। परन्तु जब तक शरीर है, तब तक मन-वचन-काया से एकान्त निवृत्ति न तो सम्भव है, और न ही अभीष्ट। कुछ शारीरिक क्रियाएं तो अनिवार्य होती हैं, लेकिन उन क्रियाओं को करते समय भी सम्यग्दृष्टि समभावी यतना और विवेक रखता है।

मन भी तभी चंचल एवं विक्षिप्त होता है, जहाँ इन्द्रिय, मन और प्राण (वायु) में विषमता हो। इनमें समता आते ही विक्षेप का स्वतः शमन हो जाता है। मन को समत्व में प्रतिष्ठित करने या एकाग्र करने का माध्यम समताल श्वास-प्रश्वास है। उसे अजपाजाप या आनापानसती भी कहते हैं।

मन चिन्तन से सर्वथा विमुक्त नहीं हो सकता। असत् कल्पनाओं के जाल से मुक्त करने के लिए उसे सत्कल्पनाओं का सहारा लेना आवश्यक है।

अर्थात्—मन को विषमताओं के कारणभूत पदार्थों या व्यक्तियों से हटाकर समत्व में प्रतिष्ठित करना होता है। जिसका मन मान-अपमान आदि को बाह्यपदार्थ मानकर उनकी स्मृति होते ही चंचल और विक्षिप्त नहीं होता, वह समत्व में प्रतिष्ठित होता है।

प्राणिगत वैषम्य से दूर

सम्यग्दृष्टि में प्रत्येक प्राणी के प्रति समभाव होता है। वह ममता और आसक्ति से सर्वथा दूर रहने का प्रयत्न करता है,किन्तु किसी भी निर्दोष प्राणी को वह पीड़ित, दुःखित पा त्रस्त नहीं करता क्योंकि वह सभी प्राणियों को आत्मवत् मानता है। दूसरों के दुःख या पीड़ा को अपना दुःख या अपनी पीड़ा समझता है। उसका सदैव यही चिन्तन रहता है—

जह मम न पियं दुक्खं जाणिय एमेव सव्वजीवाणं।

जिस प्रकार मुझे दुःख प्रिय नहीं है, उसी प्रकार समस्त प्राणियों को भी दुःख प्रिय नहीं है, ऐसा समझो। इसलिए मुझे किसी को भी दुःख नहीं देना चाहिए। इस प्रकार प्राणिमात्र के प्रति सम्यग्दृष्टि समभाव रखता है। वह अहंकारवश या ममत्ववश अपनी जाति, वर्ण, धर्म-सम्प्रदाय, देश, भाषा, प्रान्त, आदि को ऊँचा और दूसरों को नीचा समझकर उन्हें अपमानित या पीड़ित नहीं करता। मानवमात्र को वह अपने बन्धुतुल्य समझता है। मानव-मानव में भेद करना, छुआ-छूत रखना, किसी के यहाँ जन्म लेने से ऊँच-नीच की कल्पना करना आदि अतात्त्विक बातों में वह विश्वास नहीं करता। वह जातिभेद, वर्णभेद, वर्गभेद आदि होने पर उन-उन जाति, वर्ण, वर्ग, भाषा, देश-वेश आदि लोगों के प्रति द्वेष या मोह नहीं करता; क्योंकि वह मानता है कि ऐसा करना विषमता की वृद्धि करना है। इसीलिए उत्तराध्ययन सूत्र में कहा गया है—

निम्ममो निरहंकारो, निस्संगो चत्तगारवो।
समो य सव्वभूएसु, तसेसु थावरेसु य॥[1]

जिसने ममत्व, अहंकार, आसक्ति और गर्व का त्याग कर दिया है, और जो त्रस और स्थावर सभी प्राणियों के प्रति समभाव रखता है, वही सम्यग्दृष्टि है, समतायोगी है।

---

१ उत्तराध्ययन अ० १६ गा० ८६

सम ही जीवन का मूलमंत्र

श्रमण संस्कृति का मूल शब्द 'समण' है, तदनुसार उसका तीसरा अर्थ 'समन' होता है अर्थात् सर्वत्र समभाव में प्रवृत्त करने वाली संस्कृति। भगवान् महावीर के लिए शास्त्रों में यत्र-तत्र 'समणे' विशेषण प्रयुक्त किया गया है। इसका फलितार्थ यह है कि श्रमण संस्कृति का उपासक सम्यग्दृष्टि होता है, वह सभी परिस्थितियों में समदृष्टि, समत्व का उपासक, प्राणिमात्र को अपने समान समझने वाला, सबके हित और सुख का व्यवहार करने वाला, संयोग-वियोग, सुख-दुःख, भवन-वन, शत्रु-मित्र आदि के प्रति समभावी होता है।[1] समत्व उसके जीवन का मूलमंत्र होता है। जीवन के प्रत्येक क्षेत्र में वह विषमताओं से दूर रहकर समभाव में स्थिर रहता है।

---

१ "दुःखे सुखे वैरिणि बन्धुवर्गे, योगे-वियोगे भवने वने वा।
निराकृताशेष ममत्व बुद्धेः समं मनो मेऽस्तु सदाऽपि नाथ॥"
—सामायिक पाठ, श्लो० ३

१५

सम्यग्दृष्टि को परखने का दूसरा चिन्ह : संवेग

जैन सिद्धान्त के अनुसार मोक्ष की ओर व्यक्ति की गति सम्यग्दर्शन या सम्यक्त्व से प्रारम्भ हो जाती है। किसी व्यक्ति की दृष्टि सम्यक् है या नहीं ? अर्थात्—उसका पराक्रम अन्तिम लक्ष्य की सम्यक् दिशा की ओर है या असम्यक् दिशा की ओर है ? वह मोक्ष की ओर अपने कदम बढ़ा रहा है या संसार की ओर ? इसकी यथार्थ प्रतीति या परीक्षा के लिए जैन दर्शन में पाँच लक्षण बताए हैं, उनमें दूसरा और तीसरा लक्षण है—संवेग और निर्वेद। मोक्षरूपी मंजिल तक पहुँचाने वाले आध्यात्मिक रथ के ये दो घोड़े हैं।

संवेग : आध्यात्मिक विकास में अत्यन्त सहायक

मनुष्य के पास सबसे महत्त्वपूर्ण पूंजी सद्गुणों की है। जिसके पास जितने अधिक सद्गुण हैं, वह उतना ही अधिक धनाढ्य है। उसके पास उतना ही अधिक आध्यात्मिक धन है। जैसे—भौतिक धन से उपभोग की सभी वस्तुएँ खरीदी जा सकती हैं, उसी प्रकार सद्गुणों के धन से आत्मा के ज्ञान, दर्शन, सुख और बल आदि निजी गुणसम्पदा अर्जित की जा सकती है, आध्यात्मिक उन्नति की जा सकती है। संवेग गुण आध्यात्मिक जीवन विकास में अत्यन्त सहायक तथा मोक्षमार्ग पर तीव्रता से गति करने में सहयोगी बनता है। जो गुणहीन और मोक्ष-लक्ष्य के प्रति उपेक्षाशील हैं, उनका चित्त आर्त्तध्यान में अहर्निश रत रहता है। ऐसे लोग हीन और हेय बने रहते हैं। वे जीवन जीने की कला से तथा जिंदगी सही ढंग से सम्यक्दृष्टि पूर्वक जीने से अनभिज्ञ होते हैं। वे बेचारे जिन्दगी की लाश ढोते हुए जीते हैं। किसी प्रकार जिन्दगी के दिन पूरे कर लेना ही उनका लक्ष्य होता है।

किसी आध्यात्मिक विकास के कार्य में उनकी रुचि नहीं होती। ऐसे लोग संवेग से कोसों दूर होते हैं।

संवेग का स्वरूप

वेग शब्द विज् धातु से निष्पन्न होता है। जिसके दो अर्थ होते हैं- काँपना और दौड़ना-तीव्र गति करना। वेग के सामान्य रूप से दो रूप लौकिक व्यवहार में प्रचलित हैं—वेग और आवेग। वेग जहाँ दौड़ने अर्थ में है - वहाँ उसका अभिप्राय होता है—बैल, हाथी, घोड़ा, ऊँट आदि का वेग यानी दौड़। जहाँ तीव्र गति अर्थ में है—वहाँ उसका अभिप्राय होता है - भूख, प्यास, हंसना, रोना, मूत्र, मल, वीर्य आदि की तीव्र गति। मल-मूत्रादि के आवेगों को रोकना आरोग्य के प्रतिकूल है। प्राकृतिक आवेगों यानी कुदरती हाजतों को बलात् रोकने से अनेक प्रकार के घातक रोग उत्पन्न हो जाते हैं। दूसरी दृष्टि से देखें तो आवेग आवेश अर्थ में भी प्रयुक्त होता है। कई बार मनुष्य आवेश में आकर कई उलटे-सीधे काम कर लेता है। आवेश में मनुष्य को हिताहित का भान नहीं रहता। आवेशग्रस्त मनुष्य को एक धुन लग जाती है, वह उस कार्य को किये चले जाता है। वह यह नहीं सोचना कि इसमें मेरा या दूसरों का कोई अहित, अकल्याण या आत्मिक हानि तो नहीं है ?

आवेग के साथ कभी-कभी प्रतिवेग भी होता है। यौवन अवस्था में मनुष्य प्रायः आवेग के वश में होता है। आवेग में मनुष्य को भान नहीं रहता है कि वह जिन सांसारिक विषय सुखों की ओर दौड़ लगा रहा है, वे कितने भयंकर हैं, दुःखदायक हैं, सुखाभास हैं। इतना होते हुए भी वह परिणाम में दुःखोत्पादक उन विषय-भोगों को सुखरूप मानकर दौड़ लगाता रहता है। उसे आत्मा के हित का भान नहीं रहता। जब कोई किसी के उस आवेग को रोकता है तो प्रतिवेग उत्पन्न होता है। प्रतिवेग इष्टकर भी होता है, अनिष्टकर भी।

मांगीलाल सेठ का पुत्र गिरधर पूरा नास्तिक बना हुआ था। नवोढ़ा पत्नी के मोह में इतना आसक्त हो गया कि देव, गुरु, धर्म, किसी को भी नहीं मानता था। वह साधु को देखकर घर के द्वार बन्द कर लेता था, उन्हें देखकर मुंह फेर लेता था, किन्तु एक दिन घर का द्वार खुला था। एक जैन मुनि उसके यहाँ गोचरी के लिए पधारे। मुनि को देखकर गिरधर

मजाक करने लगा। इतने में एक घटना ऐसी बनी कि गिरधर के जीवन ने पलटा खाया। जिस समय मुनिराज उसके घर में प्रविष्ट हुए थे, तभी एक कसाई एक बकरे को लेकर आ रहा था। बकरा गिरधर के घर के आगे रुक गया। वह वहाँ से एक इंच भी इधर-उधर नहीं हटा। कसाई ने बहुत प्रयत्न कर लिये परन्तु सब व्यर्थ। ज्ञानी मुनिराज ने बकरे को देखकर मन ही मन संसार की दशा का विचार किया और सहसा उनके मुख से 'अहा हा' उद्‌गार निकले। यह सुनकर गिरधर उस समय तो कछ नहीं बोला परन्तु बाद में उपाश्रय में जाकर उसने मुनिवर से विनयपूर्वक समाधान माँगा तो उन्होंने कहा—"वह बकरा तुम्हारा पूर्वजन्म का पिता था। उसने अनेक मनुष्यों का शोषण करके, ऊँचा ब्याज लेकर तुम्हारे लिये धन इकट्ठा किया था, किन्तु वह उस पापकर्म के फलस्वरूप बकरा बना और कसाई ने इसे खरीद लिया है। वह इसे दौड़ा कर अपने यहाँ ले जा रहा था, मगर पूर्वजन्म के संस्कारवश वह तुम्हारे घर के सामने आकर अड़ गया। जब वश न चला तो कसाई डंडे मारकर उसे आगे ले गया।" यह सुनते ही गिरधर को सर्वप्रथम विचार आया कि मैं उस बकरे को कसाई के हाथ से छुड़ा लाऊँ। जब वह उतावला होकर जाने लगा तो मुनिराज ने कहा—"अब कसाई ने उसका काम तमाम कर दिया है, तुम्हें वह नहीं मिलेगा। अब तो तुम अपने कर्मों का विचार करो। तुम अपनी स्त्री में आसक्त होकर देव-गुरु-धर्म से विमुख बन रहे हो, यह तुम्हारे लिए अहितकर है।" यह सुनते ही गिरधर का स्त्री के प्रति मोह उतर गया। उसे धर्म और धर्मगुरु के प्रति श्रद्धा जागी।

इसे 'संवेग' तो नहीं कह सकते, 'प्रतिवेग' कहा जा सकता है। वैसे देखा जाए तो संसार के समस्त प्राणियों की, विशेषतः अधिकांश मनुष्यों की दौड़ विषय-सुखों की ओर है। वे सुख के अभिलाषी तो हैं, किन्तु दौड सुख की मृगमरीचिका की ओर लगाते हैं, जहाँ सुख की प्यास बुझती नहीं केवल सुख का पानी दिखता है। किन्तु अज्ञान, मोह एवं मिथ्यात्व दशा से ग्रस्त लोग अपने मन, इन्द्रियों तथा बुद्धि के वेग को दुःख की ओर ले जा रहे हैं। उनका यह वेग अधोमुखी है। इसे ऊर्ध्वमुखी बना दिया जाए तो वह वेग 'संवेग' हो सकता है। अर्थात्—वैषयिक सुखों की ओर दौड़ लगाना अधोमुखी वेग है, और मोक्ष सुख या आत्मिक सुख की ओर दौड़ लगाना ऊर्ध्वमुखी वेग है। संक्षेप में यों कह सकते हैं कि संसाराभिमुखी वेग अधोमुखी है और मोक्षाभिमुखी वेग ऊर्ध्वमुखी है। यहाँ द्रव्य वेग की बात नहीं,

है, भाववेग की बात है। जो अधोमुखी भाववेग होता है, वह पतन के गड्ढे में गिराने वाला होता है, जबकि ऊर्ध्वमुखी भाववेग अभीष्ट स्थान पर पहुँचाने वाला होता है। यही संवेग का वास्तविक अर्थ है। मिथ्यादृष्टि की बुद्धि, मन एवं इन्द्रियों का वेग भौतिक विषय सुखों की ओर बहता है, जबकि सम्यग्दृष्टि की बुद्धि, मन एवं इन्द्रियों का वेग बहता है—आत्मिक सुखों की ओर, मोक्ष सुख की ओर। सम्यग्दृष्टि अपने अधोमुखी वेग को भी ऊर्ध्वमुखी बना लेता है।

संवेग का फलितार्थ

सम् शब्द आत्मा अथवा परमात्मा के अर्थ में भी प्रयुक्त होता है। तब संवेग का अर्थ होगा—आत्मा या परमात्मा की ओर तीव्रतापूर्वक गमन। तात्पर्य यह है कि जब आत्मा को स्वानुभूति, आत्मानुभूति अथवा आत्मा के सच्चिदानन्दमय स्वरूप की अनुभूति, अथवा परमात्मा से मिलन की तीव्रता, तड़फन या उत्कण्ठा जागती है, तब उसे संवेग कहा जाता है।

इसी 'संवेग' से प्रेरित होकर योगीश्वर आनन्दघनजी जंगल में चले गये थे। उनके मन में एक ही रट लगी थी—

"म्हारो कंचनवर्णो नाह, मने कोई मिलावे।"

जब जीवन में संवेग आता है तो ऊर्ध्वमुखी वेग के रूप में एक ही धुन होती है, एक ही मन्थन चलता है। उस समय उसे आत्मानुभूति या परमात्म-मिलन की इतनी लगन होती है, कि वह भूख, प्यास या थकान, शरीर का विश्राम आदि सब भूल जाता है। आनन्दघनजी को परमात्म-मिलन की इतनी उत्कट लगन थी कि वे सब कुछ भूलकर एकमात्र उसी खोज में तल्लीन हो गए थे। जब हृदय में संवेग जागता है, तब साधक उसकी ओर दौड़ लगाये बिना रह ही नहीं सकता। वह अपने आदर्श, अपने अन्तिम लक्ष्य या ध्येय की ओर दौड़ लगाता है। उसका विश्वास, उसकी निष्ठा या श्रद्धा इतनी सुदृढ़ या परिपक्व हो जाती है कि पतन के मार्ग, या धन, यश प्रतिष्ठा, सुख-सुविधा, या सरस स्वादिष्ट खानपान या मान-सम्मान की ओर उसकी दृष्टि जाती ही नहीं, किसी भी भय, प्रलोभन या स्वार्थ के वश होकर अपने निश्चित आदर्श या ध्येय से वह विचलित नहीं होता।

कुतुबनुमा यंत्र की सुई सदैव उत्तर दिशा की ओर होती है। उसमें चुम्बक लगा होता है, उसके कारण उसका मुख उत्तर दिशा में ही रहता है। अगर कोई व्यक्ति उस सुई को हाथ से पकड़ कर दबाये रखे तो भले ही

वह थोड़ी देर के लिए दूसरी दिशा में रहेगा, परन्तु ज्यों ही हाथ हटाया कि वह पुनः उत्तर दिशा की ओर स्थिर हो जाएगा। किन्तु संवेगवान् व्यक्ति तो किसी के दबाने, सताने या भय दिखाने से अथवा धन, यश, सम्मान, पद, प्रतिष्ठा आदि का प्रलोभन देने से अपनी दिशा बदलता नहीं, वह अपने निश्चित ध्येय या आदर्श की ओर ही मुख रखता है, उसी में तन्मय हो जाता है, उसी की प्राप्ति के लिए अहर्निश प्रयत्नशील रहता है। श्वेताम्बिका के प्रदेशी राजा एक दिन नास्तिकता के आवेश से युक्त थे। उन्हें आत्मा के विकास, हित या कल्याण का जरा भी विचार नहीं आता था। वे आत्मा, परमात्मा, स्वर्ग-नरक आदि को बिलकुल नहीं मानते थे। परन्तु जैन श्रावक चित्त प्रधान के निमित्त से वे एक दिन केशी श्रमण महामुनि के सान्निध्य में पहुँच गए। उन्होंने आत्मा और परमात्मा का स्वरूप तथा आत्मा के हित, विकास या मंगल कल्याण का ऐसा मार्ग बताया कि प्रदेशी राजा का हृदय-परिवर्तन हो गया। उनका आवेग संवेग के रूप में परिणत हो गया। फिर तो आत्मा के विकास एवं कल्याण की ही एक मात्र धुन लगी। विषयसुख, सरस-स्वादिष्ट खानपान, कामभोग, शरीर शुश्रूषा आदि सब फीके लगने लगे। संवेग में वे इतने तल्लीन हो गए कि रानी सूरिकान्ता द्वारा विषय-भोगों की विनम्र प्रार्थना करने पर भी यहाँ तक कि भोजन में प्राणघातक विष दिये जाने पर भी वे अपने आदर्श से जरा भी विचलित नहीं हुए।

यह है संवेग का परमार्थ, जो जीवन को सम्यक्निष्ठ बना देता है।

संवेग के लक्षण

सम्यग्दृष्टि के मन या आत्मा का वेग (संवेग) जब शुद्ध आत्मतत्व या परमात्मतत्त्व के साक्षात्कार की ओर होता है, तब उसे यह भी स्पष्ट प्रतीत हो जाता है कि मेरी आत्मा अब तक विविध गतियों और योनियों में परिभ्रमण करती रही और कर्मों के कारण नाना दुःख भोगती रही अब मैं अगर शुद्ध आत्म स्वरूप को प्राप्त करना चाहता हूँ तो शुद्ध आत्मा की उपलब्धि में साधक तथा शाश्वत सुख—मोक्ष सुख को प्राप्त कराने वाले तत्वों की ओर तीव्र अभिरुचि होनी चाहिए। इसी दृष्टि से श्वेताम्बर जैनाचार्यों ने संवेग के दो लक्षण बताए हैं—

(१) मोक्ष-सुखाभिलाषा।

(२) भवबन्धन से मुक्त होने की अभिरुचि,
अथवा भवभ्रमण से भीति।

जिसे यह दृढ़ निश्चय हो जाएगा कि संसार में सर्वत्र दुःख ही दुःख है, जैसा कि उत्तराध्ययन सूत्र में कहा है—

जम्म दुक्खं जरा दुक्ख रोगा य मरणाणि य ।
अहो दुक्खो हु संसारे, जत्थ किस्संति जन्तवा ॥

जन्म दुःखकारक है, बुढ़ापा दुःखद है, रोग और मृत्यु भी दुःख कारक है। आश्चर्य है कि संसार में सर्वत्र दुःख हो दुःख है, वैषयिक सुख या वस्तुनिष्ठ सुख भी परिणाम में दुःखरूप हैं, क्षणिक हैं, और उनकी प्राप्ति, सुरक्षा और वियोग, तीनों ही दुःखमय हैं। फिर भी अज्ञानी जीव उस संसार में रहकर क्लेश पाते हैं। वे इस संसार से—भवभ्रमण से, और सांसारिक दुःख से छूटने और शाश्वत, अनन्त मोक्ष सुख को पाने की भावना एवं चेष्टा नहीं करते। संसार में परिभ्रमण कराने के मुख्यतया दो ही कारण हैं— विषय और कषाय। जब मनुष्य इष्ट विषयों के प्रति राग-मोह एवं आसक्ति और अनिष्ट के प्रति द्वेष, अरुचि या घृणा करता है तथा क्रोध मान, माया और लोभ को घटाना या मिटाता नहीं, तब इनसे कर्मबन्धन होते हैं, और कर्मबन्धन से संसार-परिभ्रमण होता है। इसी प्रकार मिथ्यात्व, अविरति, प्रमाद, कषाय और योग ये पाँच आस्रव अथवा हिंसा, असत्यादि आस्रव भी कर्मों के आगमन के स्रोत, कर्मबन्ध के निमित्त और परम्परा से भवभ्रमण के कारण हैं। भवभ्रमण के दुःख से आत्मा का मुक्त होना ही मोक्ष है। मोक्ष तभी होगा जब भवभ्रमण रूप दुःख में डालने वाले समस्त कर्मों से आत्मा मुक्त होगा। आत्मा जब तक दुःख से सर्वथा विमुक्त नहीं होता, तब तक उसे नाना प्रकार के दुःख भोगने ही पड़ते हैं। भगवती सूत्र में चौबीस दण्डकवर्ती जीवों की चर्चा करते हुए कहा गया है देवलोक के देवों को व्यवहार से दिव्य सुख सम्पन्न कहा जाता है, फिर भी वे दुःखी हैं, क्योंकि कर्म अपने आप में दुःख रूप हैं और देव कर्म से विमुक्त नहीं हैं, अतएव दुःखी हैं। यह बात दूसरी है कि सातावेदनीय कर्म के उदय से उन्हें कर्मों के दुःख का वेदन (अनुभव) नहीं होता, परन्तु शुभ या अशुभ कर्म दुःख के ही कारण हैं। अतएव संसार का दुःख तो दुःखरूप है ही, संसार का सुख भी दुःखरूप है। संसार के पदार्थों में सुख होता तो चक्रवर्ती जैसे परमऋद्धिमान वैभवशाली व्यक्ति क्यों सांसारिक पदार्थों का त्याग करते। यद्यपि अव्रती श्रावक सम्यग्दृष्टि साधुओं की तरह सांसारिक पदार्थों का त्याग नहीं कर सकते, किन्तु वे सांसारिक पदार्थों को सुखरूप नहीं,

दुःख रूप मानते हैं, उन्हें त्याज्य समझते हैं। इसीलिए वे संवेगवान् सम्यग्-दृष्टि एकान्त, शाश्वत, मोक्षसुख की अभिलाषा करते हैं। क्योंकि वे मानते हैं कि संसार के पदार्थों में आसक्त कोई भी जीव सुखी नहीं है। कहा है—

णवि सुही देवता देवत्ताएं, णवि सुही पुढवीवई राया।
ण वि सुही धणवइ सेट्ठावई एगंतसुही मुणि वीयरागी॥

अर्थात्—देवलोक के देव भी सुखी नहीं है, पृथ्वीपति—राजा चक्रवर्ती आदि भी सुखी नहीं हैं। न ही धनाढ्य सेठ या सत्ताधीश सेनापति सुखी हैं। अगर कोई एकान्त (सर्वथा) सुखी हैं तो वीतराग मुनि ही हैं।

वीतरागमुनि या वीतराग तीर्थंकरों के पथ पर चलने वाले—कर्मों का क्षय करने के लिए अहर्निश पुरुषार्थी श्रमण सुखी हैं। वस्तुतः सुखी वही है, जो कर्मों का क्षय करने के लिए अहर्निश प्रयत्न करता है। दूसरे शब्दों में कहें तो कर्मों के क्षय करने की तीव्रता ही मोक्षसुख की अभिलाषा को पूर्ण करने वाली है। इसलिए आचार्यों ने संवेग के जो दोनों लक्षण बताए हैं, वे एक दूसरे से परस्पर सम्बन्धित हैं। मोक्ष सुख के प्रति अनुराग मोक्ष-विरोधी संसार-दुःख के प्रति अरुचि से ही सार्थक हो सकता है। भवभ्रमण या कर्मबन्धन एक प्रकार से दुःखरूप ही हैं, उनसे मुक्त होने या उनसे या उनके कारणों से दूर रहने की तीव्रता ही मोक्षसुख की अभिलाषा की पूर्ति करती है। सांसारिक विषयभोगों के प्रति अभिलाषा होगी तो मोक्ष की ओर गति नहीं हो सकेगी और मोक्ष की अभिलाषा भी भोगों के प्रति अरुचि, कर्मों से, भवभ्रमण रूप दुःखों से भीति या विरक्ति होने पर ही हो सकेगी।

संवेग की प्राप्ति या वृद्धि कैसे हो ?

यह तो स्पष्ट हो गया कि मोक्षसुख की अभिलाषा संवेग है। परन्तु देखना यह है कि मोक्षसुख की अभिलाषारूप संवेग की प्राप्ति या वृद्धि कैसे हो सकती है। लाटीसंहिता में संवेग का लक्षण बताते हुए कहा गया है—

संवेगः परमोत्साहो धर्मे धर्मफले चितः।
सद्धर्मेष्वनुरागो वा, प्रीतिर्वा परमेष्ठिषु॥

अर्थात्-संवेग चित्त या चेतन का परम उत्साह है, जो सर्वज्ञ वीतरागोक्त रत्नत्रयरूप धर्म में, या अहिंसादिमय धर्म में अथवा क्षमादिरूप आत्म-

धर्म में तथा उन धर्मों से प्राप्त होने वाले मोक्षरूप फल में होता है अथवा जो धर्मिष्ठ व्यक्ति हैं, उनके प्रति तीव्र गुणानुराग या पंचपरमेष्ठी के प्रति विशुद्ध प्रीति का होना संवेग है।

निश्चयदृष्टि से तो सम्यग्दर्शनमय आत्मा ही धर्म है अथवा शुद्ध आत्मा का अनुभव होना धर्म है। शुद्ध आत्मा के अनुभव से जो अतीन्द्रिय, अक्षय और अव्याबाध, मोक्षरूप सुख उत्पन्न होता है, वही उस धर्म का फल है। धर्मिष्ठ पुरुषों में जो रत्नत्रयादि गुण हैं, उनके प्रति अनुराग ही धर्मिष्ठ पुरुषों के प्रति अनुराग है। यही निश्चयदृष्टि से संवेग है।

यह निश्चित है कि सम्यग्दृष्टि आत्मा के मन का वेग ऊर्ध्वमुखी-मोक्ष-लक्ष्यी होता है। परन्तु इस प्रकार के संवेग की वृद्धि के लिए मोक्ष की ओर ले जाने वाले तीन तत्त्वों के प्रति निश्चल अनुराग का विधान भी अमितगति श्रावकाचार में किया गया है—

तथ्ये धर्मे ध्वस्तहिंसाप्रधाने, देवे राग-द्वेष-मोहादि मुक्ते।
साधौ सर्वग्रन्थसन्दर्भहीने, संवेगोऽसौ निश्चलोयोऽनुरागः॥

अर्थात्—अहिंसा प्रधान सत्यधर्म पर; राग-द्वेष, मोह, आदि विकारों (दोषों) से रहित देव पर और सब प्रकार के परिग्रह (ग्रन्थ) से रहित साधु पर निश्चल अनुराग रखना संवेग है।

आचार्यश्री ने संवेग के लक्षण में ही इसको वृद्धि के लिए धर्मतत्त्व, देवतत्त्व और गुरुतत्त्व पर अटल अनुराग बढ़ाना अनिवार्य बताया है। क्योंकि मोक्ष की अभिलाषारूप संवेग इन तीनों तत्त्वों को अपने में समा लेने, जीवन में रमा लेने, इनमें तत्मय हो जाने या इन तीनों तत्त्वों के प्रति विशुद्ध अनुराग से ही पूर्ण हो सकता है।

आचार्य समन्तभद्र ने धर्म का लक्षण बताया है—

यो धरत्युत्तमे सुखे

जो उत्तम (सर्वोत्कृष्ट शाश्वत) सुख धारण करा देता है, वह रत्नत्रय-रूप धर्म है।

वस्तुतः उत्तम सुख का अर्थ मोक्षसुख ही है, उसे प्राप्त कराने वाला यही सद्धर्म है, तथा मोक्षसुख का स्वरूप बताने वाले तथा उसकी साधना करके प्रत्यक्ष बताने वाले देव एवं गुरु हैं। इन तीनों की आराधना साधना एवं उपासना से कर्मक्षय होकर भवभ्रमणजन्य या कर्मजन्य दुःखों का सर्वथा

अन्त हो जाता है, साधक मोक्षसुख को प्राप्त कर लेता है। अतः संवेग वृद्धि की प्राथमिक भूमिका में इन तीनों तत्त्वों के प्रति निःस्वार्थ, निश्चल एवं निर्निदान अनुराग रखना अनिवार्य है।

संवेग के बाह्य निमित्त

यद्यपि मोक्ष की इच्छा भी एक प्रकार की इच्छा है। परन्तु जैसे सूर्य की प्रखर किरणों का प्रकाश होते ही विद्युत् का प्रकाश मन्द पड़ जाता है, वैसे ही जिस अनिदानकृत व्यक्ति के हृदय में मोक्ष की तीव्र इच्छा उत्पन्न होती है, उसके हृदय में फिर अन्य पदार्थों की इच्छाएं मन्द पड़ जाती हैं। मोक्षाभिलाषारूप तीव्र संवेग के पश्चात् अन्य पदार्थों की इच्छाएँ इतनी उग्र नहीं रहतीं कि वे साधक के विवेक को नष्ट कर दें।

मोक्ष की इच्छारूप संवेग की उत्पत्ति में बाह्य निमित्त तीन हो सकते हैं—(१) जिनेन्द्रदेव के दर्शन, (२) सद्गुरुओं के चरणों की उपासना और (३) सत्शास्त्रों का सम्यक् श्रवण-मनन।

मरुदेवी माता का भगवान् ऋषभदेव के प्रति अत्यन्त अनुराग था। जब से भ० ऋषभदेव ने दीक्षा ली, माता मरुदेवी पुत्र-विरह से व्याकुल रहने लगी थीं। वे भरत चक्री को बार-बार कहतीं—"भरत! तू तो राज्यसुख में लीन हो गया। मेरा लाड़ला ऋषभ न जाने कहाँ-कहाँ वनों में डोल रहा होगा। मुझे उसके पास ले चल।" भरत महाराज अपनी दादी को बार-बार आश्वासन देते थे। भगवान ऋषभदेव को केवलज्ञान हो गया, यह समाचार जब भरत चक्री ने सुने तो माता मरुदेवी को वे अपने साथ भ० ऋषभदेव के दर्शनार्थ ले गए। मार्ग में माता मरुदेवी ने ऋषभदेव की ऋद्धि के विषय में पूछा तो भरत ने उन्हें बताया कि मेरी ऋद्धि से उनकी ऋद्धि कई गुणी बढ़कर है। जब वे तीर्थंकर ऋषभदेव के समवसरण के निकट पहुँचीं तो भ० ऋषभदेव का ऐश्वर्य देखकर वे चकित हो गईं। सोचने लगीं—"मैं तो व्यर्थ ही पुत्रमोह के बन्धन में फँसी हुई थी, अब ऋषभ के जब मैंने प्रत्यक्ष दर्शन कर लिये, तब मैं मोहबन्धन में क्यों पड़ूं?" इस प्रकार माता मरुदेवी के हृदय में तीव्र संवेग उत्पन्न हुआ। क्रमशः संवेगदशा तीव्रतर होती गई। मोहबन्धन सर्वथा टूट गए। चार घाती-कर्मों का क्षय करके हाथी के हौदे पर बैठे-बैठे उन्हें केवलज्ञान प्राप्त हो गया। तत्पश्चात् शेष कर्मों का भी क्षय करके वे मोक्ष में पहुचीं।

यह था—जिनेन्द्रदर्शन से संवेग की उत्पत्ति का प्रथम बाह्य हेतु।

सुग्रीव नगर के राजा बलभद्र एवं रानी मृगावती का पुत्र मृगापुत्र दिव्यभोगों में अनुरक्त था, परन्तु एक दिन महल के गवाक्ष से ही राजमार्ग पर शान्त एवं एकाग्रचित्त से जाते हुए मुनि को देखकर विचार हुआ—"कितने शान्त, निःस्पृह, एवं सन्तुष्ट-सुखी ये मुनि हैं। मैंने ऐसा रूप पहले कभी देखा है।" इस प्रकार चिन्तन की गहराई में उतरते-उतरते मृगापुत्र को पूर्वजन्म स्मरण हो आया। सोचने लगे—"अरे! मैं कहाँ विषय-सुखों में फँस गया। मुझे तो मोक्षसुख के लिए पुरुषार्थ करना था।" बस, विषयों का स्वाद फीका पड़ गया, मोक्ष-सुख की चाह तीव्र हो गई। माता-पिता से आज्ञा प्राप्त करके मृगापुत्र दीक्षित हो गए।

वज्रकुमार पालक माता के यहाँ पालने में लेटे-लेटे साध्वियों के मुख से उच्चारण किये जाने वाले शास्त्रों का श्रवण करते थे। श्रवण करते-करते ही उन्हें कई शास्त्र कण्ठस्थ हो गए थे। शास्त्र-चिन्तन के प्रभाव से वज्र-कुमार के हृदय में संवेग उत्पन्न हुआ। वे संसार की मोहमाया में कतई फँसना नहीं चाहते थे। इसी कारण जब उनके सामने उनकी जन्मदात्री माता ने खिलौने आदि रखकर अपनी ओर उन्हें खींचना चाहा तो वे उस ओर तनिक भी आकर्षित नहीं हुए, और अपने पिता धनगिरिमुनि ने उनके समक्ष रजोहरण, प्रमार्जनी आदि उपकरण रखे तो तपाक से उन्हें लेकर झूमने लगे। मोक्ष-सुख की तीव्र अभिलाषा (संवेग) से प्रेरित होकर वज्रमुनि ने बाल्यवय में दीक्षा ली। वे जिनशासन-प्रभावक महान् आचार्य हुए।

इस प्रकार मृगापुत्र, वज्रकुमार आदि महापुरुषों को मुनिदर्शन एवं शास्त्रश्रवण आदि से संवेग हुआ।

सरखेज निवासी जीवनजीभाई भावसार के सुपुत्र श्री धर्मदास जी बचपन में ही खेलते-खेलते संतों के पास जा पहुँचते और सैद्धान्तिक ज्ञान प्राप्त कर लेते। वे आठ नौ वर्ष की आयु में सिद्धान्त के ज्ञाता होकर अपना मत अभिव्यक्त करने लगे थे। उनके पिताजी ने सगाई की बात की तो उन्होंने स्पष्ट कहा—'पिताजी! सगाई में मेरी रुचि नहीं है। मैं तो मोक्ष-मार्ग का पथिक बनना चाहता हूँ।" मोक्ष पाने की तीव्र इच्छा (संवेग) से उन्होंने संयम ग्रहण किया और आचार्य धर्मदासजी म० के नाम से तेजस्वी श्रमण हुए।

ये सब मोक्ष की इच्छारूप संवेग के बाह्य निमित्तों के ज्वलन्त उदाहरण हैं।

संवेग के आभ्यन्तर निमित्त

मोक्षाभिलाषारूप संवेग के आभ्यन्तर निमित्त ५ हैं—(१) संसार के स्वरूप का चिन्तन, (२) शरीर के स्वरूप का चिन्तन, (३) आत्मा के एकत्व का चिन्तन, (४) अपनी असहायता का चिन्तन और (५) आत्मा के अस्तित्व आदि छह स्थानों का चिन्तन। ये पाँच कारण मोक्ष की इच्छा उत्पन्न करते हैं। दूसरे शब्दों में इन्हें क्रमशः संसारभावना, अशुचिभावना, एकत्व भावना, अशरण भावना और सम्यक्त्व प्राप्ति के छह स्थान (कारण) कह सकते हैं।

संसार के स्वरूप का चिन्तन करते हुए मुमुक्षु मानव सोचता है—मैंने अनादि काल से चार गति और चौरासी लक्ष जीवयोनि-रूप संसार में सुदीर्घ काल तक परिभ्रमण किया और जन्म-जरा-वृद्धत्व एवं मरण की अपार वेदनाएँ सहीं तथा हर्ष-शोक, रति-अरति, अनुकूल-प्रतिकूल, इष्ट-अनिष्ट आदि परस्पर विरोधी द्वन्द्वों-विकल्पों में आकुल बना रहा। बचपन में अज्ञान से ग्रस्त रहा, यौवन में विवेकलुप्त हो गया और बुढ़ापे में दुर्बलता के कारण परवश हो गया, सम्पन्न-विपन्न दशा में भी विषयों की चाह में व्याकुल रहा, समस्त सम्बन्ध स्वार्थ से सने रहे। इस प्रकार संसार का सुख भी दुःख-जनक रहा। संसार रसिक बनकर अधमता और अतृप्ति से आर्त्तध्यान-रौद्र-ध्यान के चक्कर में पड़कर नाना कर्मबन्धन करता रहा। कर्मों की विडम्बना के कारण ही संसार में परिभ्रमण हुआ। अतः अब मनुष्य जन्म मिला है तो मुझे अब भवभ्रमण के कारणों से दूर रहकर मोक्ष-सुख की साधना में संलग्न हो जाना है।

शरीर के विषय में भी मुमुक्षु जीव चिन्तन करता है—यह मनुष्यदेह अशुचि से भरा है, अशुचि से उत्पन्न हुआ है, अशुचिमय है और अशुचि को ही उत्पन्न करता है। इसके स्पर्श से अन्य पदार्थ भी अपवित्र हो जाते हैं। फिर यह देह क्षणभंगुर है, शाश्वत नहीं है। देखते ही देखते बचपन और यौवन बीतते ही बुढ़ापा आ घेरता है। शरीर, इन्द्रियाँ आदि सब दुर्बल, अशक्त, रोगग्रस्त, चिन्ताग्रस्त एवं विकारग्रस्त हो जाते हैं। मनुष्य शरीर से कई कुटेवों, बुरी आदतों एवं खराब स्वभाव का शिकार हो जाता है। देह का सौन्दर्य, सुकुमारता, सौष्ठव, आदि भी मायाजाल है। इसे खिलाते-पिलाते, सजाते, संवारते, विविध प्रकार से पोषते हुए भी यह अकस्मात् धोखा दे देता है। रोगों का घर बन जाता है। इसे नष्ट होने में जरा भी देर नहीं लगती। चेतन-आत्मा के साथ लगा होने के कारण मनुष्य जड़रूप

इस शरीर और शरीर से सम्बन्धित जड़-चेतन पदार्थों के प्रति ममत्व और अहंत्व के कारण दुःख पाता है, नाना प्रकार के कर्मबन्धन भी करता है।

अतः जो कुछ हुआ सो हुआ, अब मुझे इस मानव देह से विवेकपूर्वक पूर्णतः धर्माराधना करनी है, और अशरीरी बनने की—मोक्षमार्ग की साधना करनी है। इस प्रकार मनुष्य शरीर भावना के द्वारा मोक्षसुखेच्छा-रूप संवेग प्राप्त करता है।

एकत्वभावना भी संवेग उत्पन्न होने में अन्तरंग निमित्त बनती है। मुमुक्षु जीव चिन्तन करता है—शुद्ध चिदानन्दरूप आत्मा अकेला है, आत्मा से बाह्य समस्त भाव परभाव हैं। वे सब कर्मजन्य पदार्थ हैं। उनके साथ संयोग से नाना दुःख प्राप्त होते हैं। स्वयं एकाकी मेरे जीव ने ही कर्म किए हैं उनका फल मैं ही अकेला भोगता आया हूँ। उन कर्म-बन्धनों को तोड़ने हेतु पुरुषार्थ भी स्वयं मैंने किया है, करता हूँ और करना है। अतः समस्त कर्मों का क्षय करके समस्त आत्मगुणों से प्रकाशमान होने के लिए मुझे स्वयं ही पुरुषार्थ करना चाहिए।

इसी प्रकार अशरण भावना भी मुक्ति की इच्छा (संवेग) में आभ्यन्तर निमित्त है। इस जीव को जन्म, जरा, व्याधि, मरण एवं अन्य चिन्ताओं में कोई भी सहायक नहीं हो सकता। धन, औषधि, शरीर एवं परिवार आदि की शक्ति निश्चय ही जीव की शक्ति नहीं है। जब असातावेदनीय आदि पाप कर्मों का उदय होता है, तब पुण्यशाली हो या पुण्यवान, किसी की भी सहायता करने में कोई भी सहायक नहीं हो सकता। परिजन आदि सजीव और धन, औषधि आदि निर्जीव जिन पदार्थों पर उसे गौरव प्रतीत होता है, वे स्वयं असहाय हैं तो सहायक कैसे हो सकते हैं? इस प्रकार अपनी असहाय-अशरण दशा का भान होने पर जीव को आत्मा का शुद्धभाव-रूप धर्म, अर्थात् रत्नत्रयरूप धर्म ही एकमात्र शरणभूत या सहायक होता है। यही भावना जीव को मोक्षाभिलाषारूप संवेग में अन्तरंग निमित्त बनती है।

सम्यक्त्व प्राप्ति और उसकी स्थिरता के हेतु रूप षट्स्थानकों का चिन्तन भी संवेग का प्रबल निमित्त है। (१) देहादि जड़ पदार्थों से बिलकुल भिन्न आत्मा है, जैसे-मकान में निवास करने वाला उससे भिन्न होता है, वैसे ही देह में निवास करने वाला आत्मा देह से भिन्न है। आत्मा का लक्षण जड़-शरीर में नहीं पाया जाता। किन्तु अमूर्त्त-अरूपी होने के कारण वह इन्द्रियों से ग्राह्य नहीं है। (२) आत्मा अतीत में था, वर्तमान में है तथा भविष्य

में भी रहेगा। अमूर्त होने से वह नित्य, अखण्ड, अक्षय, अनादि-अनन्त है। (३) शुद्ध निश्चयनय से जीव ज्ञानादिक शुद्धभावों का और अशुद्ध निश्चयनय से राग-द्वेषादि भावकर्मों का कर्त्ता है। अनुपचरित व्यवहारनय से वह स्वयं द्रव्यकर्मों का कर्त्ता है। (४) कर्मों के उदय से होने वाली अवस्थाओं का भोक्ता अथवा तज्जनित भावों का भोक्ता भी स्वयं जीव ही है। निश्चय और व्यवहार नय से कर्तृत्व के समान भोक्तृत्व भी घटित कर लेना चाहिए। (५) मोक्ष है, अर्थात् —ऐसी भी अवस्था सम्भव है जब समस्त कर्मों से सदा-सदा के लिए आत्मा पृथक् हो जाता है। यद्यपि कर्म-संयोग प्रवाह रूप से अनादि है, फिर भी कर्म उनके फलभोग के पश्चात् आत्मा से पृथक् हो सकते हैं। उस समय आत्मा कर्मों से सर्वथा मुक्त होकर अपने शुद्ध स्वभावरमणरूप मोक्षसुख को प्राप्त कर लेता है। (६) मोक्ष का उपाय है। परन्तु मोक्ष अनायास ही नहीं हो जाता, न ही दूसरी किसी शक्ति या ईश्वरादि के द्वारा दिया जाता है, वह स्वयं के पुरुषार्थ से प्राप्त होता है। सम्यग्दर्शन, सम्यक्ज्ञान, सम्यक्चारित्र और सम्यक्तप, ये चारों मिलकर मोक्ष मार्ग है। ज्ञानोपयोग, दर्शनोयोग, आत्मा की विशुद्धि के लिए समिति, गुप्ति, परीषहजय, महाव्रतादि चारित्र तथा बाह्याभ्यन्तर तप ही मोक्ष पाने के—कर्मबन्धन से सर्वथा छूटने के उपाय हैं। यह उपाय—मोक्षमार्ग आत्मा में ही है।

इस प्रकार छह स्थानों का चिन्तन करने से आत्मा संवेग प्राप्त करता है और मोक्ष-सुख की प्राप्ति के लिए तीव्र प्रयत्न करता है।

संवेग का फल

भगवान् महावीर ने पावापुरी के अपने अन्तिम प्रवचन में कहा था—

संवेगेणं अणुत्तरं धम्मसद्धं जणयइ। धम्मसद्धाए संवेगं हव्वमागच्छइ। अणंताणुबन्धी-कोह-माण-माया-लोभे खवेइ। नवं च कम्मं न बंधइ; तप्पच्चयं च मिच्छत्तविसोहिं काऊण दंसणाराहए भवइ। दंसणविसुद्धाए णं अत्थेगइए तेणेव भवग्गहणेणं सिज्झइ। सोहीए णं विसुद्धाए तच्चे पुणो भवग्गहणं नाइक्कमइ।[1]

अर्थात्—संवेग से अनुत्तर धर्म पर श्रद्धा उत्पन्न होती है और धर्म-श्रद्धा से शीघ्र ही संवेग उत्पन्न होता है। जीव अनंतानुबन्धी क्रोध, मान, माया और लोभ का क्षय करता है। नये कर्म का बन्ध नहीं करता और

उत्तराध्ययन, अ. २९, बोल १

तन्निमित्तक मिथ्यात्व की विशुद्धि करके सम्यग्दर्शन का आराधक बनता है। दर्शन-विशुद्धि से कोई जीव उसी भव से सिद्ध हो जाता है, और कोई उस विशुद्धता से तीसरे भव का उल्लंघन नहीं करता, अर्थात्—दर्शन विशुद्धि की वृद्धि होने से तीसरे भव में सिद्धि—मुक्ति अवश्य मिलती है।

संवेग से मिलने वाले अनन्तर फल और परम्पर फल दोनों का यहाँ कथन किया गया है। जब मोक्षाभिलाषा रूप संवेग प्रखर सूर्य के समान तीव्ररूप से हृदय में उदित होता है। तब पतंग रंग के समान अन्य लौकिक इच्छाएँ या पर-पदार्थों की इच्छाएँ दूर हो जाती हैं, या अल्प हो जाती हैं। मोक्ष की इच्छा का तात्कालिक फल है—अन्य इच्छाओं का दूर होना या अल्प होना। मोक्ष की इच्छा की तीव्रता-मन्दता के अनुसार ही अन्य इच्छाओं की मन्दता-तीव्रता या शून्यता का स्तर बनता है।

संवेग से अनुत्तर धर्म पर श्रद्धा उत्पन्न होती है। संवर और निर्जरा धर्म है। संवर से आते हुए नये कर्मों का निरोध होता है और निर्जरा से पुराने बँधे हुए कर्मों का क्षय होता है। तात्पर्य यह है कि मोक्ष की इच्छा रखने वाला मुमुक्षु कर्मबन्ध को शिथिल करने तथा उससे सर्वथा मुक्त होने की भी इच्छा रखता है। जो व्यक्ति कारागार को बन्धन मानता है, वही उससे छुटकारा पाने की इच्छा करता है। जो व्यक्ति कारागार को बन्धन ही नहीं समझता, वह उससे छूटने की इच्छा ही क्यों करेगा? बल्कि वह तो अपने अज्ञान के कारण उस बन्धन को और मजबूत कर लेगा। इसी प्रकार जो व्यक्ति इस जन्म-मरणरूप संसार को बन्धन रूप मानता है, जेल समझता है, उसी को मोक्ष की—बन्धन से मुक्त होने की इच्छा हो सकती है। बन्धन से मुक्त होने की इच्छा होती है, तब वह बन्धन से मुक्त होने के उपाय के रूप में सम्यग्ज्ञान, सम्यग्दर्शन, सम्यक्चारित्र और सम्यक्तप रूप धर्म को अपनाता है, अथवा उस सद्धर्म पर उसकी दृढ़ धर्मश्रद्धा होती है, उस तीव्र धर्मश्रद्धा से संवेग उत्पन्न होता है, और संवेग से सद्धर्म पर श्रद्धा उत्पन्न होती है। इस प्रकार संवेग और धर्मश्रद्धा दोनों परस्पराश्रित हैं, दोनों में अविनाभाव सम्बन्ध है।

आचार्य समन्तभद्र ने धर्म का लक्षण किया है—

'संसारदुःखतः सत्वान् यो धरत्युत्तमे सुखे।'

जो प्राणियों को जन्म-मरणादि रूप संसार के दुःख से दूर कर उत्तम सुख—मोक्ष में धर—रख देता है, वह (रत्नत्रय रूप) धर्म है। जिस व्यक्ति

को संसार के दुःखों से मुक्त होने की इच्छा होगी वह धर्मश्रद्धा द्वारा संवेग बढ़ाएगा साथ ही संवेग द्वारा तीव्र धर्मश्रद्धा प्राप्त करेगा। तीव्र धर्मश्रद्धा जन्म, जरा, मरण आदि दुःखों से मुक्त कराने का कारण बनती है, और संवेग भी समस्त दुःखों से मुक्ति रूप मोक्ष की अभिलाषा को तीव्र करता है, धर्मपालन को मूर्त्त रूप देता है। निष्कर्ष यह है कि अनुत्तर धर्म अर्थात्—मोक्ष रूप प्रधान धर्म पर दृढ़श्रद्धा मोक्ष-प्राप्ति का प्रबल साधन है। यह साधन तभी प्राप्त होता है, जब हृदय में मोक्षाभिलाषारूप संवेग उत्पन्न होता है।

अनुत्तर धर्म वह है, जो भव-बन्धनों से मुक्त कराता है, पर-भावों की परतंत्रता से मुक्त करके स्वतंत्रता प्राप्त कराता है। और पतितावस्था से बाहर निकालकर उन्नत अवस्था में पहुँचाता है। बहुत-से लोग पुण्य और धर्म को एक समझ लेते हैं। अथवा पशुबलि, आदि पाप के मार्ग को धर्म मान बैठते हैं। इसलिए धर्म के साथ 'अनुत्तर' विशेषण लगाया गया है। जिसके हृदय में मोक्षाभिलाषारूप संवेग होगा, उसे अनुत्तर धर्म पर श्रद्धा अवश्य होगी। जिसकी अनुत्तर धर्म पर दृढ़ श्रद्धा होगी उसे देव, दानव या मानव कोई भी सद्धर्म से विचलित नहीं कर सकता। ऐसे व्यक्ति को चाहे कोई कितना हो भय या प्रलोभन दिखाये, वह अनुत्तर धर्म से जरा भी डिगेगा नहीं। जिसकी अनुत्तर धर्म पर दृढ़ श्रद्धा उत्पन्न होगई है, वह किसी भी सांसारिक फल को नहीं चाहता है। भगवान् ने बताया कि अनुत्तर धर्म श्रद्धा का वास्तविक फल अनन्तानुबन्धी क्रोध, मान, माया, और लोभ नष्ट हो जाना है। जिनके होने पर जन्म-मरण का अन्त नहीं आता ऐसे क्रोधादि चार कषाय नष्ट हो जाते हैं या क्रोधादि कषाय बहुत ही स्वल्प और क्षीण हो जाते हैं। अनन्तानुबन्धी कषाय के नष्ट होने से मिथ्यात्व नहीं रह जाता, क्योंकि अनन्तानुबन्धो कषाय के कारण ही मिथ्यात्व उत्पन्न होता है। जब मिथ्यात्व नहीं रह जाता, तब सम्यग्दर्शन प्रकट होता है। मिथ्यात्व के हट जाने पर सम्यग्दर्शन का आराधक व्यक्ति नये कर्म का बन्ध प्रायः नहीं करता। दर्शनविशुद्धि से जीव यों तो उसी भव में सिद्ध-मुक्त हो जाता है, अथवा तीसरे भव तक में तो वह अवश्य ही सिद्ध, बुद्ध, मुक्त हो जाता है।

यह है संवेग का विशुद्ध मोक्षरूप फल, जिसे पाकर साधक कृत-कृत्य हो जाता है।

संवेग के कारण प्राप्त विशुद्ध दर्शन की आराधना करने वाले को कोई भी व्यक्ति धर्म श्रद्धा से विचलित नहीं कर सकता, कोई कितना ही कष्ट पहुँचाए, वह धर्म से कदापि विचलित नहीं होता। स्कन्धक, अर्जुन-मुनि, गजसुकुमाल आदि अनेक दृढ़धर्मी श्रमणों और कामदेव आदि श्रावकों के उदाहरण शास्त्रों में अंकित हैं।

कामदेव श्रावक पर एक पिशाचरूपधारी देव कुपित हुआ और धर्म से डिगाने के लिए अनेक कटुवचन कहे, भय दिखाया और उसे मार डालने को उद्यत हो गया, मगर कामदेव श्रावकधर्म पर दृढ़ और कष्ट सहिष्णु बना रहा इतना ही नहीं दृढ़धर्मी कामदेव श्रावक ने देव को भी पिशाच से पुनः देव बना दिया।

इस प्रकार धर्म पर दृढ़ श्रद्धा रखने और दर्शन की विशुद्ध आराधना करने से आत्मा उसी भव में सिद्ध-बुद्ध-मुक्त हो जाता है। यही संवेग का सर्वश्रेष्ठ अन्तिम फल है।

१६

सम्यग्दृष्टि का तीसरा चिन्ह : निर्वेद

सम्यग्दृष्टि की पहचान कैसे हो ?

मानव-जीवन में सम्यग्दर्शन की प्राप्ति वरदानरूप है। परन्तु किसी व्यक्ति के जीवन में सम्यग्दर्शन है या नहीं, इसकी परख कैसे होती है ? वह विविध भाषाओं का ज्ञाता है, छह ही दर्शनों का विशेषज्ञ है, उसे मत-मतान्तरों का बोध है, वह जैनागमों का पण्डित है, अनेक शास्त्र उसे कण्ठस्थ हैं, अनेक ग्रन्थों के उद्धरण उसकी जिह्वा पर नाच रहे हैं। वह तत्त्वज्ञान की गहराई तक पहुँचा हुआ है। उसकी प्रखरबुद्धि, विशाल अध्ययन एवं प्रवचनपटुता को देखकर लोग दंग रह जाते हैं। किन्तु इतना सब होते हुए भी उसकी विद्वत्ता, तत्त्वरुचि या पाण्डित्य आत्मलक्ष्यी नहीं है, उसकी दृष्टि में मोक्षरूप लक्ष्य को प्राप्त करने की तड़फन नहीं है विषयभोगों के प्रति उसकी आसक्ति तीव्र है। अथवा उसकी दृष्टि लौकिक लाभपरक या किसी स्वार्थ से प्रेरित है तो कहा जा सकता है कि उसकी दृष्टि संसार-लक्ष्यी है। वह सम्यग्दृष्टि नहीं है क्योंकि विद्वत्ता और तत्त्वरुचि मात्र से वह सम्यग्दृष्टि है ही, ऐसा नहीं कहा जा सकता।

वैदिकधर्म के मूर्धन्य ग्रन्थ भगवद्गीता के एक सुप्रसिद्ध पण्डित के विषय में जब रामकृष्ण परमहंस ने सुना कि वह अपनी धर्मपत्नी होते हुए भी एक कामिनी के मोह में फँस गया। उसके व्यभिचार का भण्डाफोड़ हो गया। एक दिन रामकृष्ण परमहंस ने उसे समझाया कि आप इतने विद्वान् होते हुए भी नीति-धर्म के विपरीत दुष्कृत्य क्यों करते हैं ? इसमें आपकी शोभा नहीं। तो उक्त पण्डित तपाक से भगवद्गीता का उद्धरण देकर अपने दुष्कृत्य का समर्थन करने लगा कि देखो, भगवद्गीता कहती है—

"इन्द्रियाणीन्द्रियार्थेषु वर्तन्त इति धारयन् ।"

अर्थात्—इन्द्रियाँ इन्द्रियविषयों में प्रवृत्त हो रही हैं, इसमें मैं क्या कर रहा हूँ। मैं तो शुद्ध चैतन्यस्वरूप हूँ, चिदानन्दमय हूँ।"

रामकृष्ण परमहंस यह सुनकर दंग रह गए। उन्होंने कहा—"तुम्हारा यह तत्त्वज्ञान तो गधे की पीठ पर लदे हुए चन्दन के बोझ की तरह भारभूत है। तुम्हारे जीवन में तो तत्त्वज्ञान की गन्ध भी नहीं है।"

इसी प्रकार कई लोग जीव-अजीव की, द्रव्य-गुण-पर्याय की, भेदविज्ञान की, आत्मा और उसके गुणों की गहरी से गहरी चर्चा करते रहते हैं, परन्तु उनके जीवन में विषय-भोगों से, धन, स्वजन तथा स्वसम्प्रदाय, जाति, कौम, आदि परभावों से कोई विरक्ति नहीं, जहाँ भी ब्रह्मचर्य-पालन या परिग्रह त्याग या परिग्रहमर्यादा आदि की बात चलती है, वहाँ ऐसे लोग उसे शरीर का धर्म कहकर अपने आपको आत्मार्थी एवं मुमुक्षु सिद्ध करने का प्रयत्न करते हैं। ऐसे तथाकथित तत्त्वज्ञानी तो इससे भी आगे बढ़कर धृष्टता भी प्रकट कर देते हैं—

क्या चोरी, जारी या हिंसा मेरी आत्मा कर सकती है? यह तो हाथ ने या शरीर ने की है, इसमें मेरा क्या दोष? शरीर तो आत्मा से पृथक है। इत्यादि।

निर्वेद : सम्यग्दर्शन का तृतीय लक्षण

वास्तव में सम्यग्दर्शन एक अव्यक्तभाव या बाह्यदृष्टि से अज्ञात होता है। स्थूलदृष्टि वाले छद्मस्थ या परोक्षज्ञानसम्पन्न व्यक्ति इसे प्रत्यक्ष जान नहीं सकते। यही कारण है कि किसी व्यक्ति में सम्यग्दर्शन है या नहीं? इसकी पहचान के लिए शास्त्रों में शम, संवेग, आदि सम्यक्त्व के पाँच लक्षण बताए हैं। उनमें से एक महत्त्वपूर्ण लक्षण निर्वेद है।

निर्वेद सम्यग्दृष्टि व्यक्ति के जीवन को परखने का एक महत्त्वपूर्ण साधन है। निर्वेद पर से सम्यग्दृष्टि व्यक्ति की सही परख हो सकती है। इसलिए निर्वेद को सम्यग्दर्शन का तीसरा लक्षण बताया गया है।

इससे पूर्व 'संवेग' को सम्यक्त्व की पहचान का दूसरा लक्षण बताया गया था। संवेग में मोक्ष की इच्छा जागृत होती है, परन्तु वह प्रायः चिन्तन करने, सम्यक् विचार करने या मुँह से कहने तक सीमित रहता है जबकि 'निर्वेद' में तदनुरूप त्याग और कार्य भी किया जाता है। वस्तुतः सच्चा

संवेग उत्पन्न होने पर 'निर्वेद' उत्पन्न होता ही है। मोक्षाभिलाषारूप संवेग जागृत होने पर उस व्यक्ति में विषयभोगों के प्रति उदासीनता, अनासक्ति या विरक्ति उत्पन्न होनी स्वाभाविक है। मोक्ष प्राप्ति की तड़फन जिसके हृदय में होगी, क्या उस व्यक्ति को सांसारिक वैषयिक सुखभोग रुचिकर प्रतीत होंगे ?—कदापि नहीं। जिसे आत्म-साक्षात्कार आत्मा की परिपूर्णता —मुक्ति या परमात्म-प्राप्ति की तीव्र उत्सुकता जागती है, वह संवेगवान् व्यक्ति उक्त उपलब्धि के मार्ग में बाधक तत्त्वों से अवश्य ही विरक्त, उदासीन अनासक्त या उपरत होने का प्रयत्न करता है। अतः जिसके हृदय में संवेग की हूक उष्ठती है, वह चिन्तनशूर या वाणीवीर ही नहीं रहता, अपितु अपने विचारों को मूर्त्तरूप देकर कार्यवीर बनता है। इसी से व्यक्ति के जीवन में सम्यग्दृष्टित्व का पता लग जाता है।

यों तो संवेग और निर्वेद ये एक ही सिक्के के दो पहलू हैं। जैसे—अधर्म का त्याग और धर्मानुराग दोनों एक ही बात है। धर्म के प्रति अनुराग होगा तो अधर्म का त्याग अवश्य होगा और अधर्म का त्याग होगा तो धर्मानुराग अवश्य जागृत होगा। इसी प्रकार मोक्ष की अभिलाषारूप संवेग होगा तो मोक्ष प्राप्ति में बाधक सांसारिक विषय-भोगों के प्रति अरुचि, उदासीनता, अनासक्ति या त्याग-भावना-रूप निर्वेद अवश्य होगा। अतएव संवेग और निर्वेद दोनों में अविनाभाव सम्बन्ध है।

निर्वेद का लक्षण

'निर्' और 'वेद' इन दो शब्दों से मिल कर 'निर्वेद' शब्द बना है। 'वेद' का अर्थ है—अनुभव (महसूस) करना, भोगना, स्वाद का अनुभव करना। अतः निर्वेद का फलितार्थ हुआ—सांसारिक विषय-भोगों के प्रति त्याग की भावना करना, विरक्ति करना, अथवा विषय-भोगों के स्वाद का अनुभव न करना, अनासक्त रहना।

निर्वेद का व्यावहारिक रूप

यद्यपि पाँचों इन्द्रियों के पाँच विषय हैं—शब्द, रूप, रस, गन्ध और स्पर्श। कोई भी देहधारी मानव इन विषयों का सर्वथा त्याग नहीं कर सकता। किसी साधक के कान में अच्छे या बुरे (मनोज्ञ या अमनोज्ञ) शब्द पड़ते हैं। हर समय वह कान में अंगुलियाँ डाल कर उसे बन्द नहीं कर सकता। निर्वेदी साधक उन अच्छे या बुरे शब्दों का प्रभाव मन पर नहीं पड़ने देता। अर्थात्—वह किसी अच्छे बुरे शब्द को सुनकर अपने मन को

उससे नहीं जोड़ता। निर्वेदी साधक आत्मा के लिए अहितकर स्वपर अकल्याणकारी शब्दों को सुनना ही नहीं चाहता, अथवा ऐसे शब्दों के प्रति उसकी अरुचि, उदासीनता या विरक्ति होती है। वह उन अश्लील कामोत्पादक शब्दों के प्रति विरक्त रहता है, रागवर्द्धक या मोहवर्द्धक शब्दों के प्रति अर्थात्—प्रशंसात्मक शब्दों के प्रति अनासक्त हो जाता है। परन्तु स्वपरहितकर शब्दों को अवश्य सुनता है।

यही बात रस-विषय के उपभोग के सम्बन्ध में निर्वेदी की समझिए। मनोज्ञ या अमनोज्ञ सरस या नीरस, स्वादिष्ट या अस्वादिष्ट रस को पाकर वह राग या द्वेष का भाव मन में उत्पन्न नहीं होने देता। अथवा ऐसी अहितकर खाद्य-पेय सामग्री के सेवन का त्याग भी कर देता है, जो स्वास्थ्य को चौपट करने वाली, कामोत्तेजक, मादक या जिह्वालोलुपता को उत्तेजित करने वाली हो। स्वादिष्ट पदार्थ का सेवन करते समय भी वह मन में रागभाव या आसक्ति नहीं लाता। अस्वादिष्ट या नीरस वस्तु पाने पर भी वह अनासक्त भाव—समभाव से उसका सेवन करता है। स्वाद के लिए मनुष्य अधिक खाकर या दूसरों के हक का खाकर अपना और पर का अकल्याण करता है, निर्वेदी इससे बचकर रहता है। वह सरस-स्वादिष्ट वस्तु का सेवन भी अनिच्छा या अनासक्तभाव से करता है।

इसी प्रकार गन्धविषय के प्रति भी निर्वेदी का यही दृष्टिकोण रहता है। वह कामविकारवर्द्धक, आसक्तिपोषक मनोज्ञ सुगन्ध का या तो त्याग करता है, अथवा गन्धी आदि की दुकान या किसी मकान से आती हुई मनोज्ञ सुगन्ध नाक में पड़ जाए तो वह अनिच्छा से अनासक्त भाव से ग्रहण करता है। खाद्य या पेय वस्तु की मनोज्ञ सुगन्ध पाकर भी वह उसमें राग, मोह या मूर्च्छा नहीं करता। तथा दुर्गन्ध (बदबू) से पूर्ण वस्तु या दुर्गन्ध पाकर उससे घृणा, द्वेष नहीं करता।

रूप के विषय में भी निर्वेदी का यही विरक्ति भाव या रागद्वेषपरित्यागात्मक भाव या अनासक्त भाव रहता है। किसी नारी के सौन्दर्य एवं रूप को वह ताक-ताक कर चाहभरी दृष्टि ने नहीं देखता, कदाचित दृष्टि पड़ जाए तो विरक्ति भाव धारण कर लेता है। मनोज्ञ रूप के प्रति या राग मोह और अमनोज्ञ रूप (कुरूप) वस्तु या व्यक्ति के प्रति द्वेष या घृणा नहीं करता।

स्पर्शेन्द्रिय-विषय तो अन्य सभी इन्द्रिय विषयों से प्रबल है। इसका फलितार्थ है—काम-भोग। सांसारिक कामभोगों का या तो निर्वेदी सर्वथा त्याग करता है, या वह गृहस्थ जीवन में रहता हुआ कामभोगों के प्रति अलोलुप, अनासक्त या विरक्त रहता है। कामभोगों की लालसा या तृष्णा साधक के निर्वेदभाव को समाप्त कर देती है। वह ऐसी आग है, जो ईंधन देने से, कामेन्द्रिय को खुल्ली छूट देने से कभी तृप्त नहीं होती, बल्कि अधिकाधिक बढ़ती है। क्या साधु और क्या गृहस्थ, कामभोगों के चक्कर में पड़ कर अपने अमूल्य मानव जीवन को सभी प्रकार से बर्बाद कर देता है।

निर्वेद-प्राप्त मानव विषयों के सेवन में सुख नहीं मानता. विषयों में सुख की तलाश नहीं करता। उन्हें जन्म-मरणरूप संसारचक्र में परिभ्रमण कराने वाला मानता है।

यही सम्यग्दृष्टि मानव के निर्वेद का व्यावहारिक रूप है।

निर्वेद : कच्चा या सच्चा ?

निर्वेद और घृणा में काफी अन्तर है। किसी वस्तु से घृणा हो जाना निर्वेद नहीं है। अनिष्ट या प्रतिकूल वस्तु, क्षेत्र, काल एवं व्यक्ति अथवा परिस्थिति आदि के प्रति मनुष्य को घृणा हो जाती है, उस समय साधारण लोग कह दिया करते हैं—इसे अमुक वस्तु या व्यक्ति से विरक्ति हो गई। परन्तु ऐसी घृणा-मूलक विरक्ति या उदासीनता (निर्विण्णता) को वास्तविक निर्वेद नहीं कहते। यथार्थ निर्वेद का क्रम दशवैकालिक सूत्र में इस प्रकार बताया है—'साधक पहले जीव और अजीव को जानता है। जीव-अजीव का यथार्थ ज्ञाता साधक समस्त जीवों की बहुविध गतियों को जान लेता है। इसके पश्चात् वह पुण्य, पाप बन्ध और मोक्ष तथा इनके कारणों को जान लेता है। इनके कारणों को जानने पर उस साधक को दिव्य और मानुष भोगों के प्रति निर्वेद हो जाता है।'[1]

---

१. जीवाजीवे वियाणंतो सो हु नाहिउ संजमं ॥१३॥
जया जीवमजीवे य दोवि एए वियाणइ।
तया गई वहुविहं सव्व जीवाण जाणइ ॥१४॥
जया गई बहुविहं सव्वजीवाण जाणइ।
तया पुण्णं च पावं च बन्ध मोक्खं च जाणइ ॥१५॥
जया पुण्णं च पावं च बन्ध मोक्खं च जाणइ।
तया निव्विदए भोए जे दिव्वे जे य माणुसे ॥१६॥
— दशवै० अ० ४ गा० १३ से १६

यह है यथार्थ निर्वेद का क्रम ! परन्तु वर्तमान युग में यथार्थ निर्वेद के क्रम से अनभिज्ञ लोग परिस्थितिजन्य विरक्ति को निर्वेद कह देते हैं। साधारण से साधारण अज्ञ कहलाने वाले अथवा स्वयं को समझदार कहलाने वाले व्यक्ति के जीवन में ऐसा कच्चा और अस्थायी निर्वेद कई बार आता है। मान लीजिए, कोई व्यक्ति भोजन करने बैठा है। उसी समय किसी विश्वस्त व्यक्ति ने आकर कहा—इस भोजन में जहर मिला हुआ है। ऐसा सुनने पर क्या वह व्यक्ति उस भोजन को करेगा ? भले ही वह भोजन कितना ही सरस, स्वादिष्ट और पौष्टिक हो चाहे उस व्यक्ति को कितनी ही कड़ाके की भूख लगी हो ? निष्कर्ष यह है कि भोजन में विष मिश्रित होने का ज्ञान होने पर उस व्यक्ति को उक्त भोजन के प्रति निर्वेद हो जाता है। परन्तु ऐसा निर्वेद तो सांसारिक लोगों में कई कारणों से कई बार होता है। परन्तु वह स्थायी या सच्चा निर्वेद नहीं होता। जब संवेग के साथ निर्वेद होता है, तभी वह स्थायी और सच्चा होता है। संवेग के साथ निर्वेद-सम्पन्न व्यक्ति विष-मिश्रित भोजन की तरह संसार के देवी और मानुषी कामभोगों विषय-सुखों को विष समझकर त्याग करने से नहीं हिचकिचाता। ऐसा निर्वेद ही सच्चा और स्थायी है। वह **विषयान् विषवत् त्यज**—विषयों को विष के समान त्यागो, इस मंत्र को लेकर चलता है।

सच्चा निर्वेद वैराग्य के रूप में

सच्चा निर्वेद मोक्ष-प्राप्ति में बाधक वस्तुओं के प्रति होता है, इस लिए वह संवेगपूर्वक ही होता है। आचार्य अमितगति ने अपने श्रावकाचार में इसे निश्चल वैराग्य के रूप में ही प्रस्तुत किया है—

देहे भोगे निन्दिते जन्मवासे कृष्टेष्वाशुक्षिप्तबाणास्थिरत्वे।
यद् वैराग्यं जायते निष्प्रकम्प, निर्वेदोऽसौ कथ्यते मुक्ति हेतुः।

अर्थात्—इस निन्दित (वृणित) शरीर तथा सांसारिक विषय-भोगों के प्रति एवं शीघ्र फेंके हुए बाण के समान अस्थिर व क्लेश रूप संसारवास के विषय में जो निष्कम्प निश्चल वैराग्य उत्पन्न होता है, उस मोक्ष के कारण को निर्वेद कहते हैं।

निर्वेद उस विरक्ति का नाम नहीं, जो क्षणिक हो, चंचल हो, भय और प्रलोभन आते ही जो छूमंतर हो जाए, अपितु जो विरक्ति किसी के दवाव, भय, प्रलोभन से पैदा न होकर सांसारिक कामभोगों, शरीरादि तथा शरीर से सम्बन्धित मनोज्ञ प्रिय सजीव-निर्जीव पदार्थों एवं संसार निवास

तथा सांसारिक प्रतिष्ठा, आदि के प्रति स्वेच्छा से स्वत प्रेरित एवं मोक्ष हेतु होती है, वही निर्वेद की कोटि में आती है। ऐसा निर्वेद पक्का और स्थायी होता है। सम्यग्दृष्टि जीव में ऐसा निर्वेद आ जाता है तो उसके समक्ष चाहे जितने प्रलोभन एवं आकर्षण आएँ, स्वर्ग के देव भी आकर उसे डिगाने लगें, तो भी वह निर्वेद से चलायमान नहीं होता। सच है, जिस व्यक्ति के हृदय में मोक्ष-प्राप्ति की रुचि या अभिलाषा (संवेग) दृढ़ होगी, उसके मन में स्वरूपानुभूति को नष्ट करने वाले किसी भी सांसारिक पदार्थ में या संसार के जन्म-मरण के बन्धन में डालने वाले किसी भी पदार्थ में आसक्ति, अनुरक्ति, आकर्षण या कामना नहीं रहती। उसके जीवन में निर्वेद गुण स्थिर हो जाता है। मिथ्यादृष्टि, अज्ञानी या अविवेकी बहिरात्मा जहाँ सांसारिक पदार्थों, भोग-विलासों, निन्द्यशरीर या शरीर से सम्बद्ध धन, परिजन या मकान आदि में झट आसक्त या अनुरक्त हो जाता है, जिस किसी इष्ट-मनोज्ञ पदार्थ को देखता है, उसे रागवंश ग्रहण करने की ललक मन में पैदा हो जाती है, वह कामभोगों में अपने आपे को भूल जाता है वहाँ सम्यग्दृष्टि जीव को विशुद्ध आत्मस्वरूप का परिबोध हो जाता है, तब वह सदा के लिए उन सब परभावों से विरक्त, उदासीन एवं अनासक्त हो जाता है। आत्मा की इस विशुद्ध स्थिति को ही निर्वेद कहा गया है। एक व्यक्ति स्वेच्छा से अपने अधीन कामभोगों का तथा कान्त, प्रिय, मनोज्ञ, मनोहर ललनाओं कोमल महीन वस्त्रों, गन्ध, माल्य, अलंकार आदि का त्याग कर देता है, फिर वह उनको ग्रहण करने की प्रार्थना किये जाने पर भी उन्हें ग्रहण करना तो दूर रहा उनकी ओर आँख उठाकर भी नहीं देखता, वह उनकी ओर से पीठ फेर लेता है; ऐसे निर्वेद-सम्पन्न व्यक्ति को ही दशवैकालिक में सच्चा त्यागी कहा गया है। परन्तु जो व्यक्ति किसी कारणवश क्षणिक आवेश या क्षणिक वैराग्यवश इन मनोज्ञ कामभोगों या प्रिय पदार्थों को पाने की लालसा करता रहता है, उन्हें प्राप्त करने के लिए उधेड़बुन करता रहता है, उसका निर्वेद कच्चा है, वह सच्चा त्यागी नहीं ढोंगी है, मायाचारी है।[1]

---

१. जे य कंते पिए भोए लद्धे विप्पिट्ठी कुव्वइ ।
साहीणे चयइ भोए, से हु चाइत्ति वुच्चई ॥
वत्थगंधमलंकारं इत्थीओ सयणाणि य ।
अच्छन्दा जे न भुंजंति न से चाइत्ति वुच्चई ॥

—दशवै० अ. २, गा. ३, २

वैराग्य का यथार्थ लक्षण

गुजराती साहित्य में एक कहावत है—

त्याग न टके रे वैराग्य बिना

सच्चे वैराग्य के बिना कोई भी त्याग दीर्घकाल तक टिक नहीं सकता। कई व्यक्ति दिखावे के लिए कई वस्तुओं का त्याग तो कर देते हैं, परन्तु जब किसी दूसरे के पास उन या उनसे भी उत्कृष्ट सुख-सामग्री को देखते हैं, तो वे फिसल जाते हैं, उनके मन में वैराग्य कच्चा होने से या वैराग्य न होने से वे गृहीत त्याग से भ्रष्ट हो जाते हैं। इसीलिए पातंजल योगदर्शन में वैराग्य की परिभाषा की गई है—

"दृष्टाऽनुश्रविक विषय-वितृष्णस्य वशीकार संज्ञा वैराग्यम्।"

अर्थात् देखे हुए और सुने हुए विषयों से वितृष्ण=उदासीन व्यक्ति द्वारा मन को वश में करने का नाम वैराग्य है।

इन्द्रियों तथा मन के विषय दो प्रकार के होते हैं।

एक वे हैं, जिन्हें आँखें देख चुकी हैं, दूसरे वे हैं, कानों से जिनके विषय में देखा सुना गया है या सुना जाता है। आँखों से देखे जाने वाले विषय-सुख तो सीमित हैं, किन्तु कानों से सुने जाने वाले विषय-सुखों की कोई सीमा नहीं होती। उदाहरणार्थ—कोई साधक देवलोक के भोगों, परिग्रह, वहाँ की ऋद्धि-वैभव आदि का वर्णन सुनकर वैराग्य कच्चा होने के कारण मन ही मन उन दिव्यसुखों-कामभोगों को पाने के लिए आतुर हो जाता है। यह कानों से सुने हुए विषय के प्रति विरक्ति नहीं, अनुरक्ति है। सर्वज्ञ वीतराग प्रभु के ज्ञान में संसार के सभी उत्तमोत्तम पदार्थ झलकते हैं, किन्तु वे प्रत्यक्ष जान-देखकर भी उनसे विरक्त निर्लिप्त रहते हैं। उनमें बिलकुल लुब्ध नहीं होते। इसीलिए उन ज्ञानीजनों ने साधु-श्रावक दोनों को निर्देश दिया है कि—पढ़-सुनकर देवलोक या अन्य स्थल एवं काल के विषयसुखों या पदार्थों का ज्ञान भले ही प्राप्त करो किन्तु उस ज्ञान के साथ वैराग्य अवश्य होना चाहिए। वैराग्य होगा तो उस मनोज्ञ या इष्ट वस्तु को पाने की जरा भी लालसा नहीं होगी, उसका त्याग हार्दिक और स्थायी होगा। अगर साधक देखे या सुने हुए मनोज्ञ विषयों से अनासक्त या विरक्त नहीं होता तो वह अपनी की—कराई दीर्घकालीन साधना एवं त्याग से भ्रष्ट हो जाता है, विराधक बनकर दीर्घकाल तक संसार में परिभ्रमण करता है। उत्तराध्ययन सूत्र में चित्त और सम्भूत मुनि का उदाहरण इस विषय में

प्रेरणादायक है। चित्त मुनि द्वारा बार-बार समझाने पर भी सम्भूतमुनि ने चक्रवर्ती की ऋद्धि—राज्यसुख वैभव, रानी इत्यादि पाने का निदान कर ही लिया था, हस्तिनापुर के चक्रवर्ती की रानी तथा राज्य वैभव आदि को देखकर।

इसीलिए आचारांग सूत्र में स्पष्ट कहा है—

दिट्ठेहिं निव्वेयं गच्छेज्जा ?

देवलोक के वैभव एवं सुखों आदि को हम लोग प्रत्यक्ष नहीं जानते-देखते, किन्तु शास्त्रों द्वारा ही हम वहाँ की वैषयिक सुखभोगों की स्थिति जान पाते हैं। अगर उस वर्णन को सुनकर उस पर ललचा गए तो इतो-भ्रष्टस्ततोभ्रष्ट हो जाएँगे। इसीलिए शास्त्रकारों का कहना है कि अगर तुम्हारी वीतराग-सर्वज्ञ प्ररूपित शास्त्रवचनों पर सम्यक् श्रद्धा है तो देव, मनुष्य या तिर्यंच आदि के विषयों का वहाँ की स्थिति का ज्ञान प्राप्त करके उनमें ललचाओ मत, निर्वेद—वैराग्य धारण करो। ज्ञान के साथ विरक्ति होनी आवश्यक है। कहा भी है—

"ज्ञानस्य फलं विरतिः।"

ज्ञान का फल विरति—विरक्ति है।

सम्यग्दृष्टि श्रावक हो या साधु, वह देखे या सुने हुए विषयभोगों के प्रति अनासक्त या विरक्त रहता है। इतना ही नहीं, दृढ़धर्मी सम्यग्दृष्टि साधक जब एक बार विषयों से विरक्त हो जाता है, तो प्रतिष्ठा, यशकीर्ति, वाहवाही, प्रशंसा आदि से भी अनासक्त रहता है। वह इन लुभावने, किन्तु संसार में भटकाने वाले विषयों में जरा भी ललचाता नहीं।

दृढ़ ब्रह्मचारी स्थूलभद्र मुनि कोशावेश्या के हावभाव, रागरंग, भोगों की प्रार्थना, काम उत्तेजक वातावरण आदि देख-सुनकर जरा भी विचलित न हुए, क्योंकि उनके हृदय में संवेगपूर्वक दृढ़ वैराग्य—निर्वेद स्थिर हो गया था।

वैराग्य के प्रकार

उत्पत्ति की दृष्टि से वैराग्य के तीन प्रकार हैं। इस संसार में सभी

---

१ आचारांग श्रु. १, उ. ४ सू. १२७

का वैराग्य एक-सा नहीं होता। किसी को वैराग्य प्राप्त होने में दुःख निमित्त बनता है, किसी को वैराग्य प्राप्त होने में मोह कारण बनता है, और किसी को पूर्वजन्म के शुभसंस्कारवश ज्ञानगर्भित वैराग्य उत्पन्न होता है। वह संसार के समस्त पदार्थों का वास्तविक वस्तुस्वरूप समझकर विरक्त होता है। उसके वैराग्य में निमित्त बनता है—वस्तुओं के यथार्थ स्वरूप का ज्ञान।

इस दृष्टि से वैराग्य के भी तीन प्रकार होते हैं—मोहगर्भित, दुःख-गर्भित और ज्ञानगर्भित। किसी व्यक्ति को अपनी पत्नी के प्रति अत्यन्त मोह है। एक दिन के लिए भी उसे अपनी पत्नी का वियोग असह्य हो जाता है। वह चाहता है कि पत्नी मेरे साथ हरदम रहे। परन्तु प्रकृति का नियम है कि किसी भी जीव का आयुष्य पूर्ण होने पर वह एक क्षण भी जीवित नहीं रह सकता। यदि आयुष्य के क्षणों को - यानी मृत्यु को कोई रोकना चाहे तो नहीं रोक सकता। एक दिन उस व्यक्ति की पत्नी का अकस्मात् देहान्त हो गया। उस व्यक्ति को बहुत ही आघात लगा। वह शोकमग्न होकर बैठ गया। पत्नी के वियोग के बाद उसके मन में चिन्तन की चिनगारी पैदा हुई—"संसार के सारे पदार्थ अनित्य हैं, सारे ही सम्बन्ध नाशवान हैं। पति-पत्नी, भाई-बहन, माता-पिता आदि सारे सम्बन्ध टूटने वाले हैं। देखो न, मेरी ही पत्नी मुझे छोड़कर सहसा चली गई। अब मेरा इस घर में रहना बेकार है।" इस प्रकार पत्नी के मोह के निमित्त से उसे वैराग्य हो गया। ऐसा वैराग्य मोहगर्भित होता है। इसमें अन्दर-अन्दर हृदय के किसी कोने में मोह का अंश रहता है। तुलसीदासजी का रत्नावली (अपनी पत्नी) के प्रति अत्यन्त मोह था। मोह में विकल हो गए थे, वे रत्नावली के पीहर में जाने के कारण। अतः मोहान्ध तुलसीदास जब आधी रात को मुर्दे की ठठरी पर बैठकर बरसाती नदी पार करके अपनी ससुराल में पहुँचे तो रत्नावली ने उन्हें फटकारा—

"जैसी प्रीत हराम में, वैसी 'हर' में होय।
चला जाय बैकुण्ठ में, पल्ला न पकड़े कोय॥"

"आपको शर्म नहीं आती, इस प्रकार चुपके-चुपके चोर की तरह अंधेरी रात में चले आए हो? मैं तो यह कहती हूँ कि आपकी जितनी प्रीति इस मलमूत्र एवं हाड़-मांस के हराम के पुतले मेरे (शरीर) पर है, उतनी प्रीति भगवान् में होती तो आप बेखटके स्वर्ग पहुँच जाते। धिक्कार है आपको?" रत्नावली के इन वचनों ने तुलसीदासजी के मानस को झकझोर दिया और उन्होंने उसी समय संसार से विरक्त होकर संतवृत्ति स्वीकार कर ली। राम-

भक्ति में ही अपना सारा जीवन लगा दिया। गोस्वामी तुलसीदासजी 'राम चरितमानस' के कारण विख्यात हो गए। यह है—मोहगर्भित वैराग्य का ज्वलन्त उदाहरण!

स्वयं गोस्वामी तुलसीदासजी ने इस वैराग्य के सम्बन्ध में कहा है—

नारी मुई घर सम्पत नासी।
मूंड मुंड़ाय भये संन्यासी॥

कई बार व्यक्ति आवेश या उत्साह में आकर पत्नी को छोड़कर गृह-त्यागी साधु बन जाता है, किन्तु मोहकर्म के उदय से पुनः स्त्रीमोह जाग जाता है। ऐसा वैराग्य भी मोहगर्भित ही है।

भवदेव मुनि दीक्षा लेने के बाद पहली ही बार गाँव में पधारे थे। उनके छोटे भाई भावदेव की शादी हुए अभी थोड़े ही दिन हुए थे। उसकी पत्नी नागिला बहुत ही समझदार और विवेकी श्राविका थी। भवदेव मुनि का प्रवचन सुना और विहार के समय काफी दूर तक भावदेव पहुँचाने गया। भवदेवमुनि के उपदेश से तथा साधु जीवन में सम्मान, पूजा-प्रतिष्ठा, और सरस स्वादिष्ट खानपान की सुविधा आदि के लालच में आकर वैराग्य रंग लगा। दीक्षा लेने की इच्छा हुई। नागिला को जब भावदेव ने यह बात कही तो उसने समझाया—"दीक्षा लेना बुरा नहीं है। परन्तु आपकी प्रकृति देखते हुए मुझे आपके वैराग्य का रंग कच्चा लगता है।" परन्तु भावदेव दीक्षा लेने की स्वीकृति दे चुके थे। अतः सुनी-अनसुनी करके दीक्षा ले ली। मगर जैन साधु की कठोर क्रियाओं और परीषहों को देखकर भावदेव मुनि घबरा गए। उनका वैराग्य का रंग धुल गया। सोचा— घर ही चला जाऊँ! बेचारी नागिला मेरे बिना निराधार हो गई होगी। उसको भी प्रसन्न करूँ और मैं भी सुख से रहूँ। इस विचार से भावदेव मुनि घर की ओर लौटे। परन्तु नागिला ने तो घर में रहकर भी सादगी, तपस्या, त्याग एवं संयम का पथ अपना लिया था। दूर से ही भावदेव मुनि को आते देख वह समझ गई। जब भावदेव मुनि ने गृहस्थ जीवन में प्रवेश की बात कही तो उसने कहा— "मैंने घर में रहते हुए ही शील और संयम का पथ अपना लिया है। आप इस घर में अब रह नहीं सकते। अतः आप गुरु की सेवा में जाइए। उत्तम चारित्र रत्न को खोकर आप क्यों वासना के दलदल में फँसकर संसार परिभ्रमण का मार्ग अपना रहे हैं? आप गुरुजी से प्रायश्चित्त लेकर अपने संयम में पुनः स्थिर हो जाएँ।" नागिला की वैराग्यपूर्ण वाणी का भावदेवमुनि के

हृदय पर सीधा प्रभाव पड़ा। वे पुनः वैराग्यरस से युक्त होकर संयम में स्थिर हुए।

कहने का अर्थ यह है कि भावदेव का वैराग्य पहले मोहगर्भित था। इसी प्रकार किसी व्यक्ति को धन, परिजन या अभीष्ट वस्तु के नष्ट हो जाने, उससे वियोग हो जाने या चोरी हो जाने आदि कारणों से विरक्ति तो हो जाती है, पर वह वैराग्य है मोहगर्भित ही। वह आगे चलकर ज्ञानगर्भित हो सकता है।

दूसरा है—दुःखगर्भित वैराग्य। किसी आकस्मिक संकट या विपत्ति के आ पड़ने से, दुःसाध्य रोग हो जाने या किसी सम्बन्धी द्वारा कष्ट देने से, मारणान्तिक भय आदि दुःखों के कारण व्यक्ति को जो वैराग्य उत्पन्न होता है उसे दुःखगर्भित वैराग्य कहते हैं। दुःखगर्भित वैराग्य भी कभी-कभी आगे चल कर पक्का हो जाता है।

दोनों में से किसी प्रकार के वैराग्य का आश्रय लेने वाले व्यक्ति का प्रयत्न तो सुखी होने का रहता है।

भर्तृहरि को अपनी रानी पिंगला की कामपरायणता जानकर अपार दुःख हुआ। इसी दुःख से प्रेरित होकर राजा भर्तृहरि ने राज-पाट आदि सब छोड़कर संन्यास ग्रहण कर लिया। उस समय भर्तृहरि ने जो वैराग्य अपनाया था, वह दुःखगर्भित था। परन्तु आगे चलकर वह ज्ञानगर्भित हो गया, जब भर्तृहरि ने पिंगला को मैया कहकर उसके हाथ से भिक्षा ग्रहण की और उससे क्षमा मांग कर आध्यात्मिक विकास का उपदेश दिया।

वस्तुतः तीसरा ज्ञानगर्भित वैराग्य ही स्थायी, पक्का और यथार्थ वैराग्य है। जिसे अहिंसा, संयम और तपरूप धर्म अथवा सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्ररूप धर्म या आत्मगुणों में—आत्मभाव में रमणरूप आत्मधर्म में सच्चे आत्म-सुख की प्रतीति और अनुभूति हो जाती है, पर-भावों या विषय-सुखों या काम-भोगों में जरा भी आनन्द नहीं आता, महाव्रत, समिति, गुप्ति आदि के पालन में, तप संयम और त्याग में सच्चा आनन्द आता है, जिसे संसार के सभी वैभव, रागरंग, विषय फीके लगते हैं, उसी की सम्यक्त्वपूर्वक विरक्ति को ज्ञानगर्भित वैराग्य कहते हैं। ज्ञानगर्भित वैराग्यसम्पन्न व्यक्ति के समक्ष सांसारिक भोगों के, विषय सुखों के कितने ही प्रलोभन आएँ वह वैराग्य से एक इंच भी विचलित नहीं होता। वह प्रसिद्धि, प्रतिष्ठा, प्रशंसा, सिद्धि, लब्धि, ऋद्धि या चमत्कारों से जरा भी प्रभावित नहीं होता। न ही वह इन्हें पाने की मन में इच्छा करता है। परीषहों और उपसर्गों के आ

पड़ने पर वह सुख-सुविधा का मार्ग नहीं खोजता, वह समभाव से उन्हें सहता है। सम्यग्दृष्टि गृहस्थ भी अपने गृहस्थाश्रम में रहते हुए कुटुम्ब, समाज, राष्ट्र आदि के प्रति कर्त्तव्यों और दायित्वों का पालन करता है, मगर उनके प्रति मोह, ममता, तृष्णा, आशा, स्पृहा आदि नहीं रखता। वह आत्म-भाव में रमण करता है। आत्मा के हित और विकास का चिन्तन करता है।

निर्वेद का फल

सम्यग्दृष्टि गृहस्थ या साधु के हृदय में जब निर्वेद उत्पन्न हो जाता है, तब उस व्यक्ति को जो लाभ मिलता है, वह भी अद्भुत है। भगवान् महावीर से जब गौतम स्वामी ने निर्वेद से होने वाले लाभ के विषय में प्रश्न किया तो उन्होंने फरमाया—

"निव्वेएणं दिव्व-माणुस-तेरिच्छेसु कामभोगेसु निव्वेयं हव्वमागच्छइ सव्व-विसएसु विरज्जइ।"[1]

निर्वेद का अनन्तर (तत्काल) फल है—देव, मनुष्य और तिर्यञ्च सम्बन्धी कामभोगों से तत्काल विरक्ति—उदासीनता आजाना, तथा समस्त विषयों के प्रति विरक्ति।

निर्वेद का स्वरूप है—कामभोगों से अरुचि या विरक्ति और उसका फल भी यही है। यहाँ कारण और कार्य दोनों एक ही बताए हैं। अतः निर्वेद का तात्कालिक फल देवादि कामभोगों तथा समस्त विषयों से मन का हट जाना है। अन्तःकरण में तनिक भी विषयों या कामभोगों की लालसा न रहे, विरक्ति हो जाए, तभी सच्चा निर्वेद या वैराग्य समझना चाहिए। निर्वेद का पारम्परिक फल क्या है? इस सम्बन्ध में पूछने पर भगवान् ने बताया—

"सव्वविसएसु विरज्जमाणे आरंभ-परिच्चायं करेइ। आरंभ-परिच्चायं करेमाणे संसारमग्गं वोच्छिन्दइ, सिद्धिमग्गं-पडिवन्ने भवइ।"[2]

अर्थात्—सभी विषयों से सर्वथा विरक्त हो जाने पर साधक आरम्भ का त्याग करके संसार मार्ग को बन्द कर देता है, और सिद्धिमार्ग को स्वीकार कर लेता है।

निष्कर्ष यह है कि जब साधक का मन विषय-भोगों से विरक्त हो जाता है, तब वह अन्य प्राणियों को किसी प्रकार के कष्ट देने रूप आरम्भ का त्याग कर देता है। आरम्भत्यागी ज्ञान-दर्शन-चारित्र रूपमोक्ष-मार्ग का स्वीकार करके भवभ्रमण से बच जाता है। इस प्रकार निर्वेद का पारम्परिक फल मोक्ष है।

---

१. उत्तराध्ययन सूत्र अ० २९ बोल दूसरा
२. ,, वही, दूसरा बोल

यद्यपि अविरत-सम्यग्दृष्टि व्यक्ति सहसा आरम्भ-त्याग तथा विषयों एवं कामभोगों से सर्वथा निवृत्त नहीं हो पाता। परन्तु सम्यग्दृष्टि पुरुष का ज्ञान सम्यक् हो जाता है, वह वस्तुस्वरूप को यथार्थ रूप से समझ लेता है, चारित्रमोहनीय कर्म के उदयवश वह आरम्भ-परिग्रह का तथा विषय-भोगों का सर्वथा त्याग नहीं कर सकता, परन्तु चारित्रमोहनीय का क्षयोपशम या क्षय हो जाए तो वह आरम्भ-परिग्रह से तथा विषय-भोगों से सर्वथा निवृत्त होकर चारित्र अंगीकार करके एक दिन मोक्ष भी प्राप्त कर सकता है। उसके लिए मोक्ष का द्वार खुल जाता है। वह चाहे तो पुरुषार्थ द्वारा मुक्ति प्राप्त कर सकता है।

ऐसे व्यक्ति का वैराग्य ज्ञानगर्भित निर्वेद होता है। वह सांसारिक विषयभोगों, पदार्थों तथा कामभोगों एवं उनके निमित्तों को ज्ञान की दृष्टि से देखता है। कामी पुरुषों या अज्ञानी मिथ्यादृष्टियों के मन में जहाँ संसार के मनोज्ञ विषय या पदार्थ कामना या वासना उत्पन्न करते हैं, वहाँ वे ही पदार्थ निर्वेदसम्पन्न ज्ञानी पुरुषों के मन में सम्यग्ज्ञान उत्पन्न करते हैं, वे उनमें मोह, आसक्ति या रागभाव करके फँसते नहीं हैं। मान लीजिए—एक वेश्या सोलह शृंगार सजकर बाजार से होकर जा रही है, सामने से निर्वेद-प्राप्त ज्ञानी पुरुष आ रहा है। अव्वल तो ज्ञानी व्यक्ति उसकी ओर दृष्टि ही नहीं करेगा। कदाचित सहसा उसकी दृष्टि पड़ जाएगी, तो वह विचार करेगा—पूर्वकृत पुण्य के प्रभाव से इस नारी को ऐसा अनुपम सौन्दर्य एवं सुडौल मानव शरीर मिला है, किन्तु बेचारी मोहवश अज्ञान दशा में यह थोड़े से पैसों के लिए अपना सुन्दर शरीर बेच देती है, शील लुटा देती है। कैसी मोह की विडम्बना है। अगर इसने अपना शरीर परमात्मा के पावन चरणों में या आत्मकल्याण में अर्पण किया होता, या रत्नत्रय की सर्वतः या देशतः आराधना की होती तो इसका जीवन सार्थक हो जाता यह भवभ्रमण के चक्र से बच जाती। इस प्रकार निर्वेद-प्राप्त ज्ञानी साधक वेश्या को देखकर अपने ज्ञानोपयोग में वृद्धि करते हैं, आत्मभावों में दृढ़ होते हैं, वहाँ अज्ञानी पुरुष वेश्या को देखकर नाना प्रकार के गन्दे, अश्लील और कुत्सित विचारों में डूबकर पाप कर्मबन्धन करते हैं अज्ञान बढ़ाकर संसार परिभ्रमण का मार्ग प्रशस्त करते हैं।

निर्वेद सम्पन्न ज्ञानी पुरुषों की संगति से सम्यग्दृष्टि गृहस्थ भी अपने जीवन को धन्य बना सकता है। इसीलिए निर्वेद को सम्यग्दृष्टि को परखने का एक महत्वपूर्ण बाह्य चिन्ह बताया गया है। □

१७

सम्यग्दृष्टि का चौथा चिन्ह : अनुकम्पा

आध्यात्मिक जीवन में प्रवेश कब और कैसे ?

सम्यग्दर्शन आध्यात्मिक विकास का प्रवेशद्वार है। आध्यात्मिक विकास का प्रवेश चतुर्थ गुणस्थान से होता है। जब व्यक्ति संकुचित स्वार्थ-वृत्ति को छोड़कर परमार्थ वृत्ति को धारण करता है, तब से आध्यात्मिक जीवन में उसका प्रवेश होता है। कीट, पतंग, पशु, पक्षी आदि तिर्यञ्च जीवों में प्रायः संकुचित स्वार्थवृत्ति होती है। वे अपने ही सुख की, अपनी ही उदर पूर्ति की, अपने ही टोले की, इससे किंचित् आगे बढ़े तो अपने ही झुण्ड या वर्ग के स्वार्थ की बात सोचते हैं। एक बैल के पास घास-चारा बहुत पड़ा है, उसने पेट भर कर खा लिया है। थोड़ी-सी दूर पर एक दूसरा बैल है, उस बेचारे ने कुछ खाया नहीं है, उसके पास घास-चारा नहीं है। वह भूखा है। फिर भी पेट भरा हुआ वह बैल उसे मनुहार करके कदापि खिलाएगा नहीं, न ही खाने के लिए बुलाएगा, बल्कि अगर वह उसके पास घास-चारा खाने के लिए आएगा, तो उसे सींग मारकर उसे दूर भगा देगा। एक गली या एक गाँव का कुत्ता, दूसरी गली या दूसरे गाँव में चला जाएगा तो उस गली या गाँव वाला कुत्ता उसका स्वागत करना तो दूर रहा, उसे भौंक कर अपनी गली या गाँव से बाहर खदेड़ देगा। यह तो पंचेन्द्रिय जाति के तिर्यञ्चों की बात है। एकेन्द्रिय से चतुरिन्द्रिय प्राणियों का तो आध्यात्मिक विकास में प्रवेश होता ही नहीं।

अभिप्राय यह है कि जिस प्रकार मुर्गी आदि का अंडा संकीर्ण अंधेरी कोठड़ी के समान अपनी खोली फोड़कर बाहर निकलता है, तभी से उसके वास्तविक जीवन का प्रारम्भ होता है, उसी प्रकार 'स्व'[1] की अंधेरी कोठड़ी में बन्द आत्मा जब उसमें से निकलकर 'सर्व' का विचार करने लगता है, तभी से उसके आध्यात्मिक जीवन का प्रारम्भ होता है।

धर्म का प्रारम्भ : परहित का विचार करने से

अपने हित एवं सुख-दुःख के समान दूसरों के हित और सुख-दुःख का विचार आने पर ही व्यक्ति के जीवन में सच्चे धर्म का प्रारम्भ होता है। मुझे ही सुख मिले, दूसरों का चाहे जो हो, यह वृत्ति तो पशु-पक्षियों में प्रायः होती है। मनुष्य में भी अगर यह स्वार्थवृत्ति हो, दूसरों के हित या सुख-दुःख का विचार न करके अपने ही संकीर्ण स्वार्थ और सुख-दुःख को महत्व देने की वृत्ति—प्रवृत्ति हो, तो वह भी पशुवृत्ति ही समझनी चाहिए। केवल 'स्व' का ही विचार तो जीव को अनादि काल से मिला हुआ है, वही सब पापों का बीज है, वही संकीर्ण स्वार्थवृत्ति अधर्म का मूल है। समस्त पाप प्रत्यक्ष या परोक्ष रूप से संकीर्ण स्वार्थवृत्ति में से ही पनपते हैं। आर्त्तध्यान और रौद्रध्यान का जाल भी संकीर्ण स्वार्थ के इसी केन्द्र के आस-पास बिछता है। किसी भी पाप के मूल की खोज करेंगे तो आपको यही संकीर्ण 'स्व' का विचार ही प्रतीत होगा। पापवृत्ति और पाप-प्रवृत्ति को निर्मूल करना हो तो इस संकुचित स्वार्थवृत्ति के मिथ्यादर्शन का कांटा अन्तर् से निकालना ही होगा। इस संकुचित स्वार्थवृत्ति पर चोट पड़ने पर ही, अर्थात्—स्वार्थवृत्ति मन्द होने पर ही हृदयभूमि में धर्म-वृक्ष अंकुरित होता है। 'स्व' की संकुचित स्वार्थवृत्ति को 'सर्व' में परिणत करने पर ही सच्चे माने में अहिंसा, सत्य, अस्तेय, ब्रह्मचर्य, अपरिग्रह, क्षमा, दया, अनुकम्पा, विनय, नम्रता, ऋजुता, पवित्रता, संयम, त्याग, तप आदि सद्धर्मों का पालन हो सकता है। दूसरों को अपना और अपने जैसा मानने, उनके हित, सुख-दुःख या जीवन को अपना हित, सुख-दुःख या जीवन समझने पर ही व्यक्ति हिंसा, झूठ, चोरी, व्यभिचार, परिग्रह, ईर्ष्या, दम्भ, छल, ठगी, मिथ्यात्व, क्रोध, अहंकार, आदि पापों को करने से रुक सकता है। दूसरे प्राणियों को आत्मीय मानने तथा उनके कष्ट या संकट को अपना कष्ट या संकट समझने पर कौन किस की हिंसा या चोरी करेगा ? कौन किसके साथ झूठ या व्यभिचार सेवन करेगा ? कौन अत्यन्त जरूरी साधनों से अधिक परिग्रह रखकर या

---

१. यहाँ 'स्व' का अर्थ 'आत्मा' नहीं, परन्तु 'स्वार्थ' अर्थात्—स्व-शरीर और उससे सम्बन्धित अन्य बातों को समझना चाहिए।' —सं०

वस्तुओं का संग्रह करके दूसरों को संकट में डालेगा ? व्यक्ति जब दूसरों को अपना समझ लेता है, तब क्या स्वयं ही स्वयं को धोखा देगा। एक हाथ दूसरे हाथ को मारेगा—पीटेगा ? इसी 'आत्मीय भावना—आत्मवत् सर्वभूतेषु' की भावना को तात्विक दृष्टि से समझाने के लिए श्रमण भगवान् महावीर ने आचारांग सूत्र[1] में स्पष्ट कहा है—

तुमंसि नाम सच्चेव, जं 'हंतव्वं' ति मन्नसि ।
तुमंसि नाम सच्चेव, जं 'अज्जावेयव्वं' ति मन्नसि ।
तुमंसि नाम सच्चेव, जं 'परितावेयव्वं' ति मन्नसि ।
तुमंसि नाम सच्चेव, जं 'परिघेतव्वं' ति मन्नसि ।
तुमंसि नाम सच्चेव, जं 'उद्दवेयव्वं' ति मन्नसि ।

—आचारांग १।५।५

अर्थात्—"तुम वही हो, जिसे तुम मारना है, ऐसा समझते हो ।
तुम वही हो, जिसे तुम सताना है ऐसा मानते हो ।
तुम वही हो, जिसे तुम परिताप देना चाहते हो ।
तुम वही हो, जिसे तुम गुलाम बनाकर या कैद करके रखना चाहते हो ।
तुम वही हो, जिसे तुम डराना-धमकाना चाहते हो ।"

इससे स्पष्ट है, जो दूसरों को सताना-मारना या दुःखी करना चाहता है, वह अपने आप को सताता-मारता या दुःखी करता है। इसका तात्पर्य यह भी है कि जो दूसरों को सताता, मारता-पीटता या त्रास देता है, उसके कारण हुए घोर पाप कर्म के बन्ध के कारण स्वयं को ही उसके फलभोग के समय उतना ही नहीं बल्कि उससे भी अधिक त्रस्त, संतप्त एवं दुःखी होना पड़ता है ।

निष्कर्ष यह है कि अहिंसादि धर्म का प्रारम्भ दूसरों के सुख-दुःख का भान, पर-पीड़ात्याग, अथवा दुःखी मात्र के प्रति अत्यन्त दया—अनुकम्पा, गुणीजनों के प्रति अद्वेष, और सर्वत्र औचित्यपूर्वक व्यवहार से होता है। परार्थ भावना के बीजारोपण से ही धर्म का श्रीगणेश होता है। जब

---

[1] कहा भी है—
जह मम न पियं दुक्खं, जाणिय एमेव सव्वजीवाणं
जैसे मुझे अपना दुःख प्रिय नहीं है, इसी प्रकार सभी जीवों को अपना दुःख प्रिय नहीं है, ऐसा समझो ।

चित्त परार्थभावना से वासित होता है, तभी वह मनुष्य को उत्तरोत्तर अधिकाधिक शुद्ध करके मुक्ति तक ले जा सकता है। यही परार्थभावना आत्मवत् सर्वभूतेषु की या स्व-परहित की भावना ही अनुकम्पा के रूप में सम्यग्-दृष्टि के जीवन में अवतरित होती है। इसीलिए भगवान् महावीर ने सम्यग्-दर्शनी को पहचानने-परखने के जो पाँच लक्षण (चिन्ह) बताए हैं, उनमें से एक महत्वपूर्ण लक्षण अनुकम्पा को बताया है। जिसे सम्यग्दर्शन प्राप्त हो जाता है, उसके अन्तर् में समग्र प्राणिजगत् के प्रति आत्मीयता का ऐसा निर्मल प्रवाह बहता रहता है कि उसका हृदय किसी भी प्राणी के दुःख, कष्ट या संकट को देखकर द्रवित हो उठता है। यही नहीं, अपराधी, दुर्जन, पापी या अधर्मी को देखकर भी उसके अन्तर् में अनुकम्पा- वात्सल्यमयी दृष्टि जाग उठती है। यद्यपि सम्यग्दृष्टि गृहस्थ आवश्यकता पड़ने पर अपने कर्त्तव्य या दायित्व के नाते अपराधी को दण्ड भी देता है, परन्तु अन्तर् से उसके हृदय में उसके प्रति जरा भी द्वेष, रोष या दुष्ट बुद्धि नहीं होती; उसको सुधारने की, उसकी आत्मा का हित करने की ही बुद्धि होती है। उस अपराधी को समाज के भयंकर कोप का भागी न होना पड़े, भविष्य में उसे उस अपराध के कारण घोर दुःख में न पड़ना पड़े, इस दृष्टि से सम्यक्त्वी आत्मा उसे यथोचित शारीरिक सजा भी देता है। परन्तु सम्यग्दृष्टि के अनुकम्पाप्रवण हृदय में उसका जरा भी नुकसान या अहित करने की वृत्ति नहीं होती।

सम्यग्दर्शन-प्राप्ति की पहचान : अनुकम्पा

किसी व्यक्ति को भाव से सम्यग्दर्शन प्राप्त हुआ है या नहीं ? इसकी एक पहचान अनुकम्पा से होती है। जिसकी अन्तरात्मा जीव सृष्टि के किसी भी प्राणी, व्यक्ति, समाज और समष्टि पर आ पड़े हुए दुःख और संकट को देखकर द्रवित नहीं होती, जिसके हृदय में अनुकम्पा नहीं फूटती, समझलो अभी वह जीव सम्यग्दर्शन से दूर है। सम्यग्दर्शन से ही धर्माचरण (दर्शनाचार) का प्रारम्भ होता है और जिसके जीवन में अनुकम्पा नहीं आई अभी उसमें सद्धर्म अंकुरित ही नहीं हुआ। जिसका हृदय समवेदनशील नहीं, सहानुभूतिपरायण नहीं, सह-अस्तित्व की भावना से ओतप्रोत नहीं, परार्थ की वृत्ति से परिपूर्ण नहीं, वह अनुकम्पाहीन हृदय सम्यक्त्व रूप धर्म से दूर है। इसके विपरीत जिसके दिल में दुःखी को देखकर घृणा, आक्रोश, तिरस्कार, मत्सर, अहंकार, ईर्ष्या, बदले की भावना, उसे गिराने और अधिक दुःखी करने की वृत्ति प्रबल रूप से उभरती हो तो समझ लो उस पाषाणहृदय निपट स्वार्थी व्यक्ति ने भी सम्यग्दर्शन का प्रकाश नहीं पाया है। वह अभी

संकुचित स्वार्थ, कठोरता, अहंता-ममता आदि दुर्गुणों के गाढ़ अन्धकार से घिरा हुआ है। अतः अनुकम्पा इस बात की प्रतीति करा देती है कि जिस व्यक्ति में प्राणिमात्र के प्रति आत्मीयता का भाव जागृत हुआ है, किसी प्राणी के दुःख को जान-देखकर जिसका हृदय कम्पित हो उठता है, वह सम्यग्दृष्टि है, सम्यक्त्वी है।

अनुकम्पा क्या है, क्या नहीं ?

जब सम्यग्दृष्टि को परखने की एक निशानी अनुकम्पा है, तब प्रश्न होता है कि अनुकम्पा किसे कहते हैं ?

सामान्य रूप से अनुकम्पा का अर्थ होता है—'परदुःखानुकूलं कम्पनं —'अनुकम्पा'। इसका फलितार्थ यह है कि अपने-पराये के भेद या अन्य किसी पक्षपात के बिना किसी भी धर्म, जाति, प्रान्त, या राष्ट्र के दुःखी प्राणी को देख-सुनकर हृदय द्रवित या कम्पित हो उठना तथा उस दुःख को दूर करने को तत्पर होना —अनुकम्पा है। गुणभूषण श्रावकाचार में इसी अर्थ को स्पष्ट करते हुए कहा है—

सर्वजन्तुषु चित्तस्य, कृपार्द्रत्वं कृपालवः।
सद्धर्मस्य परं बीजमनुकम्पां वदन्ति ताम्॥

समस्त प्राणियों पर चित्त के दयार्द्र होने को तथा सद्धर्म के उत्कृष्ट बीज को दयालुगण 'अनुकम्पा' कहते हैं।

अनुकम्पा धारण करने वाले व्यक्ति की आत्मा दया से इतनी स्निग्ध या आर्द्र हो जाती है कि वह किसी भी मनुष्य या प्राणी को कष्ट, संकट या दुःख में पड़ा देखकर चुपचाप नहीं रह सकता। उसके हृदय में दुःखी को देखकर सहसा यह भावना उठती है कि "जैसे मैं दुःख आ पड़ने पर उससे मुक्त होकर सुखी होना चाहता हूँ, वैसे यह जीव भी दुःखमुक्त होकर सुखी होना चाहता है। दुःख जैसा मुझे कष्ट देता है, वैसा इसे भी देता होगा।" इस प्रकार दूसरे प्राणी या मानव को दुःखित या पीड़ित देखकर अनुकम्पाशील सम्यग्दृष्टि के हृदय में उसके अनुकूल अनुभूति जाग जाती है। वह दूसरों के दुःख और कष्ट को अपना ही कष्ट या दुःख समझने लगता है। भगवान् महावीर के इस कथन के प्रति उसकी दृढ़ श्रद्धा होती है—

'सव्वे पाणा पियाउया सुहसाया, दुक्खपडिकूला।'

—आचारांग १/२/३/२४०

सभी जीवों को आयुष्य प्रिय है। सभी जीव सुख चाहते हैं, दुःख सबको प्रतिकूल—अप्रिय लगता है। अनुकम्पा में प्राणि मात्र के साथ आत्मीयता, एकता या सहानुभूति होती है। वैसे दया, करुणा और अनुकम्पा में थोड़ा-सा अन्तर है। दया में दूसरों के साथ सहानुभूति होती है, साथ ही दया में प्रायः अहंकर्त्तृत्व का भाव आ जाता है। करुणा में दूसरों को दुःखी देखकर आघात पहुँचता है। परन्तु अनुकम्पा में आत्मज्ञानपूर्वक आत्मीयता होती है। इसमें सर्वप्रथम मनुष्य अपनी आत्मा को भलीभाँति जान लेता है, आत्मा का हित या आत्मसुख किस में है? इसे समझ लेता है। फिर यह अनुभव करता है कि जैसा अपना आत्मा है, वैसा ही दूसरे प्राणो का है। इसलिए अनुकम्पाशील व्यक्ति का अन्तःकरण दूसरों के प्रति आत्मीयता के कारण एकरस और समभावी बन जाता है। कहते हैं, एक व्यक्ति ने रामकृष्ण परमहंस के मना करने पर भी बैल की पीठ पर बेंत से मारा, उसके निशान रामकृष्ण परमहंस की पोठ पर पड़ गए। यह था अनुकम्पा का ज्वलन्त उदाहरण! रघुवंश में वर्णन आता है कि पार्वती को एक बिल्ली के बच्चे के प्रति इतनी आत्मीयता थी कि उसके मुँह पर किसी ने नोंच लिया था, उसके निशान पार्वती के मुँह पर हो गए थे। इस प्रकार अनुकम्पाशील व्यक्ति का हृदय माता का-सा होता है। इसका कारण यह है कि दूसरों के सुख-दुःख का संवेदन अनुकम्पापरायण स्वयं अनुभव करता है। दूसरे का दुःख वह अपना ही दुःख समझता है। इसलिए वह ऐसा ही महसूस करता है कि मैं दूसरे का नहीं, अपना ही दुःख दूर कर रहा हूँ। वह अपनी शक्ति भर दूसरों के दुःख का निवारणोपाय करता है। अपने पैर में कांटा चुभने पर व्यक्ति जैसे हाथ से खींच कर निकाल लेता है, वैसे ही दूसरे के दुःख-अहित अपने ही प्रतीत हुए और रहा न गया, इसलिए दूर किये। इस प्रकार सहज स्थिति बन गई। यही कारण है कि इसमें निःस्वार्थ भाव से दूसरे का दुःख दूर करने का नम्र प्रयत्न होता है, किसी प्रकार की आशा या अपेक्षा इसमें नहीं रखी जाती और न ही कर्तृत्व का अभिमान इसमें होता है, न ही फलाकांक्षा का भाव।

अनुकम्पा के विषय में किसी प्रकार की उलझन न रहे, इस दृष्टि से आचार्यों ने इसके दो भेद बताए हैं—द्रव्य-अनुकम्पा और भाव-अनुकम्पा। जीवन की मूलभूत आवश्यकताएँ और सुख-सुविधा की सामग्री जिन्हें प्राप्त है, परन्तु जो सद्धर्माचरण से रहित हैं, यथार्थ जीवन-दृष्टि से वंचित हैं, उनके प्रति करुणा से अन्तर् द्रवित हो जाना तथा उन्हें सम्यग्दृष्टि प्राप्त हो,

ऐसी सद्भावनापूर्वक यथामति यथाशक्ति इस दिशा में सच्चे अन्तःकरण से प्रयास करना—भाव-अनुकम्पा है। अथवा अमितगति श्रावकाचार के अनुसार—

जन्माम्भोधौ कर्मणा भ्राम्यमाणे जीवग्रामे दुःखितेऽनेकभेदे।
चित्तार्द्रत्वं यद् विधत्ते महात्मा तत्कारुण्यं दर्श्यते दर्शनीये॥

अर्थात्—कर्मवश संसार समुद्र में भ्रमण करते हुए अनेक प्रकार के दुःखित जीवों को देखकर जो महान् आत्मा चित्त में आर्द्रता दयालुता धारण करता है, उसी को तत्ववेत्ता दार्शनिक करुणा—भाव-अनुकम्पा कहते हैं।

अभिप्राय यह है कि कर्मों के कारण जन्म, जरा, मृत्यु, रोग आदि नानाविध दुखों को भोगते हुए, तथा चारों गतियों में भटकते हुए जीवों पर आत्मीयता लाकर जो दयार्द्र पुरुष उन्हें सम्यक्बोध देता है, दुःखों से मुक्त होने का मार्ग बताता है, आत्मिक सुख-प्राप्ति का उपाय बताता है उसकी इस सक्रिय आत्मौपम्य भावना को ज्ञानीपुरुष भाव-अनुकम्पा कहते हैं।

दूसरी ओर, जीवन की मूलभूत आवश्यकताओं के अभाव में पीड़ित एव दुखित होते हुए आत्माओं को देखकर उनके प्रति अन्तर् में सहानुभूति पैदा होना और उनकी आवश्यकताओं की पूर्ति करने के लिए यथाशक्ति प्रयत्न करना द्रव्य-अनुकम्पा है।

यह स्मरण रहे—द्रव्य-अनुकम्पा के साथ भाव-अनुकम्पा होनो जरूरी है। भाव-अनुकम्पा में अनुकम्पा का तत्वज्ञान होता है। उससे हृदय में एकात्मभावना, हृदय को कोमलता, दयार्द्रता, संवेदनशीलता, आत्मवत् सर्वभूतेषु की भावना, समस्त प्राणियों में स्वतुल्य बुद्धि, सर्वात्मसमदृष्टि, एवं आत्मीयता, सहानुभूति आदि भी भाव-अनुकम्पा के अंग हैं। इसमें सर्वप्रथम आत्मा का तत्वज्ञान, फिर सर्वात्मैकत्व भावना पनपती है।

यह ध्यान रहे कि स्वयं व्यक्ति यदि साधन सम्पन्न हो, अथवा दूसरों से साधन दिलाने की प्रभावशील क्षमता हो तो साधनहीन के प्रति द्रव्य-अनुकम्पा के बिना सहानुभूतिशून्य या आत्मीयता की भावना से रहित अध्यात्म या वैराग्य का कोरा उपदेश दे देने में भाव-अनुकम्पा की इति—

समाप्ति नहीं हो जाती। आत्मतुल्य दृष्टि से जगत् के जीवों को देखने वाले व्यक्ति में ही सच्ची अनुकम्पा प्रकट होती है।[1]

कोई भी प्राणी दुःखी न हो, सभी प्राणी सुखी हों, तथा दूसरों को अज्ञानादिवश दुःखित देखकर निःस्वार्थ भाव से सुखी बनाने की भावना भी भावानुकम्पा है। भाव-अनुकम्पापूर्वक यथाशक्ति यथामति किसी दुःखी, पीड़ित आदि को सहायता देकर दुःख मिटाना द्रव्य-अनुकम्पा है। कई लोग कहते हैं कि हमारे पास धन इतना नहीं है कि हम अपना गृहस्थ जीवन चलाने के बाद कुछ बचत कर सकें और उसमें से दीन-दुखियों की मदद कर सकें। परन्तु किसी भी दुःखित—पीड़ित को सहायता केवल धन से ही नहीं, किन्तु तन से शारीरिक सेवा देकर, वचन से सहानुभूति प्रगट करके, आश्वासन प्रोत्साहन तथा बौद्धिक सत्परामर्श-देकर अथवा दूसरों से सहायता दिलवा कर या दूसरों को सहायता देने का कहकर सहयोग प्रदान कर सकते हैं। कई निर्धन व्यक्तियों का हृदय भी इतना दयार्द्र एवं अनुकम्पाशील होता है कि वह स्वयं अपने खर्च में कतरव्योंत करके दुःखित और पीड़ित व्यक्ति को अर्थ-सहयोग दे देते हैं। उनकी परमार्थ भावना वह पीड़ित और दुःखित प्राणी को देखकर उसके दुःख दूर किये बिना रह ही नहीं सकती।

अमेरिका के तत्कालीन न्यायाधीश एब्राहिम लिंकन अपनी घोड़ा गाड़ी में बैठकर न्यायालय में जा रहे थे। तभी रास्ते में उन्होंने एक सूअर को कीचड़ में फंसे हुए और निकलने के लिए छटपटाते देखा। उन्होंने अपने सईस या किसी नौकर को आदेश नहीं दिया। घोड़ागाड़ी रुकवाकर वह स्वयं उतरे और कीचड़ में फंसे हुए सूअर को पकड़कर बाहर निकाला। यद्यपि सूअर के द्वारा अंगों को फड़फड़ाने से कीचड़ उछल कर लिंकन' के कपड़ों पर लग गया था। परन्तु सूअर के कष्ट को अपना कष्ट समझकर उन्होंने उसे बाहर निकाल कर उसका कष्ट दूर कर दिया, इसका उन्हें बहुत सन्तोष था। सूअर की आत्मा को न्यायाधीश लिंकन ने अपनी आत्मा के

---

१ अनुकम्पा दुःखितेषु अपक्षपातेन दुःखप्रहाणेच्छा, पक्षपातेन तु करुणा स्वपुत्रादौ व्याघ्रादीनामप्यस्त्येव। सा चाऽनुकम्पा द्रव्यतो भावतश्च भवति। द्रव्यतः सत्यां शक्तौ दुःखप्रतीकारेण, भावत आर्द्रहृदयत्वेन।

—योगशास्त्र, प्रकाश २, श्लो १५ टीका

'आत्मौपम्येन सर्वं पश्यतो हि सा (अनुकम्पा) स्यात्।'

—पंचलिंगी प्रकरण गाथा १ टीका

तुल्य समझा। यह भाव-अनुकम्पापूर्वक द्रव्य-अनुकम्पा का जीता-जागता उदाहरण है।

जैन इतिहास का एक उज्ज्वल पृष्ठ अनुकम्पा की जीती-जागती तस्वीर प्रस्तुत करता है। कर्मयोगी श्रीकृष्ण[1] भगवान अरिष्टनेमि के दर्शनार्थ हाथी पर सवार होकर जा रहे थे। रास्ते में उनकी दृष्टि सहसा एक जरा-जीर्ण बूढ़े पर पड़ी। वह बेचारा अकेला ही कांपते हाथों से एक-एक ईंट उठाकर घर के अन्दर रख रहा था। उस दुःखित और असहाय वृद्ध को देखकर श्रीकृष्णजी का हृदय अनुकम्पा से भर आया। उन्होंने किसी सेवक को आज्ञा नहीं दी, स्वयं हाथी से उतर पड़े और चुपचाप स्वयं ईंटें उठाकर रखने लगे। श्रीकृष्णजी को यह करते देख उनके सभी सेवक भी उस कार्य में जुट पड़े। थोड़ी ही देर में बूढ़े की तमाम ईंटें अन्दर रख दी गईं। वृद्ध ने श्रीकृष्णजी के प्रति कृतज्ञता प्रकट की।

अनुकम्पा का व्यावहारिक रूप

इस प्रकार की अनुकम्पा के कारण ही श्रीकृष्णजी में सम्यग्दृष्टि की यथार्थ पहचान हो गई। वृद्ध को श्रीकृष्णजी द्वारा दी गई सहायता यद्यपि द्रव्य-अनुकम्पा है परन्तु इसके गर्भ में भाव-अनुकम्पा न होती तो कोरी द्रव्य-अनुकम्पा निःस्वार्थभाव से आत्मौपम्यदृष्टि से न होती, अकेली द्रव्य-अनुकम्पा के पीछे आत्मौपम्य का ज्ञान नहीं होता। निःस्वार्थ भाव, या किसी प्रकार का निष्कांक्ष भाव भी नहीं आता। इसी कारण भगवान् महावीर ने स्पष्ट शब्दों में कहा है—"पढमं नाणं तओ दया।"

इसका भावार्थ यह है कि पहले यह ज्ञान होना चाहिए कि दूसरे प्राणियों में भी मेरे समान आत्मा विलसित हो रहा है। ऐसी आत्मीयता जहाँ होगी, वहाँ अनुकम्पा पात्र को जरा भी दुःख न हो, इस प्रकार जीने की भावना स्वाभाविक रहती है। इतना ही नहीं, उसके साथ सहानुभूति, सहयोग भावना और तत्पश्चात् सहिष्णुतापूर्वक व्यवहार, अर्थात्—अनुकम्पापात्र व्यक्ति के हित या सुख के लिए स्वयं कष्ट सहने, असुविधा उठाने की वृत्ति-प्रवृत्तिपूर्वक उसका जीवन-व्यवहार होगा। महानिशीथ सूत्र के वृत्तिकार इसी पंक्ति का स्पष्ट विश्लेषण करते हैं कि दया-अनुकम्पा में सारे

---

१ अन्तकृद्दशांग सूत्र के आधार पर

संसार के जीव, प्राण, भूत और सत्वों को आत्मवत् देखने की (पहले) वृत्ति होगी। आत्मवत् सर्वभूतेषु का भान होने पर वह किसी प्राणी को आपस में टकराएगा नहीं (संघर्षित नहीं करेगा), न किसी को परिताप देगा, न ही हैरान-परेशान करेगा, भगाएगा-धमकाएगा भी नहीं और न ही किसी को दुःख-कष्ट में डालेगा, न ही भयभीत करेगा।[1]

अनुकम्पा धर्म है, सावद्य नहीं

इस प्रकार प्राणिमात्र के प्रति अनुकम्पा, करुणा, दया आदि आत्मवत् सर्वभूतेषु के भाव के कारण यह व्यवहार आस्रव रहित (संवररूप) हो गया।

अतः जो लोग पवित्र आत्मीय भावों से ओतप्रोत निःस्वार्थभाव से युक्त अनुकम्पा, दया आदि सद्धर्म (संवरधर्म) रूप वस्तु को सावद्य कहते हैं, वे भ्रान्ति के शिकार हैं। भाव-अनुकम्पायुक्त द्रव्यानुकम्पा कभी सावद्य नहीं हो सकती। अतः अनुकम्पा धर्म है, पाप-सावद्य नहीं। दशवैकालिक सूत्र भी इस तथ्य का साक्षी है—

सव्वभूयप्पभूयस्स सम्मं भूयाइ पासओ।
पिहिआसवस्स दंतस्स पावकम्मं न बंधइ॥

'जो सर्वभूतात्मभूत है, प्राणीमात्र को समभाव से देखता है, जिसने आस्रव के आगमन के द्वार बंद कर दिये हैं उस शान्त-दान्त व्यक्ति के पापकर्म का बन्ध नहीं होता। यह अनुकम्पा का उत्कृष्ट व्यावहारिक रूप है, जो ज्ञान-दर्शन-चारित्रमय भाव-अनुकम्पा से युक्त है।

गृहस्थ जीवन में अनुकम्पा

चूँकि अनुकम्पा में सम्यग्दृष्टि सर्व जीवों को अपने तुल्य मानता है और एकेन्द्रिय जीवों के उपकार को भी याद करके स्वयं एकेन्द्रिय संयम या यतना रखता है। आवश्यकता के बिना पानी की एक बूंद भी व्यर्थ नहीं गिराता,

---

१ "गोयमा ! 'पढमं नाणं तओ दया।' दयाएव सव्वजगजीव-पाण-भूय-सत्ताण अति समदरिसित्तं। सव्वजगजीव पाण भूयसत्ताणं अत्त-सम दंसणाओ य तेसिं चेव संघट्टण-परियावण-किलामणोद्दावणाइ दुक्खुप्पायण-भय-विवज्जणं। तओ अणासवो····।"
—महानिशीथ सूत्र, अध्य० ३

मिट्टी के ढेले का उपयोग भी विवेकपूर्वक करता है। मिट्टी भी व्यर्थ खर्च नहीं करता। वायु भी प्रदूषित न हो, इसकी सावधानी रखे, स्वच्छता रखे। अग्नि, बिजली आदि सब के उपयोग में जागृति रखे। वनस्पति का एक पत्ता भी बिना मतलब के न तोड़े, नहीं मसले। यों बिना कारण प्रमादवश किसी भी जीव की एकेन्द्रिय से लेकर पंचेन्द्रिय तक के जीवों की मन-वचन-काया से किसी भी प्रकार की हिंसा न करे। किसी मानव के साथ अनुकम्पाशील मानव अब्बल तो कलह करेगा नहीं। कदाचित् किसी के साथ कलह हो जाए तो वह परस्पर प्रेम भाव से मिठास से उसका निपटारा कर ले। इसी प्रकार वह अपने घर, दूकान आदि में यतना, स्वच्छता, सादगी इस प्रकार की रखेगा कि मच्छर, खटमल, जूं, साँप-बिच्छू आदि जन्तु पैदा ही न हों। सारांश यह है कि समस्त जीवों को सुख खाता हो, ऐसा ज्ञानपूर्वक व्यवहार ही वस्तुतः अनुकम्पा है।

यद्यपि गृहस्थ श्रावक खेती करता है, रसोई बनाता है, फलों-फूलों का बाग-बगीचा लगाता है, गो-पालन करता है, अपनी आजीविका के लिए सात्त्विक व्यापार करता है या नौकरी करता है, सन्तान का पालन-पोषण करता है, इत्यादि कार्यों से आरम्भ-समारम्भ होता है। अतः शास्त्रकारों ने बताया कि श्रावक आरम्भजा, उद्योगिनी, विरोधिनी, इन तीन हिंसाओं से प्रायः बच नहीं सकता। द्वीन्द्रिय से पंचेन्द्रिय तक के स्थूल जीवों की जान-बूझकर आकुट्टिबुद्धि से संकल्पजा हिंसा उसके लिए वर्जनीय होगी। उसके जीवन में भाव-अनुकम्पा तो पूर्णतया होगी, परन्तु द्रव्य-अनुकम्पा में उसकी मर्यादा होगी।

साधुवर्ग में भावानुकम्पा में द्रव्यानुकम्पा गर्भित

कई लोग शंका करते हैं कि साधु भी द्रव्यानुकम्पा नहीं कर पाते, क्योंकि उनके पास जब निर्धनता, दरिद्रता, रोग, बेकारी, नीच जाति, कुसंस्कार, कुटेव आदि के कारण दुःखित-पीड़ित कई लोग आते हैं, तब वह अर्थ आदि का सहयोग स्वयं नहीं दे सकता। ऐसी स्थिति में द्रव्यानुकम्पा से रहित जीवन सम्यक्त्व के होने की पहचान कैसे करायेगा?

इसका समाधान यह है कि अनुकम्पा का वास्तविक उद्गम तो भाव है। भावानुकम्पा पूर्णतया होनी चाहिए। भावानुकम्पा होगी तो साधु वर्ग अपनी मर्यादा में रहकर गृहस्थ के कुसंस्कार, कुटेव, दुर्व्यसन छोड़ने का

उपदेश दे सकता है। पुण्य उपार्जन करने के ९ प्रकार भी समझा सकता है, पूर्वकृत अशुभ कर्मों का क्षय (निर्जरा) करने का तथा नये कर्मों को आने से रोकने के सरल, सरस, सुलभ, सुकर उपाय भी बता सकता है, समभाव, सन्तोष, शान्ति, क्षमा, दया, व्रत, नियम, त्याग-प्रत्याख्यान आदि सद्धर्म के अंगों के ग्रहण-पालन की प्रेरणा भी कर सकता है जिनसे उसके अशुभ कर्म कटें, शुभकर्मों में वृद्धि हो, संवर और पूर्वकृत कर्मों की निर्जरा (क्षय) होने से पुण्य और धर्म में वृद्धि होगी। स्वाभाविक है कि उस दुःखित-पीड़ित का दुःख दूर हो जाय, सुख-शान्ति बढ़े।

क्या साधु वर्ग के द्वारा भावानुकम्पापूर्वक परोक्ष रूप से की गई यह द्रव्यानुकम्पा नहीं है ?

चार भंगों में से सम्यग्दृष्टि किन भंगों में ?

यही कारण है कि स्थानांग सूत्र में आत्मानुकम्पी और परानुकम्पी की चौभंगी बताई गई है—

(१) एक व्यक्ति आत्मानुकम्पी होता है, परानुकम्पी नहीं।

(२) एक व्यक्ति परानुकम्पी होता है, आत्मानुकम्पी नहीं।

(३) एक व्यक्ति आत्मानुकम्पी भी होता है, परानुकम्पी भी।

(४) एक न तो आत्मानुकम्पी होता है, और न परानुकम्पी।

इसमें चतुर्थ भंग वाला व्यक्ति तो अनुकम्पा से शून्य है। इसके अतिरिक्त अपनी आत्मा की अनुकम्पा का भाव नहीं है जिसकी आत्मा अमर्यादित हिंसा, झूठ, चोरी, ठगी, व्यभिचार, अत्यधिक परिग्रह-संग्रहवृत्ति, महारम्भ-महापरिग्रह से लिप्त है, वह व्यक्ति किसी दुःखी को देखकर यदि धन, साधन आदि से सहायता पहुँचाता है, तो उसकी यह अनुकम्पा केवल परानुकम्पा है, अधूरी और एकांगी है, अतः ऐसा व्यक्ति अहिंसादि धर्म से सर्वथा विहीन होने से सम्यक्त्वी नहीं कहला सकता। तीसरे भंग वाला व्यक्ति तो अनुकम्पा-प्रवण है ही। प्रथम भंग में दो प्रकार के व्यक्ति हो सकते हैं—एक तो साधु वर्ग, जो संसार के समस्त प्राणियों को आत्मैकत्व दृष्टि से देखता है, आत्मवत् सर्वभूतेषु की भावना को लेकर चलता है वह किसी को मन से भी पीड़ा नहीं पहुँचाता, किन्तु परानुकम्पा करने का जहाँ तक प्रश्न है, वह पूर्वोक्त दृष्टि से प्रकारान्तर से परोक्ष रूप से परानुकम्पी है ही। इस भग में दूसरा व्यक्ति

वह आता है, जो अपना ही स्वार्थ देखता है, अपने ही सुख एवं मतलब की बात सोचता है, उसमें पशु वर्ग एवं पशुवृति वाले मनुष्य आते हैं। वस्तुतः देखा जाए तो ऐसा घोर स्वार्थी व्यक्ति सच्चे माने में आत्मानुकम्पी भी नहीं है। क्योंकि वह अपनी आत्मा की रक्षा भी नरकादि दुर्गतियों, पापों, आदि से नहीं करता, वह धर्म की मूलभूत अनुकम्पा से दूर है, भले ही कुछ साम्प्रदायिक धर्मक्रियाएँ करके धर्मात्मा बनने का, या दानादि देकर धर्मिष्ठ कहलाने का दम्भ कर लेता हो। निष्कर्ष यह है कि किस व्यक्ति में सम्यग्-दर्शन है ? इसको परख-पहचान केवल आत्मानुकम्पी या आत्मानुकम्पी-परानुकम्पी इन प्रथम और तृतीय भंगों पर से करनी चाहिए।

———

१८

आस्तिक्य का मूल : आत्मवाद

आस्तिक्य का महल चार आधार स्तम्भों पर

जिसे उत्कृष्ट आस्था कहा जाता है, वही आध्यात्मिक जीवन का आस्तिक्य है। यही सम्यग् दृष्टि का पांचवा चिन्ह है। आचारांग सूत्र में इसी आस्तिक्य के क्रमशः चार आधार स्तम्भ बताये गए हैं—

'से आयावाई लोगावाई कम्मावाई किरियावाई'[1]

इसका भावार्थ यह है कि जो आस्तिक (उत्कृष्ट आस्थावान्) होगा, वह आत्मवादी होगा, जो आत्मवादी होगा, वह अवश्य ही लोकवादी होगा, और जो लोकवादी होगा, वह कर्मवादी होगा, तथा जो कर्मवादी होगा, वह अवश्य ही क्रियावादी होगा।

इसे वर्तमान युग की भाषा में यों समझा जा सकता है—(१) **आत्मवाद**—मैं कौन हूँ, क्या हूँ ? (२) **लोकवाद**—मैं मरकर कहाँ-कहाँ जाता हूँ ? (३) **कर्मवाद**—मुझे क्या करना है, क्या नहीं ? और (४) **क्रियावाद**—मैं विकृति से प्रकृति में, परभाव या विभाव से स्वभाव दशा में, या अधर्म-पाप से धर्माचरण में किस माध्यम से आ सकता हूँ ? इस प्रकार आत्मवाद को मानने के साथ-साथ लोकवाद, कर्मवाद एवं क्रियावाद को भी मानना आवश्यक हो जाता है। निष्कर्ष यह है कि आस्तिक्य का महल, आत्मवाद, लोकवाद, कर्मवाद और क्रियावाद इन चार आधार स्तम्भों पर टिका हुआ है। ये चारों वाद शृंखला की तरह एक दूसरे से जुड़े हुए हैं। उत्कृष्ट आस्था

१. आचारांगसूत्र १ श्रु. १ अ. सू. ५

को जीवन में चरितार्थ करने के लिए इन चारों वादों को अपनाना, तथा इनके यथार्थ स्वरूप और अस्तित्व को मानना अनिवार्य है।

आत्मवाद : उत्कृष्ट आस्था का मूल

इन चारों में आत्मवाद आस्तिक्य-वृक्ष का मूल है, जबकि लोकवाद, कर्मवाद और क्रियावाद क्रमशः स्कन्ध, शाखा और फल हैं। चूँकि आत्मा के स्वतन्त्र अस्तित्व और यथार्थ स्वरूप को मानना आत्मवाद है, इसलिए शेष वाद आत्मा से ही सम्बद्ध हैं। धर्म, दर्शन, कर्म, कर्मफल, बन्ध-मोक्ष आदि का मूल आधार आत्मा है। यदि आत्मा है तो वह चेतन होने से जड़ (अजीव) से पृथक् है।

वह कर्मों से बद्ध होकर विभिन्न लोकों में, गतियों-योनियों में भ्रमण करती है। उसका पुनर्जन्म भी है। वह स्वर्ग, नरक, तिर्यंच और मनुष्य आदि परलोक में भी अपने शुभाशुभ कर्मानुसार जाती है। और यदि आत्मा कर्म का कर्ता है तो भोक्ता भी है। कर्म से बद्ध है तो वह संवर-निर्जरारूप धर्म या सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्ररूप धर्म एवं तप-संयम के आचरण से आत्म-विशुद्धि करके कर्मों से सर्वथा मुक्त परमात्मा भी हो सकता है। आत्मवादी की आत्मा के निजी गुणों—ज्ञान, दर्शन, चारित्र, तप, सुख, वीर्य आदि पर तथा चारित्र से सम्बद्ध अहिंसा, सत्य आदि सिद्धान्तों पर अटूट आस्था होने से कर्मों से मुक्त होने के ये उपाय भी हैं। निष्कर्ष यह है कि आत्मवाद को मानने के साथ वह आत्मा से सम्बन्धित पुनर्जन्म, लोक-परलोक (स्वर्ग-नरक आदि) तथा पुण्य-पाप कर्म और कर्मफल एवं ज्ञानादि रत्नत्रयमय सद्धर्माचरण रूप मुक्ति के उपाय से आत्मा की मुक्ति इत्यादि सभी बातें आत्मवाद के अन्तर्गत आ जाती हैं।

इसीलिए श्रमण भगवान् महावीर ने भव्य जीवों को उत्कृष्ट आस्थावान् बनने हेतु कहा—जीव, अजीव, लोक-अलोक, धर्म-अधर्म, पुण्य-पाप, बन्ध-मोक्ष, क्रिया-अक्रिया नहीं है, ऐसी संज्ञा (मान्यता) मत रखो, किन्तु ये सब हैं, ऐसी संज्ञा रखो।"[1]

आत्मवाद की पहचान

आत्मवादी की सर्वप्रथम पहचान यही है कि वह आत्मा से सम्बद्ध छह बातों पर पूर्ण आस्था रखता है—(१) आत्मा है, उसका अस्तित्व, स्व-संवेदन, अनुमान, आगम आदि प्रमाणों द्वारा सिद्ध है, वह ज्ञान, दर्शन, सुख और वीर्य से सम्पन्न है। (२) वह परिणामी नित्य है, (३) वह अपने कर्मों

---

१. सूत्रकृतांग २/५/१२-१६

का कर्ता है, (४) उनके फल का भोक्ता है, (५) समस्त कर्मक्षय होने से पूर्ण शुद्धरूप आत्मा का मोक्ष भी है, और (६) मोक्ष के उपाय (सद्धर्माचरण, संवर, निर्जरा, तप आदि) भी हैं।[1] आत्मवाद का प्रारम्भ आत्मा से होता है, और अन्त मोक्ष से।

विभिन्न प्रमाणों से आत्मा के अस्तित्व की सिद्धि

आत्मा का अस्तित्व आगम, अनुमान, स्वानुभव, आदि प्रमाणों से सिद्ध है। भ० महावीर ने आचारांगसूत्र में आत्मा के अस्तित्व को प्रमाणित करने के लिए कहा—

"अनेक व्यक्ति यह नहीं जानते कि मैं कहाँ से आया हूँ ? मैं कौन हूँ ? यहाँ से मरकर पुनः कहाँ जाऊँगा ?"[2]

"जिसको यह ज्ञात हो जाता है कि मेरी आत्मा औपपातिक है—विभिन्न गतियों से आई है। जो इन (विभिन्न) दिशाओं या अनुदिशाओं में कर्मानुसार संचरण करता है। सभी दिशाओं या अनुदिशाओं से जो आया है और अनुसंचरण करता है, वही मैं (आत्मा) हूँ।"[3]

इस प्रकार आत्मा का अस्तित्व आगम-प्रमाण से सिद्ध होता है।

आत्मा की अन्य प्रमाणों से सिद्धि

वह तो हुई आगम-प्रमाण से आत्मा की सिद्धि।

आत्मा शब्द, रूप, रस, गन्ध और स्पर्श से रहित होने से इन्द्रियग्राह्य (इन्द्रिय-प्रत्यक्ष) नहीं है, इसलिए वह अमूर्त्त (अरूपी) है, इससे उसके अस्तित्व पर कोई आँच नहीं आती। संसार में बहुत-से सूक्ष्म पदार्थ ऐसे हैं,

---

१. आत्मसिद्धि शास्त्र।

२. 'एवमेगेसिं णो णायं भवइ—अत्थि मे आया ओववाइए, णत्थि मे आया ओववाइए, के अहं आसी ? केवा इओ चुओ, इह पेच्चा भविस्सामि ?'

—आयारो १/१/३

३. एवमेगेसिं जं णायं भवइ—अत्थि मे आया ओववाइए। जो इमाओ दिसाओ अणुदिसाओ वा अणुसंचरइ, सव्वाओ दिसाओ, सव्वाओ अणुदिसाओ वा जो आगओ – अणुसंचरइ, सो हं।

—आयारो १/१/४

जो इन्द्रियग्राह्य नहीं है, फिर भी उनका अस्तित्व माना जाता है। इन्द्रिय-प्रत्यक्षवादी लोगों ने अपने पूर्वजों को नहीं देखा, फिर भी वे उनके अस्तित्व को मानते हैं। इसलिए एकमात्र इन्द्रियप्रत्यक्ष को मानने से संसार का कोई व्यवहार चल नहीं सकता।

(१) मैं सुखी हूँ, मैं दुःखी हूँ, इस प्रकार स्वानुभव (स्व-संवेदन) प्रमाण से आत्मा का अस्तित्व सिद्ध होता है। ऐसा संवेदन पंचभूतात्मक जड़ शरीर को नहीं होता। तज्जीव-तच्छरीरवादी या भूतचैतन्यवादी के मतानुसार पंचभौतिक शरीर को या शरीर को ही आत्मा कथमपि नहीं माना जा सकता, क्योंकि मृत शरीर में पंचभूत होते हुए भी चैतन्य नहीं होता, न ही जड़ शरीर ज्ञान, इच्छा आदि गुणों का उपादान हो सकता है, वह तो आत्मा ही हो सकता है, जो शरीर आदि से पृथक् है। अचेतन पंचभूत या शरीर कभी चेतन नहीं हो सकता, क्योंकि दोनों में परस्पर अत्यन्ता-भाव है।

(२) भेद या ग्राह्य (साधन) इन्द्रिय समूह से ज्ञाता या साधक आत्मा पृथक् है। मृत शरीर में इन्द्रियाँ होने पर भी ज्ञान प्राप्त करने वाला आत्मा न होने से उनसे किसी प्रकार का ज्ञान नहीं होता।

(३) इन्द्रियों के नष्ट हो जाने पर भी देखे-सुने या जाने हुए विषयों का स्मरण होता है। वह स्मरण कर्ता चैतन्य रूप आत्मा ही है।

(४) इन्द्रियाँ अपने-अपने विषय को ही ग्रहण करती हैं। एक इन्द्रिय दूसरी इन्द्रिय के विषय को नहीं जान सकती, किन्तु सभी इन्द्रियों के विषयों का एक साथ संकलनात्मक ज्ञान (अनुभव) करने वाला आत्मा ही है।

(५) आत्मा के अस्तित्व के विषय में कोई बाधक प्रमाण न मिलने से, तथा असत् का निषेध नहीं होता, जिसका निषेध होता है, उसका अस्तित्व अवश्य होता है, इन युक्तियों से आत्मा का अस्तित्व सिद्ध होता है।

(६) चैतन्य गुण प्रत्यक्ष होने से गुणी चेतन (आत्मा) की सत्ता भी प्रमाणित हो जाती है। तथा वस्तु का अस्तित्व उसके असाधारण गुण से सिद्ध होता है, इस न्याय से आत्मा में चैतन्य (उपयोग) नामक विशेष गुण है, जो दूसरे किसी भी पदार्थ में नहीं है। यह भी आत्मा के अस्तित्व को सिद्ध करता है।

(७) 'मैं नहीं हूँ' इस प्रकार का संशय भी चेतन को होता है, अचेतन को नहीं । इस दृष्टि से भी आत्मा का अस्तित्व सिद्ध होता है ।

और भी अनेक युक्तियों और तर्कों द्वारा आत्मा का अस्तित्व सिद्ध होता है ।

उपनिषदों में आत्मा के स्वतन्त्र अस्तित्व की सिद्धि

आत्मा का स्वतन्त्र अस्तित्व मानते हुए उपनिषदों में इस विषय की यथातथ्य चर्चा की गई है—

केनेषितं पतितं प्रेषितं मनः ?
केन प्राणः प्रथमं प्रैति युक्तः ?
केनेषितां वाचमिमां वदन्ति ?
चक्षुः श्रोत्रं क उ देवो युनक्ति ?

अर्थात्—मन किसकी प्रेरणा से दौड़ाया हुआ (अपने विषय में) दौड़ता है ? किसके द्वारा प्रथम प्राण संचार सम्भव हुआ ? किसकी चाही हुई (अभीष्ट) इस वाणी को बोलता है ? कौन देवता देखने और सुनने की व्यवस्था बनाता है ?

इसका समाधान यदि खोजा जाए तो आत्मा ही वह तत्त्व है, जो मन, बुद्धि, चित्त, प्राण, वाणी, नेत्र और श्रोत्र आदि को अपने-अपने विषय में गति-प्रगति करने की प्रेरणा देता है । मन अपने आप नहीं दौड़ता । मन को दिशा देने वाली मूल सत्ता का नाम 'आत्मा' है । मन स्वतन्त्र चिन्तन में समर्थ होता तो उसकी दिशा एक ही रहती, उसका चिन्तन-मनन एक ही तरह का होता । परन्तु यह स्पष्ट है कि मन को भी पतंग की तरह उड़ाने वाला कोई और ही है । मन आत्मा का एक उपकरण है, वह किसी भी दिशा में स्वेच्छापूर्वक दौड़ नहीं सकता । अगर मन स्वेच्छा से किसी भी दिशा में दौड़ सकता तो मृत्यु के पश्चात् शरीर से आत्मा के पृथक् हो जाने के बाद मन क्यों नहीं दौड़ता, क्यों नहीं मनन-चिन्तन करता ? कारण वही है ।

दूसरा प्रश्न है—मां के गर्भ में बालक के आने पर सर्वप्रथम प्राण का संचार कौन करता है ? गर्भस्थ शिशु में जीवन-संचार के रूप में हलचलें कैसे पैदा होती हैं ? रक्त, मांस, मज्जा, अस्थि आदि सब तो जड़ हैं । जड़ तो चेतन ही नहीं सकता । उत्तर है कि यह सब कर्तृत्व 'आत्मा' का है ।

मृत शरीर में वायु भरी होने पर भी सांस बाहर क्यों नहीं निकलती ? क्योंकि मृत शरीर में प्राण-संचार नहीं है, श्वास-प्रश्वास-प्रणाली यथावत् रहने पर भी प्राण स्पन्दन मृत शरीर में नहीं होता, इसका कारण है—आत्मा मृत शरीर में नहीं है। निष्कर्ष यह है कि अंगों की स्थिति यथावत् रहते हुए भी उक्त 'महाप्राण' के मृत शरीर में न रहने से वह जड़वत् निश्चेष्ट हो जाता है। इस प्राण-संचालक महाप्राण को ही 'आत्मा' कहते हैं।

तीसरा प्रश्न है—वाणी का अभीष्ट बोलना मुख, शरीर, एवं जीभ आदि इन्द्रियों का नहीं है। वाणी से कड़वे शब्द बोलना इष्ट हो तब कड़वे और मीठे शब्द बोलना अभीष्ट हो, तब मधुर शब्द बोला जाता है। वह बोलाने वाला कौन है ? यदि वाणी स्वतन्त्र एवं स्वतःप्रेरित बोलती तो वह तोते की तरह अभ्यस्त शब्दों के सिवाय और किसी शब्द का उच्चारण न करती। अतः तथ्य यह है कि वाणी से अभीष्ट अमृतमय या विषमय शब्द निकालने वाली अन्तःचेतना उससे पृथक् और स्वतन्त्र है, जिसका नाम—आत्मा है।

चौथा प्रश्न है—आँखें किसकी प्रेरणा से देखती हैं ? कान किसकी प्रेरणा से इच्छानुसार सुनते हैं ? इसका उत्तर भी वही है—जिसकी प्रेरणा से आँख और कान सक्रिय रहते हैं, वह सत्ता 'आत्मा' की ही है। अन्यथा, यदि आँखों में स्वतन्त्र देखने की या कानों में स्वतन्त्र सुनने की शक्ति होती तो मृत या मूर्च्छित स्थिति में भी आँखें देखतीं और कान सुनते। परन्तु निश्चित है कि ऐसा होता नहीं है। इसके अतिरिक्त ध्यानमग्न होने या अन्यमनस्क होने की स्थिति में आँखों के आगे से गुजरने वाले दृश्य भी दृष्टिगोचर नहीं होते और कानों के समीप ही बातचीत होते या बोलते रहने पर भी कुछ सुना नहीं जाता। अनेक दृश्यों में से आँखें जिस पर केन्द्रित होती हैं, उसी को देखती हैं, तथा कई तरह की आवाजें होती रहने पर भी कान स्वयं को प्रिय या अभीष्ट शब्द पर ही केन्द्रित होते हैं, उसी को वे सुनते हैं, जिस शब्द पर वे केन्द्रित होते हैं।

दूसरे मन्त्र में उपनिषद् के ऋषि ने पूर्वोक्त प्रश्नों का यही (उपर्युक्त) समुचित उत्तर दिया है। मन में मनन करने की, प्राण में संचालन की, वाणी में बोलने की, आँखों में देखने की एवं कानों में सुनने की जो शक्ति है, वह उसी 'आत्मा' की हैं।

मरने के बाद भी आत्मा का अस्तित्व

मरने के बाद भी आत्मा के अस्तित्व की साक्षी में प्रेतात्माओं की हलचलें तथा पुनर्जन्म की ऐसी घटनाएँ प्रस्तुत की जा सकती हैं, जो प्रामाणिक व्यक्तियों के अनुभव में आई हैं और उन्हें झुठलाया नहीं जा सकता। पिछले कई जन्मों या कम से कम एक जन्म की ऐसी घटनाओं का स्मरण इस जन्म में जो घटना अन्य लोगों को ज्ञात नहीं थी, किसी ने उन्हें सिखा-पढ़ाकर नहीं सिखाया है। उन बालकों ने ऐसी अनेक घटनायें सुनाई हैं जो किसी को मालूम नहीं थीं। जमीन में गढ़ा हुआ धन बता कर निकलवाना पूर्व जन्म की स्मृति का ठोस प्रमाण है।

आत्मा के अस्तित्व के विषय में पुनर्जन्म के ऐसे अकाट्य प्रमाण मौजूद हैं, जिनसे यह स्पष्ट सिद्ध होता है कि जीव के मरने के बाद भी उसमें जीव चेतना (आत्मा) का अस्तित्व बना रहता है। परामनोवैज्ञानिकों ने इस विषय के सैकड़ों प्रमाण एकत्र किये हैं जिनसे यह प्रमाणित होता है कि शरीर छूट जाने के बाद भी कई आत्माएँ जहाँ जाती हैं, वहाँ भी उन्हें पूर्वजन्मों की स्मृति बनी रहती है। अशिक्षा, अज्ञान और अभाव के वातावरण में संगीतज्ञ, गणितज्ञ, मेधावी और विद्वान का पैदा होना, तथा श्रेष्ठ परम्पराओं और उत्कृष्ट वातावरण वाले परिवारों में दुर्गुणी, दुराचारी सन्तान का जन्म होना, इत्यादि घटनाएँ आए दिन देखने-सुनने को मिलती हैं। जिस परिवार, समाज और देश में चारों ओर मांसाहार का सामान्य आहार अभ्यास के रूप में स्वीकृत हो, वहाँ किसी अबोध बालक के द्वारा मांस को छूने से भी इन्कार कर देना और पूर्ण सात्विक शाकाहारी भोजन पसंद करना, क्रूरता के वातावरण में जन्म लेने पर भी अथाह करुणा का पाया जाना, आदि अनेक विचित्रताएँ आनुवांशिकी नहीं, पूर्वजन्मकृत होने को प्रमाणित करती हैं। इस तथ्य-सत्य से इन्कार नहीं किया जा सकता कि पूर्वजन्म की वे गुप्त बातें, एक अबोध बालक द्वारा प्रगट कर देना पुनर्जन्म को, तथा आत्मा के अस्तित्व को सिद्ध करती हैं। एक सच्ची घटना लीजिए—

उत्तर प्रदेश के मुजफ्फरनगर जिले के रसूलपुर जाटान गाँव में सन् १९५८ में उस गाँव के एक लड़के 'जसवीर' की चेचक से मृत्यु हो गई। लड़के की आयु उस समय लगभग ४ वर्ष की थी। लोग अभी जसवीर के शव के पास ही बैठे थे कि जसवीर अचानक उठ बैठा। लोगों ने समझ लिया कि 'जसवीर' पुनर्जीवित हो गया है। पूरी तरह स्वस्थ हो जाने पर

घर के लोगों ने उसमें आश्चर्यजनक परिवर्तन देखा। वह प्रायः कहने लगा- "मैं ब्राह्मण हूँ। तुम लोगों के हाथ का बना खाना नहीं खाऊँगा। मुझे अपनी पत्नी के पास ले चलो।"

लोग समझने लगे कि बीमारी के कारण वह इस प्रकार ऊटपटांग बोलता है। अतः काफी उपचार किया गया, मगर किसी प्रकार फायदा नहीं हुआ और जसवीर द्वारा समझदार लोगों का-सा व्यवहार देखकर उसके कथनानुसार उसे उस गाँव में ले जाया गया। वहाँ जाने पर पता चला कि शोभाराम त्यागी नामक एक ब्राह्मण युवक की मृत्यु एक दुर्घटना में हुई है। जसवीर स्वयं को शोभाराम ही बताता था। उसने अपनी भू० पू० पत्नी, भाई एवं माँ को भी पहचान लिया। उसने शोभाराम से सम्बन्धित कई गुप्त बातें भी बताईं। फिर वह उस दुर्घटनास्थल पर भी लोगों को ले गया। सम्बन्धित लोगों ने उस घटना एवं स्थल की पुष्टि की। ऐसी घटनाओं को जानकर कौन पुनर्जन्म एवं आत्मा के अस्तित्व से इन्कार कर सकता है। अतः आत्मा शरीर के साथ ही नहीं मर जाती, वह अपने कृतकर्मानुसार विभिन्न गतियों और योनियों में जाती है और कर्मों से सर्वथा मुक्त होने पर सिद्ध-बुद्ध-मुक्त हो जाती है।

आत्मा का स्वरूप

कई दर्शन एवं धर्म-सम्प्रदाय आत्मा के अस्तित्व को तो मानते हैं, परन्तु आत्मा के स्वरूप के विषय में उनमें काफी मतभेद है।

जैन दर्शन की दृष्टि से आत्मा (जीव) का स्वरूप इस प्रकार है—

'जीवो अणाइ अनिधणो अविनासी अक्खओ धुवो निच्चं

'जीव (आत्मा) अनादि है, अनिधन है, अविनाशी है, अक्षय है, ध्रुव है और नित्य है।'

आत्मा निश्चयनय से अनादि है, उसका किसी विशेष समय पर जन्म नहीं हुआ, वह अजन्मा है। किन्तु व्यवहारनय की अपेक्षा से जीव सुख-दुःख-वेदनावश शुभाशुभ कर्म बाँध कर उसके फलस्वरूप नाना गतियों और योनियों में, विविध पर्यायों में उत्पन्न होता है। पर्यायदृष्टि से एक गति से दूसरी गति में जाने की अपेक्षा उसकी आदि मानी जाती है।

आत्मा को निश्चयनय की दृष्टि से अनिधन इसलिए कहा गया है कि वह कभी मरता नहीं, अमर है। व्यवहारनय की दृष्टि से जो यह कहा जाता है कि अमुक जीव मर गया। उसका अर्थ इतना ही है कि उसने जिस देह को

धारण किया था, उससे उसका सम्बन्ध-विच्छेद हो गया। आयुष्य की अवधि पूर्ण होने पर उसका इस शरीर से छुटकारा हुआ। आत्मा की शरीर-परिवर्तन की इस क्रिया को मरण कहा जाता है। वस्तुतः यह आत्मा का मरण नहीं है।

इसे **'अविनाशी'** इसलिए कहा गया है कि शस्त्र उसका छेदन नहीं कर सकते, आग उसे जला नहीं सकती, जल उसे भिगो कर गला नहीं सकता, वायु उसे सुखा नहीं सकती, किसी भी शक्तिशाली मंत्र या रासायनिक प्रयोग से आत्मा का विनाश नहीं हो सकता। शरीर अवश्य कटता, जलता, गलता, सूखता या नष्ट होता है।

इसे **'अक्षय'** इसलिए कहा गया है कि आत्मा का कभी क्षय नहीं होता, वह भूतकाल में जितना था, उतना ही आज है, आगे भी रहेगा। शरीर में अवश्य हानि-वृद्धि होती है, आत्मा में नहीं।

आत्मा को **ध्रुव** इसलिए कहा गया है कि पर्यायार्थिकनय की अपेक्षा से वह कर्मवश सिंह, हाथी, मनुष्य, देव, नाक आदि नानापर्यायें धारण करता है, किन्तु द्रव्यार्थिकनय की अपेक्षा से द्रव्यरूप में वह स्थायी रहता है।

इसे **'नित्य'** इसलिए कहा गया है कि आत्मा द्रव्यार्थिकनय की दृष्टि से नित्य एक-सा रहता है। किन्तु पर्यायार्थिकनय की दृष्टि से वह नाना पर्यायें धारण करता है, इसलिए अनित्य भी है।

आत्मा की असाधारण विशेषतायें

इसके अतिरिक्त आत्मा की असाधारण विशेषताओं को भी जैन दृष्टि से जानना जरूरी है।

(१) **नित्य-अनित्य**—सोने के मुकुट, कुण्डल आदि अनेक रूप बनते हैं, इन अनेक रूपों में चारों गतियों में भ्रमण करते हुए जीव (आत्मा) की पर्यायें बदलती हैं। अर्थात् रूप और नाम बदलते हैं, जीवद्रव्य (आत्मा) बना का बना रहता है। सोने के मुकुट कुण्डल आदि बनते हैं तब भी वह सोना ही रहता है केवल नाम और रूप में अन्तर पड़ता है।

(२) **कर्तृत्व-भोक्तृत्व**—जैसे लुहार कार्य करता है और उसका फल भोगता है, वैसे ही जीव (आत्मा) स्वयं कर्म करता है और उसका फल भी स्वयं भोगता है।

(३) **आत्मा का ज्ञानगुण से ग्रहण**—जैसे चन्दन आदि की सुगन्ध का

रूप नहीं दीखता, फिर भी नाक द्वारा उसका ग्रहण ज्ञान होता है वैसे ही आत्मा के न दीखने पर भी ज्ञानादि गुणों के द्वारा उसका ग्रहण—ज्ञान होता है।

(४) **चेष्टाओं द्वारा आत्मा का ग्रहण**—किसी भी व्यक्ति के शरीर में भूत प्रविष्ट हो जाता है, तब वह यद्यपि दीखता नहीं, किन्तु भूताविष्ट व्यक्ति को आकृति और चेष्टाओं द्वारा जान लिया जाता है। उसी तरह शरीर में रहा हुआ आत्मा हास्य, नृत्य, सुख-दुःख, बोलना, सोचना, चलना आदि विविध चेष्टाओं द्वारा जाना जाता है।

(५) **आत्मा और आकाश की तुलना**—जैसे आकाश त्रिकाल में अक्षय, अनन्त, और अमूर्त्त है, फिर भी वह अवगाह गुण से जाना जाता है, वैसे ही आत्मा निश्चयदृष्टि से अनन्त, अमूर्त्त और अक्षय है, किन्तु वह ज्ञान गुण से जाना जाता है।

निश्चय दृष्टि से आत्मा इन्द्रियों से अगोचर शुद्ध बुद्ध रूप तथा वर्णादि रहित अरूपी अमूर्तिक है, किन्तु व्यवहारनय की दृष्टि से वह कर्मों से बद्ध होने के कारण तथा मूर्तिक कर्माधीन होने से वर्णादि सहित है।

(६) **आत्मा का शरीर के अनुसार परिमाण**—जीव (आत्मा) का पर्यायार्थिकनय की दृष्टि से शरीर के अनुसार संकोच और विस्तार होता है। हाथी के शरीर में हाथी जितना विस्तृत, किन्तु कुन्थुआ के शरीर में उसके जितना संकुचित। संकोच विस्तार होते हुए भी दोनों दशाओं में प्रदेश संख्या और अवयव संख्या समान रहती है।

(७) **आत्मा : काल की दृष्टि से**—जैसे काल अनादि और अविनाशी है, वैसे ही आत्मा भी तीनों कालों में प्रवाह दृष्टि से अनादि—अविनाशी है।

विभिन्न दर्शनों में आत्मा का स्वरूप—पूर्वोक्त तथ्यों के अनुसार जैन दर्शन आत्मा को चैतन्यमय, परिणामी नित्य, कर्ता और भोक्ता, स्वयं अपनी शुभाशुभ प्रवृत्तियों से शुभाशुभ कर्मों का संचय कर्ता और उनका फलभोक्ता है, वह स्वदेह प्रमाण है, न तो वह अणु है, न विभु (सर्वव्यापी) है किन्तु मध्यम परिमाण का है। निश्चयनय की दृष्टि से आत्मा क्रियारहित है, किन्तु शरीराश्रित होने से वह सक्रिय है, त्रिविध योग से प्रवृत्ति करता है। निश्चयनय से आत्मा ऊर्ध्वगतिशील है, क्योंकि उसमें गुरुत्व नहीं होता। कर्म-बन्धन है, तब तक वह भारी होने के कारण अधोगति में जाता है। कर्म-

बन्धनों से मुक्त होते ही वह ऊर्ध्वगमन करके एक समय में लोक के अग्रभाग में जा पहुँचता है।

वह निश्चय दृष्टि से नित्य होने पर भी कर्माश्रित होने से संसर्ता—जन्ममरण रूप संसार में भ्रमण करता है। तथा एक दिन जन्म-मरणरूप संसार से मुक्त भी हो सकता है। बशत कि वह कर्मबन्धनों से सर्वथा रहित हो।

बौद्धदर्शन—अनित्यवादी है। आत्मा क्या है, कहाँ से आया है और कहाँ जाएगा? इन प्रश्नों को अव्याकृत कहकर भी तथागत बुद्ध ने कर्म, पुनर्जन्म और मोक्ष (निर्वाण) का स्वीकार किया है।

नैयायिक—आत्मा को कूटस्थ नित्य और विभु (सर्वव्यापक) मानते हैं। वे इच्छा, द्वेष, प्रयत्न, सुख-दुःख और ज्ञान इन लिंगों से आत्मा का अस्तित्व मानते हैं, वैशेषिक भी इसी प्रकार आत्मा का स्वरूप और अस्तित्व मानते हैं, किन्तु मुक्ति के लिए आत्मा के समस्त गुणों का विच्छेद मानते हैं।

सांख्यदर्शन आत्मा को नित्य और निष्क्रिय मानता है। यथा—

अमूर्त्तश्चेतनो भोगी, नित्यः सर्वगतोऽक्रियः।
अकर्ता निर्गुणः सूक्ष्मः आत्मा कपिलदर्शनेः॥

सांख्य आत्मा को कर्ता नहीं, फलभोक्ता मानते हैं। वे प्रकृति को कर्त्री मानते हैं।

वेदान्त के मतानुसार स्वभावतः आत्मा (ब्रह्म) एक है, किन्तु देहादि उपाधियों के कारण नाना प्रतीत होता है। रामानुजीय मतानुसार आत्मा अनन्त हैं और एक दूसरे से सर्वथा पृथक् हैं।

उपनिषदों के अनुसार आत्मा शरीर से विलक्षण, मन से भिन्न, विभु-(व्यापक) और अपरिणामी है, वाणी द्वारा अगम्य है। न वह स्थूल, अणु, क्षुद्र, या विशाल है और न ही वह सघन, द्रव, छाया, तम या वायु, आकाश है। वह गन्ध, रस, स्पर्श, तम-छाया-संग-तेज आदि भी नहीं है।

मीमांसक—आत्मा को नित्य मानते हुए भी अवस्थाभेदकृत भिन्नता मानते हैं।

इन्द्रियाँ आदि आत्मा नहीं है—इन्द्रियाँ, मन, बुद्धि, प्राण आदि आत्मा नहीं हैं। इन्द्रियाँ, मन और बुद्धि में जो जानने आदि की शक्ति होती

है, वह आत्मा की होती है । शरीर से आत्मा के निकल जाने पर इन्द्रियाँ, मन और बुद्धि आदि होते हुए भी वे जानना, देखना, सूंघना, आदि क्रियाएँ नहीं कर सकतीं। इससे सिद्ध होता है कि इन्द्रियाँ आदि अचेतन हैं आत्मा ही एकमात्र सचेतन है। सुख-दुःख का तथा सुख की इच्छा और दुःख से भय, अपने हित-अहित का कर्तृत्व और फल-भोक्तृत्व आदि लक्षण आत्मा में होते हैं, अजीव (जड़) में नहीं। इन्द्रियाँ, मन, मस्तिष्क आदि बाहरी वस्तुओं को जानने के साधन आत्मा के उपकरण हैं, आत्मा के ये सहायक हैं; स्वयं चेतनात्मक नहीं है।

अतः आत्मा इन्द्रियातीत होने पर भी, 'नहीं' है, ऐसा नहीं कहा जा सकता। इसीलिए बृहदारण्यक उपनिषद् में कहा गया है—

विज्ञातारं अरे ! किम् विजानीयात् ?

अरे ! उस जानने वाले को किसके आश्रय से जनाया जाय ? जैसे सूर्य स्वयं प्रकाशमान होता है, उस प्रकाशमान को प्रकाश से देखने की क्या आवश्यकता ? आत्मा स्वयं प्रकाशित है, ज्ञानमय है, उसकी सत्ता का अनुभव करने के लिए दूसरी नई बुद्धि कहाँ से लाई जाए ? आत्मा इन्द्रियों को प्रकाश देने वाला है। इसी के कारण इन्द्रियों में चेतना है। यह जान लेने पर आत्मा का अस्तित्व सिद्ध हो जाता है।

आत्मवाद को सर्वप्रथम मानना श्रेयस्कर

प्राचीनकाल में यह मान्यता थी कि जिसे परमात्मा पर विश्वास-आस्था नहीं, वह आस्तिक नहीं हो सकता। परन्तु वर्तमान में यह मान्यता अधिक प्रचलित है, जैन दर्शन मान्य भी है कि जो आत्मा पर विश्वास नहीं रखता, वह नास्तिक है। क्योंकि शुद्ध आत्मा ही परमात्मा है। आत्मा को न मानने पर परमात्मा को भी माना नहीं जा सकेगा ? परमात्मा आत्मा की ही पूर्ण विकसित, उत्कृष्ट एवं शुद्ध अवस्था है।

अधिकांश धर्म-सम्प्रदायों के लोगों में ईश्वर, खुदा या गॉड पर तो आस्था होती है, किन्तु आत्मा और आत्मा से सम्बन्धित कर्मवाद, कर्मफल-स्वरूप परलोक, पुनर्जन्म आदि पर कोई आस्था नहीं होती। फलतः उस विकृत एकांगी आस्था के कारण उक्त धर्म सम्प्रदायों के अनुयायी दूसरे धर्म-सम्प्रदायों के अनुयायी लोगों के साथ लड़ते-भिड़ते हैं, वैर-विरोध रखते हैं, द्वेषपूर्वक परस्पर मारकाट मचाते हैं। साथ ही वे विकृत-आस्थावान् लोग अन्याय, अनीति, भ्रष्टाचार, हिंसा, झूठ-फरेब, चोरी, ठगी आदि दुर्गुणों के

शिकार होते रहते हैं। उन दुर्गुणों को दूर करने की ओर उनका ध्यान ही नहीं जाता। उन पापों और अधर्मों के आचरण के फलस्वरूप जब अशुभ-कर्मों के उदय से भयंकर संकट, कष्ट, दुःख और रोग आदि आ पड़ते हैं, तब वे उन्हें अपनी आत्मा के द्वारा पूर्वकृत अशुभकर्मों का फल न मानकर परमात्मा, भगवान् या किसी शक्ति—देवी-देव आदि को दोष देते हैं, काल, कर्म, या निमित्त को कोसते हैं, अथवा ईश्वर, भगवान् या देवी-देवी के आगे गिड़गिड़ाकर दुःख दूर करने की प्रार्थना करते हैं, आत्मा को—अपने उपादान को सुधारने की कोशिश नहीं करते। अपनी आत्मा पर लगे हुए अशुभ-कर्मों के निवारण के लिए कोई पुरुषार्थ, जप, तप, त्याग, आदि नहीं करते। आत्मा पर विश्वास न करके केवल ईश्वर, गॉड, खुदा या देवी-देवों पर विश्वास करने से मानव अपना समग्र जीवन इसी प्रकार व्यर्थ खो देता है। ईश्वर पर विश्वास रखकर भी तथाकथित धर्म-सम्प्रदायानुयायी लोग आत्मद्रोह करते रहते हैं। अतः केवल ईश्वर-विश्वास को ही उत्कृष्ट आस्था कहना आस्था का उपहास है। इसीलिए स्वामी विवेकानन्द ने कहा था—प्राचीनकाल में यह माना जाता था कि जिसे ईश्वर में विश्वास नहीं, वह आस्तिक नहीं हो सकता, परन्तु अब यह मान्यता स्वीकृत की गई है कि जो आत्मा पर विश्वास नहीं रखता, उसे आस्तिक नहीं कहा जा सकता। वह एक प्रकार से नास्तिक है। आत्मा के प्रति आस्था गँवाकर आस्तिक बने रहने की बात सोचना महज ढोंग है।

निर्भयता का बीज : आत्मवाद

जिसमें आत्मा के प्रति आस्था कूट-कूट कर भरी होती है, वह आत्मा के वास्तविक स्वरूप को सैद्धान्तिक दृष्टि से जानता-मानता है। फलतः वह किसी भी आत्मा (प्राणी) से डरता-घबराता नहीं, क्योंकि वह समझता है कि जैसी मेरी आत्मा है, वैसी ही इसकी आत्मा है। इसकी आत्मा पर कर्मों के विविध आवरण होने के कारण यह अज्ञानवश भले ही मेरे शरीर को कष्ट दे ले, किन्तु मेरी आत्मा को जरा भी आँच नहीं पहुँचा सकता।

आत्मा पर ऐसी दृढ़ आस्था के कारण ही आत्मवादी श्रावक अर्हन्नक को देवता द्वारा भयंकर कष्ट दिये जाने या मरणान्तक उपसर्ग किये जाने अथवा प्राणों को संकट में डालने एवं धन जन तथा परिजनों को नष्ट कर डालने का भय दिखाये जाने पर वह जरा भी भयभीत एवं विचलित नहीं हुआ। आत्मवाद की कठोर परीक्षा में वह उत्तीर्ण हुआ। साथ ही उसने अपने साथ जलपोत में यात्रा करने वाले अन्य व्यावसायिक लोगों

को भी आश्वस्त और निर्भय बनाया। परीक्षक देव भी अर्हन्नक की आत्मा पर दृढ़ आस्था से प्रभावित हुआ और नमन करके चला गया।

यह आत्मा पर परम आस्था का ही चमत्कार था कि चण्डकौशिक जैसे भयंकर विषधर की बांबी पर प्रभु महावीर निर्भय और निःसंकोच होकर चले गए। अपने पूर्वस्वभावानुसार उसने भगवान महावीर के अंगूठे पर डसा। किन्तु उत्कृष्ट आस्था शिरोमणि भगवान महावीर इससे जरा भी घबराये या भयभीत नहीं हुए. प्रत्युत चण्डकौशिक की आत्मा के प्रति वात्सल्य भाव की धारा बहाई। यही कारण है कि जहाँ उस सर्प ने डसा था, वहाँ अंगूठे से रक्त के बदले दूध निकला।

आत्मा पर दृढ़ आस्था के परिणामस्वरूप चण्डकौशिक के हृदय पर गहरा प्रभाव पड़ा। वह प्रभु महावीर के प्रति नतमस्तक हो गया, उसका हृदय-परिवर्तन हो गया। वह क्रूर सर्प के चोले में भी क्षमाधारी साधु सा बन गया।

आत्मवादी किसी भी कठिन परिस्थिति में आत्मा के स्वभाव को नहीं छोड़ता; वह निर्भय एवं अविचलित रहता है।

कामदेव श्रमणोपासक की एक देव ने कठोर अग्नि परीक्षा ली। वह पौषधोपवास व्रत में आत्मचिन्तनमग्न था। देव ने उसे विविध प्रकार से डराया-धमकाया। जब वह इससे विचलित न हुआ तो उसके पुत्रों के शरीर को देव ने वैक्रिय शक्ति से टुकड़े-टुकडे करके उसके सामने डाल दिये। इस पर भी आत्मा पर दृढ़ आस्थाशील कामदेव विचलित न हुआ तो उसकी माता को उसके समक्ष लाकर देव ने अपनी वैक्रिय शक्ति से उसके भी प्राण लेने का दृश्य बताया। इस बार देव, गुरु, धर्म एवं आत्मा पर दृढ़ आस्था होते हुए भी माता को देव के चंगुल से छुड़ाने के लिए श्रद्धालु कामदेव श्रावक जोर से चिल्लाया। माता ने जब कामदेव से सारा वृत्तान्त पूछा तो ज्ञात हुआ कि यह सब देवमाया थी।

भेदविज्ञान का अभ्यास : आत्मवाद को मानने से ही

आत्मवाद को मानने से सबसे बड़ा लाभ यह है कि मनुष्य शरीर, इन्द्रिय, कुटुम्ब-परिवार, धन, सम्पत्ति आदि परभावों से अपनी आत्मा को पृथक मानकर भेदविज्ञान का प्रयोग करने में नहीं हिचकिचाता। शरीर और शरीर से सम्बन्धित पदार्थों पर से ममत्व छोड़ने और म्यान को

तलवार से अलग करने की तरह इन पर-पदार्थों से आत्मा को अलग करने की शक्ति आ जाती है। यह चमत्कार भी आत्मवाद का है। यह परभाव और स्वभाव का पृथक्करण करने का पक्का अभ्यास करता है कि ज्ञान स्वभाव वाला शाश्वत और शुद्ध अकेला आत्मा ही मेरा है, दूसरे समस्त पदार्थ आत्मबाह्य हैं, वे शाश्वत नहीं हैं। ये सब कर्मोदय से प्राप्त होने से अपने कहे जाते हैं, वस्तुतः वे अपने नहीं हैं।[1]

आवश्यक सूत्र की संस्तार-पौरुषी में एकत्व भावनामूलक गाथाएं भी इसी का समर्थन करती हैं—

एगोऽहं णत्थि मे कोई, नाहमन्नस्स कस्सइ।
एवमदीणमणसो, अप्पाणमणुसासई ॥११॥
एगो मे सासओ अप्पा, नाण-दंसण-संजुओ।
सेसा मे बाहिरा भावा, सव्वे संजोगलक्खणा ॥१२॥

अर्थात्—मैं निपट अकेला हूँ। मेरा कोई नहीं है, न ही मैं किसी दूसरे का हूँ। इस प्रकार अदीन मन से साधक आत्मा को अनुशासित करे।

इस प्रकार का स्पष्ट निश्चय आत्मवादी को हो जाता है कि मैं आत्मा हूँ, एकाकी हूँ, शरीर से भिन्न हूँ। आत्मवादी होने से पहले तक वह सुनता तथा मानता आया था, परन्तु आत्मवादी बनने के पश्चात् तो वह इस तथ्य को भलीभांति हृदयंगम कर लेता है। यह दृश्यमान शरीर आदि अंगोपांग मेरे लिए हैं, मेरे नहीं; मैं शरीरादि नहीं। शरीर के स्वार्थ, स्वभाव, सुख-दुःख, लाभ आदि अलग हैं, मेरे (आत्मा के) सुख-दुःख, स्वार्थ आदि अलग हैं। इस प्रकार आत्मवादी समय आने पर शरीर का मोह एक क्षण में छोड़ देता है। वह शरीरादि का मोह-ममत्व छोड़कर आत्मचिन्तन में एकाग्र हो सकता है। आत्मवादी दृढ़तापूर्वक शीघ्र निर्णय कर लेता है कि यदि काया, माया या सरमाया (धन) आदि मेरे होते तो मेरे साथ जाते, यहीं नष्ट क्यों हो गये? अगर शरीर को ही आत्मा कहा जाता है तो वह हड्डी, मांस, मज्जा, रक्त, मल-मूत्र आदि घिनौनी वस्तुओं से भरा शरीर तो हेय है, घृणित है, पर आत्मा - शुद्ध आत्मा तो हेय या घृणित नहीं है। इसके अतिरिक्त आत्मवादी अपनी शक्ति, क्षमता को छिपाता नहीं, अतः वह कर्मों के

---

१ एकः सदा शाश्वतिको ममाऽत्मा, विनिर्मलः साधिगमस्वभावः।
बहिर्भवा संत्यपरे समस्ताः, न शाश्वताः कर्मभवाः स्वकीयाः।
—सामायिकपाठ

आवरण से आत्मा को मुक्त करने के लिए बाह्य और आभ्यन्तर तप अनायास ही कर लेता है। शरीर यदि धर्मध्यान करने में अशक्त हो जाए, आयुष्य काल निकट आ जाए या कोई तीव्र आकस्मिक मरणान्त कष्ट आ पड़े तो आत्मवादी समाधिमरण के लिए चारों आहार और अठारह पापस्थान का त्याग करके याज्जीव अनशन करने में देर नहीं करता।

आत्मवादी और अनात्मवादी के व्यवहार में अन्तर

आत्मवादी मानव अपने शरीर से सम्बन्धित स्त्री, पुत्री, पुत्र, तथा माता-पिता, मामा, दादा आदि सम्बन्धों को शरीरसम्बन्ध या स्वार्थ-सम्बन्ध की दृष्टि से नहीं, अपितु आत्मिक सम्बन्ध की दृष्टि से देखता—सोचता और तदनुसार व्यवहार करता है जबकि अनात्मवादी ऐसा नहीं करता। आज पश्चिमी देशों में वृद्ध माता-पिता उनके पुत्रादि की ओर से उपेक्षित हैं। अधिकांश वृद्धों को आत्मीयता या सहायता के बिना जीवन यापन करना भारी पड़ रहा है, अतः वे आत्महत्या जैसे जघन्य कृत्य पर उतारू हो रहे हैं। पाश्चात्य जगत् में अधिकांश माँ-बाप अपने बच्चों को भारभूत मानते हैं अतः उनका पालन ठीक ढंग से नहीं हो पाता। सौन्दर्य को हानि न पहुँचे, इसके लिए अधिकांश अनात्मवादी माताएं अपने बच्चों को स्तनपान न करा कर बोतलों का दूध पिलाती हैं। अधिकांश बच्चे पालनगृहों में पलने के लिए दे दिये जाते हैं। जैसे ही लड़का कमाऊ या विवाहित हुआ कि माता-पिता से कोई सम्बन्ध नहीं रखता। आत्मा पर अनास्था वाली माताएँ प्रायः अपने बच्चों के पालन-पोषण और सुसंस्कार प्रदान की ओर ध्यान नहीं देतीं। माता की निगाह बदलने पर बाप तो उनकी तरफ आँख उठाकर भी नहीं देखता। अनास्थावान् माता-पिता का अपनी सन्तान के प्रति बेरुखेपन का नतीजा बुढ़ापे में उनकी सन्तान की ओर से उपेक्षा हो जाना स्वाभाविक है। आखिर वे भी बूढ़े होते हैं तो अपनी सन्तान से उन्हें भी सहायता की कोई आशा नहीं रहती। यह आत्मवाद को न मानने का परिणाम है। आत्मवाद को न मानने वाले पति-पत्नी का दाम्पत्य जीवन भी स्वार्थों की शतरंज बन जाता है। ऐसे दाम्पत्य जीवन का उद्देश्य प्रायः कामुकता की तृप्ति एवं अर्थ-सुविधा होती है। फलतः निराशा, मानसिक क्लेश, उद्वेग, अविश्वास आदि ही अनास्थावान् दम्पत्ति के जीवन बैंक का बैलेंस रह जाता है।

इसके विपरीत आत्मवादी की अपने कुटुम्ब, परिवार, ग्राम, नगर, राष्ट्र एवं समाज के मानवों के प्रति ही नहीं, विश्व की समस्त आत्माओं (प्राणियों) के प्रति आत्मवत् सर्वभूतेषु की भावना होती है। आत्मोपम्य-

भावना के कारण वह इस मान्यता को लेकर चलता है कि जैसी मेरी आत्मा है, वैसी ही दूसरे की है। मुझे कांटा चुभोने पर जैसी पीड़ा होती है, वैसी ही पीड़ा दूसरे प्राणियों को होती है। अतः आत्मवादी परिवार से लेकर विश्व के प्रति आत्मीयता—आत्मौपम्य का भाव रखता है, वह किसी भी प्राणी को दबाता सताता, मारता या धमकाता नहीं। उसकी आत्मा में विश्ववत्सल जगत् पितामह भगवान् महावीर की आत्मौपम्य के परिप्रेक्ष्य में कही हुई यह वाणी अंकित हो जाएगी—

तुमंसि णाम तं चेव, जं हंतव्वं ति मण्णसि।
तुमंसि णाम तं चेव, जं अज्जावेयव्वं ति मण्णसि।
तुमंसि णाम तं चेव, जं परितावेयव्वं ति मण्णसि।
तुमंसि णाम तं चेव, चं परिघेतव्वं ति मण्णसि।
तुमंसि णाम तं चेव, जं उद्दवेयव्वं ति मण्णसि ॥१७०॥[1]

इसका भावार्थ यह है —"तू वही है, जिसे तू हनन करने योग्य मानता है; तू वही है, जिसे तू अपने हुक्म में बलात् चलाना—गुलाम बनाना चाहता है; तू वही है, जिसे तू परिताप देता चाहता है; तू वही है जिसे तू दास बनाने हेतु ग्रहण करना या कैद में रखना चाहता है; तू वही है, जिसे तू डराना-धमकाना या मारना पीटना चाहता है।"

स्वरूप की दृष्टि से संसार की सभी आत्माएँ एक समान हैं, ऐसी उत्कृष्ट आस्था में ही आत्मवाद के बीज छिपे हैं। इस सूत्र के अनुसार आत्मवादी अपने निमित्त से दूसरों को जरा-सा भी दुःख, कष्ट या पीड़ा देने से हिचकिचाता है। दूसरे की किसी भी प्रकार की हिंसा की जाने पर जैसी उसको अनुभूति होती है, वैसी ही अनुभूति आत्मवादी को होती है। उसकी रग-रग में यह आस्था मुखरित होती है कि दूसरे का कष्ट मेरा कष्ट है। वस्तुतः दूसरे को दुःख देना अशुभ-कर्मबन्ध करके अपनी आत्मा (स्वयं) को दुःख में डालना है। भगवान् महावीर ने आत्मवादी के इस सिद्धान्त को स्वयं अनुभव करके व्यवहार्य बना दिया। आत्मवादी के इसी लक्षण को भगवान् महावीर ने स्पष्टतः बताया है—

जे एगं जाणइ, से सव्वं जाणइ।

जो एक आत्मा को जानता है, वह सभी आत्माओं को जानता है। इसका तात्पर्य यह है कि जो अपनी आत्म के सुख-दुःख, हित-अहित, आदि

---

१ आचारांग श्रु. १, अ ५, उ. ५, सू. १७०

को जानता है उसी पर से वह सारे संसार की आत्माओं के सुख दुःखादि को जान जाता है।

आत्मवादी परमात्मवादी अवश्य होता है

जो आत्मवाद में आस्थावान् है, वह परमात्मा के प्रति अवश्य आस्थावान् होगा, क्योंकि आत्मा का चरमोत्कृष्ट रूप ही परमात्मा है। अथर्ववेद में भी कहा गया है—

ये पुरुषे ब्रह्म विदुः ते विदुः परमेष्ठिनम्।

जो पुरुष आत्मा को जान लेते हैं, वे परमात्मा को भी जान जाते हैं। आत्मा का अत्यन्त शुद्ध रूप ही परमात्मा है। इसलिए परमात्मा पर विश्वास उतना ही आवश्यक है, जितना आत्मा पर। आत्मा को मानकर भी जो व्यक्ति परमात्मा को नहीं मानता, उसका उत्तरोत्तर आध्यात्मिक विकास नहीं हो पाता। अगर उसे वीतरागता या सर्वकर्ममुक्ति का लक्ष्य प्राप्त करना है, तो उसे वीतराग परमात्मा, जीवन्मुक्त अरिहन्त या सिद्ध प्रभु को आदर्श रूप में सामने रखना ही होगा, उन पर विश्वास रखकर उनके द्वारा अभ्यस्त या प्रदर्शित मार्ग पर चलना ही होगा। ऐसी स्थिति में अरिहन्त या सिद्ध भगवान् पर श्रद्धा-भक्ति रखना अनिवार्य होगा। केवल आत्मा पर आस्था होने मात्र से उत्कृष्ट आस्था का बीज अंकुरित एवं पल्लवित-पुष्पित नहीं हो पाता।

परमात्मा के प्रति उत्कृष्ट आस्था की प्रक्रिया

परमात्मा सिद्ध-बुद्ध मुक्त हैं, अथवा जीवन्मुक्त वीतराग अरिहन्त हैं। ऐसे परमात्मा के प्रति आस्था और अनन्य निष्ठा, भक्ति एवं श्रद्धा रखना ही परमात्म-विश्वास है। परमात्मा के प्रति ऐसी उत्कृष्ट आस्था तभी प्रकट हो सकती है, जब सर्वप्रथम अपने हृदय में उनके अस्तित्व का भान हो, तदनन्तर हृदय में उन्हें आसन देना और उनकी उपसना करना। साधक जब यह बात हृदयंगम कर लेगा कि आत्मा और परमात्मा में निश्चयनय की दृष्टि से कोई अन्तर नहीं है, व्यवहारनय की दृष्टि से यदि कोई अन्तर है तो यही है कि परमात्मा समस्त कर्मों से मुक्त, पूर्ण शुद्ध और सिद्ध हैं; और सामान्य आत्मा अभी कर्मों से लिप्त है, इसलिए मुक्त नहीं है, विकारों के कारण अशुद्ध है, पूर्णज्ञान न होने से सर्वथा बुद्ध नहीं है और ज्ञानादि की पूर्णता तक न पहुँचने के कारण सिद्ध नहीं है। किन्तु ऐसी एक अवस्था अवश्य है, जिसे पाकर आत्मा सिद्ध, बुद्ध, मुक्त, शुद्ध, परमात्मा बन सकता है।

परमात्मा प्रत्यक्ष न दिखाई पड़ने से उनके अस्तित्व पर शंका करने का कोई भी वास्तविक कारण सिद्ध नहीं हो पाता।

परमात्मा के प्रति उत्कृष्ट आस्था से लाभ

जो साधक तीव्रता से अपनी श्रद्धा-भक्ति, विश्वास एवं अनन्यनिष्ठा द्वारा अपनी मलिनताएँ आत्मशक्ति पाकर हटा लेता है, और परमात्मा को अपने हृदय में विराजमान कर लेता है, उस पर परमात्मा की महान् शक्ति का अनुग्रह बरसता रहता है। बड़े से बड़े संकट, विपत्ति और भय के समय भी उसके हृदय में परमात्मश्रद्धा, आशा, उत्साह एवं तादात्म्य का संचार होता रहता है। निराशा और अप्रसन्नता की आंधी उसे छू नहीं पाती। अपने हृदय से काम, क्रोध, लोभ, ईर्ष्या, मान-सम्मान यशकीर्तिलालसा आदि विकारों को हटाकर जो केवल परमात्मा के निवास और आराधना के लिए स्थान रखता है, वह हर हालत में स्वस्थ, प्रसन्न एवं साधनारत, रहता है। वह परीषहों और उपसर्गों से घबराता नहीं। उसी के पवित्र निर्मल, निर्विकार एवं निरुद्विग्न, अविचल हृदय में परमात्मा का सन्देश-आदेश पहुँचता है, उसी हृदय में परमात्मा अभिव्यक्त होता है! परमात्मा से भावात्मक समीपता उसी हृदय में हो सकती है। परमात्मा के साथ भावात्मक समीपता से ही साधक उनके विशिष्ट गुणों से लाभान्वित हो सकता है तथा जितना-जितना भावात्मक सामीप्य या तादात्म्य वह साध लेगा, आराध्य-देवाधिदेव की शक्तियाँ, क्षमताएँ और सामर्थ्य उसी अनुपात में उसके अन्दर आती जाएँगी। शीत के कष्ट से थर-थर कांपते हुए व्यक्ति के लिए जैसे अग्नि की निकटता उपयोगी होती है, वैसे ही वीतराग परमात्मा के साथ जितनी भावात्मक निकटता होगी, उतना ही वह साधक उनके प्रकाश से प्रकाशित होता रहेगा, उसमें दुर्गुणों, परभावों या अज्ञान का अन्धकार भाग जाएगा। यही परमात्मा के प्रति उत्कृष्ट आस्था का लाभ है जो आत्मवाद को जानने और मानने से प्राप्त होता है।

———

१९

आस्तिक्य का द्वितीय आधार : लोकवाद

साधक के जीवन का अन्तिम लक्ष्य मोक्ष या परमात्मपद को प्राप्त क ना है। यह तभी हो सकता है, जब आत्मा पर उसकी उत्कृष्ट आस्था हो। आत्मा पर उत्कृष्ट आस्था रखना ही आत्मवाद है। आत्मवाद भी सर्वांगीणरूप से जीवन में तभी ओत-प्रोत हो सकता है, जब उसके साथ लोकवाद, कर्मवाद और क्रियावाद, ये तीनों शृंखला की तरह जुड़े हुए हों। लोकवाद आस्तिक्य का द्वितीय आधार है।

लोकवाद क्या है ?

लोक का स्वरूप, संस्थिति, प्रकार, लोक कर्तृत्व-अकर्तृत्व का निर्णय, लोक का द्रव्यादि-चतुष्टय की दृष्टि से विचार, आत्मा से लोक की मान्यता का सम्बन्ध तथा लोक की सीमा, लोकगत मुख्य द्रव्य, इत्यादि के सम्बन्ध में लोक को जानना-मानना लोकवाद है।

इसी सन्दर्भ में लोक से सम्बन्धित यथार्थ जानकारी भी आवश्यक है कि इन्द्रियों से प्रत्यक्ष दिखाई देने वाला यह लोक (जगत्) इतना ही है ? या इसके नीचे-ऊपर भी कुछ है ? लोक की सीमा कहाँ से कहाँ तक है ? उसका आदि अन्त है या नहीं ? आदि है तो कब से और अन्त है तो कब तक ? यह लोक किन-किन वस्तुओं पर अवस्थित है ? अथवा इस लोक में मुख्य द्रव्य कौन-कौन से हैं ? उनके गुण-धर्म तथा स्वरूप क्या-क्या हैं ? लोकगत द्रव्यों के प्रति अपनी दृष्टि, धर्म क्या है ? आत्म-गुणवृद्धि के लिए

लोकगत द्रव्यों में से किसका कितना अवलम्बन लेना आवश्यक है ? नरकादि चारों गतिरूप चारों लोकों में उत्पन्न होने तथा जन्म-मरण करने के क्या-क्या कारण हैं ? प्रस्तुत चारों लोकों में गमनागमन न करना पड़े, लोकावलम्बन न लेना पड़े, तथा लोकगत प्राणियों से अमुक सहयोग लिया है, लेता आ रहा हूँ, और लूंगा, उनके ऋण से मुक्त होने के लिए कौन-सा श्रेष्ठ उपाय है। त्याग, संयम, तप, परीषहजय, कषायविजय, सर्वकर्मक्षयरूप मोक्ष, ज्ञानादि रत्नत्रय की साधना किस लोक में हो सकती है ? उस लोक में साधक को किन-किन बाधक करणों से आत्मरक्षा करनी चाहिए। लोकवाद का आस्तिक्य से क्या सम्बन्ध है ? इत्यादि सब बातों का जानना भी आवश्यक है ।

लोकवाद मानना क्यों आवश्यक ?

जिनोक्त दृष्टि से लोक का ज्ञान न होने से मनुष्य लोक में रहकर भी श्रुत-चारित्ररूप धर्म या रत्नत्रय रूप धर्म के आचरण में पुरुषार्थ नहीं कर पाता। वह स्वयं पुरुषार्थ न करके ईश्वर, ब्रह्मा, देवी-देव या किसी अदृश्य शक्ति के हाथ का खिलौना बन जाता है। इस लोक में ही पूर्वकृत कर्मों को क्षय करने का शुभ अवसर है, इस विषय का भान न होने से व्यक्ति रत्नत्रय की साधना से या तो विमुख हो जाता है या प्रमादी बन जाता है। इसलिए लोकवाद को मानना-जानना बहुत ही आवश्यक है।

यह सिद्धान्त है कि किसी भी लोक में जन्म-मरण स्वकृत कर्मों के कारण होता है। कर्म करने और उसका फल भोगने वाला जीव स्वयं ही है। इसलिए साधक लोकवाद से यह प्रेरणा लेता है कि 'मुझे अब लोक में भ्रमण नहीं करना है, अपितु ऐसा पुरुषार्थ करना चाहिए जिससे लोकाग्र में स्थिर होकर मोक्ष का अनन्त सुख प्राप्त कर सकूँ।' तथा लोक का स्वरूप क्या है ? उसमें मेरा (मनुष्य का) क्या स्थान है ? क्या कर्तव्य है ? क्या-क्या दायित्व हैं ? लोक में मेरे सिवाय जो प्राणी हैं, उनके साथ तथा लोक के पदार्थों के प्रति मुझे कितना और कैसा सम्बन्ध रखना चाहिए ? इसलिए लोकवाद को आस्तिक्य का आधार माना गया है।

लोकवाद को मानने से इहलोक-परलोक अथवा ऊर्ध्वलोक-अधोलोक-मध्यलोक में या नरकादि चारों लोकों में जन्म-मरण के कारणों का ज्ञान होता है। इन लोकों में परिभ्रमण के कारणों पर विचार करते रहने से लोकवादी की आस्था धर्माचरण के प्रति सुदृढ़ होती है और वह आत्मा को

शुद्धि, आत्मगुण वृद्धि, स्वभावरमण और परभाव विरमण तथा आत्मविकास के लिए इस लोक में अहर्निश प्रयत्न कर पाता है।

मनुष्यलोक में रहा हुआ लोकवादी साधक चारों लोकों के प्राणियों के शुभाशुभ कर्मवश प्राप्त सुख-दुःख का चिन्तन करता है, जिससे उसे इह-लोक में कर्मों को क्षय करने तथा अशुभकर्मों को आते हुए रोकने का पुरुषार्थ करने की प्रेरणा मिलती है। वह भौतिक या इन्द्रियविषयजन्य सुख की लालसा छोड़कर इहलोक में आत्मिक सुख या मोक्षसुख की साधना करता है। इस प्रकार लोकवादी साधक इस लोक में पूर्वकृतकर्मवश सुख-सुविधा तथा इष्टसंयोग प्राप्त न होने पर भी समभावपूर्वक परीषहों, उपसर्गों, कष्टों एवं दुःखों को सहकर कर्मों की महानिर्जरा कर लेता है अथवा समस्त कर्मों का सर्वथा क्षय करके मोक्ष प्राप्त कर लेता है; यही लोकवाद को मानने का सुफल है।

यह सत्य है कि मध्यलोक में मनुष्यगति में ही रत्नत्रयरूप धर्म का आचरण एवं मोक्षविषयक पुरुषार्थ हो सकता है, अन्य लोकों में नहीं। ऊर्ध्व (देव) लोक में अत्यन्त भौतिक सुख होने से वहाँ मोक्षविषयक पुरुषार्थ नहीं हो सकता, न ही अत्यन्त दुःखयुक्त अधोलोक (नरकगति) में वह पुरुषार्थ हो सकता है, क्योंकि नरकगति में क्षेत्रकृत, भावकृत, परकृत या स्वयंकृत वेदना बहुत ही भयंकर है। किन्तु मध्यलोक में क्षेत्रकृत, भावकृत, परकृत या स्वयंकृत वेदना अधोलोक से बहुत कम है, यहाँ सुख-दुःख दोनों मिश्रित हैं। अतः अगर यहाँ दुःख आ पड़ने पर तड़फा न जाय, अथवा भौतिक सुख मिलने पर उसमें आसक्त होकर फूला न जाए अर्थात् समभावपूर्वक रहा जाए तो वह अपने कृतकर्मदल को काट सकता है, मोक्ष-पद को प्राप्त कर सकता है, आत्मा से सिद्ध-बुद्ध-मुक्त परमात्मा बन सकता है। यह योग्यता मनुष्यलोकगत प्राणी – मनुष्य में ही है। लोकवादी आस्तिक मानव अपनी योग्यता, क्षमता एवं आत्मिकशक्ति को पहचान कर तदनुरूप आचरण एवं व्यवहार कर सकता है। इसीलिए लोकवाद को उत्कृष्ट आस्था का मूलाधार माना गया है।

लोकवाद में 'लोक' का स्वरूप

'लोक' शब्द का शब्दशास्त्र की दृष्टि से तथा जैनशास्त्र भगवतीसूत्र में यह अर्थ किया गया है—

'जे लोक्कइ से लोए'[1]

जो अवलोकन किया जाता है, या प्रत्यक्ष दिखाई देता है, वह लोक है। आम जनता में लोक के स्थान में जगत् या विश्व शब्द प्रचलित है। परन्तु लोक की यह स्थूल परिभाषा है।

श्रमण भगवान् महावीर ने लोक को षट्द्रव्यात्मक माना है। इसीलिए उन्होंने लोकवाद को आस्तिकता का आधार तथा श्रुतधर्म (सम्यग्दर्शन ज्ञान) का अंग माना है। उस युग में लोक के सम्बन्ध में बहुत चर्चा चलती थी। लोग पूछते थे—"लोक क्या है? वह कितने प्रकार का है? उसका आकार कैसा है? वह शाश्वत है या अशाश्वत? वह अन्तवान् है या अनन्त? वह कितना लंबा-चौड़ा है?' तथागत बुद्ध ने १० प्रश्नों को अव्याकृत (अकथ्य या अवर्णनीय) कहकर उनमें से लोक सम्बन्धी चार प्रश्नों का बिलकुल उत्तर नहीं दिया। किन्तु भगवान् महावीर ने कहा— लोक कथंचित् शाश्वत, कथचित् अशाश्वत है; कथंचित् अन्तवान् है, कथंचित् अनन्त है; कथंचित् नित्य, कथंचित् अनित्य है। तथा उक्त लोक को चार प्रकार का बताया है—(१) द्रव्यलोक, क्षेत्रलोक, काललोक और भावलोक।[2]

द्रव्यलोक

जैनदर्शन के अनुसार उत्तराध्ययनसूत्र में[3] द्रव्यलोक को षड्द्रव्यात्मक माना गया है। छह द्रव्य ये हैं—(१) धर्मास्तिकाय, (२) अधर्मास्तिकाय, (३) आकाशास्तिकाय, (४) जीवास्तिकाय, (५) पुद्गलास्तिकाय, और (६) काल। भगवती सूत्र में काल को छोड़कर लोक को पंचास्तिकायरूप[4] कहा गया है। उत्तराध्ययन सूत्र में लोक को जीव-अजीव (चेतन-जड़) मय बताया है।[5]

---

१ भगवती सूत्र श. ५ अ ६ सू. २२५

२ गोयमा ! चउव्विहे लोए पण्णत्ते तंजहा—दव्वलोए खेत्तलोए काललोए भावलोए।
—भगवती. ११/१०/४२०

३ धम्मो अधम्मो आगासं, कालो पुग्गल जंतवो।
एस लोगोत्ति पन्नत्तो जिणेहिं वरदंसिहिं॥ —उत्तरा० अ. २८ गा. ७

४ किमियं भंते ! लोएत्ति पवुच्चइ ?
गोयमा ! पंचत्थिकाया, एस णं एवतिए लोएत्ति पवुच्चइ तं०····धम्मत्थिकाए अहम्मत्थिकाए जाव पोग्गलत्थिकाए। —भगवती १३/४/८१

५ जीवा चेव अजीवा य, एस लोए वियाहिए। —उत्तरा० ३६/२

द्रव्यलोक का अस्तित्वनिर्णय और मूल्यनिर्णय

आस्तिक्य के लिए षड्द्रव्यात्मक लोक का अस्तित्वनिर्णय और मूल्यनिर्णय दोनों का होना आवश्यक है। किसी भी वस्तु का अस्तित्व तो स्वयंसिद्ध होता है, किन्तु उसका यथार्थ मूल्यांकन करना, सम्यग्दृष्टि या तत्त्वज्ञ का कार्य है। उदाहरणार्थ—चावल सफेद है, इसे प्रायः सभी जानते हैं। किन्तु चावल उपयोगी है या अनुपयोगी? किसके लिये कितना और कब, किस रूप में उपयोगी है, अथवा अनुपयोगी है? इसका मूल्यनिर्णय आत्मा (चेतना) से सम्बद्ध हुए बिना नहीं होता। अतः जो पदार्थ इन्द्रिय-गोचर नहीं होते, या इन्द्रियगोचर होते हुए भी साधारण मानव द्वारा जिनका यथार्थ मूल्यांकन नहीं होता, अथवा अतीन्द्रिय होने पर भी साधारण आत्मा द्वारा वे प्रत्यक्ष नहीं होते, उनका अस्तित्वनिर्णय एवं यथार्थ मूल्यनिर्णय परमचेतना से—विशिष्ट प्रत्यक्षज्ञानियों-सर्वज्ञों (केवलज्ञानियों) द्वारा किया जाता है। छद्मस्थ पुरुषों की दृष्टि वस्तुतत्त्व का पूर्णतया सम्यक् निर्णय करने में समर्थ नहीं होती। इन्द्रियगोचर वस्तु का भी यथार्थ मूल्यनिर्णय व्यक्ति की सम्यग्दृष्टि हो तभी हो सकता है। और अतीन्द्रिय वस्तु का तो अस्तित्वनिर्णय एवं यथार्थ मूल्यनिर्णय वीतराग सर्वज्ञ आप्त पुरुषों द्वारा ही हो सकता है। उन्हीं के द्वारा किया हुआ निर्णय मान्य किया जाता है।

वीतराग सर्वज्ञ पुरुषों ने विश्व को षड्द्रव्यात्मक कहकर उनका पृथक् पृथक् अस्तित्व और गुण धर्म (उपयोगिता) बताया है। षड्द्रव्यात्मक लोक का अस्तित्व बताने के साथ-साथ उन्होंने लोक के अन्तर्गत इन छह द्रव्यों के सह-अस्तित्व, उपकारकता और उपयोगिता का भी निरूपण किया है। अर्थात् उन्होंने इन छह द्रव्यों के गुणधर्म, उपयोगिता, परस्पर-उपकारकता, एवं आत्मा के लिए षड्द्रव्यों में से हेय-ज्ञेय उपादेय का विवेक भी बताया है।

काल को औपचारिक रूप से (श्वेताम्बर-परम्परा में) द्रव्य माना गया है, वस्तुवृत्त्या नहीं। इसलिए काल के सिवाय शेष पाँच द्रव्यों को 'पंचास्तिकाय' माना गया है। कालद्रव्य के प्रदेश न होने से इसे अस्तिकाय नहीं कहा गया।

निष्कर्ष यह है कि जिन षड्द्रव्यों के अस्तित्व का निर्णय किया है, उनका द्रव्यार्थिक और पर्यायार्थिक दोनों नयों की दृष्टि से मूल्यनिर्णय करना

इनका धर्म है। अर्थात्—धर्म धुरन्धर वीतराग सर्वज्ञ पुरुषों ने 'लोक' को षड्द्रव्यात्मक बताकर लोकगत उन ६ द्रव्यों का पृथक्-पृथक् अस्तित्व बताया है, तथा उनके गुण-धर्मों, उपयोगिता तथा उपकारकता का जो मूल्य-निर्णय किया है, उसे उस रूप में जानना और मानना सम्यग्दर्शन के संदर्भ में अस्तिकायधर्म है। तथा लोकगत षड्द्रव्यरूप ज्ञेय पदार्थों के अस्तित्व को मानने के साथ-साथ धर्म, अधर्म, आकाश, काल, जीव और पुद्गल इन षट्द्रव्यों में कौन-सा द्रव्य आध्यात्मिक साधना में कितना उपयोगी और उपादेय है; कौन, कितना और कब हेय है ? आत्मा के साथ उस-उस द्रव्य का कैसा और कितना सम्बन्ध है ? किस-किस द्रव्य का कौन-कौन-सा गुणधर्म या स्वभाव है ? वह कितना अभीष्ट है, कितना अनिष्ट ? आत्म-साधना की दृष्टि से किस द्रव्य या पदार्थ का कैसे और कितना उपयोग करना है ? इत्यादि बातों का विवेक, श्रद्धान या रुचि करना ही अस्तिकाय-धर्म का आचरण है।

यों देखा जाए तो वस्तु मात्र ही ज्ञेय है। और वह अस्तित्व की दृष्टि से है। सत्य यह है कि आध्यात्मिक सत्य का मूल्य सैद्धान्तिक है, और सैद्धान्तिक दृष्टि से कोई वस्तु सत्यम् होते हुए भी शिवम् तभी हो सकती है, जब उसका मूल्यनिर्णय परमार्थ दृष्टि से—आत्मिक विकास की अपेक्षा से हो। उसका 'सुन्दरम्' भी आध्यात्मिक विकास की दृष्टि से आंका जाए। उदाहरणार्थ—वर्ण-गन्ध-रस-स्पर्श-शब्दात्मक पुद्गल बाह्य दृष्टि से तो हेय माने जाते हैं, मगर साधु-साध्वी को वस्त्र, पात्र, कम्बल, पादप्रोञ्छन, पुस्तक, शास्त्रश्रवण, शरीर, इन्द्रियों, अंगोपांगों, भोज्य. पेयपदार्थों का संयम के निर्वाह के लिए पुद्गलरूप में ग्रहण एवं उपभोग करना अभीष्ट होने से पुद्गल कथंचित् उपादेय है।[1]

व्यवहारदृष्टिपरायण एक असंयमी व्यक्ति अपनी दृष्टि में पौद्गलिक भोग विलास, या रागरंग उच्च जीवनस्तर के लिए उपयोगी मानता है, किन्तु संयमी अध्यात्म साधनाशील मुमुक्षु की दृष्टि में सभी गीत-गायन विलाप-मात्र हैं, सभी नाटक विडम्बनाएँ हैं, समस्त आभूषण भाररूप हैं और सभी कामभोग दुःखावह हैं।[2] इसलिए अस्तिकाय धर्म सम्यग्दृष्टि के

---

१ जंपि वत्थं व पायं वा, कंबलं पायपुंछणं।
तंपि संजमलज्जट्ठा धारंति परिहरंति य॥ —दशवै० ६/२०

२ सव्वं विलवियं गीयं, सव्वं नट्टं विडंबियं।
सव्वे आभरणा भारा, सव्वे कामा दुहावहा॥ —उत्तरा० १३/१६

लिए तब धर्माचरण का रूप लेता है, जब वह शुद्ध अध्यात्म-दृष्टि से षड्द्रव्यात्मक लोक का मूल्यांकन करे।

निश्चयनय की दृष्टि से कोई भी वस्तु[1] अपने आप में इष्ट (प्रिय) या अनिष्ट (अप्रिय) नहीं है, किन्तु यह तो उस वस्तु के ग्राहक (मूल्यांकनकर्ता) की दृष्टि पर निर्भर है कि वह व्यवहार में किस वस्तु को इष्ट या अनिष्ट मानता है। यदि किसी ग्रहणकर्ता व्यक्ति की दृष्टि अशुद्ध-असम्यक् विषम या असंस्कृत है तो उसके द्वारा किया गया मूल्य-निर्णय भी अशुद्ध या असम्यक् होगा, किन्तु अगर ग्रहणकर्ता की दृष्टि शुद्ध सम्यक् एवं सम है तो उसके द्वारा किया गया मूल्यनिर्णय पारमार्थिक दृष्टि से शुद्ध एवं सम्यक् होगा। यही छद्मस्थ और केवली के द्वारा किये गये निर्णय में अन्तर है। तथापि छद्मस्थ यदि सम्यग्दृष्टि है, कल्याणकारी दृष्टि से किसी वस्तु को अपनाना जानता है, तो सर्वज्ञ आप्त पुरुष द्वारा किये गए वस्तु के मूल्य-निर्णय में निहित दृष्टिकोण या रहस्य को समझकर उस तत्वनिर्णय को श्रद्धापूर्वक अपना लेता है।

लोकगत छह द्रव्यों का अस्तित्व

धर्म अधर्म-द्रव्य—जीव और पुद्गल की गति और स्थिति करने में किसी न किसी माध्यम की आवश्यकता होती है, वह माध्यम क्रमशः धर्मास्तिकाय और अधर्मास्तिकाय है। कोई भी वस्तु भले ही गति और स्थिति करने के स्वभाव वाली हो, उसे गति और स्थिति करने में सहायक होने वाली वस्तु की आवश्यकता रहती है। जैसे—रेलगाड़ी में दौड़ने की शक्ति है, परन्तु वह दौड़ सकती है लोहे की पटरियों पर ही, उनके बिना नहीं। मछली में तैरने की शक्ति तो है, परन्तु जल की सहायता हो, तभी वह तैर सकती है। रेलगाड़ी में स्थिर होने की शक्ति तो है, परन्तु ब्रेक का निमित्त मिलने पर या स्टेशन आने पर स्थिर होती है। एक अत्यन्त वृद्ध व्यक्ति में खडा रहने की शक्ति तो है, किन्तु दीवार या लकड़ी के सहारा मिले तभी वह खड़ा रह सकता है। धर्मद्रव्य और अधर्मद्रव्य को माने बिना लोक-अलोक की व्यवस्था नहीं हो सकती। लोक इन्द्रियगोचर होने से किसी को सन्देह नहीं होता, किन्तु अलोक इन्द्रियगोचर नहीं, इसलिए उसके अस्तित्व नास्तित्व के सम्बन्ध में प्रश्न उठने पर कहा जा सकता है कि लोक का

---

१ न रम्यं नारम्यं प्रकृतिगुणतो वस्तु किमपि।
प्रियत्वं वस्तूनां भवति च खलु ग्राहकवशात्'।

अस्तित्व सिद्ध है, तो उसके प्रतिपक्षी अलोक का अस्तित्व भी अनुमानादि प्रमाणानुसार सिद्ध हो जाता है। जिसमें जीवादि सभी द्रव्य होते हैं, वह लोक है, और जहाँ ये सब नहीं है, केवल आकाश है, वह अलोक है। अलोक में जीव और पुद्गल नहीं होते, क्योंकि वहाँ धर्म और अधर्मद्रव्य का अभाव है। इसलिए लोक और अलोक, दोनों के परिच्छेदक या विभाजक द्रव्य धर्मास्तिकाय और अधर्मास्तिकाय को मानना अनिवार्य है।

सुप्रसिद्ध वैज्ञानिक अल्बर्ट आईन्स्टीन ने लोक के परिमित होने का कारण उक्त शक्ति या द्रव्य को बताया, जो गति में सहायक होता है, और लोक के बाहर नहीं जा सकता। सर्वप्रथम न्यूटन ने गतितत्त्व (Medium of motion) को माना। इसलिए भौतिक वैज्ञानिकों को ईथर (Ether) को गति-सहायक तत्व मानना पड़ा। उन्होंने विश्लेषण करके बताया कि ईथर आपारमाण्विक वस्तु है, सर्वत्र व्यापक है और वस्तु के गतिमान होने में सहायक है। बाद में जैनदर्शन के अनुसार गति और स्थिति में असाधारण रूप से सहायक तत्वों को क्रमशः धन ईश्वर (Positive Ether) और ऋण ईथर (Negative Ether) कहा जाने लगा।[1]

अतः गति और स्थिति में निमित्त कारण और लोक-अलोक के विभाजन के हेतुभूत क्रमशः धर्मद्रव्य और अधर्मद्रव्य को माने बिना कोई चारा नहीं है। प्रत्येक कार्य में निमित्त और उपादान दो कारण मुख्य होते हैं। गति और स्थिति में उपादान कारण तो जीव और पुद्गल दोनों सिद्ध हैं, किन्तु निमित्त कारण धर्मास्तिकाय और अधर्मास्तिकाय ही हैं, क्योंकि वे स्वयं गतिशून्य या स्थितिशून्य हैं, और समग्र लोक में व्याप्त हैं किन्तु अलोक में नहीं हैं।

आकाश द्रव्य का अस्तित्व तो अधिकांश दर्शन और भौतिक विज्ञान निर्विवाद रूप से मानते हैं। नैयायिक एवं वैशेषिक दर्शन आकाश को शब्द-गुण[2] वाला मानते हैं। बौद्ध दर्शन ने आकाश को एक धातु मानकर उसका कार्य ऊर्ध्व-अधः-तिर्यक् रूपों का परिच्छेद (विभाग)[3] करना बताया है। न्यूटन ने आकाश और काल को वस्तु सापेक्ष वास्तविक स्वतन्त्र तत्व बताया

---

१ Hollywood R & T.: Instruction Lesson No.2—What is Ether ?

२ शब्दगुणकमाकाशम्'—तर्कसंग्रह।

३ छिद्रमाकाशधात्वाख्यं अलोकतमसी किल। — अभिधर्म कोश १/२८

है। आकाश एक अगतिशील (स्थिर) आधार है, उसमें पृथ्वी और अन्य आकाशीय पिण्ड रहे हुए हैं। आकाश असीम विस्तार वाला, स्वतन्त्र शाश्वत एक और अखण्ड तत्त्व है। विभिन्न पदार्थों द्वारा अवगाहित होने पर भी उसके गुणों में परिवर्तन नहीं होता। आकाश अमूर्त, सर्वव्यापी और अनन्त प्रदेशी है। वस्तुत अखण्ड तथा सभी स्थानों पर एक-से होने पर भी आकाश के दो विभाग किये गए हैं—

लोकाकाश और अलोकाकाश। आकाश के जिस खण्ड में धर्म, अधर्म, जीव, पुद्गल और काल पाये जाते हैं, वह लोकाकाश है। और जिस खण्ड में ये न हों, वह अलोकाकाश है।

आकाश द्रव्य के अस्तित्व को मानने का एक कारण यह भी है कि दो वस्तुओं, अथवा बिन्दुओं के बीच रहा हुआ अन्तर (Distance) आकाश के कारण ही हो सकता है। मोहन से सोहन नौ फीट दूर है, ऐसा कहने में आकाश निमित्त रूप है। यदि बीच में आकाश—अवकाश न हो तो उनके अन्तर को हम कह नहीं सकते। दिशाओं – विदिशाओं का ज्ञान आकाश से ही होता है। लोक के तीन विभाग—ऊर्ध्वलोक, अधोलोक और तिर्यक्लोक भी आकाश के आधार से किये गए हैं। लम्बाई, चौड़ाई, ऊँचाई-दूरी, निकटता आदि का व्यवहार आकाश द्वारा ही सम्भव है।

कालद्रव्य - (१) काल वास्तव में कोई स्वतन्त्र द्रव्य नहीं है, अपितु जीव और अजीव की पर्याय है। अर्थात्—जीवद्रव्य की पर्याय - परिणमन को तथा अजीवद्रव्य की पर्याय - परिणमन को ही उपचार से काल कहा जाता है।

(२) दूसरा मत है - जीव और पुद्गल जिस प्रकार स्वतन्त्र द्रव्य हैं, उसी प्रकार काल भी एक स्वतन्त्र द्रव्य है। उसे जीव और अजीव की पर्याय प्रवाहरूप न मान कर पृथक् द्रव्य मानना चाहिए। द्वितीय मत का फलितार्थ यह है कि जिस प्रकार जीव और पुद्गल की गति और स्थिति में सहायक रूप में क्रमशः धर्मास्तिकाय और अधर्मास्तिकाय को स्वतन्त्र द्रव्य माना जाता है, वैसे ही जीव और अजीव में पर्याय-परिणमन का स्वभाव होने पर भी उसके निमित्त कारण रूप काल को स्वतन्त्र द्रव्य मानना चाहिए।

ये दोनों मत परस्पर सापेक्ष हैं। निश्चयदृष्टि से काल को जीव और अजीव का पर्याय रूप मानने से सभी कार्य एवं व्यवहार सम्पन्न हो जाते

हैं। व्यवहारदृष्टि से उसे एक स्वतन्त्र पृथक् द्रव्य माना है और जोवा-जीवात्मक भी।[1] दिगम्बर परम्परा काल को अणुरूप मानती है। कालाणुओं की संख्या लोकाकाश के तुल्य है। प्रति समय काल के उत्पाद, व्यय और ध्रौव्य नामक अर्थ सदैव होते हैं, यही कालाणु के अस्तित्व का हेतु है।[2]

सांख्य, योग, वेदान्त आदि दर्शन काल को स्वतन्त्र द्रव्य नहीं मानते। बौद्ध दर्शन काल को केवल प्रज्ञप्तिमात्र व्यवहार के लिए कल्पित मानता है। विज्ञान की दृष्टि में काल स्वतन्त्र द्रव्य नहीं, पदार्थ के धर्म-मात्र हैं।

(५) पुद्गलास्तिकाय—नैयायिक-वैशेषिक इसे भौतिक तत्त्व और वैज्ञानिक मेटर (Matter) और इनर्जी (Energy) कहते हैं। जैन दर्शन में पुद्गल का अर्थ मूर्त्त द्रव्य है। जीव, धर्म, अधर्म और आकाश, ये चारों द्रव्य अविभागी (अखण्ड) हैं, जबकि पुद्गल अखण्ड द्रव्य नहीं है। संयोजित वियोजित होना पुद्गल को विशेषता है। इसका सबसे छोटा रूप एक परमाणु है, और सबसे बड़ा रूप अचित्त 'महास्कन्ध' है।

(६) जीवास्तिकाय—जीव (आत्मा) चेतना लक्षण वाला है। छह द्रव्यों में चेतना लक्षण वाला जीव के अतिरिक्त कोई भी अन्य द्रव्य नहीं है। छह द्रव्यों में पाँच द्रव्य अजीव हैं, केवल एक जीवास्तिकाय जीव है। जीव और अजीव का अन्तर यह है कि ज्ञान का अनन्तवाँ भाग तो सभी जीवों में अनावृत रहता है। यदि वह भी आवृत हो जाए तो जीव अजीव हो जाए। किन्तु ऐसा कभी होता नहीं।

व्यावहारिक दृष्टि से जीव के लक्षण हैं—सजातीय जन्म, वृद्धि, सजातीय उत्पादन, क्षत-संरोहण और अनियमित तिर्यग्गति आदि, जो अजीव में नहीं पाए जाते। मशीन भले ही ओटोमैटिक हो, वह स्वयं को उत्पन्न नहीं कर सकती, ऐसे स्वयंचालित यंत्र न तो सजातीय यंत्र से स्वयं उत्पन्न होते हैं और न ही सजातीय यत्र को पैदा कर सकते हैं। कोई भी यंत्र ऐसा नहीं, जो स्वयं की मरम्मत कर सके या स्वयं को स्वयं ठीक

---

१ (क) भगवती २५/४/७३४, (ख) उत्तरा० २८/८७, (ग) जीवाभिगम, (घ) प्रज्ञापना पद १/२

२ तत्त्वार्थ सर्वार्थसिद्धि, राजवार्तिक, श्लोकवार्तिक अ० ५/३८-३९ सूत्र

(स्वस्थ) कर सके, या मानवकृत नियंत्रण के अभाव में स्वेच्छा से इधर-उधर जा सके। कोई भी यंत्र अपना आहार स्वयं ग्रहण नहीं कर सकता और न ही उस आहार (तेल, डीजल, पेट्रोल आदि) से अपनी काया बढ़ा सकता है क्योंकि यंत्र में चेतना शक्ति नहीं होती, उसका नियामक चेतनावान् प्राणी होता है। यही चेतन (जीव) और अचेतन (जड़ अजीव) में अन्तर है। ये ही विशेषताएँ जीवद्रव्य का स्वतंत्र अस्तित्व सिद्ध करती हैं।

षड्द्रव्यों का स्वरूप निर्णय—स्वरूप निर्णय में प्रत्येक द्रव्य के द्रव्य, क्षेत्र, काल, भाव और गुण की दृष्टि से विचार किया जाता है।

धर्मास्तिकाय—द्रव्य से—संख्या की दृष्टि से धर्मास्तिकाय असंख्य प्रदेशों का पूरा एक अविभाज्य पिण्डरूप द्रव्य है। वह जीव आदि के समान पृथक्-पृथक् रूप से नहीं रहता, किन्तु अखण्ड द्रव्यरूप से अवस्थित है। **क्षेत्र से**—अवगाहन की दृष्टि से वह समग्र लोकव्यापी है। **काल से**—काल की अपेक्षा से वह अनादि-अनन्त है, शाश्वत है, सदैव है, रहेगा और था।[1] वह न तो कभी उत्पन्न हुआ और न ही नष्ट होगा। **भाव से**—अवस्था की दृष्टि से वह वर्ण, गन्ध, रस और स्पर्श से रहित, अरूपी, अमूर्त और निराकार है।[2] **गुण से**—गुण के अन्तर्गत स्वभाव, उपयोगिता और उपकारकता का विचार किया जाता है। धर्मास्तिकाय का स्वभाव है—स्वयं गति करने वाले जीवों और पुद्गलों की गति क्रिया में अपेक्षित सहायता करना। जैसे—पानी में तैरने वाली मछली को तैरने में सहायता करने वाला पानी है, वैसे ही जड़ पदार्थों (पुद्गलों) और जीवों को गति करने में सहायक द्रव्य धर्मास्तिकाय है। उपयोगिता के दो रूप होते हैं—जागतिक और आध्यात्मिक। गति विश्वव्यवस्था के लिए अनिवार्य है। गति का हेतु या उपकारक द्रव्य 'धर्मास्तिकाय' है। भगवती सूत्र में बताया गया है कि धर्मास्तिकाय न होता तो गमनागमन कैसे होता ? शब्दों की तरंगें कैसे फैलतीं ? आँखें कैसे खुलतीं ? मानसिक, वाचिक और कायिक प्रवृत्तियाँ (क्रियाएँ) कैसे होतीं ? यह विश्व अचल ही होता। आशय यह है कि विश्व के जितने भी चल भाव हैं, वे सब धर्मास्तिकाय की सहायता से ही होते हैं।[3] संयमी पुरुष के लिए भी विहार, भिक्षा, उपदेश, प्रतिलेखनादि सभी

---

१ कालओ ···जाव णिच्चे····अवण्णे अगंधे अरसे अफासे।—भगवती सू० २/३-१०

२ पंचास्तिकाय ८३, ८६

३ (क) भगवतीसूत्र १३/४/४८१ (ख) आगमसार ग्रन्थ से।

संयम क्रियाओं में धर्मास्तिकाय उपकारक है। धर्मास्तिकाय के ४ ध्रुव गुण हैं—अरूपी, अचेतन, अक्रिय और गतिसहायलक्षण।

अधर्मास्तिकाय—द्रव्य, क्षेत्र, काल और भाव की दृष्टि से यह धर्मास्तिकाय के ही समान है। गुण से—जैसे पथिक को वृक्ष की छाया सहायक होती है, वैसे ही अधर्मास्तिकाय द्रव्य जीवों और पुद्गलों की स्थितिक्रिया में सहायक होता है। स्थिति भी विश्व-व्यवस्था के लिए अनिवार्य है। स्थिति का हेतु या उपकारक द्रव्य 'अधर्मास्तिकाय' है। भगवती सूत्र के अनुसार—अधर्मास्तिकाय न होता तो सब प्रकार के स्थिर भाव कैसे होते? एक जगह स्थिर होना, बैठना, सोना, मन को एकाग्र करना, मौन करना, शरीर को निश्चल करना, आँखों का अनिमेष (अपलक) होना, इत्यादि जीवों की स्थिर होने की क्रियाएँ अधर्मास्तिकाय से होती हैं।[1] स्थिति में सहायता करना इसका लक्षण है। इसके ४ ध्रुवगुण हैं—अरूपी, अचेतन, अक्रिय और स्थिति-सहायक-लक्षण।

आकाशास्तिकाय—द्रव्य से—आकाश एक अनन्त प्रदेशात्मक और अखण्डद्रव्य है। **क्षेत्र से**—लोकालोकप्रमाण है। लोक में धर्म-अधर्म द्रव्य के तुल्य उसके असंख्य प्रदेश हैं, अलोक में अनन्त प्रदेश हैं। **काल की अपेक्षा**—आकाश अनादि-अनन्त है। भाव की दृष्टि से—अरूपी अमूर्त्त है। गुण की अपेक्षा—उसका स्वभाव अवकाश देने का है। जैसे दूध में शक्कर को अवकाश मिल जाता है। आधार या अवकाश भी विश्व की स्थिति के लिये जरूरी है। आधार अथवा अवकाश का हेतु या उपकारक द्रव्य आकाशास्तिकाय है। विश्व के सभी पदार्थ आकाश के आधार पर टिके हुए हैं। प्रत्येक द्रव्य को अवकाश देने में आकाश भाजनरूप है। क्योंकि आकाश द्रव्य न होता तो ये जीव कहाँ होते? ये धर्मास्तिकाय और अधर्मास्तिकाय कहाँ व्याप्त होते? काल कहाँ बरतता? पुद्गल का आधार कहाँ होता? यह विश्व निराधार ही होता।[2] आकाश के चार ध्रुवगुण हैं— अरूपी, अचेतन, अक्रिय और अवगाहन-गुण।

काल द्रव्य—परिवर्तन के बिना विश्व का कार्य या व्यवहार चल ही नहीं सकता। उसका हेतु या उपकारक द्रव्य 'काल' है। वर्तना, परिणाम, क्रिया, परत्व-अपरत्व, ये काल के उपकार हैं।[3] अपने-अपने पर्याय की

---

१ भगवती १३।४।४८१
२ वही, १३।४।४८१
३ वर्तना-परिणाम-क्रिया-परत्वाऽपरत्वे च कालस्य। —तत्त्वार्थ० ५।२२

उत्पत्ति में प्रवर्तमान द्रव्यों का अस्तित्व जितने काल तक रहता है, उस अवधि तक काल का निमित्त या प्रेरकरूप में रहना, वर्तना है। स्वाभाविक रूप से परिणमन का सूचक भी काल होता है। गति आदि क्रियाओं में जो समय लगता है, उसमें भी काल निमित्त या सहायक बनता है। परत्व-अपरत्व का अर्थ है पहले होना, पीछे होना या पुराना-नया, अथवा ज्येष्ठत्व-कनिष्ठत्व आदि विचार। ये भी काल के बिना नहीं ज्ञात हो सकते। **द्रव्य से**—कालद्रव्य अनन्त है, क्योंकि वह अनन्त जीवों और पुद्गलों पर बरतता है। **क्षेत्र से**—काल ढाई द्वीप प्रमाण है। क्योंकि मनुष्य लोक में ही सूर्य-चन्द्र का भ्रमण होता है। इनके भ्रमण के आधार पर ही दुनिया में घड़ी, घंटा, दिन-रात, सप्ताह, पक्ष, मास, वर्ष आदि का एवं तदनुसार जीवों के आयुष्य का परिमाण नियत होता है। भूत, भविष्य और वर्तमान भी काल के रूप हैं। स्थानांग सूत्र में चार प्रकार के काल बताए गये हैं—(१) परिमाणकाल (पदार्थ-मापक काल), (२) यथायुर्निवृत्ति काल (जीवन की विविध अवस्थाएँ) (३) मरणकाल और (४) अद्धाकाल[1] (चन्द्र-सूर्य की गति से घंटा, दिन-रात आदि समय) यह व्यावहारिक काल है। समय से लेकर पुद्गल परावर्तन तक के जितने भी विभाग हैं, वे सभी अद्धाकाल के हैं।[2] निश्चय काल तो जीव-अजीव की पर्याय है। वह लोकव्यापी है, अविभाज्य है। **काल से**—वह अनादि-अनन्त है, भूत-भविष्य-वर्तमान काल की अपेक्षा से। **भाव से**—काल वर्तमान क्षण है। नवीन-प्रचीन शीघ्र-विलम्ब, ज्येष्ठ-कनिष्ठ आदि व्यवहार भी काल के कारण होता है। बीज से लेकर वृक्षोत्पत्ति तक तथा बालक-युवक-वृद्ध आदि परिणमन भी काल से ही संभव है। काल की सहायता से ही हलन-चलन, व्यापार-धन्धा आदि सब संभव है। काल की सहायता न हो तो कोई भी क्रिया नहीं हो सकती।

जीवास्तिकाय—**द्रव्य से**—जीव द्रव्य अनन्त है। **क्षेत्र से**—चतुर्दश रज्जू-परिमाण-लोकवर्ती है। **काल से**—अनादि-अनन्त है। भाव से—अरूपी है, तथा **गुण से**—जीवद्रव्य चेतना या उपयोग लक्षण वाला है।[3] अर्थात्—जिसको पदार्थों का दर्शन (सामान्य बोध) और ज्ञान (विशेष बोध) हो, साथ

---

१ स्थानांग, स्थान ४।

२ भगवती सूत्र ११।११।१२८

३ उपयोगो लक्षणम्।—तत्त्वार्थसूत्र अ. २

ही सुख-दुःख का अनुभव हो, वह जीवद्रव्य है। विश्व में मूर्त्त एवं जड़ पदार्थ भी हैं, और अमूर्त्त एवं चेतन भी हैं। ये क्रमशः पुद्गलास्तिकाय एवं जीवास्तिकाय हैं। इनकी सामूहिक क्रिया-प्रक्रिया तथा उपकारकता समग्र लोक है। जीवास्तिकाय के ४ ध्रुव गुण हैं—(१) अनन्तज्ञान, (२) अनन्तदर्शन, (३) अनन्तसुख और (४) अनन्तवीर्य।[1] जीवद्रव्य चेतन स्वरूप है, ज्ञाता-द्रष्टा है। कर्त्ता-भोक्ता है। स्वशरीर प्रमाण है। यद्यपि यह मूर्त्त नहीं है, तथापि कर्मों से संयुक्त है।[2]

परस्पर उपकार करना जीवों का कार्य है।[3] जैसे—एक जीव हिताहित के उपदेश द्वारा दूसरे जीव का उपकार करता है। गुरु शिष्य को सदुपदेश देकर शिष्य पर और शिष्य अनुकूल विनयादि प्रवृत्ति द्वारा गुरु का उपकार करता है।

पुद्गलास्तिकाय—जो द्रव्य पूरण और गलन अर्थात्-इकट्ठा और अलग हो, जुड़े और टूटे-फटे, मिले और बिखरे, बने और बिगड़े उसे पुद्गल कहते हैं। यह पुद्गल का स्वभाव है। पुद्गल का लक्षण है—जो वर्ण, गन्ध, रस और स्पर्श वाला हो। अर्थात्—जो मूर्त्त द्रव्य हो, वह पुद्गल और उसके प्रदेशों का समूह पुद्गलास्तिकाय है। पुद्गलास्तिकाय का स्थूल लक्षण है—शब्द, अन्धकार, उद्योत, प्रभा, छाया, आतप (धूप) और वर्णोदिचार। **द्रव्य से**—पुद्गलास्तिकाय अनन्त है, **क्षेत्र से**—लोक-परिमाण है, **काल से**—अनादि-अनन्त है, **भाव से**—रूपी और **गुण से**—पूरण, गलन-सड़न, विध्वंसनरूप होना पुद्गलों का स्वभाव है। यद्यपि परमाणु पुद्गल अत्यधिक सूक्ष्म होते है। इन्द्रियगोचर नहीं होता तथापि वह अमूर्त्त (अरूपी) नहीं, मूर्त्त (रूपी) हैं। पारमार्थिक प्रत्यक्ष से वह जाना-देखा जाता है। पुद्गलास्तिकाय के ४ ध्रुव गुण हैं—(१) रूपी, (२) अचेतन, (३) सक्रिय और (४) संयोग-वियोग का स्वभाव।[4] पुद्गलास्तिकाय के उपकार हैं—शरीर, वाणी, मन, उच्छ्वास (प्राण), और निःश्वास (अपान) तथा सुख-

---

१ आगमसार ग्रन्थ से।

२ जीवो हवइ चेदा उवओगविसेसिदो पहू कत्ता।
भोत्ता य देहमत्तो, णहि मुत्तो कम्मसंजुत्तो॥ —पंचास्तिकाय

३ परस्परोपग्रहो जीवानाम्। —तत्त्वार्थ सूत्र

४. आगमसार ग्रन्थ से।

दुःख, जीवन-मरण आदि ।[1] इसके अतिरिक्त शब्द, बन्ध, सौक्ष्म्य, स्थौल्य, संस्थान, भेद, तप, छाया, आतप और उद्योत ये सभी पुद्गलों के कार्य हैं — परिणाम हैं ।[2] जो जीवों के लिये प्रायः सहयोगी बनते हैं। इस प्रकार पुद्गल जीवों के प्रति अनुग्रह-निग्रह करने में भी निमित्त बनते हैं। वस्तुतः पुद्गल और संसारी (कर्म-बद्ध) जीवों का अविच्छेद्य सम्बन्ध है। पुद्गल के बिना कोई भी संसारी जीव, फिर भले ही वह साधु हो, आचार्य, उपाध्याय, या तीर्थंकर अथवा केवलज्ञानी भी क्यों न हो, रह नहीं सकता।

छह द्रव्यों का परस्पर उपकारकत्व—यों तो प्रत्येक द्रव्य अपने-अपने स्वभाव में स्थित है, किन्तु छहों द्रव्य परस्पर उपकारी और सहयोगी बनते हैं। जैन दर्शन के अनुसार यह विश्व छह द्रव्यों का समुदाय है। इन छह द्रव्यों का परस्पर सह-अस्तित्व है, संघर्ष नहीं। क्योंकि पूर्व कथनानुसार ये छहों द्रव्य विश्व की व्यवस्था में तथा आध्यात्मिक दृष्टि से भी किसी न किसी प्रकार से परस्पर सहयोगी या उपयोगी बनते हैं।

क्षेत्रलोक

लोक कितना बड़ा है ?

द्रव्यलोक का परिचय देने के बाद क्षेत्रलोक की अपेक्षा से लोक का विचार किया गया है। लोक कितना बड़ा है ? इसके उत्तर में प्रभु महावीर ने बताया—"गौतम ! यह लोक बहुत बड़ा है। यह पूर्व, पश्चिम, उत्तर और दक्षिण तथा ऊर्ध्व एवं अधो-दिशाओं में असंख्यात योजन कोटाकोटी लम्बा-चौड़ा है। वैसे भगवती सूत्र में एक रूपक द्वारा भी लोक की मोटाई (सात रज्जू परिमित) बतायी गयी है।[3] समग्र लोक चौदह रज्जू परिमाण है। लोकाकाश के तीन विभाग हैं—ऊर्ध्वलोक, मध्यलोक और अधोलोक। इन तीनों लोकों की ऊँचाई १४ रज्जू है। जिसमें से सात रज्जू से कुछ कम ऊर्ध्वलोक है, मध्यलोक १८०० योजन-परिमित है, और अधोलोक सात रज्जू से कुछ अधिक है। तीनों लोकों की आकृतियाँ (संस्थान) पृथक-पृथक हैं। ऊर्ध्वलोक में धर्म-अधर्मास्तिकाय विस्तृत होते चले गये हैं। इसलिए ऊर्ध्व-

---

१. (क) शरीर-वाङ्मनः प्राणापनाः पुद्गलानाम्। —तत्त्वार्थ ५/१९
(ख) सुख दुःख-जीवित मरणोपग्रहश्च ॥२०॥ —तत्त्वार्थ अ.५

२. शब्द-बन्ध-सौक्ष्म्य-स्थौल्य-संस्थान-भेद-तमश्छायाऽऽतपोद्योतवन्तश्च ॥२१॥ —तत्त्वार्थ ५ अ.

३ भगवती सूत्र १२।७।४५७ तथा १२।१०।४२१ वृत्ति।

लोक का आकार मृदंग जैसा है। मध्यलोक में वे कृश हैं, इस कारण उसका आकार बिना किनारी वाली झालर के समान है। नीचे की ओर (अधोलोक में) वे विस्तृत होते गए हैं। इसलिए उसका आकार औंधे शराव (सकोरे) जैसा है। यह लोकाकाश की ऊँचाई है।[1] अलोक का कोई विभाग नहीं है। वह सर्वत्र मध्य में पोल वाले गोले के समान एकाकार है। प्रसिद्ध वैज्ञानिक आईन्स्टीन ने लोक का व्यास १८०००००० प्रकाश वर्ष माना है।[2]

ऊर्ध्वलोक—मध्यलोक से ९०० योजन ऊपर ऊर्ध्वलोक कहलाता है। इसे देवलोक भी कहते हैं। देव चार प्रकार के होते हैं—भवनपति, वाण-व्यन्तर, ज्योतिष्क और वैमानिक। ऊर्ध्वलोक में केवल वैमानिक देव रहते हैं। अन्तिम देवलोक का नाम सर्वार्थसिद्ध है। इससे १२ योजन ऊपर सिद्ध शिला है। जो ४५ लाख योजन लम्बी और उतनी ही चौड़ी है। इसे लोकान्त भाग, लोकाग्र, ईषत्प्रागभारा एवं सीता कहते हैं।[3] इसके पश्चात् लोक की सीमा समाप्त हो जाती है। लोकान्त भाग के ऊपरी कोस के छठे भाग में मुक्त सिद्ध आत्माओं का निवास है।

मध्यलोक—इसे तिर्यक्लोक या मनुष्यलोक कहते हैं। यह १८०० योजन प्रमाण है। इस लोक के मध्य में जम्बूद्वीप है। उसे घेरे हुए असंख्यात द्वीप-समुद्र हैं। इस विशाल क्षेत्र में ढाई द्वीपों में ही मनुष्यों और तिर्यंचों का निवास है—जम्बूद्वीप, धातकीखण्ड और अर्धपुष्करार्द्ध द्वीप। इन ढाई द्वीपों में कर्मभूमिक क्षेत्र १५ हैं और अकर्मभूमिक क्षेत्र ३० हैं। तथा समुद्र के मध्यवर्ती अन्तर्द्वीप ५६ हैं। इनमें भी मनुष्यों का निवास है।[4]

वर्तमान विज्ञान ने जितने भूखण्ड का अन्वेषण किया है, वह तो केवल कर्मभूमि के जम्बूद्वीप स्थित भरतक्षेत्र का छोटा-सा ही भूभाग है। मध्यलोक तो अकर्मभूमिक और अन्तर्द्वीप के क्षेत्रों को मिलाने पर बहुत ही विशाल है।

मध्यलोकवर्ती जम्बूद्वीप के सुदर्शन मेरु के निकट की समतल भूमि से ७९० योजन की ऊँचाई से लेकर ९०० योजन तक, अर्थात् कुल ११०

---

१ भगवती, सूत्र ७।१।२६० तथा ११।१०-११

२ प्रकाश की किरण प्रति सैकण्ड १८६००० मील के हिसाब से चलकर १ वर्ष में जितनी दूरी तय करती है उसे एक प्रकाश वर्ष कहते हैं।

३ उत्तरा. ३६।५६ से ६२ तक

४ तत्त्वार्थ० ३।३५

याजन में ज्योतिष्क देवलोक है, जहाँ सूर्य, चन्द्र, ग्रह, नक्षत्र और तारा-मण्डल है।

अधोलोक—मध्यलोक से नीचे का प्रदेश अधोलोक कहलाता है। इसमें सात नरक पृथ्वियाँ हैं। उनके नाम हैं—रत्नप्रभा, शर्कराप्रभा, वालुकाप्रभा, पंकप्रभा, धूमप्रभा, तमःप्रभा, तमस्तमःप्रभा। इन सातों में ऊपर-ऊपर की भूमियों से नीचे-नीचे की भूमियाँ उत्तरोत्तर अधिक लंबी-चौड़ी हैं। इन सातों नरक भूमियों में रहने वाले जीव 'नारक' कहलाते हैं। नीचे-नीचे की नरकभूमियों के नारकों में कुरूपता, भयंकरता, बेडौलपन आदि विकृतियाँ बढ़ी हुई होती हैं। इन नरकभूमियों में प्रधानरूप से तीन प्रकार की वेदनाएँ नारकों को होती हैं—(१) परमाधार्मिक असुरों (नरकपालों) द्वारा दी जाने वाली, (२) क्षेत्रकृत वेदनाएँ—जैसे कि नरकभूमियाँ अत्यन्त ठंडी, अथवा अत्यन्त गर्म, तथा खून और रस्सी से लथपथ, इत्यादि होती हैं और (३) नारक जीवों द्वारा परस्पर एक दूसरे को पहुँचाई जाने वाली, या मन ही मन संक्लेश पाने के कारण होने वाली वेदनाएँ। नारकों का जितना आयुष्य है, उसे पूरा करके ही वे उस शरीर से छुटकारा पा सकते हैं।[1] संक्षेप में क्षेत्रलोक की दृष्टि से तीनों लोकों की ऐसी रचना है। जीव पुण्यों के उदय से स्वर्ग (पुण्य) लोक को, पापों के उदय से नरक (पाप) लोक को और पुण्य-पाप दोनों के मिश्र से मनुष्यलोक को प्राप्त करता है।[2]

इहलोक के अतिरिक्त परलोक (ऊर्ध्वलोक-अधोलोक) को मानने से पुनर्जन्म तथा कर्मों के फलस्वरूप चार गतियों और ८४ लक्ष जीव योनियों में परिभ्रमण करने के कारणों पर अनायास ही चिन्तन एवं अनुप्रेक्षण होता है, जिससे आत्म-विकास और आत्मधर्म के प्रति आस्था सुदृढ़ होती है।

काललोक

यह लोक (विश्व) द्रव्यार्थिकनय की दृष्टि से शाश्वत है, किन्तु पर्यायार्थिकनय की दृष्टि से यह परिवर्तनशील होने के कारण अशाश्वत भी है। यद्यपि षड् द्रव्यों में से धर्म, अधर्म, आकाश और काल, इन चारों में स्वाभाविक परिणमन होता रहता है, इसी कारण ये शाश्वत काल तक अपना अस्तित्व बनाये रखते हैं। जब परिणामी-नित्यत्ववाद इन छहों द्रव्यों के

---

१ नित्याऽशुभतर-लेश्या-परिणाम-देह-वेदना-विक्रियाः। परस्परोदीरित दुःखाः। संक्लिष्टाऽसुरोदीरित दुःखाश्च प्राक्चतुर्थ्याः। —तत्त्वार्थ० ३/३-४-५

२ पुण्येन पुण्यलोकं नयन्ति, पापेन पापलोकं, उभाभ्यामेव मनुष्यलोकम्।
—प्रश्नोपनिषद्

अस्तित्व को अनादि-अनन्त सिद्ध कर देता है, तब लोक की शाश्वतता स्वतः सिद्ध हो जाती है।

भाव-लोक

आचारांग निर्युक्तिकार के अनुसार भावलोक कषाय हैं, काम भी भावलोक (संसार) है। संसार (लोक) में पुनः पुनः परिभ्रमण के मूल कषाय, कामभोग, स्वजन-परिजन, धन-धान्य, मकान आदि चेतन-अचेतन इष्ट पदार्थों के प्रति राग (आसक्ति) और अनिष्ट के प्रति द्वेष, अथवा इष्ट वियोग-अनिष्ट संयोग के समय मन में द्वेष-संक्लेश, एव अनिष्ट वियोग-इष्टसंयोग के समय राग, अहंकार, आसक्ति आदि भी लोक (संसार) परिवर्द्धन, संसार परिभ्रमण के कारण हैं। भावलोक का ज्ञान साधक को उस पर विचय (निर्वेद या अनुप्रेक्षात्मक चिन्तन) या विजय के लिए प्रेरणा देता है।

लोक की संस्थिति

इस लोक (सृष्टि, विश्व या जगत्) की स्थिति के विषय में भी दार्शनिकों में काफी मतभेद हैं। वैष्णव लोग 'जगदाधारं विष्णुपदं' कहकर विष्णु के आधार पर जगत् को मानते हैं। पौराणिक कहते हैं—यह सृष्टि (पृथ्वी) गाय के सींग पर टिकी हुई है। कई इसे शेषनाग के फन पर टिकी हुई कहते हैं। बृहदारण्यक उपनिषद् में विश्व को क्रमशः जल, वायु, अन्तरिक्ष, गन्धर्वलोक, आदित्य लोक, चन्द्रलोक, नक्षत्रलोक, देवलोक, इन्द्रलोक, प्रजापतिलोक और ब्रह्मलोक के आधार पर अवस्थित माना गया है।[1]

जैनधर्म की लोक-अवस्थिति की मान्यता का निरूपण भगवतीसूत्र में किया गया है। वहाँ गौतम स्वामी के प्रश्न के उत्तर में भगवान् महावीर ने लोक की स्थिति आठ प्रकार से बतायी है। यथा—(१) सर्वप्रथम आकाश पर वायु टिकी हुई है, (२) वायु पर समुद्र, (३) समुद्र पर पृथ्वी, (४) पृथ्वी पर त्रस-स्थावर जीव टिके हुए हैं। (५) जीव के आश्रित अजीव हैं, (६) सकर्म (कर्मबद्ध) जीव कर्म पर आश्रित है, (७) अजीव जीवों द्वारा संग्रहीत है और (८) जीव कर्म-संगृहीत हैं।[2]

स्पष्ट है कि विश्व के बाह्य आधार चार हैं—आकाश, वायु, जल और पृथ्वी तथा अन्तरंग आधार जीव और शुभाशुभ कर्म हैं। संसारी

---

१. बृहदारण्यक उपनिषद् ३/६/१

२. भगवती सूत्र १/६

जीव आधार हैं, शरीर उनका आधेय है, इसी प्रकार कर्म संसारी जीव का आधार है और संसारी जीव कर्म के आधेय हैं।

वैदिक परम्परा में 'धर्मो विश्वस्य जगतः प्रतिष्ठा' अर्थात्—धर्म समग्र जगत् का आधार है, कहा गया है। उसका तात्पर्य यह है कि धर्म व्यावहारिक जगत् में दुर्गति में गिरते हुए आत्मा को धारण करके रखता है, जगत् की-समाज की सुव्यवस्था का आधार है, परन्तु आध्यात्मिक जगत् में वह सम्यग्दर्शनादि रत्नत्रयरूप धर्म सारे विश्व को संसार समुद्र से पार उतारने और मोक्ष को धारण कराने वाला मोक्ष सुख का आधार है।[1]

लोक (जगत्) का कर्तृत्व

इस लोक (विश्व) का कर्त्ता-धर्त्ता-संसर्ता कौन है? इस विषय में विभिन्न दार्शनिकों में पर्याप्त मतभेद हैं। प्रागैतिहासिक युग में भारत में मनुष्यों का एक वर्ग सूर्य, अग्नि, वायु (मरुत्), आकाश, विद्युत्, दिशा आदि शक्तिशाली प्राकृतिक तत्त्वों का उपासक होने से प्रकृति को ही देव मानता था, उसी के द्वारा विश्व को रचित या रक्षित मानता था। उपनिषदों में प्रजापति ब्रह्मा द्वारा सृष्टि की रचना मानी गयी है। इसके पश्चात् ईश्वर-कर्तृत्ववाद का दौर चला, जिसके मतानुयायी मुख्यतया तीन दार्शनिक थे—वेदान्ती, नैयायिक और वैशेषिक। ये सृष्टि की उत्पत्ति, स्थिति और प्रलय का कर्त्ता ईश्वर को मानते हैं। वे ईश्वर को जगत्कर्त्ता, सर्वज्ञ, सर्वव्यापक, नित्य, स्वाधीन और सर्वशक्तिमान मानते हैं। सांख्यमतवादी प्रकृति (प्रधान) को जगत्कर्त्री मानते हैं।[2]

उनका मुख्य तर्क यह है कि प्रत्येक कार्य का कोई न कोई कर्ता अवश्य होना चाहिए। इस विशाल जगत् (लोक) का कोई न कोई कुशल, सर्वज्ञ, सर्वव्यापी, सर्वशक्तिमान् बुद्धिमान कर्त्ता है। और वह कर्त्ता देव, ब्रह्मा, स्वयम्भू, विष्णु, महेश्वर, ईश्वर या प्रकृति आदि अवश्य है।[3]

---

१ यो धरत्युत्तमे सुखे —रत्नकरण्डक श्रावकाचार

२ (क) सूत्रकृतांग श्रु. १, अ. १, उ. ३ गा. ६४-६६
(ख) छान्दोग्य उपनिषद् खण्ड १२ से १८ अ. ५ (ग) वही खण्ड २, श्लो. ३
(घ) ऐतरेयोपनिषद् प्रथम खण्ड (ङ) मुण्डक उप. खण्ड १ श्लो. १
(च) प्रश्नोपनिषद् प्रश्न १ श्लो. ४६ (च) जन्माद्यस्ययतः —ब्रह्मसूत्र

३ (क) मनुस्मृति अ. १। (ख) कर्त्तास्तिकश्चिज्जगतः सचैकः — स्याद्वाद मंजरी
(ग) कार्ययोजन-धन्यादेः। — न्यायसिद्धान्त मुक्तावली तत्त्वदीपिका
(घ) यदा यदाहि धर्मस्य ग्लानिर्भवति भारत.... । — गीता ४/७

ये विशाल भूखण्ड पर्वत, आकाश, सूर्य, चन्द्र, नक्षत्र, तारे, समुद्र, इतने सब प्राणी, आदि का व्यवस्थित रूप से आयोजन और सर्जन करने वाला ईश्वर के सिवाय कौन हो सकता है ?

जैनदर्शन परमात्मा (ईश्वर) को अवश्य मानता है, किन्तु उसे जगत् का कर्ता-धर्ता नहीं मानता है क्योंकि जगत् का निर्माता-कर्ता कोई भी ब्रह्मा, देव या ईश्वर दृष्टिगोचर नहीं है। ईश्वर निरंजन-निराकार एवं अमूर्त है, वह जगत् जैसे मूर्त पदार्थ को नहीं बना सकता। यदि यह कहें कि जगत् की स्थिति बिगड़ती देखकर दयालु ईश्वर ने जगत् में अवतरित होकर सृष्टि की रचना की, तब प्रश्न होता है कि सृष्टिरचना किस उपादान से की ? यदि उपादान के बिना ही स्वयं ने विश्व रचा। तब तो कई प्रश्न उपस्थित होते हैं—(१) उसे ईश्वररूप छोड़कर जन्म-मरणरूप संसार के प्रपंच में पड़ने की क्यों आवश्यकता पड़ी ? (२) रागद्वेषमुक्त ईश्वर को पुनः राग-द्वेषयुक्त बनाना, जगत् को विषम बनाना, चोर डाकू आदि पापियों से जगत् को भरना, सर्वशक्तिमान होते हुए भी चोरी, जारी, हत्या लूटपाट, भ्रष्टाचार आदि न रोक सकना ये सब आक्षेप ईश्वर पर आते हैं।[1] इन प्रश्नों का कोई युक्तिसंगत उत्तर उनके पास नहीं है। अतः जैनदर्शन ने स्पष्ट कर दिया कि यह विश्व (लोक) किसी भी ईश्वर द्वारा रचित नहीं है। यह अनादिकाल से स्वभाव से ही इसी रूप में चला आ रहा है। पुद्गलादि द्रव्यों का परिणमन स्वतः होता रहता है। सभी जीवों को अपने-अपने कर्मानुसार स्वयं फल मिलता है, जो उन्हें भोगना ही पड़ता है। यदि ईश्वर को जीव-अजीवरूप जगत् का कर्ता माना जाएगा तो जीवों का, खासकर मनुष्यों का स्वयं कर्तृत्व नहीं रहेगा। ईश्वर ही सबसे शुभाशुभ कर्म करायेगा, वही कर्मफल भुगवाएगा फिर क्या जरूरत है किसी को महाव्रत-अणुव्रत पालन करने की ? तप, जप, इन्द्रियनिग्रह, संयम आदि करने की क्या आवश्यकता है ? ईश्वर को खुश कर देने से ही काम हो जाएगा। अतः लोकवाद से सम्बन्धित इस प्रश्न का यथार्थ निश्चय भी आस्तिक्य का प्रधान अंग है।

———

१. (क) सृष्टि-कर्तृत्वमीमांसा (ख) कर्ताखण्डनलावणी, (ग) स्याद्वादमंजरी (घ) गीता ५/१४ - न कर्तृत्वं न कर्माणि लोकस्य सृजति प्रभुः।
न कर्मफल-संयोगं, स्वभावस्तु प्रवर्तते ॥

२०

आस्तिक्य का तृतीय आधार : कर्मवाद

कर्मवाद क्या है ?

आत्मवाद और लोकवाद को मानने वाले व्यक्ति को कर्मवाद[1] का मानना अनिवार्य है। यदि वह यह मानता है कि आत्मा मूल स्वभाव से सच्चिदानन्द रूप है, फिर भी इहलोक में नाना दुःख क्यों पाता है ? परलोक में भी कोई स्वर्ग पाता है, कोई नरक; और किसी को मनुष्यगति में जन्म मिलता है। ऐसी विविधता का क्या कारण है ? थोड़े से कार्य-कारण भाव का चिन्तन करने पर स्वाभाविक ही उसे ज्ञात हो जाएगा कि इस विविधता का कारण कर्म ही है। इस प्रकार कर्मों के अस्तित्व को मानना उन पर दृढ़ आस्था रखना, कर्मों का आत्मा के साथ बन्ध भी होता है, वे छूट भी सकते हैं। नये कर्म भी आते हैं और उन्हें रोका भी जा सकता है। इस प्रकार शुद्ध आत्मा के साथ कर्मों के संयोग का विचार करके वे कर्म आत्मा से पृथक् (विमुक्त) भी हो सकते हैं, मनुष्य कर्मों से एक दिन सर्वथा मुक्त शुद्ध-आत्मा-परमात्मा बन सकता है,[2] इस प्रकार का दृढ़ विश्वास रखना ही कर्मवाद है। यही कर्मवाद आस्तिक्य का तीसरा प्रमुख आधार है।

कर्मों को क्यों माना जाए ?

यह कहा जाता है कि संसार के सभी प्राणियों की आत्मा स्वभाव से जब शुद्ध है, आत्मा और परमात्मा में कोई अन्तर नहीं है, तब फिर

---

१. बन्ध, निर्जरा, आस्रव, संवर और मोक्ष का विचार करना।

२. (क) अप्पा सो परमप्पा।

(ख) सिद्धां जैसो जीव है, जीव सो ही सिद्ध होय।
कर्ममैल का आंतरा बूझे विरला कोय॥ — बृहदालोयणा

जगत् में इतनी विचित्रताएँ क्यों दृष्टिगोचर हो रही हैं ? एकेन्द्रिय से लेकर पंचेन्द्रिय तक के जीवों में, पंचेन्द्रियों में भी नारक, तिर्यञ्च, मनुष्य और देव इन चार प्रकार के जीवों के भी अगणित प्रकार हैं। एक मनुष्य को ही लें उसके भी १४ लाख जीवयोनियाँ हैं। मनुष्यों में आकृति, रूप, रंग, संहनन, संस्थान, सुख-दुःख, विकास-अविकास, आयु की न्यूनाधिकता, ज्ञान की अल्पाधिकता आदि के अन्तर पाये जाते हैं। इतनी विविधता, विचित्रता, और न्यूनाधिकता या विषमताओं का कोई न कोई कारण अवश्य होना चाहिए। अगर आत्मा ज्ञानस्वरूप है तो वह अज्ञानान्धकार से क्यों ग्रस्त होता है ? यदि आत्मा नित्य है तो वह नाना गतियों और योनियों में क्यों परिभ्रमण करता है ? यदि आत्मा अमूर्त्त है तो वह छोटे-बड़े, कुरूप-सुरूप, स्वस्थ-अस्वस्थ, सुडौल-बडौल मूर्त शरीरों में क्यों बद्ध है।

जैनदर्शन इन सब प्रश्नों का समाधान यही करता है कि निश्चय दृष्टि से तो आत्मा शुद्ध, बुद्ध-ज्ञानस्वरूप, नित्य और अमूर्त्त ही है, किन्तु विश्व में एक ऐसा अद्भुत बल है, जो इस शुद्ध, चिदानन्दमय, नित्य एवं स्वतंत्र आत्मा को विवश बनाकर नाना प्रकार के नाच नचा रहा है। वही प्रबल बल जीवों को चारगतियों और चौरासी लाख योनियों में परिभ्रमण कराता है। उसी प्रबल बल के कारण संसार में इतनी विविधता, विचित्रता एवं विषमता दृष्टिगोचर हो रही है।[1] उस अद्भुत अदृश्य बल को जैनदर्शन 'कर्म' कहता है। सांसारिक जीवों की नानाविधता और पृथक्ता का मूल कारण यही कर्म है। आत्मा पर ये[2] नाना उपाधियाँ कर्म के कारण ही होती हैं। आत्मा के ज्ञान, दर्शन, सम्यक्त्व, चारित्र, दानादि विविध शक्तियों पर जो आवरण-आच्छादन आ जाते हैं, या प्राप्त होने में जो विघ्न-बाधाएँ उपस्थित होती हैं, उन सबका कारण और कोई नहीं, विभिन्न प्रकृति के कर्म ही हैं।

कर्मवाद को माने बिना पूर्वजन्म-पुनर्जन्म पूर्वजन्मों की स्मृति, जन्म-जन्मान्तर, तथा इहलोक-परलोक का परम्परागत सम्बन्ध एवं इहलोक में शुभकर्म किये बिना ही अकस्मात् विषय-सुख-भोगों की सामग्री की प्राप्ति, अथवा अशुभकर्म किये बिना ही अकस्मात् इष्टवियोग एवं अनिष्ट-संयोग की या दुःखों-कष्टों की प्राप्ति कथमपि घटित नहीं हो सकती।

---

१ कम्मओ णं जीवे विभत्तिभावं परिणमई णो अकम्मओ। —भगवती १२/१२०

२ कम्मुणा उवाही जायइ। —आचारांग १/३/१

कर्म ही इन सबका मूल कारण है। भगवान् महावीर जैसे महान् अध्यात्मवादी, वीतरागी, पवित्रतम महापुरुष के कानों में अकस्मात् किसी व्यक्ति ने कील ठोक दी, उसका मूल कारण पूर्वकृत कर्म ही तो था। ध्यानस्थ अजातशत्रु गजसुकुमार मुनि के मस्तक पर सोमिल विप्र द्वारा वैरभाव से प्रेरित होकर मिट्टी की पाल बांधकर खैर के धधकते अंगारे रखे जाने और असह्य यातना देने में पूर्वकृत कर्म ही कारण थे। मृगालोढ़ा को राजा के पुत्र होने पर भी बेडौल शरीर, अव्यवस्थित अंगोपांग, कुरूपता एवं दुर्गन्धयुक्त वातावरण के कारण भयंकर कष्टों की प्राप्ति उसके पूर्वकृत अशुभकर्मों के कारण ही हुई थी। और तो और वर्तमान में किसी प्रकार के शुभाशुभ कर्म किये बिना गर्भस्थ शिशु का गर्भ में ही गल जाना, गर्भ में ही अनुकूल-प्रतिकूल फल प्राप्त हो जाना, पूर्व कर्म के ही कारण तो हैं ?

एक ही माता के उदर से एक साथ एक ही समय में पैदा हुए दो (युगल) बालकों के स्वभाव, सुख-दुःख, तीव्र-मन्द-बुद्धि तथा स्वस्थता-अस्वस्थता आदि अनेक विसदृशताओं के पीछे क्या कारण हैं ? अनपढ़ माता-पिता को प्रतिभाशाली बुद्धिमान पुत्र तथा शिक्षित माता-पिता को मूर्ख, अनपढ़ एवं असंस्कारी पुत्र प्राप्त होना, इत्यादि विषमताएँ क्यों ? एक ही छात्रावास में सबके लिए पढ़ने, रहने तथा अध्यापन की समान व्यवस्था, सुविधा एवं परिस्थिति होते हुए भी सहपाठी छात्रों की बौद्धिक क्षमता, शारीरिक शक्ति, एवं वाचिक सामर्थ्य में न्यूनाधिकता क्यों ? एक छात्र को अत्यधिक परिश्रम करने पर भी परीक्षा में सफलता नहीं मिलती, जबकि दूसरा छात्र थोड़ी-सी मेहनत करने पर ही परीक्षा में प्रथम श्रेणी में उत्तीर्ण होता है; एक किसान को अपने खेत में बहुत ही सावधानी और विवेकपूर्वक बीज बोने पर भी पर्याप्त धान्य नहीं मिलता, जबकि दूसरे किसान को थोड़ी-सी मेहनत से बीज बोने पर प्रचुर धान्य प्राप्त होता है; इत्यादि ज्वलन्त प्रश्नों के यथोचित समाधान के लिए कर्मवाद को मानना ही पड़ेगा।

कर्मवाद के स्थानापन्न वाद

इस प्रकार कर्मों के विभिन्न प्रकार, उनके आगमन और बंध के विविध कारण, बंध और फलभोग (उदय) में तरतमता, उनकी अवधि, उनको क्षय करने और रोकने के विविध उपाय आदि कर्मों से सम्बन्धित सांगोपांग, तर्कसंगत, सूक्ष्म एवं गम्भीर विवेचन जैनदर्शन ने किया है। कुछ धर्म या दर्शन कर्म को मानते हैं, किन्तु इतना व्यवस्थित एवं सूक्ष्म

चिन्तन उन्होंने नहीं किया है। कर्म के बदले में वेदान्तदर्शन माया या अविद्या का, वैशेषिक दर्शन अदृष्ट या संस्कार का, सांख्यदर्शन प्रकृति का तथा अन्य दर्शन वासना, आशय, अपूर्व या धर्माधर्म आदि में से किसी शब्द का प्रयोग करते हैं। कार्यकारणवाद के सन्दर्भ में कर्मवाद के स्थान में कई एकान्त कालवाद, कई स्वभाववाद, कई नियतिवाद, कई यदृच्छावाद, कई देववाद और कई एकान्त पुरुषार्थवाद को मानते हैं। किन्तु कर्मवाद के समर्थकों ने इन पाँचों को एकान्त न मानकर कर्मवाद के साथ समन्वित **'पंचकरणसमवायवाद'** प्रस्तुत किया है।[1]

कर्मवाद की उपयोगिता

पूर्वोक्त प्रकृतिवाद, मायावाद या वासनावाद कर्मवाद की पूर्ति नहीं कर सकता। सांख्यदर्शन अचेतन प्रकृति को कर्म की कर्त्री मानकर आत्मा को सर्वथा कर्मों का अकर्ता मानता है। किन्तु वह प्रकृतिगत संस्कार से आत्मा को भ्रान्तिवश कर्मफल-भोक्ता मानता है। यह अटपटा सिद्धान्त 'करे कोई, भरे कोई' की उक्ति को चरितार्थ करता है। मायावाद आत्मा को शुद्ध, निष्क्रिय, कूटस्थ नित्य एक स्वभाव मानता है, फिर आत्मा (ब्रह्म) के माया कैसे लग सकती है ? अतः वेदान्त की 'माया' निष्क्रिय ही सिद्ध होती है।[2] वह भी कर्म का स्थान नहीं ले सकती। बौद्धदर्शन के एकान्त क्षणिकवाद के सिद्धान्त के कारण आत्मा पर कर्मस्थानीय वासना के कर्तृत्व-भोक्तृत्व की व्यवस्था घटित नहीं हो सकती। जगत् की विषमताओं और विचित्रताओं का यथार्थ समाधान पंचभूतों से जड़-चेतत सभी पदार्थों की उत्पत्ति मानने वाले पंचभूतवादियों के पास नहीं है। क्योंकि वे आत्मा, लोक-परलोक, धर्म-कर्म आदि बिलकुल नहीं मानते।

ईश्वरकर्तृत्ववाद के अनुसार भी कर्मवाद की युक्तिपूर्वक संगति नहीं बैठती। इस सिद्धान्त के अनुसार संसार के जड़, चेतन समस्त पदार्थों का कर्ता, धर्ता, संहर्त्ता और नियामक ईश्वर को माना गया है। जीव को ईश्वर के हाथ की कठपुतली माना गया है। ईश्वर जैसा, जो, जब चाहता

---

१ कालो सहाव णियई पुव्वकम्म पुरिसकारे णेगंता।
मिच्छत्तं तं चेव उ, समासओ हुंति सम्मत्तं॥ —सन्मतितर्क प्रकरण ३/५/३

माया सती चेद् द्वयतत्व सिद्धिः, अथाऽसती हन्त कुतः प्रपंचः?— स्याद्वाद मंजरी

है, वैसा ही, वह, तब करता-कराता है।[1] इस दृष्टि से जीव न तो कर्म करने में स्वतंत्र है, न ही उसका फल भोगने में।

ईश्वरकर्तृत्ववादी पर जब कोई विपत्ति, संकट, दुःख, रोग, या अनिष्टसंयोग-इष्टवियोग का अवसर आ पड़ता है, तब वह अपने उपादान, स्वकृतकर्मों को न देख-समझकर किसी निमित्त को या सर्वप्रथम ईश्वर को ही दोष देता है उसे ही कोसता है। जबकि जैनदर्शनसम्मत कर्मवादी उस संकटापन्न समय में किसी भी निमित्त को दोष न देकर शास्त्रीय भाषा में यह सोचता है—

जं जारिसं पुव्वमकासि कम्मं, तमेव आगच्छति संपराये।[2]

"जैसा मैंने पहले कर्म किया था, वैसा ही फल मेरे सामने दुःख के रूप में आ गया है।"

आशय यह है कि कर्मवादी उस समय ईश्वर को या किसी भी निमित्त को नहीं कोसता। वह यह नहीं कहता कि ईश्वर ने मेरे पर अन्याय किया; मुझे क्यों ऐसा दण्ड दिया? अथवा अमुक व्यक्ति ने मेरे साथ ऐसा किया, इसलिए मेरे पर ऐसा संकट आया। अमुक ने मेरे साथ शत्रुता की, मुझे हैरान किया। इत्यादि वाक्य कर्मवादी आस्तिक के नहीं होते।

किसी भी प्रतिकूल परिस्थिति के उपस्थित होने पर कर्मवादी किसी भी निमित्त को उत्तरदायी न ठहरा कर, अपनी ही आत्मा को उसका उत्तरदायी ठहराता है। कर्मवाद पर विश्वास से व्यक्ति को ऐसा आश्वासन मिलता है कि जैसे भी मेरे पूर्वकर्म थे तदनुसार मुझे फल मिला है। कर्मों का ऋण तो देर-सबेर मुझे ही चुकाना है, क्योंकि मेरा ही किया हुआ यह कर्ज है। अगर मैं मन में ग्लानि न लाकर हंसते-हंसते समभावपूर्वक उन पूर्वकृत कर्मों का फल भोग लूं, तो नये अशुभकर्मों का भी बंध नहीं होगा, और पुराने किये हुए कर्मों का धीरे-धीरे क्षय (निर्जरा) भी हो जाएगा। कदाचित् निकाचित कर्मबन्ध होने के कारण अशुभकर्म परीषह-सहन, चारित्र-पालन, तपस्या, समभाव, त्याग, संयम आदि से शुभ कर्मों के रूप में परिणत न हों तो भी समभावपूर्वक शान्ति और धैर्य से उन अशुभकर्मों का फल भोग लेने के बाद वे कर्म तो छूट ही जाएंगे।

---

१ ईश्वरः सर्वभूतानां हृद्देशेऽर्जुन ! तिष्ठति।
भ्रामयत् सर्वभूतानि यन्त्रारूढानि मायया। — भगवद्गीता

२ १।५।२।२२

कर्मवाद में विश्वास न करने वाला व्यक्ति संकट या विपत्ति के आने पर जब किसी निमित्त को दोषी ठहराता है, तब स्वाभाविक है कि उक्त निमित्त के मन में भी आक्रोश, आवेश और रोष पैदा होता है, परस्पर एक दूसरे के प्रति क्रोध, घृणा, द्वेष और कलह के कारण वैर परम्परा बढ़ती जाती है। उस घोर कर्मबन्ध-परम्परा का फल जन्म-जमान्तर में भोगना पड़ता है। यही कारण है कि कर्मवादी निमित्त पर दोषारोपण करके वैर-परम्परा और घोर कर्मबन्ध की परम्परा नहीं बढ़ाता। वह उपादान (स्वयं) को ही उक्त संकट के लिए उत्तरदायी मानकर वहीं कर्मबन्ध-परम्परा की जड़ काट देता है, वैर-परम्परा को आगे बढ़ने ही नहीं देता। बल्कि कर्मवादी उन दुःखों, संकटों, समस्याओं या विपदाओं के समय उस संकटापन्न परिस्थिति से छुटकारा पाने या उस दुष्परिस्थिति को बदलने के लिए, किसी देवी-देव, अदृश्य शक्ति या ईश्वर आदि के सामने गिड़गिड़ाता नहीं, भीख भी नहीं मांगता; उसका वह दृढ़विश्वास होता है कि आत्मा किसी अदृश्य शक्ति या ईश्वर की इच्छा के हाथों की कठपुतली नहीं है। वह कर्म को करने में जैसे स्वतंत्र है, वैसे ही कर्म को काटने में भी स्वतंत्र है।

न ही उन्हें खुश करने के लिए चढ़ावा, मनौती, स्तुति, प्रशंसा आदि करके उनकी खुशामद करता है। हे ईश्वर! मेरे कर्मों को काट दे, ऐसी अनुचित मांग भी उसकी नहीं होती। वह कर्मों को काटने के लिए स्वयं ही पुरुषार्थ करता है, स्वनिर्भर रहता है। पूर्वकृत अशुभ कर्मों को यथासम्भव शुभ में परिणत करने के लिए स्वयं ही पुरुषार्थ करता है। उसका यह दृढ़ विश्वास होता है वह स्वयं ही सत्पुरुषार्थ द्वारा कर्मों से मुक्त हो सकता है। आत्मा को जन्म-मरणरूप संसार चक्र में परिभ्रमण कराने के कारणभूत कर्मों से अगर सर्वथा छुटकारा पाना हो तो कर्मों को आत्मा से पृथक् करने का सम्यक् पुरुषार्थ करना चाहिए।

कर्मवादी प्रतिकूल परिस्थिति में ईश्वर, देवी, देव आदि पर, किसी व्यक्ति या व्यक्तियों पर दोषारोपण न करके शान्ति और धैर्य से उसका सामना करता है, यथाशक्ति अहिंसक प्रतीकार या सात्विक ढंग से निवारणोपाय भी करता है, इस पर भी विपत्ति नहीं जाती तो समभाव से सहता है और यह चिन्तन करता है कि कर्मोदय के कारण केवल मेरे पर ही नहीं, बड़े-बड़े महापुरुषों पर विपत्तियां आई हैं, उन्होंने जैसे बिना घबराए समभाव-पूर्वक कष्टों को सहन किया, वैसे मैं भी सहन कर लूं तो मेरे भी पूर्वकृत

कर्म क्षय होंगे, नये कर्म नहीं बंधेंगे। इस प्रकार की सान्त्वनामयी शुभ प्रेरणा कर्मवाद से मिलती है।

दूसरे शब्दों में यों कहा जा सकता है कि किसी भी विघ्न, संकट, विपत्ति, या दुःख के आ पड़ने पर साधारण मानव किंकर्तव्यविमूढ़ व्याकुल एवं भयभ्रान्त होकर प्रारम्भ किये हुए उत्तम कार्य को अथवा अपनी सुनिश्चित आचार-मर्यादा को छोड़ बैठता है। उसके पुरुषार्थ और साहस को निराशा, मूढ़ता और भीति दबा देती है। उस समय बुद्धि को स्थिर एवं संतुलित करने वाला, साहस, आशा और स्फूर्ति की हवा भरने वाला, आत्म बल को दृढ़ करने वाला, उन्नति पथ पर आगे बढ़ने के लिए मन में अनुपम उत्साह का दीपक जलाने वाला, उपस्थित संकट, कष्ट आदि के मूल कारण (उपादान) पर चिन्तन कर निमित्तों पर दोषारोपण न करके द्वेष वैरभाव की परम्परा को वहीं रोक देने वाला तथा समभावपूर्वक कर्म-फल भोग लेने की प्रेरणा करके संवर या निर्जरा की उपलब्धि कराने वाला अद्वितीय प्रेरणादाता गुरु कर्मवाद ही है।

कर्मवाद से लाखों-करोड़ों मनुष्यों के कष्ट कम हुए हैं, कष्टों और दुःखों का अनुभव भी कम हुआ है। कर्मवाद का प्रत्येक सन्देश दुःखों की लपलपाती ज्वालाओं से दग्ध मानवों के घावों पर सांत्वना की मरहमपट्टी का काम करता है। कर्मवाद ही उनके अशान्त, व्याकुल और विपद्-ग्रस्त हृदयों में शान्ति, निराकुलता और विपद्-विजय की प्रेरणा भरता है। दुःख, निराशा और निरुत्साह से पूर्ण जीवन-नौका को कर्मवाद आशा और उत्साह का प्रकाशस्तम्भ दिखाकर पाप, आस्रव और अशुभ बन्ध की चट्टानों से टकराने से बचाता है। कर्मवाद कष्टपीड़ित मनुष्यों में वर्तमान में कष्ट-सहिष्णुता, तितिक्षा एवं सहन-क्षमता बढ़ाता है, और भविष्य में जीवन को कर्ममुक्त शुद्ध बनाने का सन्देश देता है। कर्मवाद मनुष्य को अपनी वर्तमान संकटापन्न परिस्थिति को बदलने के लिए कर्मों का क्षय करके आत्मशुद्धि करने की प्रेरणा देता है।

साधारण अज्ञ मानव जीवन में आने वाली विघ्न-बाधाओं, कष्टों, और विपत्तियों से जहाँ घबरा कर धर्म-कर्म को भूल बैठता है, वहाँ कर्मवादी अपने पूर्वकृत कर्म एवं वर्तमान में किये जाने वाले कर्मक्षयकारक धर्म या पुण्योपार्जन शुभ कर्म का चिन्तन करता है, वह घबराता, रोता-चिल्लाता, या विलाप नहीं करता, न ही अपने संकट का दायित्व निमित्त

पर डाल कर उससे लड़ता-झगड़ता है। वह श्वानवृत्तिवश बाह्य कारणों को कदापि नहीं कोसता, बल्कि सिंहवृत्ति धारण करके अपने संकट के मूल कारण अशुभ कर्म को पकड़कर उससे जूझता है, तप, त्याग, संयम, नियम, समत्व आदि अपनाकर उस मूल कारण को नष्ट करता है। वह सोचता है कि वृक्ष के मूल कारण बीज होते हैं, उसी प्रकार इन कष्टों के बीज ये निमित्त नहीं, मेरा उपादान—मेरे पूर्वकृत कर्म ही हैं। दुःख प्राप्ति के ये बाह्य निमित्त तो वृक्ष के लिए मिट्टी, पानी, हवा, प्रकाश आदि बाह्य निमित्तों की तरह हैं। इस प्रकार कर्मवादी अपने कष्ट, संकट या दुःख के लिए दूसरों को दोषी न मानकर स्वयं को ही—स्वयं के पूर्वकृत अशुभ कर्मों को ही दोषी मानता है, और उन्हें समभाव से भोगकर क्षय करता है।

कर्मवादी की दृढ़ आस्था होती है कि यद्यपि हमारी बाह्य-आन्तरंग शक्तियाँ कर्मों से अधिक आवृत हैं, तथापि अगर अपने दृढ़ आत्मबल एवं तप-संयम में पराक्रम द्वारा जैसे सिद्ध परमात्मा ने कर्मों के आवरण को सर्वथा दूर करके परम शुद्ध परमात्मपद को प्राप्त कर लिया उसी तरह कर्मक्षय के लिए तप-संयम में दृढ़ पराक्रम करें तो हम भी एक दिन कर्ममुक्त परमात्मा बन सकते हैं।

पूर्वकृत अशुभ कर्मों के उदय से कोई पारिवारिक, सामाजिक या आर्थिक संकट, रोग, विघ्न-बाधा या विपत्ति आने पर कर्मवादी अगर तप-त्याग-प्रत्याख्यान, संयम-नियम आदि द्वारा पुरातन कर्मक्षय करने या अशुभ कर्मों के आगमन को रोकने का पुरुषार्थ करता है तो परिवार, समाज या उसके वर्ग समुदाय में उसकी प्रतिष्ठा बढ़ती है, उसकी शारीरिक-मानसिक दशा भी ठीक होती है। अशुभकर्म भी शुभ में परिणत होने पर उसकी आर्थिक स्थिति भी पुनः सुधर जाती है। उसका भाग्य भी प्रबल हो जाता है, दुर्भाग्य पलायन कर जाता है।

यह है कर्मवाद की विविध दृष्टियों से उपयोगिता और कर्मवाद को मानने की अनिवार्यता। वर्तमान आस्था-संकट के युग में कर्मवाद आस्था-बीज का पुनरारोपण करता है। कर्मवाद पर दृढ़ आस्था रखने वाला कर्म करते समय भी सावधान रहता है और आत्मा पर आए हुए कर्मों के आवरण को दूर करने के लिए अहर्निश पुरुषार्थ करता है।

कर्मवाद के गर्भ में

कर्मवादी के गर्भ में कर्म से सम्बन्धित अनेक प्रश्न आते हैं, उनकी जानकारी कर्मवाद पर आस्था रखने वाले को होनी चाहिए।

जैनदर्शन-सम्मत कर्म का लक्षण क्या है ? मूर्त कर्मों का अमूर्त आत्मा के साथ बन्धन कैसे और क्यों ? कर्म के भेद, कर्मों में फल देने की शक्ति, कर्म बलवान् है या आत्मा ? आत्मा कर्मों का कर्त्ता और भोक्ता क्यों, कैसे ? कर्मों का फल तत्काल क्यों नहीं मिलता ? कितने काल तक कर्म अपना फल देते हैं ? कर्मों का बन्ध, उदय, उदीरणा और निर्जरा (क्षय) एवं सत्ता किन-किन कारणों से, कब और कितने समय तक होती है ? अशुभ कर्मों को शुभ में परिणत करने के उपाय क्या-क्या हैं ? ,इत्यादि कर्म-सम्बन्धी समस्त प्रश्नों का समाधान जानकर कर्म-क्षय का पुरुषार्थ करना कर्मवादी के लिए आवश्यक है।

कर्म का लक्षण

यों तो जगत् में क्रिया, व्यवहार, व्यवसाय, चेष्टा, धार्मिक व्रतादि, यज्ञादि कर्मकण्ड, वर्णाश्रमों का कर्त्तव्य, कर्त्ता द्वारा कृत व्यापार-फल का आधार, इन विभिन्न अर्थों में कर्म शब्द का प्रयोग होता है, किन्तु ,जैनदर्शन का कर्म शब्द इन सबसे विलक्षण एवं विशिष्ट अर्थ में प्रयुक्त हुआ है। देखिये कर्म-ग्रन्थ में कर्म का लक्षण—

कीरइ जीएण हेऊहिं जेणं तु भण्णए कम्मं।

इसका भावार्थ यह है कि जीव अपनी शुभाशुभ शारीरिक, वाचिक एवं मानसिक क्रियाओं द्वारा, अथवा मिथ्यात्व, अविरति, प्रमाद, कषाय और योग इन कारणों से प्रेरित होकर राग-द्वेषवश जो प्रवृत्ति करता है, या उससे कर्मवर्गणा के जो पुद्गल आत्मा के साथ दूध और पानी की तरह एकमेक होकर लग जाते हैं, उन्हें 'कर्म' कहते हैं।

पुद्गल द्रव्य की अनेक वर्गणाओं में से जो कर्मवर्गणा है, वही कर्म-द्रव्य है। जीव (आत्मा) के असंख्यात आत्मप्रदेशों पर कर्मों के अनन्त-अनन्त परमाणुओं का दल जमा हुआ है, उसे ही कर्मवर्गणा कहते हैं। कर्मवर्गणा समस्त लोक में सूक्ष्मरज के रूप में व्याप्त है। जैसे स्निग्ध (चिकने) पदार्थ पर शीघ्र ही धूल चिपक जाती है वैसे ही मिथ्यात्वादि पाँच कारणों से आकृष्ट होकर कर्मों के वे सूक्ष्म रजकण जीव के साथ

चिपक जाते हैं। वे ही कर्म कहलाने लगते हैं। संक्षेप में यों कह सकते हैं कि आत्मा की शुभाशुभ त्रियोगात्मक प्रवृत्ति से आकृष्ट एवं कर्मरूप में परिणत होने वाले (कर्मवर्गणा के) पुद्गल, कर्म हैं।

शुद्ध आत्मा के साथ कर्म का संयोग क्यों ?

जैनदर्शन निश्चयनय से आत्मा को शुद्ध (कर्मादि-उपाधि-रहित) मानता है, तब आत्मा पर कर्म-कालिमा कैसे और क्यों लगती है ? यदि शुद्ध आत्मा पर भी कर्ममल लगने लगे, तब तो सिद्ध-मुक्त परमात्मा पर भी वह लग सकता है। परन्तु यह जान लेना चाहिए, कि सिद्ध परमात्मा कर्मों को उसी तरह बिलकुल भस्म कर देते हैं, जिस तरह बीज को जलाकर उसके उगने की शक्ति को नष्ट कर दिया जाता है। इस दृष्टि से कर्मों का सर्वथा क्षय हो जाने पर कर्ममुक्त शुद्ध आत्मा के साथ पुनः उनका संयोग हो ही नहीं सकता।

परन्तु अशुद्ध आत्मा पर कर्म-मैल लगते हैं, वे मिथ्यात्व आदि कारणों से रागद्वेष वश लगते हैं, अकारण नहीं। कर्ममल आत्मा के लगता है, इसी कारण तो उसे धोने हेतु तप, संयम, त्याग, समत्व, प्रत्याख्यान आदि की साधना की जाती है।

कर्म पहले या आत्मा ?

ऐसी स्थिति में प्रश्न होता है कि कर्म पहले हैं या आत्मा ? जैन सिद्धान्तमर्मज्ञ कहते हैं कि कर्म और आत्मा दोनों अनादि हैं। बीज पहले या वृक्ष ? मुर्गी पहले है या अण्डा ? इत्यादि पदार्थों में जैसे पहले-पीछे का सवाल नहीं उठता, उसी प्रकार आत्मा और कर्म इन दोनों में पहले पीछे का प्रश्न नहीं उठता।

नित्य आत्मा को पहले या पीछे माना जाएगा तो वह उत्पन्न-विनष्ट होने वाला हो जाएगा। यदि कर्म को पहले माना जाए तो इसका अस्तित्व आत्मा के द्वारा किये बिना सिद्ध नहीं हो सकता। इसीलिए कर्मशास्त्रियों ने आत्मा और कर्म दोनों के सम्बन्ध को अनादि माना है।

दोनों का अनादि सम्बन्ध कैसे टूटे

यहाँ प्रश्न होता है कि जब कर्म और आत्मा का सम्बन्ध अनादि है तो उसे तोड़ा कैसे जाएगा ? क्योंकि अनादि सम्बन्ध का तो नाश नहीं हो

सकता। इसका यथार्थ समाधान यह है कि व्यक्तिरूप से कोई एक कर्म अनादि नहीं है, किन्तु वह प्रवाहरूप से, समष्टि की अपेक्षा से अनादि है। पुराने कर्म अपनी-अपनी स्थिति पूर्ण होने पर आत्मा से पृथक् होते जाते हैं और नये-नये कर्म बंधते जाते हैं। पुराने कर्मों का आत्मा से पृथक् होने का नाम 'निर्जरा' है और नये कर्मों का आत्मा से संयोग होने का नाम 'बन्ध' है। आशय यह है कि किसी एक कर्म-विशेष का सम्बन्ध आत्मा से साथ अनादि नहीं, किन्तु विभिन्न अनेक कर्मों का संयोग प्रवाहरूप से अनादि है। यह भी जान लेना चाहिए कि आत्मा के साथ कर्म का सम्बन्ध अनादि होते हुए भी अनन्त नहीं है, उसका अन्त आ सकता है। जैसे सोने और मिट्टी का सम्बन्ध अनादि होने पर मिट्टी मिले सोने को अग्नि में तपाने-गलाने पर मिट्टी से सोने का सम्बन्ध टूट जाता है, सोना शुद्ध स्वर्ण हो जाता है वैसे ही आत्मा और कर्म का सम्बन्ध अनादि होने पर भी तप, त्याग, संयम, महाव्रत, परीषहजय, रत्नत्रय आदि की साधना से उसे तोड़ा भी जा सकता है।

मूर्त्त कर्मों का अमूर्त्त आत्मा के साथ बन्ध कैसे ?

एक प्रश्न यह भी है कि कर्म-पुद्गल मूर्त्त हैं, और आत्मा अमूर्त्त-अरूपी है, फिर अमूर्त्त आत्मा के साथ मूर्त्त कर्मों का बन्ध कैसे हो सकता है ? जैसे वायु और अग्नि दोनों मूर्त्त हैं, इनका अमूर्त्त आकाश पर कोई प्रभाव नहीं पड़ता, उसी तरह मूर्त्त कर्म का अमूर्त्त आत्मा पर भी किसी प्रकार का प्रभाव नहीं पड़ना चाहिए। परन्तु यहाँ कर्मों का अमूर्त्त आत्मा पर प्रभाव प्रत्यक्ष दृष्टिगोचर होता है।

कर्मसिद्धान्तशास्त्री इसका समाधान यों करते हैं कि जिस प्रकार मद्य और विष दोनों मूर्त्त पदार्थ हैं, परन्तु मद्य या विष का सेवन कर लेने पर आत्मा का अमूर्त्त ज्ञानगुण प्रभावित होता देखा गया है। उसी प्रकार मूर्त्त कर्म अमूर्त्त आत्मा को अपने फल से प्रभावित कर देते हैं। इस दृष्टि से मूर्त्त कर्म-पुद्गलों के साथ अमूर्त्त आत्मा का बन्ध हो जाता है। दूसरी दृष्टि से देखें तो आकाश एक और अमूर्त्त है, उसके साथ प्रत्येक मूर्त्त (दृश्यमान स्थूल) पदार्थ का सम्बन्ध होता है। जैसे—न्यायशास्त्र में घटाकाश (घड़े का आकाश), मठाकाश (मठ का आकाश) आदि प्रसिद्ध हैं। आकाश एक असीम और अमूर्त्त है, किन्तु पदार्थों के संयोग से आकाश की (कल्पित) सीमाएँ बना ली गईं। इस दृष्टि से अमूर्त्त आत्मा का मूर्त्त कर्म के साथ

सम्बन्ध होना असम्भव नहीं है। लेकिन एक बात कर्मवादी को निश्चित रूप से समझ लेनी चाहिए कि व्यवहारनय की दृष्टि से चेतन का अचेतन पर और अचेतन का चेतन पर उपकार है। इस दृष्टि से कर्म और आत्मा (जड़ और चेतन) का सम्बन्ध तो हो सकता है, मगर वह संयोगकृत ही होगा, तादात्म्य-सम्बन्ध नहीं हो सकता। कर्मपुद्गल कभी चेतन नहीं हो सकते, और चेतन कभी कर्मपुद्गल नहीं हो सकता। दोनों का संयोगकृत या सम्बन्धकृत परिवर्तन हो सकता है। चेतन कर्म पुद्गलों का निमित्त बनता है और कर्मपुद्गल चेतन के निमित्त बनते हैं। चेतन और कर्म-पुद्गलों का अपना-अपना पृथक्-पृथक् उपादान है। एक के उपादान में दूसरा परिवर्तन नहीं ला सकता। परिवर्तन केवल निमित्तों का होता है। आत्मा (चेतन) के उपादान हैं— ज्ञान, दर्शन, सुख और वीर्य। कर्मपुद्गल के उपादान हैं - वर्ण, गन्ध, रस और स्पर्श। कर्म चेतना (आत्मा) के उपादानों को यत्किंचित् बदलने में निमित्त बन सकते हैं, इसी प्रकार आत्मा भी कर्मपुद्गलों के उपादानों को यत्किंचित्-परिवर्तन में निमित्त बन सकती है। किसी के उपादान को दोनों में से कोई सर्वथा नष्ट नहीं कर सकता।

अनेकान्तदृष्टि से आत्मा मूर्त्त भी है, अमूर्त्त भी। कर्म प्रवाहरूप से अनादि होने से संसारी जीव अनादिकाल से कर्मपरमाणुओं से बद्ध हैं। सोने पर लगे हुए मैल की भाँति प्रवाहरूप से वे कर्मपरमाणु आत्मा को आवृत किये हुए हैं। इस कारण संसारी आत्मा सर्वथा अमूर्त्त नहीं है, कर्मबद्ध होने से वह कथंचित् मूर्त्त भी है। संसारी आत्मा के प्रत्येक प्रदेश पर अनन्तानन्त कर्मवर्गणा के पुद्गल कार्मण शरीर के रूप में सदा चिपके रहते हैं। इसलिए कर्मबद्ध या कार्मणशरीरयुक्त मूर्त संसारी आत्मा के द्वारा ही नये कर्मपुद्गलों का ग्रहण होता है; कार्मणशरीर रहित सिद्ध-परमात्मा सदैव सर्वथा अमूर्त्त होने से मूर्त्त कर्मपुद्गलों का ग्रहण या बन्ध नहीं करते। कर्मवादी कर्म और आत्मा के सम्बन्धों का रहस्य जानकर सम्बन्ध-मुक्त होने का पुरुषार्थ करता है।

२१

कर्मवाद : आस्तिक्य का प्राण

आत्मा के साथ कर्म का सम्बन्ध कब से ?

सम्यग्दृष्टि आस्तिक पुरुष आत्म-साधना करने में प्रवृत्त होता है। तब बहुधा पूर्वकृत अशुभकर्मों के कारण उसकी साधना में अनेक विघ्न-बाधाएँ उपस्थित होती हैं। कच्चा साधक घबरा उठता है। वह असंमजस में पड़ जाता है कि आखिर इतना पुरुषार्थ करते हुए भी मुझे अपनी आत्म-साधना में सफलता क्यों नहीं मिलती ? मेरी आत्मा बार-बार विषम-कषायादि या रागद्वेषादि विकारों से क्यों पराजित हो जाती है ? ऐसे समय में कर्मवाद पर दृढ़ आस्था नहीं रखने वाला व्यक्ति आत्म-साधना से डगमगा जाता है। वह वर्तमान समय के अशुभकर्म फल को देखकर उसका सम्बन्ध अपने द्वारा पूर्वकृत या पूर्वजन्मों में अर्जित अशुभ कर्मों से है, यह भूल जाता है। साथ ही वह उन अशुभकर्मों के क्षय के लिये जो तप, ध्यान, स्वाध्याय, क्षमादि धर्म, महाव्रत आदि साधना करता था, उसे भी छोड़ बैठता है। किन्तु सम्यग्दृष्टि आस्तिक कर्मवाद में निष्ठा होने से यही सोचता है—

"स्वयं कृतं कर्म यदात्मना पुरा।
फलं तदीयं लभते शुभाशुभम्।"

'जो शुभ या अशुभ कर्म अतीत में (पहले) आत्मा ने किये हैं, उन्हीं के शुभ-अशुभ फल वर्तमान में वह प्राप्त करता है।' इससे स्पष्ट हो जाता है कि आत्मा (जीव) के साथ कर्म का सम्बन्ध वर्तमान जीवन यात्रा से नहीं

है, अपितु भूतकालिक जीवन यात्रा से है। पूर्वकाल में मनुष्य ने जो भी अच्छा या बुरा कर्म किया है, उसका सम्बन्ध उसकी आत्मा से जुड़ जाता है। कर्मवाद पर दृढ़निष्ठा रखने वाला व्यक्ति किसी के अमुक सुखद या दुःखद कर्मफल को समझने के लिए उस कर्मविपाक के भूतकालिक बीज—कर्मबीज (कारण) का पता लगाता है। उसे कोई आश्चर्य नहीं होता है कि कोई व्यक्ति सामान्य जीवन जीता-जीता जब कोई असामान्य अवांछनीय कुकृत्य या असदाचरण कर बैठता है। वह यही सोचता है कि यह इसके वर्तमान जीवन का प्रतिफल नहीं, किन्तु इसके पिछले जीवन के कई पाप या कई जन्मों में कृत कर्मों का प्रतिफल है। प्रवृत्ति अतीतकालीन है, परिणाम उसका वर्तमान काल में अभिव्यक्त हुआ है। अतः कर्मवादी दोनों का सम्बन्ध जोड़कर यह कहता है कि जो परिणाम आज दृश्यमान है, उनके पीछे भूतकालीन शुभाशुभ कर्मजन्य प्रवृत्ति है। उसका मूलसूत्र है—आज की प्रवृत्ति अतीत का परिणाम और अतीत की प्रवृत्ति आज का परिणाम। कर्मवादी अतीत से विच्छिन्न करके वर्तमान की व्याख्या नहीं करता।

कर्मफल पर पूर्ण श्रद्धा ही आस्तिकता का चिन्ह

कई नास्तिक लोग कहते हैं कि अग्नि को छूते ही तत्काल हाथ जल जाता है, गहरे पानी में कूदते ही तुरन्त डूबने लगता है, मिर्च खाते ही मुँह जलता है; इत्यादि कर्मों का फल तत्काल मिल जाता है, तब पिछले जन्मों का कर्म-फल इस जन्म में इतनी देर से मिलता है, यह अटपटी बात समझ में नहीं आती।

कर्मवादियों का कहना है कि ऐसा एकान्त नियम नहीं है कि कर्म करते ही उसका फल तुरन्त मिल जाए। भूमि में बीज डालते ही तुरन्त वह अंकुरित नहीं हो जाता, न ही तुरन्त फल-फूल देने लगता है। आरोपित किये हुए पौधे को वृक्ष बनने और फलने में भी कई वर्ष लग जाते हैं। विद्यार्थी पाठशाला में प्रवेश पाते ही उसे तुरन्त विद्या प्राप्त नहीं हो जाती, न ही वह शीघ्र स्नातक बन पाता है। स्नातक बनने में उसे वर्षों का समय लग जाता है। कारखाना लगाते ही मालिक को तुरन्त लाभ नहीं मिलने लगता। काफी समय बाद पर्याप्त लाभ मिलता है। व्यापार करते ही व्यापारी तुरन्त मालामाल नहीं हो जाता। दण्ड-बैठक शुरू करते ही, कोई भीम या हनुमान-सा पहलवान नहीं बन जाता। प्रायः काफी समय तक अपथ्यसेवन करते रहने के पश्चात् शरीर अस्वस्थ और अशक्त बनता है।

इसलिए कर्मफल तत्काल न मिले, देर से मिले या अगले जन्म में मिलना सम्भव हो, तो भी अल्पबुद्धि अधीर लोग निराश और हताश होकर आस्था खो बैठते हैं। कई लोग तो कर्मफल तत्काल न मिलने के कारण 'कभी नहीं मिलेगा' इसलिए हम अशुभकर्मफल से सदा बचे रहेंगे, अथवा परिपाक की अवधि पूरी होने पर भी बिना दण्ड पाए, इसी प्रकार स्वच्छन्द कुकृत्य करते हुए घूमते रहेंगे, इस प्रकार सोचते रहते हैं। कर्मफल के प्रति इस प्रकार की अश्रद्धा होने से बालबुद्धि लोग पुण्य के सम्बन्ध में निराश और पाप के सम्बन्ध में निर्भय हो जाते हैं। जो करणीय है, उसे छोड़ बैठते हैं और जो अकरणीय है, उसे करने लगते हैं। कर्मफल में होने वाले विलम्ब के कारण ही तत्काल-फलवादी लोग दुष्कर्मों के लिए साहसी और सत्कर्मों के लिए निरुत्साही हो जाते हैं। कर्मवाद के सम्बन्ध में सामान्य व्यक्तियों की श्रद्धा बहुधा तब डगमगा जाती है जब पापियों एवं दुराचारियों को सुखी, स्वस्थ, धनाढ्य और सम्पन्न देखा जाता है और धर्मिष्ठ सज्जनों को दुःखी। किन्तु कर्मफल पर पूर्ण आस्था रखने वाले लोग कहते हैं—कर्मफल में बिलम्ब होने के अपवाद अधिक नहीं, कम ही प्रतीत होते हैं। लोकव्यवहार में भी देखा जाता है, अधिकांश कर्मों के फल यथासमय मिल जाते हैं। जैसे—चिकित्सा, शिक्षा, कृषि, पशुपालन, शिशु-पालन, व्यवसाय आदि अनेकानेक उपयोगी प्रवृत्तियाँ देर-सबेर से फल मिलेगा ही, इस निश्चितता के आधार पर चलती हैं। अगर कर्मफल पर विश्वास न होता तो जगत् में किसी को भी अपने स्वभाव, आचरण और व्यवहार को सुधारने की, अहिंसा-सत्यादि धर्मों का आचरण करने की, नीति, न्याय, सदाचार आदि के पालन की आवश्यकता न होती। साधना प्रारम्भ करते ही साध्य प्राप्त नहीं हो जाता। प्रत्येक महान् कार्य में समय तो लगता ही है। अतः यह तो कदापि नहीं सोचना चाहिए कि शुभ या अशुभ कर्मों का फल नहीं मिलता। रही देर की बात, वह कर्मों के परिपक्व होने पर निर्भर है। कर्मफल मिलने में बिलम्ब लगते देख धैर्य खो बैठना और तत्काल फल नहीं मिला तो कभी मिलेगा ही नहीं, यह मान बैठना बाल-बुद्धि का लक्षण है।

कर्मफल में व्युत्क्रम क्यों ?

इसके अतिरिक्त कई लोग नीतिमान, सदाचारी, सज्जन, धर्मात्मा और महापुरुषों का जीवन अत्यधिक अभाव पीड़ित, कष्टमय या दुःखी तथा पापियों, चोरों, अत्याचारियों, दुर्जनों आदि का जीवन अधिक सम्पन्न, सुखी

एवं फला-फूला देखते हैं, तो वे कर्मफल के इस प्रकार के व्युत्क्रम को देख कर भी अनास्था प्रकट करने लगते हैं। भगवान् महावीर का जीवन परम धार्मिक एवं वीतरागता से ओतप्रोत था, फिर भी उन्होंने अपने जीवन में अनेक कष्ट पाए। सुकरात आजीवन नैतिक आदर्शों के पुजारी और चरित्रवान् रहे, परन्तु उन्हें जबरन विष का प्याला पीकर मरना पड़ा। पवित्र जीवनजीवी प्रेमपरायण ईसामसीह को क्रूस पर लटकाया गया। स्वामी दयानन्द, श्रद्धानन्द एवं महात्मा गाँधी को अकाल में दुष्ट व्यक्तियों ने मृत्यु का शिकार बना दिया।

इसका समाधान सभी भारतीय दर्शन यह करते हैं कि इन सब के पीछे पूर्वजन्मकृत अशुभकर्म ही कारण हैं। आत्मा की जीवनयात्रा अनेक गतियों और योनियों के अच्छे-बुरे कर्म, संस्कार आदि को साथ लिए हुए चलती है। इस जन्म में सदाचारपरायण या धर्मिष्ठ रहने पर भी किसी व्यक्ति पर संकट आता है या इस जन्म में पापपरायण, अधार्मिक रहने पर भी यदि कोई व्यक्ति धन, बल या बुद्धि से सम्पन्न दिखाई देता है तो क्रमशः उसके किसी पूर्वजन्म में किये हुए दुष्कर्म या सत्कर्म का फल समझना चाहिए। कई लोग वर्तमान में किसी भी अपराध या पाप से लिप्त न होते हुए भी जन्म से दरिद्री, विपन्न, अंधे, लूले-लंगड़े देखे जाते हैं इसके विपरीत कई लोगों को अभिभावकों या परिस्थितियों का सहयोग न मिलने पर भी कलाकुशल, बुद्धिमान, मेधावी, प्रतिभासम्पन्न, सुख-सुविधासम्पन्न देखे जाते हैं। इन सबके कारण पूर्वजन्मकृत शुभाशुभ कर्म ही हैं।

दूसरी बात महापुरुष अपने पर आये हुए कष्टों, उपसर्गों, परीषहों, विघ्न-बाधाओं आदि को आत्म-साधना तथा आध्यात्मिक गुणों में वृद्धि एवं आध्यात्मिक शक्तियों के विकास के लिए वरदान मानते हैं। वे अपने आदर्शों और सिद्धान्तों से भ्रष्ट होकर प्राणों के मोही बनकर जीना नहीं चाहते। वे आदर्शों के लिए आत्म-बलिदान करना आत्म-गौरवरूप समझते हैं। अतः कर्मवादी यह मानता है कि पूर्वजन्मकृत या पूर्वकृत शुभाशुभ कर्म समयानुसार परिपक्व होने पर अपना शुभाशुभ फल अवश्य देते हैं।

कर्म और आत्मा दोनों में बलवान कौन ?

यह देखा जाता है कि कर्मों का वशवर्ती आत्मा देव-नरकादि नाना गतियों में परिभ्रमण करता है, अनेक प्रकार के सुख-दुःख भोगता है, ऐसी स्थिति में प्रश्न होता है कि कर्म और आत्मा इन दोनों में बलिष्ठ कौन है ?

इसका समाधान यों है कि स्थूलदृष्टि से देखने पर तो कर्म की शक्ति प्रबल प्रतीत होती है, परन्तु सूक्ष्मदृष्टि से विचार किया जाए तो आत्मा की शक्ति ही प्रबलतर प्रतीत होगी। जैसे पानी से लोहा कठोर प्रतीत होता है, किन्तु उसी कठोर लोहे के साथ पानी का लगातार संयोग होने पर वह उसे जंग लगाकर काट डालता है उसी प्रकार कर्म की शक्ति बाह्य दृष्टि से आत्म-शक्ति से प्रबल मालूम होते हुए भी आत्मा जब पूर्ण मनोयोगपूर्वक तप, त्याग, संयम या रत्नत्रय की सर्वांगरूप से साधना करता है तो उससे प्रबल बनी हुई आत्मशक्ति कर्मशक्ति को परास्त कर देती है। फिर वह आत्मशक्ति पर हावी नहीं हो सकती। अगर आत्मा कर्मों पर विजय नहीं कर पाता तो तप, संयम आदि की साधना का कोई अर्थ नहीं रहता। अपनी आत्मशक्ति का भान विवेकी सम्यग्दृष्टि कर्मवादी को हो जाता है तो उस आत्मा की विजय कर्म पर हो सकती है। विवेकी कर्मवादी की आत्मा में विवेक का दीपक प्रज्वलित हो उठता है कि भले ही मेरी आत्मा पर अनादिकाल से कर्म लगे हों, वे मेरी अज्ञान-मोह-रागद्वेषादिजन्य भूलों के कारण से लगे हैं। अगर मैं तप, संयम, त्यागादिपूर्वक आत्मशक्ति संचित कर पूर्ण साहस एवं दृढ़ निश्चय के साथ कर्मों के साथ जूझ पड़ूं तो इनके छिन्न-भिन्न होते क्या देर लगेगी? अर्जुनमुनि की आत्मा ने गृहस्थ जीवन में ११४१ व्यक्तियों की निर्मम हत्या करके छह महीने में कितने घोर पापकर्मों का बन्ध कर लिया था? यदि वे कर्मशक्ति को प्रबल मानकर उसके वशवर्ती हो जाते तो कदापि अपने कृतकर्मों पर विजय नहीं पा सकते थे। किन्तु 'कर्मशक्ति से आत्मशक्ति प्रबल है' इस भगवत्प्रदत्त मूलमंत्र पर निष्ठा व आस्था रखकर उन्होंने परीषहों और उपसर्गों को पूर्ण आत्मशक्ति के साथ समभाव से सहन किया, तप, त्याग, तितिक्षा और क्षमा पर दृढ़ रहे, आत्मा में जरा भी ग्लानि नहीं आने दी। फलस्वरूप छही महीनों में उन्होंने अपनी प्रबल आत्मशक्ति से समस्त कर्मों को परास्त कर दिया। वे सर्वथा कर्ममुक्त, सिद्ध-बुद्ध हो गए। यह कर्मशक्ति पर आत्मशक्ति की विजय का ज्वलन्त उदाहरण है।

इसके विपरीत जिस आत्मा को अपनी आत्मशक्ति का भान नहीं है, जो स्वभाव को छोड़कर बार-बार बरबस परभावों या विभावों के प्रवाह में बह जाता है। स्वभाव-रमणता को छोड़कर परभावों में रमण करता है, रागद्वेष, कषाय एवं मोहवश होकर परपदार्थों को अपनाता है, उनमें से किसी को सुखरूप और किसी को दुःखरूप मानता है, उस आत्मा पर जड़-

कर्म हावी हो जाते हैं; कर्म उस आत्मा को अशुद्ध बनाकार पराधीन कर देते हैं।

कर्मों का कर्त्ता कौन, भोक्ता कौन ?

प्रश्न होता है, कर्म तो पुद्गल स्वभाव वाला अजीव द्रव्य है, उसके साथ चैतन्य स्वरूप जीवद्रव्य कैसे सम्बन्ध कर लेता है ? जब चेतन (आत्मा) जड़कर्मों के साथ सम्बन्ध नहीं कर सकता, तब कर्म का कर्त्ता और उसका फल-भोक्ता कौन और कैसे होता है ?

जैनदर्शन इसका दो दृष्टियों से उतर देता है। व्यवहारनय की दृष्टि से तो आत्मा ही कर्मों का कर्ता और उसका फलभोक्ता है। किन्तु व्यवहार में आत्मा कर्मों का कर्त्ता तभी माना जाएगा, जब वह कषाय (क्रोध, मान, माया, लोभ) और योग (मन-वचन-काया की शुभाशुभ प्रवृत्ति) के वश में हो। जब आत्मा कषाय और योगों से सर्वथा रहित शुद्ध हो जाता है, तब कर्मों की अपेक्षा से आत्मा अकर्त्ता माना जाएगा। अर्थात्—उस निर्विकार अवस्था में कर्मों का कर्त्ता द्रव्यात्मा नहीं है, कषायात्मा और योगात्मा है। द्रव्यात्मा यानी परमशुद्ध मुक्त परमात्मा तो ऐसी स्थिति में स्व-स्वभाव का कर्ता है, कर्म आदि परभावों का नहीं। जीव जब कर्मों से सर्वथा रहित हो जाता है, तब वह किसी भी प्रकार से कर्मों का कर्त्ता नहीं हो सकता, न ही अकेला कर्मपुद्गल कर्त्ता हो सकता है, क्योंकि वह स्वयं जड़ है। अतः संसारी जीव और कर्मपुद्गलों का जब तक संयोग सम्बन्ध रहता है, तब तक व्यवहारनय की दृष्टि से संसारी जीव को ही कर्मों का कर्त्ता कहा गया है।

शुद्ध निश्चय की दृष्टि से आत्मा द्रव्यकर्मों का कर्त्ता नहीं हो सकता क्योंकि द्रव्यकर्म (कर्म परमाणु पुद्गलरूप) पौद्गलिक हैं। अतः वे पर हैं, उनका कर्त्ता चेतन आत्मा नही हो सकता। प्रत्येक द्रव्य स्व (निज) भाव का कर्त्ता हो सकता है, परभाव का नहीं। अतः शुद्ध निश्चयनय की दृष्टि से आत्मा अपने भावों—अपने निजी गुणों का कर्ता है। तथा अशुद्ध निश्चय नय की दृष्टि से भी आत्मा राग-द्वेषादि भावों या मिथ्यात्वादि पंचविध भावकर्मों का कर्ता है। इन दोनों दृष्टियों से आत्मा कर्मपुद्गल का कर्त्ता नहीं ठहरता।

मिथ्यादर्शन आदि भावकर्मों का उदय होने से उन तथाविध परिणामों-अध्यवसायों के द्वारा आत्मा में जो कार्मणवर्गणा के पुद्गल आते (आस्रव होता) हैं, जो कि रागद्वेष का निमित्त पकार आत्मा के साथ बँध

जाते हैं। वे ही द्रव्यकर्म कहलाते हैं, उन द्रव्यकर्मों के बन्ध के कारण ही आत्मा कर्मपुद्गलों का कर्त्ता होता है, उन्हीं के फलस्वरूप सुख-दुख भोगता है।

जब द्रव्यकर्मों का कर्ता आत्मा है तो भोक्ता भी वह स्वयं ही है। जो दर्शन यह कहते हैं कि कर्म करने और उसका फल भोगने में आत्मा स्वतंत्र नहीं है, ईश्वर, प्रकृति, माया या अदृश्य शक्ति के अधीन है, अथवा मनुष्य कर्म करने में तो स्वतन्त्र है, किन्तु पूर्वकृत अशुभकर्म के फल भोगने में स्वतन्त्र नहीं। अमुक देव देवी के समक्ष स्तुति, यज्ञ आदि करके उन्हें प्रसन्न करने से अशुभ कर्म के फल से बच सकता है। परन्तु ये दोनों मन्तव्य आत्मा के स्वतन्त्र कर्तृत्व शक्ति के ह्रास करने वाले एवं युक्तिविरुद्ध हैं। अतः अपने किये हुए कर्मों का फल आत्मा को स्वयं ही भोगना पड़ता है।

जीव कर्म करने और फल भोगने में स्वतन्त्र या परतन्त्र ?

एक दृष्टि से देखा जाए तो आत्मा जैसे कर्म करने में स्वतन्त्र है, वैसे ही कर्मों का क्षय करने, आते हुए कर्मों को रोकने, तथा अशुभ कर्मों को शुभ में परिणत करने में एवं दीर्घकालीन स्थिति वाले कर्मों को अल्पकालीन बनाने में भी वह स्वतन्त्र है। आशय यह है कि काल आदि लब्धियों की अनुकूलता हो तथा अशुभ कर्म का निकाचित बन्ध न हुआ हो तो जीव कर्मों को परास्त भी कर सकता है। यदि निकाचित बन्ध हो तो भी अशुभफल भोगते समय राग-द्वेष-कषायादि न करके समभाव, धैर्य, शान्ति एवं सहिष्णुता रखे तो वे कर्म भी अपना फल देकर समाप्त हो जाते हैं। वे उस आत्मा पर हावी नहीं हो सकते। इस दृष्टि से कर्म का कर्ता जैसे आत्मा है, वैसे भोक्ता भी वही है। कर्म करना भी उसके अधीन है, फल भोगना भी। एक के कर्म के बदले दूसरा फल नहीं भोग सकता, न ही कर्मफलस्वरूप आने वाले सुख-दुःख को दूसरा कोई बाँट सकता है।

हाँ, तीव्र राग द्वेष से लिप्त आत्मा अपना कर्मफल भोगते समय परतन्त्र (कर्माधीन) हो जाता है। जैसे मद्य का पान करने में जीव स्वतंत्र होता है, किन्तु उसके कारण मूर्च्छित एवं उत्मत्त हो जाने पर वह परतंत्र हो जाता है। अतः कर्मों की बहुलता या निकाचित कर्मों के फलभोग के समय जीव प्रायः कर्माधीन हो जाता है।

कर्मफल दाता कौन और कैसे ?

जैनदर्शन की मान्यता है कि कर्म करने में जीव जैसे स्वतंत्र है, वैसे फल भोगने में भी स्वतंत्र है। जैसे—मकड़ी अपना जाला स्वयं बनाती है और स्वयं ही उसमें फंसती है। शराबी शराब पीता है तो क्या नशा चढ़ाने के लिए कोई तीसरी शक्ति आती है ? मिर्च खाने वाले का मुँह जलाने के लिए क्या कोई तीसरा व्यक्ति आता है ? इसलिए जैनदर्शन ईश्वर या किसी अदृश्य शक्ति को कर्म का फल देने वाला नहीं मानता। जबकि वैदिक परम्परा कहती है कि जीव स्वय अज्ञ है, वह अपने शुभ या अशुभ कर्म का जोड़-तोड़ कर नहीं सकता इसलिए बहुधा अशुभ कर्म का फल स्वयं भोगना नहीं चाहता। सभी जीव यही चाहते हैं कि अशुभकर्म का फल न मिले, किन्तु किसी के चाहने न चाहने से कर्म अपना फल दे ही देते हैं। अज्ञानतावश ही कोई विष खाएगा तो तदनुरूप कर्म उसका फल देने से नहीं रुकते। अगर कोई दूसरा कर्म का फल देता है तो स्वकृत कर्म निरर्थक हो जाएँगे। किसी देवी-देव, शक्ति या परमात्मा को कर्मफल-दाता मानने पर तो उन पर पक्षपात, अन्याय आदि कई आक्षेप आएंगे। इसीलिए चाणक्य नीति में कहा गया है—

स्वयं कर्म करोत्यात्मा स्वयं तत्फलमश्नुते।
स्वयं भ्रमति संसारे स्वयं तस्माद् विमुच्यते॥

'आत्मा स्वयं ही कर्म करता है और स्वयं ही उसका फल भोगता है। वह स्वयं ही कर्मवश संसार में परिभ्रमण करता है और स्वयं ही कर्मों से मुक्त होता है।'

चोर और दुराचारी चोरी और दुराचार करने पर उसका फल भोगना नहीं चाहते, यह बात ठीक है, लेकिन कर्म करने के बाद जीव चाहे या न चाहे, कर्म परमाणु तो समय आने पर अपना प्रभाव अवश्य दिखाते हैं। निष्कर्ष यह है कि कोई भी जीव कर्म का बन्ध करने में स्वतंत्र है, किन्तु कर्म कर लेने पर यानी आत्मा के साथ कर्मबन्धन हो जाने पर वह चाहे कि उसका फल न मिले या इच्छानुकूल मिले, यह हो नहीं सकता। फिर तो शुभ या अशुभ कर्मपरमाणु सुख या दुःख के रूप में अपना प्रभाव दिखाते ही हैं। अर्थात् कर्म करने में जैसे जीव स्वतंत्र है, वैसे उसका फल भोगने में परवश स्वकृत कर्म के अधीन है। वृक्ष पर चढ़ने के लिए व्यक्ति स्वतंत्र है, परन्तु प्रमादवश गिर जाए तो उसके वश की बात नहीं।

प्रश्न हो सकता है—कर्म तो जड़ हैं, जड़ कर्मों को क्या ज्ञान है—कि किसे, कहाँ, किस रूप में शुभ या अशुभ फल प्रदान करना है? जब ज्ञान नहीं तो, वे जड़ कर्म जीवों को उनके कर्मों का फल कैसे भुगवा सकते हैं ?

जैनदर्शन का कहना है कि जड़ पदार्थ भी बिना किसी ज्ञान या प्रेरणा के कार्य करते ही हैं, अपना प्रभाव डालते ही हैं। रोग मिटाने के लिए रोगी दवा खाता है, जड़ दवा को क्या ज्ञान है, शरीर में जाकर रोग को ठीक करने का ? मिश्री को क्या ज्ञान है, मुँह में डालते ही उसे मीठा करने का ? इसी प्रकार जड़ कर्मों को ज्ञान न होते हुए भी वे जीव के राग-द्वेषयुक्त परिणामों से कर्मपरमाणु आकृष्ट होकर आत्मा के साथ सम्बद्ध होते हैं, तब शुभाशुभ अध्यवसायानुसार उन कर्मों में शुभ-अशुभ फल देने की शक्ति भी उत्पन्न हो जाती है। अतः अपना कर्म ही स्वयं फलदाता है, स्वयं जीव ही कर्मफल भोक्ता है।

कर्मबन्ध के कारण और प्रकार

कर्मबन्ध के मुख्य कारण राग और द्वेष हैं। तत्त्वार्थसूत्र में मिथ्यात्व, अविरति, प्रमाद, कषाय और योग इन पाँचों को, संक्षेप में कषाय और योग को—कर्मबन्ध के कारण बताए हैं। जीव के रागद्वेषादि परिणामों के निमित्त से आकृष्ट होकर मिथ्यात्वादि पंचास्रवरूप द्रव्यकर्म आत्मा के साथ दूध-पानी की तरह घुलमिल जाते हैं—बंध जाते हैं।

कर्म के दो रूप शास्त्रों में बताए हैं—कर्म और नोकर्म। नोकर्म कर्म के फल के रूप में दृष्टिगोचर होता है। जैसे—शरीर, धन, साधन, परिवार आदि कर्मविपाक की सहायक सामग्री नोकर्म है। ये शुभाशुभ कर्म-बन्ध के परिणाम भी हैं। किन्तु नोकर्म अपने आप में आत्मा के लिए बन्धन-कर्ता नहीं होते। पूर्वोक्त नोकर्मभूत पदार्थों पर राग-द्वेष करने या इन्हें सुख-दुःखरूप मानने से ये कर्मबन्ध के कारण बनते हैं। एक सूत्र इस सम्बन्ध में और भी ध्यान देने योग्य है—

'क्रियाए कर्म, उपयोगे धर्म और परिणामे बंध'

जीव के परिणामों में जहाँ रागद्वेष या कषाय की स्निग्धता होगी, वहीं कर्मरज चिपकेगी, कर्मबन्ध होगा।

आत्मा के योग और रागद्वेषादि काषायिक भावों के निमित्त से जब कर्म-वर्गणा के परमाणु-पुद्गल कर्मरूप में आत्मा से सम्बद्ध होते हैं, तब

उनमें चार बातें उत्पन्न हो जाती हैं—(१) उनका स्वभाव, (२) उनकी स्थिति, (३) उनकी फल देने की शक्ति और (४) अमुक परिमाण—संख्या में उनका जीव के साथ सम्बद्ध होना। ये चारों द्रव्यकर्मबन्ध के प्रकार हैं। उनके नाम इस प्रकार हैं—(१) प्रकृतिबन्ध, (२) स्थितिबन्ध, (३) अनुभाग (रस) बन्ध और (४) प्रदेशबन्ध। आत्मप्रदेशों के साथ कर्मपुद्गलों के आश्लेष की अपेक्षा से सर्वप्रथम योग द्वारा प्रदेशबन्ध, फिर स्वभाव निर्माण (प्रकृतिबन्ध), तत्पश्चात् कषाय द्वारा कालमर्यादा (स्थितिबन्ध) और फल शक्ति के निर्माण (अनुभागबन्ध) की अपेक्षा से क्रमशः प्रकृति, स्थिति और अनुभाग रूप में बन्ध होता है।

कर्मों की मूल प्रकृतियाँ एवं कार्य

कर्मों के विभिन्न स्वभावों के अनुसार उनका ८ भागों में वर्गीकरण किया गया है। उन्हें कर्म की मूल प्रकृतियाँ कहते हैं। वे आठ इस प्रकार हैं—

(१) ज्ञानावरणीय, (२) दर्शनावरणीय, (३) वेदनीय, (४) मोहनीय, (५) आयुष्य, (६) नामकर्म, (७) गोत्रकर्म और (८) अन्तराय।

जब कोई कर्म किया जाता है, तब उस कर्म के परमाणु आठ भागों में विभक्त हो जाते हैं। इन आठों मूल कर्म प्रकृतियों (कर्मों) में से चार घात्य या घातिक हैं और चार अघात्य या अघातिक हैं।

घात्यकर्म वे हैं, जो आत्मगुणों और आत्मशक्तियों के आवरक, विकारक एवं प्रतिरोधक हैं। वे चार हैं—ज्ञानावरण, दर्शनावरण, मोहनीय और अन्तराय।

(१) **ज्ञानावरणीय**—जो आत्मा के ज्ञानगुण को आवृत करता है, वह ज्ञानावरणीय है।

(२) **दर्शनावरणीय**—जो आत्मा के दर्शन-गुण को आच्छादित कर देता है, वह दर्शनावरणीय है।

(३) **मोहनीय**—जिस कर्म के वशीभूत होकर जीव सम्यग्दर्शन, सम्यक्चिन्तन, एवं सम्यक्आचरण (चारित्र) को भूलकर अथवा अपने सम्यग्भाव या स्वस्वरूप को भूलकर केवल मिथ्यादर्शन, मिथ्या चिन्तन या मिथ्याचरण अथवा मिथ्याभाव या परभाव में प्रवृत्त रहता है।

(४) **अन्तराय**—जिस कर्म के कारण आत्मा की दान, लाभ, भोग, उपयोग और वीर्य (पुरुषार्थ) की शक्ति में विघ्न-बाधाएँ आयें, या पदार्थ पास में होते हुए भी उनका दान, भोग, या उपभोग न किया जा सके, उपलब्ध होने योग्य पदार्थ न मिल सकें, उसका नाम अन्तराय कर्म है।

इन चारों घात्य कर्मों के क्षय करने के लिए आत्मा को तीव्र पुरुषार्थ करना होता है। ये चारों कर्म अशुभ ही होते हैं।

अघात्यकर्म वे हैं, जो आत्मा के निज-गुणों या अत्मशक्तियों को आघात न पहुँचा सकें, किन्तु विशेषतः शरीर या इस जन्म से सम्बन्धित हों। अघात्य कर्म चार हैं—वेदनीय, आयुष्य, नाम और गोत्रकर्म। ये चारों शुभ और अशुभ दोनों प्रकार के होते हैं।

(५) **वेदनीय कर्म**—जिस कर्म के प्रभाव से आत्मा निजानन्द (आत्मिक सुख) को भूलकर सांसारिक सुखरूप (पुण्य) या दुःखरूप (पाप) फल को भोगता है, वेदन (अनुभव) करता है, उसे वेदनीय कहते हैं। इसके दो भेद हैं—सातावेदनीय और असातावेदनीय। ये क्रमशः सांसारिक सुखानुभूति और दुःखानुभूतिरूप फल के निमित्त बनते हैं।

(६) **नाम कर्म**—जिस कर्म के उदय से जीव शुभ या अशुभ शरीर, उसके अंगोपांग तथा प्रभाव आदि प्राप्त करता है, वह नामकर्म कहलाता है। इसके भी दो प्रकार हैं—शुभ और अशुभ।

(७) **गोत्र कर्म**—जिस कर्म के द्वारा आत्मा को जाति, कुल, गोत्र आदि उच्चता या नीचता प्रतीत होती है, उसे गोत्र कर्म कहते हैं। यह दो प्रकार का है—उच्चगोत्र और नीचगोत्र। ये क्रमशः उच्चता-नीचता या सम्मान-असम्मान के निमित्त बनते हैं।

(८) **आयुष्य कर्म**—इस कर्म के कारण आत्मा चारों गतियों में परिभ्रमण करता है, अमुक कालावधि तक स्थिति करता है, टिका रहता है, उसे आयुष्य कर्म कहते हैं। इसके भी दो प्रकार हैं—शुभायु और अशुभायु। चारों गतियों में से मनुष्यायु और देवायु, ये दो शुभ हैं और तिर्यञ्चायु और नरकायु, ये दो अशुभ हैं। इनके संयोग से जीवन क्रमशः सुखी और दुःखी होता है।

आठों कर्मों के बन्ध के कारण

आठों ही कर्मों के बन्ध के पृथक्-पृथक् कारणों का निरूपण भगवती सूत्र में बताया गया है। संक्षेप में वह इस प्रकार है--

(१-२) **ज्ञानावरणीय दर्शनावरण कर्म बन्ध के कारण**– ज्ञान या ज्ञानी अथवा दर्शन या दर्शनवान् के प्रति प्रतिकूलता से, ज्ञान या ज्ञानी, दर्शन या दर्शनी का नाम छिपाने से, उनके साथ द्वेष व मात्सर्य करने से, उनके अभ्यास में अन्तराय डालने से, उनकी निन्दा-आशातना करने से, उनके साथ विसंवाद-कलह करने से।

(३) **सातावेदनीय-असातावेदनीय कर्मबन्ध के कारण**—समस्त प्राणियों के प्रति अनुकम्पा करने, उन्हें सुख देने, शोक पैदा न करने, विलाप न कराने, अश्रुपात न कराने, न पीटने और न ही किसी प्रकार का परिताप पहुँचाने से सातावेदनीय का बन्ध होता है। इनके विपरीत कारणों से असातावेदनीय कर्म का बन्ध होता है।

(४) **मोहनीय कर्म बन्ध के कारण**—तीव्र क्रोध, मान, माया और लोभ से, तीव्र दर्शनमोहनीय और चारित्रमोहनीय से मोहनीय कर्मबन्ध होता है।

(५) **आयुष्य कर्म बन्ध के कारण**--**नरकायुबन्ध**—महारम्भ, महापरिग्रह, मांसाहार या मृतक भक्षण और पंचेन्द्रिय वध से।

तिर्यञ्चायु बन्ध—परवंचन से, माया से, कपट क्रिया करने से, झूठ बोलने से, झूठा नाप-तोल करने से।

मनुष्यायु-बन्ध—प्रकृति-भद्रता (सरल स्वभाव), प्रकृति विनीतता से, दयावान् होने से और मात्सर्य न होने से।

देवायुबन्ध—सराग संयमपालन से, सराग गृहस्थ धर्म के पालन से, अकाम निर्जरा से तथा बाल (अज्ञानपूर्वक) तप करने से।

(६) **नाम कर्म बन्ध के कारण—शुभनामकर्म बंध के ४ कारण**—

(१) काया की ऋजुता (शरीर से किसी के साथ छल न करने से—सरलता) से, (२) भाषा की ऋजुता, (३) भावों की ऋजुता एवं (४) मन-वचन-काया की प्रवृत्तियों की अविसंवादिता—अवक्रता से।

अशुभ नामकर्म बंध के ४ कारण—(१) काया की वक्रता से,

(२) भाषा की वक्रता से (३) भावों की वक्रता से एवं (४) योगों के विसंवादन से।

(७) **गोत्रकर्म बन्ध के कारण**—आठ कारण हैं—जातिमद, कुलमद, बलमद, रूपमद, तपोमद, लाभमद, श्रुतमद और ऐश्वर्यमद करने से नीच गोत्र कर्म का और इसके विपरीत इन आठों मदों को न करने से उच्च गोत्र कर्म का बन्ध होता है।

(८) **अन्तराय कर्मबंध के ५ कारण**—(१) दानान्तराय—दान देने में विघ्न डालने से, (२) लाभान्तराय—किसी को लाभ मिलता हो, उसमें विघ्न डालने से, (३) भोगान्तराय—भोग्य वस्तु को भोगने में विघ्न डालने से, या विघ्न होने से, (४) उपभोगान्तराय—उपभोग्य वस्तु के उपभोग करने में अन्तराय डालने या विघ्न होने से, तथा (५) वीर्यान्तराय—शुभकार्य-विषयक पुरुषार्थ में विघ्न उपस्थित होने या करने से।

उत्तर प्रकृतियाँ

इन आठों कर्मों की उत्तर प्रकृतियाँ १४८ या १५८ होती हैं यथा—ज्ञानावरणीय की पाँच, दर्शनावरणीय की नौ, वेदनीय की २, मोहनीय की २८, आयुष्य कर्म की ४, नामकर्म की ९३ या १०३, गोत्र कर्म की २ और अन्तराय कर्म की ५।

कर्मवाद पर उत्कृष्ट आस्था से आस्तिक्य को सुदृढ़ता

इसी प्रकार आठों ही कर्मों का क्रम, उनकी स्थिति, उदय, उदीरणा, सत्ता, अनुभाव (फलविपाक), उद्वर्तना, अपवर्तना, संक्रमण उपशम, निधत्ति और निकाचना, इत्यादि कर्मों से सम्बन्धित समस्त जानकारी कर्मवाद के अन्तर्गत समझ लेनी चाहिए। कर्मवाद पर उत्कृष्ट आस्था की महत्वपूर्ण चिन्तनधारा ही आस्तिक्य को सुदृढ़ बनाती है।

□

२२

आस्तिक्य का चतुर्थ आधार : क्रियावाद

आस्तिक्य का चतुर्थ मुख्य आधार क्रियावाद है । दूसरे शब्दों में कहें तो क्रियावाद ही आस्तिक्य का मेरुदण्ड है। अतः पहले हमें क्रियावाद का स्वरूप समझना होगा । क्रियावाद के साथ-साथ उसके प्रतिपक्षी अक्रियावाद को भी समझ लेना आवश्यक है । क्योंकि जहाँ तक आचार का प्रश्न है, वह विचार पर आधारित है, जैसा विचार होगा, वैसा ही आचार होगा । इसीलिए सर्वप्रथम क्रियावाद की विचारधारा को समझने के लिए उसको यथार्थरूप से जानना, दृढ़तापूर्वक मानना अनिवार्य है। ये दोनों होंगे, तभी उसे सम्यक्रूप से जानकर उस पर उत्कृष्ट आस्था रख कर साधक दृढ़तापूर्वक आचरण कर सकेगा । अतः क्रियावाद को माने बिना साधक केवल आत्मा, परमात्मा, लोक-परलोक, या कर्म-कर्मफल को जानकर एवं मानकर ही अपने कल्याण की इतिश्री समझ लेगा । क्रियावाद आत्मा के अन्तिम लक्ष्य—मोक्ष की ओर तीव्रता से पुरुषार्थ करने की बात कहता है । उसको माने बिना आत्मा की परम शुद्ध दशा की प्राप्ति के लिए पुरुषार्थ करना कठिन होगा ।

क्रियावाद : सम्यक्वाद

क्रियावाद को आस्तिक्य की चरमसीमा कहा गया है । इसलिए उसका एक फलितार्थ किया गया है— **क्रियावादः सम्यग्वादः'** जो मान्यता सत्यता से विभूषित हो, जिसकी तत्त्व-प्ररूपणा यथार्थवाद के जल से अभिषिक्त हो, वही सम्यग्वाद है, उसे ही दूसरे शब्दों में क्रियावाद कहा गया है । जो वस्तु संसार में विद्यमान है, उसे 'है' कहना और जो अविद्यमान है, उसे 'नहीं है' कहना सम्यग्वाद है । क्रियावाद-सम्यग्वाद या अस्तिवाद

के परम समर्थक एवं प्रेरक भगवान् महावीर ने क्रियावाद के सन्दर्भ में अस्तिवाद का शंखनाद किया—

"अत्थि लोए, अत्थि अलोए, अत्थि जीवा, अत्थि अजीवा, अत्थि बंधे, अत्थि मोक्खे, अत्थि पुण्णे, अत्थि पावे, अत्थि आसवे, अत्थि संवरे, अत्थि वेयणा, अत्थि निज्जरा, अरिहंता वि संति, चक्कवट्टी वि अत्थि, बलदेव-वासुदेवा वि संति, णरगा वि संति, देवलोआ वि संति, तिरिक्खजोणिया वि संति, रिसओ वि संति, सिद्धा वि संति, सिद्धि वि अत्थि, अत्थि परिणिव्वाणे, परिणिव्वुआ वि संति।"[1]

अर्थात्—"लोक है, अलोक है, जीव है, अजीव है, बन्ध है, मोक्ष है, पुण्य है, पाप है, आस्रव है, संवर है, वेदना (सुख-दुःखवेदन) है, निर्जरा है, अरिहन्त भी हैं, चक्रवर्ती भी हैं, बलदेव और वासुदेव भी हैं, नरक भी हैं, देवलोक (स्वर्ग) भी हैं, तिर्यञ्च भी हैं, ऋषि भी हैं, सिद्ध (मुक्त आत्मा) भी हैं, सिद्धि (मुक्ति) भी है, परिनिर्वाण (मोक्ष) है; और परिनिवृत (मोक्ष-प्राप्त=मुक्त) भी हैं।"

इन सबको और आत्मा से सम्बन्धित ऐसे ही अन्य तत्त्वों=पदार्थों को जानने-मानने वाला आस्तिक है। और वही क्रियावादी या सम्यग्वादी है। इसके विपरीत जो इन तत्त्वों को नहीं मानता—जानता वह नास्तिक है, अक्रियावादी है।

क्रियावादी और अक्रियावादी

किसी भी बात को भलीभाँति सोचने, समझने और तत्त्व का अन्वेषण करने का काम प्रज्ञा का है। प्रज्ञा कहते हैं सद्-असद्-विवेकशालिनी बुद्धि को। कुछ लोगों में बौद्धिक क्षमता तो अधिक होती है, वे तर्क-कुतर्क करने में सक्षम होते हैं, परन्तु केवल बौद्धिक उड़ान भरने वाले व्यक्तियों की श्रद्धा किसी एक निश्चित सिद्धान्त पर नहीं टिकती। उनका हृदय संशयग्रस्त रहता है। इसलिए वे क्रियावादी नहीं कहलाते। जो क्रियावादी होते हैं, वे उपरोक्त अतीन्द्रिय वस्तुओं को श्रद्धा से मान लेते हैं तथा प्रत्यक्ष इन्द्रियगोचर वस्तुओं के विषय में तर्क भी करते हैं, युक्ति से समझना भी चाहते हैं, परन्तु वस्तु हृदयंगम हो जाने के पश्चात् वे उस पर श्रद्धा और निष्ठा रखकर चलते हैं, उनकी श्रद्धा भी सक्रिय हो जाती है। यही कारण है कि जो क्रिया-

---

१. उववाई सूत्र

वादी होता है, वह आत्मवाद, लोकवाद और कर्मवाद, इन पूर्व-पूर्व वादों को अवश्य मानता है, किन्तु इनसे आगे बढ़कर वह अपनी शक्ति (वीर्य) की शुद्धि में जीवन को लगा देता है; क्योंकि वह जानता है कि वीर्य (शक्ति) के अशुद्ध होने से आत्मा संसार में परिभ्रमण करता है, और शुद्ध वीर्य से संवर युक्त बनता है।

जैसा कि कहा है—**'क्रिया हि वीर्यशुद्धिहेतुर्भवति'** क्रियावादी की क्रिया वीर्य शुद्धि का कारण बनती है। योग —मन-वचन-काया की प्रवृत्ति वीर्य से होती है। और क्रियावादी योगों से सत्प्रवृत्ति ही करता है। योगों की सत्प्रवृत्ति ही क्रिया होती है।

यही कारण है कि क्रियावादी के लिए भगवान ने पाप और पुण्य अथवा अधर्म और धर्म के कारणों को जानने-मानने और विश्वास को सक्रिय बनाने का निर्देश किया है—

"अत्थि पाणाइवाए, मुसावाए, अदिण्णादाणे, मेहुणे, परिग्गहे, अत्थि कोहे माणे माया लोभे, जाव मिच्छादंसणसल्ले।"

"अत्थि पाणाइवाए-वेरमणे, मुसावाए-वेरमणे, अदिण्णादाण-वेरमणे, मेहुण-वेरमणे, परिग्गह-वेरमणे, कोह-विवेगे जाव मिच्छादंसण-सल्ल-विवेगे।"

जगत् में कोई दुःख है तो उसका कोई न कोई ज्ञात-अज्ञात कारण होना चाहिए। वस्तुतः अज्ञान ही दुःख का कारण है, किन्तु व्यवहार में पाप को दुःख का कारण बताया गया है। वे पाप-स्थान १८ हैं, उनका अस्तित्व है, ऐसा क्रियावादी मानता है, तथा उन १८ ही पापस्थानों से आत्मा मुक्त भी हो सकता है, इन पापों से व्यक्ति विरत हो सकता है, पापों से विरमण का अस्तित्व अनेक साधकों ने अहिंसादि की साधना करके सिद्ध कर दिया है। ऐसा जानने-मानने वाला भी क्रियावादी है।

क्रियावादी वस्तु तत्व से इन्कार नहीं करता, और न ही मिथ्याग्रह-वश वस्तुस्थिति के विरुद्ध कुयुक्ति एवं कुतर्क देकर उसका खण्डन करता है, जबकि अक्रियावादी विश्व में वर्तमान तत्त्वों का अपलाप करता है। मिथ्यात्वग्रस्त होने के कारण वह वस्तुस्वरूप को दुष्ट हेतुओं और दुष्प्रमाणों से अन्यथा समझता है। अतः वह नास्तिक है।

लोक-अलोक का अस्तित्व—क्रियावादी लोक और अलोक को, सर्वज्ञ आप्त-पुरुषों द्वारा उपदिष्ट तथ्य के अनुसार जानते-मानते हैं, जबकि

अक्रियावादी लोक का स्वरूप, लोक का कर्तृत्व एवं उसका परिमाण विपरीत रूप में मानते हैं। अलोक को तो वे मानते ही नहीं। अथवा जो प्रत्यक्ष दिखाई देने वाले देश, राष्ट्र या प्रान्त आदि हैं, उन्ही को वह लोक समझता है, परोक्षगत देवलोक, एवं नरकलोक को वह लोक ही नहीं मानता। इससे भी आगे बढ़कर कुछ शून्यवादी बन्धु लोक (जगत्) को सर्वशून्य कहते हैं। उनका कहना है कि जिस प्रकार स्वप्नलोक में विभिन्न स्वप्न दिखाई देते हैं, किन्तु आँख खुलते ही वह माया नदारद हो जाती है, सब दृश्य विलुप्त हो जाते हैं। उसी प्रकार जब तक जीवन है, उसमें तेज, स्फूर्ति और चेतना है, तभी तक विश्व के चित्ताकर्षक दृश्यों की प्रतीति होती है, वह एक प्रकार का आभास = झलक है। शरीर का अन्त होते ही स्वप्नवत् संसार की वह माया लुप्त हो जाती है, कुछ भी शेष नहीं रहता, सर्वत्र शून्यता छा जाती है। जगत् नाम की कोई वस्तु नहीं रहती। किन्तु भगवान महावीर ने लोक और अलोक की प्ररूपणा करते हुए शून्यवादियों की इस युक्तिहीन मान्यता का खण्डन किया है।

जीव का अस्तित्व—चार्वाक एवं नास्तिक लोगों की भाँति कई लोग जीव के अस्तित्व में विश्वास नहीं रखते, अथवा 'Cow has no soul' 'गाय के आत्मा नहीं है', एकेन्द्रिय जीवों में चेतना नहीं होती, इस प्रकार का कथन करके कतिपय मतवादी जीवों के अस्तित्व का अपलाप करते हैं, अथवा जीव को अजीव समझते हैं, वे सभी अक्रियावादी हैं। वे शरीर और आत्मा (जीव) को एक ही समझते हैं। उनका कथन है कि इस जगत् में पृथ्वी, जल, वायु, अग्नि और आकाश में पाँच महाभूत ही तत्व हैं। इनके समुदाय से चैतन्य या आत्मा उत्पन्न होता है। पंचभूतों के नष्ट होते ही उसका भी नाश हो जाता है। अतः आत्मा (जीव) नामक कोई स्वतन्त्र पदार्थ प्रत्यक्ष नहीं है। जो प्रत्यक्ष नहीं, उसे हम कैसे मानें? आत्मा नाम का कोई स्वतन्त्र पदार्थ इन्द्रियों और मन से प्रत्यक्ष नहीं है, तब हम उसे क्यों मानें? जिस प्रकार तिलों से तेल, अरणि की लकड़ी से अग्नि, दूध से घी उत्पन्न होता है, वैसे ही पंचभूतात्मक शरीर से जीव (चैतन्य) उत्पन्न होता है। शरीर नष्ट होने पर आत्मा जैसी कोई वस्तु नहीं रहती।"[1]

---

१ (क) पृथिव्यादिभूतसंहत्यां यथा देहादिसम्भवः।
मदशक्तिः सुरांगेभ्यो यत्तद्वच्चिदात्मनि॥
—षड्दर्शनसमुच्चय श्लो० ८४

(ख) पृथिव्यपस्तेजोवायुरिति तत्त्वानि तत्समुदाये शरीर-विषयेन्द्रियसंज्ञाः तेभ्यश्चैतन्यम्।
—तत्त्वोपप्लव शां० भाष्य

इसके विपरीत क्रियावादी का कथन यह है कि आत्मा के अस्तित्व में सन्देह मत करो। वह अमूर्त्त है, इसलिए इन्द्रियग्राह्य नहीं है। जीव (आत्मा) द्रव्यार्थिकनय की दृष्टि से नित्य है, किन्तु स्वकृत मिथ्यात्व, अज्ञान, एवं राग-द्वेषादि दोषों के कारण हुए कर्मबन्ध के फलस्वरूप नाना गतियों एवं योनियों में परिभ्रमण करने तथा मनुष्य, तिर्यंच आदि नाना पर्यायों में परिणत होने के कारण अनित्य भी है। अतः जीव को जड़ भूतों का विकार नहीं माना जा सकता। भगवान महावीर ने जीव (आत्मा) का लक्षण बताया है—

"नाणं च दंसणं चेव चरित्तं च तवो तहा।
वीरियं उवओगो य, एयं जीवस्स लक्खणं॥"

ज्ञान, दर्शन, चारित्र और तप तथा वीर्य और उपयोग आदि जीव के असाधारण लक्षण हैं। ये गुण या लक्षण अजीव (जड़) पंचभूतों के विकार नहीं हो सकते।

जब सब कुछ जड़ (अजीव) ही है तो अजीव को जीव (आत्मा) की स्मृति कैसे होती? अतः अक्रियावादियों की यह शंका ही जीव के अस्तित्व का प्रबल प्रमाण है। अतः क्रियावादी यह मानते हैं कि जीव पहले भी था, अब भी है और भविष्य में भी रहेगा।

अजीव का अस्तित्व—क्रियावादी कहते हैं कि अजीव का भी जीव से भिन्न स्वतंत्र अस्तित्व है। वह परमाणु की अपेक्षा से नित्य है और स्कन्ध, देश, प्रदेश की अपेक्षा से अनित्य। परिवर्तन तो परमाणु में भी होता रहता है, परन्तु वह मूलतः नष्ट नहीं होता। इसीलिए भगवान महावीर ने अजीव को नौ तत्त्वों में दूसरा मूल और स्वतंत्र तत्व माना है।

पुरुषाद्वैतवादी 'एकमेवाद्वितीयं ब्रह्म'—सर्वत्र एक ही ब्रह्म है, दूसरा कुछ नहीं; का सिद्धान्त प्रस्तुत करके कहते हैं—अजीव का तो केवल आभास या अध्यास होता है, वह मिथ्या है, माया है भ्रम है, जो तत्वज्ञान होने पर उड़ जाता है। इस प्रकार अजीव के पृथक् अस्तित्व से इन्कार किया है, किन्तु जीव के लक्षण अजीव में कदापि घटित नहीं हो सकते। इसलिए 'पुरुषाद्वैतवाद' का सिद्धान्त खण्डित हो जाता है।

बन्ध और मोक्ष का अस्तित्व—अक्रियावादियों का कहना है कि जब आत्मा ही नहीं है, तब किसका बन्ध और किसका मोक्ष? इसी प्रकार कई लोग आत्मा को आकाश की तरह निर्बन्ध मानते हैं, उनके मत में आत्मा एकान्त अरूपी और अमूर्त है। जैसे—सांख्यदर्शन पुरुष (आत्मा) को सर्वथा मुक्त मानता है। वह प्रतिबिम्बित पुरुष (आत्मा) को बद्ध कहता है।

वेदान्त भी काल्पनिक बन्ध मानता है, और उस अज्ञानजनित वैचारिक बन्ध की निवृत्ति —'मैं किसी प्रकार बद्ध नहीं, अबद्ध हूँ, मुक्त हूँ,' इस प्रकार की प्रतिपक्षी भावनामात्र से नहीं होती। यदि इसी प्रकार से आत्मा बन्ध-रहित हो जाता तो फिर रत्नत्रयसाधना, त्याग, तप, संयम, आदि की क्या आवश्यकता रहती ?

हाँ क्रियावादी जैनदर्शन निश्चयनय से जीव (परम आत्मा) को अरूपी अमूर्त, मुक्त, शुद्ध, और बन्धरहित मानता है. किन्तु व्यवहारनय से तो संसारस्थ जीव कर्मों से बद्ध और रूपी है। इसलिए बन्ध का कथमपि अपलाप नहीं किया जा सकता।

इसी प्रकार अक्रियावादी मोक्ष भी नहीं मानते। उनका कहना है, आत्मा के जब बन्ध ही नहीं है, तब मोक्ष को क्यों माना जाए ? ये दोनों परोक्ष हैं, इन्द्रियगोचर नहीं हैं। आर्यसमाजी आदि कुछ मत यह मानते हैं, मोक्ष तो है, पर वह अस्थायी, अनित्य और अशाश्वत हैं, क्योंकि मोक्ष होने के बाद भी मुक्त जीव कुछ दिन वहाँ रहकर वापस संसार में लौट आता है। मीमांसकों का यह मत भी भ्रान्त है कि आत्मा के अनादि बन्धन छूट नहीं सकते, केवल सादि बन्धन ही छूटते हैं। वस्तुतः बन्धन कोई भी हो, बुरा है, तथा बन्धन कभी अनादि नहीं हो सकता। कर्म प्रवाहरूप से अनादि अवश्य हैं, अतः आत्मा कर्मों के उस प्रवाह को तपस्या, ध्यान, या चारित्रपालन द्वारा क्षय करके मोक्ष प्राप्त कर सकता है। अनेक महान् वीतराग आत्माओं ने मोक्ष प्राप्त किया है। अतः बन्धन से सर्वथा मुक्ति (मोक्ष) भी है। ऐसा क्रियावादियों का कथन है।

पुण्य-पाप का अस्तित्व—क्रियावादी पुण्य और पाप दोनों का अस्तित्व मानते हैं। जबकि नास्तिक पुण्य को मधुर कल्पना और पाप को कटु कल्पना कहकर दोनों को नहीं मानते। पुण्य और पाप न माना जाए तो यहाँ अच्छे कर्मों में प्रवृत्त होने और बुरे कर्मों से निवृत्त होने का पुरुषार्थ कोई क्यों करेगा ? अथवा कई लोग कहते हैं कि पुण्य को मानने की क्या आवश्यकता है ? पाप के बढ़ने से दुःख और पाप के घटने से सुख होता है इसलिए पाप को ही मान लिया जाए। अथवा पुण्य को ही मान लिया जाए। पुण्य के ह्रास से दुःख और पुण्य की वृद्धि से सुख की प्राप्ति होती है। ये दोनों मत एकान्तवादी होने से त्याज्य हैं, क्योंकि प्राणी के जीवन में पुण्य और पाप दोनों की मात्रा रहती है। कहा भी है कि—

'फुसइ पुण्णपावे पच्चायंति जोवा, सफले कल्लाण-पावए।'

जीव पुण्य और पाप को स्पर्श करते हुए उनके अच्छे-बुरे फल को

प्राप्त करते हैं। जीव को पुण्य का फल मिलने के साथ-साथ पाप कर्म का फल भी रोग, शोक आदि के रूप में मिलता है। इसलिए क्रियावादी इन दोनों तत्त्वों का पृथक्-पृथक् अस्तित्व मानते हैं। पुण्य और पाप क्रमशः अमृत और विष हैं। पुण्य उज्जीवक है, पाप मारक है। दोनों भिन्न-भिन्न गुण और प्रकृति के अधिपति हैं। उच्च भूमिका में आरूढ़ होने पर तो पुण्य को भी छोड़ना पड़ता है, पाप तो पहले की भूमिका में ही छूट जाता है।

आस्रव और संवर का अस्तिव—जैसे—जलभण्डार में संगृहीत जल नलों के द्वारा घर-घर में पहुँचता है, वैसे ही मन-वचन-काया की प्रवृत्तियों (योगों) से आकृष्ट होकर कर्मपुद्गलरूपी जल आत्मा में प्रवेश करता है। इस प्रकार त्रियोगों से आकृष्ट होकर कर्मों का जीव के सन्निकट आना आस्रव है। रोग-द्वेषादि भावों के प्रवाह का आना भावास्रव है और भावास्रव से कर्मदलिकों का जीव के निकट आने का नाम द्रव्यास्रव है। इन दोनों आस्रवों से आत्मा में कर्मों का प्रवेश होने के बाद ही कर्मबन्ध होता है। शुभाशुभ कर्मों का आत्मा में आगमन मिथ्यात्व, अव्रत, प्रमाद, कषाय और योग के कारण होता है। उक्त कारणों को रोक देने से आस्रव का निरोध हो जाता है, उसे ही संवर कहते हैं। क्रियावादियों का कथन है—संसारी जीवों में प्रायः आस्रव और संवर दोनों का क्रम चलता रहता है। इसके अस्तित्व से इन्कार नहीं किया जा सकता। परन्तु अक्रियावादी कहते हैं कि आस्रव या संवर आत्मा में प्रविष्ट होते एवं रुकते नजर नहीं आते, इसलिए इन्हें हम नहीं मानते। किन्तु उनके न मानने से शुभाशुभ कर्म अपना फल देने से नहीं रुकते।

वेदना का अस्तित्व—वेदना कहते हैं सुख-दुःख की अनुभूति को। वह तो क्रियावादी और अक्रियावादी दोनों को होती है। परन्तु क्रियावादी वेदना के मूल कारण कर्म और आत्मा के संयोग को मानकर इन दोनों के संयोग को छोड़ने को प्रयत्न करता है, क्योंकि वे दोनों प्रकार के वेदन वेदनीय कर्म के उदय से होते हैं। क्रियावादी दुःख में तड़फता नहीं, सुख में फूलता नहीं, समभाव रखता है, इसलिए उच्चभूमिका में वेदनीय कर्म से भी वह मुक्त हो जाता है। जबकि अक्रियावादी सुख के वेदन के समय अहंकारग्रस्त, मदोन्मत्त होकर फूलता है, दुःख के समय हाय-तोबा मचाता है और नाना अशुभ कर्मों का बन्धन कर लेता है।

निर्जरा का अस्तित्व—कर्मों को भोग लेने के बाद उनके आंशिक क्षय का नाम निर्जरा है। निर्जरा दो प्रकार की है—सकामनिर्जरा

और अकामनिर्जरा । बिना ही उद्देश्य से, बिना मन से जो कष्ट सहे जाते हैं, या तप हो जाता है, उसे अकामनिर्जरा कहते हैं। नारक तिर्यंच या दुखित मानव अकामनिर्जरा करते रहते हैं, परन्तु दूसरी ओर उनके मन में समभाव न होने, शान्ति, धैर्य और स्वेच्छापूर्वक कष्ट सहन न करने या कर्मफल न भोगने से नये कर्मों का बन्ध होता रहता है। सकाम निर्जरा ही क्रियावादियों को अभीष्ट है। यही मोक्ष की ओर ले जाने वाली है, यद्यपि दोनों प्रकार की निर्जरा का अस्तित्व क्रियावादी मानते हैं। अक्रियावादी कहते हैं कि आत्मा नामक कोई वस्तु ही नहीं है, केवल शरीर है, वही सब कुछ है। वह यहीं भस्म हो जाता है, तब किसके लिए निर्जरा की जाए ? क्यों कष्ट भोगा जाए ? परन्तु क्रियावादियों का कहना है कि आत्मा तो अनेक प्रमाणों से सिद्ध है। ऐसी स्थिति में संसारी आत्मा के कर्मबन्ध होता ही रहे, निर्जरा ही न हो, तो वह मोक्ष या मुक्ति कैसे प्राप्त कर सकेगा ? अथवा कर्मनिर्जरा न हो तो मोक्ष के लिए वह बाह्याभ्यन्तर तप, परीषहजय, समिति-गुप्तिपालन, चारित्र-पालन करेगा ही क्यों ? क्यों कष्टों को समभाव से सहेगा ? संवर और निर्जरा दोनों मोक्ष प्राप्ति में सहायक हैं। संवर से नये कर्मों का आगमन रुक जाता है, और निर्जरा से पूर्वकृत कर्मों का क्षय होता जाता है, कुछ भोग कर और कुछ तपश्चर्या, परीषह-सहन आदि करके। इस प्रकार मोक्ष की जननी, तथा आत्मा की निजी सम्पत्ति पर अधिकार दिलाने वाली निर्जरा के अस्तित्व को माने बिना कोई चारा नहीं।

अरिहंतों और सिद्धों का अस्तित्व—अक्रियावादियों का कहना है कि अरिहंत अथवा अर्हत्पद को हम नहीं मानते क्योंकि अरिहन्त अभी हमारे समक्ष प्रत्यक्ष नहीं है, और प्रत्यक्ष हों तो भी उनके ज्ञान-दर्शन आदि गुण भी हमें प्रत्यक्ष नहीं होते। वे भी हमारे समान मानव हैं। उनको मानने, पूजने या विशेष महत्व देने से हमें क्या मतलब है ? क्रियावादियों का कहना है कि अरिहंत भले ही आज प्रत्यक्ष न हों, किन्तु उनका ज्ञान, दर्शन, उनके द्वारा प्ररूपित सिद्धान्त हमारे समक्ष हैं। अरिहंत चारों कर्मों का क्षय कर डालते हैं—ज्ञानावरणीय, दर्शनावरणीय, मोहनीय और अन्तराय, इन चार आत्मगुण घातक कर्मों से मुक्त होकर वे अनन्तज्ञान, अनन्तदर्शन, अनन्तआत्मिक सुख और अनन्तवीर्य (शक्ति) इन चार अनन्त आत्मिक गुण सम्पदाओं को प्राप्त करते हैं। वे क्षायिक सम्यक्त्व के धनी होते हैं। वे जीवनन्मुक्त होकर जब तक आयुष्य है तब तक भूमण्डल पर विचरण करते हैं, आयुष्य क्षय होने के साथ ही शेष चार अघाती कर्मों का

सर्वथा क्षय करके सिद्ध-बुद्ध-मुक्त, निरंजन-निराकार परमात्मा हो जाते हैं। उन्हें ही क्रियावादी सिद्ध कहते हैं। वे आठों ही कर्मों, जन्म, जरा, मरण, शरीर, चतुर्गतिक संसार, व्याधि, उपाधि आदि से सर्वथा रहित मुक्त हो जाते हैं। आत्मा का अन्तिम लक्ष्य मोक्षपद उन्हें प्राप्त हो जाता है। उन्हें फिर संसार में लौटकर आना नहीं होता।

वे निरंजन-निराकार परमात्मा १५ प्रकार से हो सकते हैं? तथा ऐसे निराकार परमात्मा विश्व के कर्ता-धर्ता-संहर्त्ता कदापि नहीं हो सकते। ऐसे सिद्ध परमात्मा (ईश्वर) एक नहीं, अनेक हुए हैं, और हो सकते हैं।

वे कृतकृत्य परमात्मा हो जाते हैं। परन्तु अक्रियावादी इन्हें इन्द्रिय-प्रत्यक्ष न होने से नहीं मानते। अरिहन्त संसार में रहते हुए भी संसार से अनासक्त, अलिप्त, उच्चकोटि के आध्यात्मिक महापुरुष होते हैं; जबकि सिद्ध संसार से, संसार के कारणों—शरीर, कर्म, जन्म-मरण आदि से सर्वथा मुक्त होते हैं। इन दोनों के आदर्श को माने बिना मानव-जीवन में रत्नत्रय साधना से कर्मक्षय का राजमार्ग साधक को मिल नहीं सकता। इसलिए इन दोनों का अस्तित्व मानना अनिवार्य है। स्मरण रहे सभी तीर्थंकर अरिहन्त होते हैं, किन्तु सभी अरिहन्त तीर्थंकर नहीं होते। अरिहन्तत्व क्षायिक भाव है और तीर्थंकरत्व औदयिकभाव। अरिहन्तत्व आत्मा का सदा-कालभावी निजी भाव है, जबकि तीर्थंकरत्व तीर्थंकरनामकर्म के उदय से प्राप्त होने वाली असीम पुण्यराशि का फल है। तीर्थंकर संसार में रहते हुए अपनी ज्ञानादि सम्पत्ति का वितरण करते रहते हैं, वे स्वयं संसार समुद्र को पार करते हैं, दूसरों को तारते हैं, स्वयं मुक्त होते हैं, दूसरों को मुक्त कराते हैं, स्वयं बुद्ध होते हैं, दूसरों को बोध कराते हैं। सर्वोत्कृष्ट निःस्वार्थ परमोपकारी, विश्ववत्सल एवं विश्व बन्धु होते हैं। इन दोनों देवाधिदेवों को क्रियावादी मानते हैं, और आत्मविकास का पुरुषार्थ करते हैं।

चक्रवर्ती, बलदेव और वासुदेव का अस्तित्व—क्रियावादी चक्रवर्ती, बलदेव और वासुदेव इन तीनों को मानते हैं। ये तीनों पद पूर्वकृत पुण्यराशि के फलस्वरूप प्राप्त होते हैं। चक्रवर्ती छह खण्ड के और वासुदेव तीन खण्ड के अधिपति होते हैं। चक्रवर्ती शासक चौदह रत्नों और नौ निधियों के स्वामी तथा एकछत्रीय राज्य-सत्ता, आज्ञाधीन राजा, अपार सैन्यबल, दास, दासी, रमणीरत्न, पशु, देवों द्वारा रक्षा-तत्परता, आदि इनके पूर्वपुण्यों के फलस्वरूप अपार वैभव के चिन्ह हैं। इस अवसर्पिणीकाल में भरत चक्री से लेकर ब्रह्मदत्त चक्रवर्ती तक १२ चक्रवर्ती हो चुके हैं। इनमें से जो चक्रवर्ती शान्तिनाथ, कुन्थुनाथ और अरनाथ की भांति भोग-लिप्सा से दूर होकर

निकल जाते हैं, वे मोक्षश्री का वरण कर लेते हैं और जो भोगपंक में मग्न हो जाते हैं, वे नरकलोक के अतिथि बन जाते हैं। वासुदेव भी अपने पूर्वजन्म में तप-संयम की मूर्ति होते हैं, किन्तु अन्तिम समय में निदान (नियाणा) करके वासुदेव-पद प्राप्त करते हैं। वासुदेव भी अनुपम ऋद्धि, सिद्धि और समृद्धि के धनी होते हैं। बलदेव और वासुदेव दोनों सगे भाई होते हैं। दोनों में परस्पर अपार अनुराग, एक दूसरे से दोनों को अलग नहीं होने देता। दोनों के पिता एक होते हैं, माता अलग-अलग होती हैं। क्रियावादी इन दोनों का अस्तित्व मानते हैं, जबकि अक्रियावादी इन्हें नहीं मानते।

नरक और स्वर्ग का अस्तित्व–अक्रियावादी नरक और स्वर्ग (देवलोक) को नहीं मानते। उनका कहना है–नरक और स्वर्ग कोरी कल्पना है। मनुष्यों से दिलों में भय बिठाने और प्रलोभन देने के लिए ही नरक और स्वर्ग शब्द गढ़ लिये गए हैं। वास्तव में ये कुछ भी और कहीं भी नहीं हैं। नरक कहो या स्वर्ग कहो, जो कुछ कहो, सब यहीं हैं। जो लोग दुःखी हैं, वे मानो नरक में हैं और जो सुखमग्न हैं, वे स्वर्ग में हैं। परन्तु क्रियावादी इसे नहीं मानते। उनका कहना है—नरक और स्वर्ग कोरी कल्पना नहीं हैं, केवल-ज्ञानी वीतराग महापुरुषों ने अपने ज्ञान के प्रकाश में देखकर बताया है कि "जो घोर पाप करते हैं, उन्हें नरक गति मिलती है, तथा जो प्रबल पुण्य करते हैं, उन्हें स्वर्ग मिलता है।" ऐसा न माना जाए तो पापरत प्राणियों को पाप करने की खुली छूट मिल जाएगी, वे सोचेंगे कि नरक तो है नहीं, फिर क्यों न खुलेआम चोरी, डकैती, लूटपाट, व्यभिचार, ठगी आदि पाप किये जाएँ। जो लोग सेवा, दान, परोपकार आदि पुण्य कार्य करते हैं, उन्हें जब यह मालूम हो जाएगा कि पुण्य कार्य के फलस्वरूप स्वर्ग (देव-लोक) नामक कोई लोक प्राप्त होने वाला नहीं। और यहाँ (मनुष्य लोक) भी पुण्य कार्य का फल नहीं मिल रहा है, ऐसी स्थिति में वे पुण्य कार्य में क्यों प्रवृत्त होंगे ? अतः इस लोक में किये हुए घोर पाप या तीव्र पुण्य का फल क्रमशः नरक स्वर्ग लोक के रूप में मिलता है। अतः नरक स्वर्ग को मानना अनिवार्य है। शास्त्र में देवगति प्राप्त करने के चार कारण बताए हैं—सरागसंयम, संयमासंयम, अकामनिर्जरा और बालतप।[1] इसी प्रकार नरकगति के भी चार कारण बताए हैं—महारम्भ, महापरिग्रह, मांसाहार और पंचेन्द्रिय-वध।[2]

---

१. 'सरागसंयम-संयमासंयमाकामनिर्जरा-बालतपांसि देवस्य।' —तत्त्वार्थ

२. महारंभेण महापरिग्गहेण कुणिमाहारेण पंचेन्दियवहेण य। —स्थानांग

नरकों में नैरयिक जीवों का और स्वर्गों में देवों का निवास है। नारकीय जीव नरकों में और स्वर्गों के जीव देवलोकों में दीर्घकाल तक क्रमशः पाप और पुण्य के कड़वे-मीठे फल भोगते हैं।

तिर्यञ्चों का अस्तित्व—एकेन्द्रिय से पंचेन्द्रिय तक जो तिर्यंच जीव हैं, क्रियावादी उनका अस्तित्व मानते हैं। उनका कहना है कि अपनी-अपनी चेतना के विकास अथवा आत्मा पर आये हुए न्यूनाधिक कर्मावरणों के फलस्वरूप जीव एकेन्द्रिय से लेकर पंचेन्द्रिय तक की तिर्यंचयोनि में जन्म लेते हैं। एकेन्द्रिय में पृथ्वीकायिक, अत्कायिक, तेजस्कायिक, वायुकायिक और वनस्पतिकायिक जीवों की गणना होती है। इसमें इसी प्रकार की काया धारण किये हुए जीव होते हैं। वैसे आगम प्रमाण से, युक्तियों एवं अनुमान से एकेन्द्रियों में जीवों का अस्तित्व सिद्ध होता ही है; परन्तु वर्तमान विज्ञान ने भी एकेन्द्रिय पृथ्वी (Living Soil or Earth), पानी (Water), अग्नि (Fire), वायु (Air) और वनस्पति (Vegetable) में जीव का अस्तित्व प्रमाणित किया है। इसके पश्चात् स्पर्शन और रसना इन दो इन्द्रियों वाले (द्वीन्द्रिय), स्पर्शन, रसना, और घ्राण, इन तीन इन्द्रियों वाले (त्रीन्द्रिय), स्पर्शन, रसना, घ्राण और नेत्र, इन चार इन्द्रियों वाले (चतुरिन्द्रिय) एवं स्पर्शन, रसना, घ्राण, नेत्र और कर्ण, पाँच इन्द्रियों वाले (पंचेन्द्रिय) तिर्यञ्च प्राणी तो प्रत्यक्ष सिद्ध हैं। पंचेन्द्रिय में जलचर, स्थलचर, खेचर, उरःपरिसर्प और भुजपरिसर्प; यों पाँच प्रकार प्राणी होते हैं। इन सब जीवों की अपनी-अपनी पृथक् सत्ता है। ये अपने-अपने कृत कर्मों के फलस्वरूप दुःख-सुख भोग रहे हैं। इन सबको अपना-अपना जीवन प्रिय है। सभी जीना चाहते हैं, मरना कोई नहीं चाहता। इसलिए क्रियावादियों का मन्तव्य है कि एकेन्द्रिय से लेकर पंचेन्द्रिय तक के जीवों को मारना, सताना, पीटना, पीड़ा पहुँचाना पाप है, क्योंकि इनमें भी हमारी तरह आत्मा है। परन्तु अक्रियावादी लोग इनमें आत्मा नहीं मानते। कुछ लोग इन सब जीवों में प्राण मानते हैं, और कहते हैं—प्राण जड़ हैं। अतः इनको मारने में कोई दोष नहीं। कतिपय अक्रियावादी मांसाहारी मानते हैं कि अगर इन्हें मार कर खाया न जाए तो इनकी संख्या उत्तरोत्तर बढ़ती जाएगी। इनका जीना तो दूभर हो ही जाएगा, हमारा जीना भी दूभर हो जाएगा। परन्तु इस भयंकर हिंसा का प्रतिफल कभी इस लोक में और कभी परलोक में नाना दुःखों, पीड़ाओं आदि के रूप में भोगना होगा, तब नानी याद आ जाएगी। अनुभव बताता है कि प्राणघातक व्याधि, विपत्ति, मृत्यु के समय बड़े-बड़े नास्तिक कांपने लगते हैं। आचारांग सूत्र में बताया गया है कि प्रायः अक्रियावादी

लोगों को अन्तिम समय में यह संशय होने लगता है कि "मैंने कई बार सुना है कि नरक है, जहाँ पापकर्मों, दुराचारी, क्रूर एवं अत्याचारी लोगों को उनके किये हुए दुष्कर्मों के फलस्वरूप नरक में प्रगाढ़ वेदना सहनी पड़ती है। कहीं यह सच तो नहीं है ? यह सत्य हो तो मेरी बहुत दुर्दशा होगी।" अतः क्रियावादी आस्तिक सभी जीवों के साथ आत्मौपम्य व्यवहार करने का ध्यान रखता है।

माता-पिता का अस्तित्व—क्रियावादी माता-पिता के अस्तित्व को मानते हैं। कोई कह सकता है कि माता-पिता के अस्तित्व को मानने और सिद्ध करने की क्या आवश्यकता है ? कई लोगों का मत है कि माता-पिता के बिना भी जीवों का जन्म हो सकता है। तथा माता-पिता का उपकार मानने और उन्हें महत्त्व देने की क्या आवश्यकता है ? उनका हम पर कौन-सा उपकार है ? ईसाई लोग ईसा का जन्म कुँवारी कन्या से, पुराने वैष्णव लोग सीता का जन्म एक घड़े से मानते हैं, लव-कुश की उत्पत्ति भी कई लोग बिना मां-बाप के मानते हैं। ये सब बातें मिथ्यात्वपूर्ण एवं असम्यक् हैं। माता-पिता का अस्तित्व मानना और उनके उपकार के प्रति कृतज्ञता प्रकट करना, उनकी सेवा करना, उन्हें धर्म-सम्मुख करना, संतान का प्रधान कर्त्तव्य है। माता-पिता का अस्तित्व मानने से सृष्टि का अनादित्व सिद्ध होता है, और ईश्वरकर्तृत्ववाद का खण्डन हो जाता है।

ऋषियों का अस्तित्व— क्रियावादी जनसाधरण के जीवन स्तर से उच्च जीवन वाले, गार्हस्थ्य-प्रपंचों से दूर, जगद्वन्द्य ऋषियों को मानते हैं। समाज से सम्पर्क रखते हुए भी वे समाज से अलिप्त, अनासक्त होकर विचरण करते हैं। मान-अपमान, निन्दा-प्रशंसा, दुःख-सुख, सर्दी-गर्मी आदि में समभाव रखते हैं। इन्द्रियजयी होकर मोक्षमार्ग पर चलते हैं। सदैव स्वरूप में रमण करते रहते हैं। किन्तु अक्रियावादी विश्ववन्द्य ऋषियों के अस्तित्व को नहीं मानते। वे कहते हैं—ऐसे कोई ऋषि हो ही नहीं सकते जो विकारों पर विजय या सकें। जो भी ऋषि बनते हैं, वे सब ढोंगी, पाखण्डी, वेषधारी और अयोग्य होने से वे साधु नहीं स्वादु हैं। क्रिया-वादी इसका खण्डन करते हुए कहते हैं—सच्चे ऋषि थे, हैं, और भविष्य में भी होंगे। हाँ, उनकी जीवन-साधना में द्रव्य-क्षेत्र-काल-भाव के अनुसार तारतम्य अवश्य रहेगा, किन्तु उनका अस्तित्व सर्वथा मिट नहीं सकता।

परिनिर्वाण परिनिर्वृत और सिद्धि का अस्तित्व—क्रियावादियों का कहना है कि सम्यक्त्व के (चतुर्थ) गुणस्थान से आगे बढ़ते-बढ़ते जीव क्रमशः

विषयों और कषायों से उपरत हो जाता है, मोहनीय कर्म का क्षय कर देता है, तब तेरहवें गुणस्थानमें पहुँचकर वीतराग-केवल ज्ञानी बन जाता है। उसके चार घाती कर्मों का क्षय हो जाता है, शरीर छूटने (आयुकर्म क्षय होने) के साथ ही साथ ही चार अघाती कर्म भी सर्वथा नष्ट हो जाते हैं। तत्पश्चात् उसका परिनिर्वाण हो जाता है, वह परम आत्मशान्ति को प्राप्त होता है। जो निर्वाण प्राप्त कर लेता है, वह परिनिर्वृत्त परम शान्त हो जाता है। उसका अस्तित्व तो स्वतः सिद्ध है। किन्तु अक्रियावादी परिनिर्वाण और परिनिर्वृत्त को नहीं मानते। वे कहते हैं कि परिनिर्वाण होने के बाद आत्मा तो गुणशून्य हो जाता है, या क्षणिक अरूपी एवं निराकार हो जाता है। तब भला उसके परिनिर्वृत्त होने की साक्षी कौन देगा? जिसे परिनिर्वाण (मोक्ष) प्राप्त हुआ है, वह तो कहने आता ही नहीं। इसलिए परिनिर्वाण और परिनिर्वृत्त दोनों के अस्तित्व में सन्देह है। जैनदर्शन ऐसे परिनिर्वृत्त के लिए कहता है—

अरूविणो जीवघणा नाणदंसणसन्निया।
अउलं सुहं संपत्ता उवमा जस्स नत्थि उ॥

वे सिद्ध परमात्मा अरूपी हैं, घन रूप हैं, अनन्तज्ञान-दर्शन से युक्त है, अतुल सुख राशि प्राप्त हैं। ऐसे चिन्मय एवं मंगलमय सिद्ध देव के लिए कोई भी उपमा नहीं है।

निर्वाण के बाद परिनिर्वृत्त आत्मा का जहाँ अवस्थान होता है, उसे सिद्धि-स्थान या सिद्धालय कहते हैं। उसका अस्तित्व भी क्रियावादी मानते हैं। आगम प्रमाण युक्त उनका कहना है—

लोगेगदेसे ते सव्वे, नाण-दंसण-सन्निया।
संसार-पार-नित्थिण्णा, सिद्धि वरगई गया॥

संसार सागर के पार पहुँचे हुए वे सभी सिद्ध अनन्तज्ञान-दर्शन से युक्त होकर लोक के एक देश (अग्रभाग) में अवस्थित श्रेष्ठ सिद्धिगति को प्राप्त हो जाते हैं।

उपर्युक्त समस्त तत्त्वों का जानना, मानना और उनमें उत्कृष्ट आस्था रखना क्रियावाद है। भ० महावीर ने क्रियावादी के विषय में स्पष्ट कहा है—

"सव्वं अत्थिभावं अत्थित्ति वयइ।
सव्वं नत्थिभावं नत्थित्ति वयइ।"

संसार में जिन पदार्थों का अस्तित्व है, उनके अस्तित्व को क्रियावादी स्वीकार करता है और जिन पदार्थों का नास्तित्व है, उन्हें वह स्वीकार नहीं करता।

क्रियावादी : सम्यग्दृष्टि ही आस्तिक

क्रियावादी भी अगर एकान्तवाद का आश्रय लेता है तो वह मिथ्यादृष्टि है। जो क्रियावादी एक मात्र क्रिया को ही या चारित्र को ही मोक्ष का साधन मानता है, जो ज्ञान और दर्शन को कोई आवश्यकता नहीं समझता वह शुष्क क्रियावादी, एकान्तवादी होने से मिथ्यादृष्टि है। इसलिए प्रस्तुत सन्दर्भ में सम्यग्दृष्टि क्रियावादी वह है—जो सम्यग्दर्शन और सम्यग्ज्ञानपूर्वक सम्यक्चारित्र को ही मोक्षमार्ग मानता और जानता है। इसी क्रियावाद का समर्थन करते हुए भ० महावीर कहते हैं—

दंसण-नाण-चरित्तं तव-विणए सच्च-समिइ-गुत्तिसु।
जो किरिया भावरुई सो खलु किरियारुई नाम।"

जिसकी भावरुचि दर्शन, ज्ञान, चारित्र, तप, विनय, सत्य, समिति, और गुप्तियों में है। अर्थात् जिसकी क्रियारुचि ज्ञानादिपूर्वक सम्यक्चारित्र में है, वह क्रियारुचि सम्यक्त्वी वास्तविक क्रियावादी है।

सारांश यह है कि क्रियावादी कहता है—लोकवाद को मानो। मनोरम कामभोगों में फँसकर अपना इहलोक-परलोक मत बिगाड़ो। कष्टों को समभावपूर्वक सहने से निर्जरा और निर्जरा से आत्मशुद्धि होती है। परन्तु अक्रियावादी कहता है—"दीर्घकाल के पश्चात् मिलने वाला परलोक किसने जाना-देखा है? इन प्रत्यक्ष सुखों को छोड़कर अदृष्ट परलोक के परोक्ष सुखों के चक्कर में पड़ना मूर्खता है। ये कामभोग हाथ में आए हुए हैं, इनका ही उपभोग कर लो।"

कर्मवाद के सन्दर्भ में क्रियावादी कहते हैं—प्राणी जो भी अच्छा-बुरा कर्म करता है, उसे उसका फल भोगना ही पड़ता है। शुभ कर्मों का फल शुभ और अशुभ कर्मों का अशुभ फल अवश्य मिलता है। जीव अपने पुण्य-पाप कर्मों के साथ ही परलोक में उत्पन्न होता है। पुण्य-पाप दोनों का क्षय होने पर असीम आत्मिक सुखमय मोक्ष की प्राप्ति होती है।

क्रियावाद एवं अक्रियावाद का परिणाम

क्रियावादियों की उक्त विचारधारा के फलस्वरूप भव्यजनों में धर्म रुचि बढ़ी, तप, त्याग, संयम की वृत्ति जागी। अल्प-इच्छा, अल्प-परिग्रह,

अल्पारम्भ का महत्त्व गृहस्थवर्ग में बढ़ा। अहिंसा, सत्य, अस्तेय, ब्रह्मचर्य और अपरिग्रह की उपासना करने वाले साधु-श्रावक वर्ग को इहलोक में आदरणीय, विश्वसनीय, एवं महान् समझा गया, परलोक में भी उसको सुगति या मोक्षगति प्राप्त हुई।

इसके विपरीत अक्रियावादियों ने विपरीत प्ररूपणा की कि सुकृत और दुष्कृत का फल नहीं होता। न ही शुभ कर्मों के शुभ और अशुभ कर्मों के अशुभ फल मिलते हैं। आत्मा परलोक में जाकर उत्पन्न नहीं होता, जब आत्मा ही नहीं है, अथवा यहीं सारी लीला समाप्त हो जाने वाली है, इससे आगे कुछ नहीं है, जो कुछ प्रत्यक्ष दृष्टिगोचर हो रहा है, इतना ही लोक है। खाओ, पीओ और मौज उड़ाओ। परलोक की चिन्ता मत करो। जो कुछ भोग लोगे, वही तुम्हारा है। जब तक जीओ, सुख से जीओ, कर्ज करके भी घी पीओ। यह शरीर यहीं भस्म हो जाने के बाद पुनरागमन कहाँ है?

इसके फलस्वरूप अज्ञ जनता में भोगवाद की प्रबल इच्छा उठी। वे महारम्भ-महापरिग्रह में ग्रस्त रहने लगे। अक्रियावाद का अन्तिम लक्ष्य एकमात्र भौतिक सुखोपभोग रहा। वह दुष्कर्मफल की चिन्ता छोड़कर बेखटके, झूठ, चोरी, ठगी, हत्या, निरर्थक हिंसा, बेईमानी, डकैती आदि पापों में रत रहने लगा।

इस प्रकार क्रियावादी आत्मवाद, कर्मवाद और लोकवाद की पृष्ठ-भूमि पर अपना इहलौकिक जीवन सुधारता है—सुखमय बनाता है, शुभ कार्य करता है, धर्माचरण भी करता है; वहाँ अक्रियावादी आत्मवाद, परलोक और कर्मवाद से विमुख होकर अपने उभयलौकिक जीवन को बिगाड़ता है, पाप कर्म करता है और अपने पारिवारिक, सामाजिक, राष्ट्रीय एवं धार्मिक जीवन को भी दुःखमय, संक्लेशमय और निन्दनीय निकृष्ट बनाता है। अपने पीछे वंश परम्परा से पाप-परम्परा छोड़ जाता है। इसलिए भगवान् ने क्रियावाद को ही आस्तिक्य की प्रमुख आधारशिला बताई है।

———